11·2

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

१९६

सौश्रुती

Comprehensive Treatise on ancient Indian Surgery mainly based on the Classical medical work Sushrut Samhita]

लेखक

श्री रमानाथ द्विवेदी

एम० ए, ए० एम० एस०

चिकित्सक एवं अध्यापक सर सुन्दरलाल आतुरालय,
कालेज ऑफ मेडिकल साइन्सेज, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय

प्रस्तावना-लेखक

सर दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी

डिपुटी डायरेक्टर, मेडिकल एण्ड हेल्थ सर्विसेस, उत्तर प्रदेश

(संशोधित परिवर्धित संस्करण)

ौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१
संस्करण : तृतीय, वि० संवत् २०२४
मूल्य : १०-००

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office

Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi-1 (India)
1968
Phone : 3145

प्रधान शाखा
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१
फोन : ३०७६

तृतीय संस्करण के सम्बन्ध में दो शब्द

गवान् विश्वेश्वर की कृपासे 'सौश्रुती' के तृतीय संस्करण को पाठकों की में प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस संस्करण में पूर्व की टियों का परिमार्जन करके अधिक उत्कृष्ट स्वरूप देने का प्रयास किया गया है। थलों पर विषय को सरल एवं बोधगम्य बनाने के लिये अपेक्षित परिवर्तन संस्करण में प्राप्त होंगे। शल्यतंत्र से सम्बन्धित अन्यान्य उपयोगी विषयों कलन करते हुए पुस्तक को अधिक भव्य रूप देने का भी ध्यान प्रस्तुत ण में रखा गया है। फलतः पूर्व के संस्करण से यह अधिक उपयोगी ा है।

आशा है पाठकगण इससे अधिक लाभान्वित होंगे।

ा-चतुर्थी
२०२४

—लेखक

प्रस्तावना

प्रोफेसर दत्तात्रेय अनन्तकुलकर्णी

एम० एस० सी०, आयुर्वेदाचार्य

हिन्दूविश्वविद्यालय काशी।

[डिपुटी डाईरेक्टर मेडिकल एण्ड हेल्थ सर्विसेस (आयुर्वेद)
उत्तर प्रदेश सरकार]

आयुवदाचार्य प्रोफेसर रमानाथजी द्विवेदी ने आयुर्वेदीय श विषयक 'सौश्रुती' नामक यह ग्रन्थ लिखकर एक बड़े अ पूर्ति की है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही आयुर्वेद और ए के गुण-दोषों की चर्चा जब वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शुरू हुई, आधुनिक एलोपैथी के विज्ञाताओं के समक्ष आयुर्वेद के शल्यत विषय समुचित रूप से उपस्थित कर सके; ऐसा एक भी ग्रंथ भी भारतीय भाषा में उपलब्ध नहीं था! सुश्रुत की भाषाटीका कार्य में असफल रहीं और आचार्य गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय- उद्भट विद्वानों के 'सर्जिकल इन्स्ट्रूमेण्ट्स आफ दी हिन्दूज़' हि के शल्यकर्मविषयक 'शस्त्रास्त्र' आदि ग्रन्थों में केवल किसी ए अंग के ऊपर ही प्रकाश डालने की सफल चेष्टा की गई है। शास्त्र यानी सर्जरी में हिन्दुओं ने कितनी प्रगति की थी और प्रगति का वास्तविक स्वरूप क्या था, इस विषय के सम्बन्ध में ए के ज्ञाता लोग समझ सकेंगे, ऐसी भाषा में लिखा हुआ ए प्रामाणिक ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं था। ऐसे ग्रंथ का बड़ा कठिन कार्य होता है। आधुनिक सर्जरी का तथा प्राचीन

कर्म का पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किये बिना ऐसे कार्य में प्रवृत्त हो जाना एक हास्यास्पद बात होती। पं० रमानाथजी में इस प्रकार का पाण्डित्य प्रचुर मात्रा में होने के कारण ही उन्हें इसमें इतनी सफलता प्राप्त हो सकी है।

प्रोफेसर रमानाथजी हिन्दूविश्वविद्यालय काशी के प्रथम श्रेणी के स्नातक हैं। सम्मान के साथ ए० एम० एस० की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् इसी कालेज में अध्यापन और चिकित्सक का कार्य सम्पन्न करते रहने के साथ ही साथ आपने आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा भी उत्तीर्ण की है। गत छः वर्षों से इस कालेज की उच्च कक्षाओं को शल्यतन्त्र का अध्यापन भी आपने बड़ी सफलता के साथ किया है। विद्या-विनम्र होते हुए आप बड़े अध्यवसायी एवं भारतीयता के पुजारी भी हैं। ये सभी बातें होने के कारण ही आप अपने अध्ययनाध्यापनरूपी स्वभावतः ब्रह्मकर्म में इतनी सफलता प्राप्त कर सके हैं।

'प्रतीची प्राची के सुन्दर मेल' के सपने को देखनेवाले स्वर्गीय महामना मालवीयजी द्वारा स्थापित हिन्दूविश्वविद्यालयान्तर्गत आयुर्वेद कालेज महामनाजी के सपने को साकार बनाने के अतिवांछित कार्य में अपना सहयोग देकर इस सुन्दर मेल के परिणामस्वरूप स्वतन्त्र भारत की 'राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति' का सृजन करने जा रहा है। सृजन के इस पवित्र कार्य में पं० रमानाथजी जैसे उभयज्ञ सुयोग्य व्यक्ति ने इस ग्रन्थ के रूप में अपनी ओर से इस ज्ञानयज्ञ में एक आहुति देकर अपने कर्तव्यपालन के श्रीगणेश का परिचय दिया है। मुझे पूरा विश्वास है कि वे इसी प्रकार के अन्यान्य ग्रन्थों के रचयिता

बनकर अपने कर्तव्य की पूर्त्ति करेंगे तथा अन्य स्नातकों के लिये मा
दर्शन का कार्य भी सफलता के साथ करते रहेंगे।

नवीन प्रणाली के आयुर्वेदीय कालेजों की स्थापना के समय
विषयप्रधान पाठ्यपुस्तक की निर्मिति का एक अत्यावश्यक कि
विकट कार्य आयुर्वेदप्रेमी विद्वानों के समक्ष था। ऐसे ग्रंथों के अभा
में अध्यापक तथा छात्रों को बड़ी कठिनाई होती थी। शल्यतन्त्र—जैस
विलुप्त चिकित्सापद्धति के विषय में यह कठिनाई परा कोटि की थी
अपने निर्व्याज एवं सरल स्वभावानुरूप सुन्दर भाषा में इस सम्पू
विषय को समुचित रूप में उपस्थित करा देने में आपने जो परिश्र
किया है, उससे आयुर्वेद का बड़ा उपकार हो गया है। आयुर्वेद
छात्र, अध्यापक एवं आयुर्वेदानुरागी सम्पूर्ण जनता पं० रमानाथजी
इस परिश्रम के लिए उनका स्वागत करेगी और चिरकाल तक कृत
रहेगी। आयुर्वेदीय कालेजों में पाठ्य ग्रंथ करके स्वीकृत होने यो
इस सर्वाङ्गसुन्दर पुस्तक के निर्माण के निमित्त मैं प्रोफेसर रमानाथज
द्विवेदी को बधाई देता हूँ और आशा करता हूं कि निकट भविष्य में ऐस
अनेक ग्रन्थों का निर्माण करने के लिये धन्वन्तरि भगवान् उन्हें दीर्घायु
स्वस्थ एवं सुखी रखेंगे।

वि० सं० २००६ दत्तात्रेय अनन्तकुलकर्णी

प्राक्कथन

गणेशं गिरिजां नत्वा जाह्नवीं पवनात्मजम् ।
शिवं रामं ततः सीतां सौश्रुतीं प्रकरोम्यहम् ।। १ ।।
मातरं पितरं वन्दे भ्रातरं च यशस्विनम् ।
आचार्यञ्च हृदि ध्यायन् गौरवानन्ददायकम् ।। २ ।।
यन्नागार्जुननागनाथभणितं यद्वाग्भटे विश्रुतं
नानातन्त्रविशारदैश्च कथितं यच्चान्यतो लक्षितम् ।
तत्सर्वं विचिनोमि संग्रहधिया चाङ्गं प्रधानं परं
भाषाबद्धसुशल्यतन्त्ररुचिरं जिज्ञासुतोषप्रदम् ।। ३ ।।

प्रस्तुत पुस्तक प्राचीनयुग के भारतीय शल्यतन्त्र पर एक छोटी कृति है। इसके द्वारा प्राक्कालीन विषय के सिद्धान्तों की आधुनिक ढंग से समन्वयात्मक विवेचना करने का प्रयास किया गया है।

शास्त्रों में चिकित्सा (आयुर्वेद) को अष्टाङ्ग बतलाया गया है। विभिन्न संहिताकारों ने अपने-अपने विषय की प्रधानता के क्रम से भिन्न-भिन्न अंगों की उत्कृष्टता एवं महत्ता दर्शायी है। आचार्य सुश्रुत ने स्वविषय शल्य तंत्र को सबसे उत्कृष्ट (अभिमत) और श्रेष्ठ (आद्य) अंग स्वीकार किया है। प्रमाणरूप से हेतुओं को दिखलाते हुए निम्नलिखित उपपत्ति दी है जो तर्क-सम्मत प्रतीत होती है :—

१. इनके अनुसार चिकित्सा शास्त्र का सूत्रपात या प्रारंभ आकस्मिक या दुर्घटना-ग्रस्त व्रणों के उपचार के रूप में ही हुआ। देवासुर-संग्राम होते रहते थे, शस्त्रास्त्रों के प्रहार से व्रणोत्पत्ति का होना भी सुलभ था—इस उपचार में व्रणों के रोपण की आवश्यकता उत्पन्न हुई। उचित चिकित्सा तथा चिकित्सक दोनों की आवश्यकता प्रतीत हुई, शल्यतन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। इस तरह दोषों के वैषम्य से होने वाले शारीरिक रोगों के पूर्व ही व्रण प्रभृति शल्यतंत्रीय रोगों की उत्पत्ति हुई—फलतः शल्यतंत्र की आद्यता स्वतः सिद्ध होती है।

२. ब्राह्मण ग्रन्थों (ऐतरेय, शतपथ १।२।८।२) में ऐसी कथा आती है कि जब रुद्र ने यज्ञ का सिर काट दिया तब सभी देवता एकत्रित होकर अश्विनीकुमारों के पास जाकर कहने लगे—'आप दोनों देव हम लोगों में श्रेष्ठ हैं, कृपया यज्ञ के

कटे हुए सिर को धड़ से जोड़ दें।' अश्विनीकुमारों ने उनकी प्रार्थना स्वीका की। तदनन्तर देवताओं ने अश्विनीकुमारों को यज्ञ का भाग दिलाने के लि इन्द्र को प्रसन्न किया। अश्विनीकुमारों ने यज्ञ के सिर को संहित कर दिया। इन क्रियाओं में भी आयुर्वेद के इसी अंग (शल्यतंत्र) की सहायता ले पड़ी। इसी रूप में चिकित्सा-विज्ञान का सूत्रपात हुआ। इसीलिए आचार्य ने इसको प्रथम या आद्य अङ्ग नाम से स्वीकार किया है :—

'एतद्धि अङ्गं प्रथमं प्रागभिघातव्रणसंरोहात् यज्ञशिरःसंधानाच्च। श्रूयते हि यथा—रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति। ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः—'भगवन्तौ नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः। भवद्भ्यां यज्ञस्य शिरः संधातव्यमि'ति। तावूचतुरेवमस्त्वति। अथ तयोरर्थे देवा इन् यज्ञभागेन प्रासादयन्। ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितम्।' (सु० सू० १)

२. शल्यतन्त्र की उत्कृष्टता बतलाते हुए दूसरा प्रमाण व्यवहारसिद है, जैसे—

(क) आशुक्रियाकरणात्—चिकित्सा का फल सद्यः प्राप्त होता है।

(ख) यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात्—मुखमार्ग द्वारा ओषधि के सेवन कराने के अतिरिक्त इस विषय में यंत्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि प्रभृति कार्य भी किये जाते हैं।

(ग) सर्वतन्त्रसामान्यात्—अन्य तन्त्रों के सदृश भी इसमें विविध चिकित्सा के उपक्रमों को बरता जाता है।

'अष्टास्वपि आयुर्वेदतन्त्रेषु एतदेवाधिकमभिमतमाशुक्रियाकरणात्। यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात्, सर्वतन्त्रसामान्याच्च।' (सु० सू० १)

ग्रन्थ का सौश्रुती नाम इसलिये पड़ा कि सुश्रुतसंहिता आयुर्वेद का एक बहुत प्रसिद्ध, सर्वमान्य अष्टाङ्गपूर्ण वैद्यक ग्रन्थ है। मर्मज्ञों ने उसके विविध अङ्गों की विशिष्टता बतलाई है 'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः' के समान 'शल्येऽपि सुश्रुतः श्रेष्ठः' ऐसा कहना भी कम महत्त्व का नहीं है। क्योंकि संहिताकार का मूल उद्देश्य शल्यप्रधान आयुर्वेद का उपदेश ही है—

'अस्माकं तु सर्वेषां शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भगवानिति।'
(सु० सू० १)

भगवान् धन्वन्तरि ने भी वैसा ही उपदेश किया है—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम् ।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतुं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम् ॥
(सु० सू० १)

अस्तु, सुश्रुतसंहिता के प्रधान भाव (शल्य) को ग्रहण करके उसी के आधार पर निर्मित ग्रन्थ का 'सौश्रुती' नाम देना शास्त्रसम्मत है—'सुश्रुतमधिकृत्य कृतेयं रचना' अथवा सुश्रुतस्येदं सौश्रुतम् (अण्), स्त्रीलिङ्ग में 'सौश्रुती' ।

साथ ही परम्परा के अनुसार क्रमशः युगानुरूप आयु और मेधा का ह्रास होता चला आ रहा है । कृतयुग में जो परिमाण रहा, आज के युग में वह उसके चतुर्थांश से भी कम हो गया है । फलतः अल्प अवधि के भीतर ही आयुर्वेद का ज्ञान करना होता है । आयुर्वेद का अर्थ है—आयु के सम्बन्ध में यावतीय ज्ञातव्य हो, उसका ज्ञान । यह व्याख्या बड़ी विशाल है । इसके अनुसार इस युग में उस प्रकार का ज्ञाता होना असम्भव है, अपितु सुश्रुतसंहिता का भी पूर्ण पण्डित हो जाना सर्वजनसुलभ नहीं है, इसी बात को ध्यान में रखते हुए युगानुरूप संहिता के एक अंश का अल्प परिश्रम से महत् फल की प्राप्ति हो इसी उद्देश्य से इस ग्रन्थ का प्रणयन तथा सौश्रुती नाम सार्थक रखा गया है ।

'तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम् ।'
(अ० हृ०)

यद्यपि इस ग्रन्थ के निर्माण में विविध ग्रन्थों की सहायता ली गई है, फिर भी प्रधानता सुश्रुततन्त्र ही की है, अतएव सौश्रुती नामकरण में सुश्रुत की महिमा स्पष्ट दीख पड़ती है ।

नामकरण का तीसरा कारण सर्जरी के अंग्रेजी शब्द से मिलता जुलता सार्थक संस्कृत नाम देना रहा ।

आज के युग में 'सर्जरी' के विज्ञान का बहुत विकसित रूप देखने को मिलता है । ऐसी परिस्थिति में इस पुस्तक का कितना मूल्य है उसका अङ्कन तो तज्ज्ञ ही कर सकेंगे । तथापि माडर्न सर्जरी की पृष्ठभूमि या भूमिका रूप में

तो निःसंकोच इसे अङ्गीकार किया जा सकता है। इस व्यापक अर्थ में पुस्त का पर्याय नाम होगा शल्यतन्त्र की भूमिका।

इस विषय की सामग्री प्राचीन ग्रन्थों में बिखरी पड़ी है, परन्तु आज त आधुनिक ढङ्ग से इसका संकलन और सम्पादन नहीं हुआ था तस्मात् वि क्रम के तारतम्य का अभाव एवं भाषा की कठिनता विद्यार्थी का रास्ता रो खड़ी हो जाती रही और आधुनिक काल के विकसित तथा प्रगतिशील शल्यतं के साथ तुलना करके अब तक इस विषय का एक ठीक अनुशीलन न होने कारण उसकी दुरूहता और भी बढ़ जाती थी। इन कठिनाइयों को दृष्टि रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक के निर्माण की चेष्टा की गई है।

वह प्राचीन संहिताओं में बिखरी हुई समस्त सामग्री को आधुनिक विज्ञा के आलोक में देखने का एक प्रयास मात्र है। पुस्तक में आलोचनात्मक दृ प्रधान रहने के कारण प्राचीन सिद्धान्तों की विवेचना करते समय आधुनि विषयों की ओर इङ्गित मात्र ही किया गया है। भरसक इस बात चेष्टा की गई है कि शास्त्रीय भाव आधुनिक वर्णनों के विस्तार में विकल हो जावें।

इस विषय का अध्यापन करते हुए अपनी तथा विद्यार्थियों की कठिनाइ का मुझे प्रचुर अनुभव है; इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थ लिखते समय इस बात का पर्या ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थी, चिकित्सक तथा तदतिरिक्त साधारण पाठक भ इस ग्रन्थ के द्वारा प्राचीन शस्त्रकर्मविज्ञान का ज्ञान प्राप्त कर आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व के शस्त्रकर्मसम्बन्धी यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, एवं रक्तावसेक प्रभृति विद्याओं के ऐतिहासिक ज्ञान से समुचित लाभ उठा सकें। किं बहुना आधुनिक शिक्षा प्राप्त किये हुए शस्त्रचिकित्सकों को भी प्रस्तुत ग्रन्थ से इस देश की समुन्नत विद्या का परिचय तथा अपने नवीन उपलब्ध ज्ञान का संशोधन और परिमार्जन का समुन्नत उच्छ्वास (Inspiration) प्राप्त हो सकेगा।

ग्रन्थ के प्रणयन में मुझे जिन-जिन आर्ष, ऋषिकल्प आचार्यों का आश्रय लेन पड़ा है उनमें प्रायः सभी का नामोल्लेख भी टिप्पणियों में अथवा व्याख्या किया गया है। संकलन का कार्य होने के कारण उनके कहीं पर अविकलरू कहीं पर भावान्तर और यत्र-तत्र सारांश ही लेकर इस ग्रन्थ का सृजन हुआ है

मैं उन सभी आचार्यों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करता हुआ उनके चिरऋणी कहलाने में ही सन्तोष का अनुभव करता हूँ।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के भावग्रहण करने में मेरी असमर्थतावश यदि कुछ विकलता आ गई हो तो उसे आशीर्वाद के रूप में क्षमायाचना ही स्वीकार है। इसी प्रकार अन्य विद्वानों से भी; जिनकी कृतियों से प्रसङ्ग उद्धृत किये गये हैं; विनीत प्रार्थना है।

चिकित्सा का कार्य प्रधान रहने के कारण अध्ययन कर्म के लिये निश्चिन्त-चित्त नहीं हो पाता इसलिये कुछ सीमित ग्रन्थों पर ही अवलम्बित होकर कार्य करना पड़ा—जिनमें आचार्य प्रवर भा० गो० घाणेकरजी की हिन्दी सुश्रुत टीका तथा आचार्य गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की कृति (Surgical Instruments of Hindus) से मुझे बहुत बड़ी सहायता मिली है तथा उन्हीं के आश्रित रहने से मुझे अल्पकाल में ही इस ग्रन्थ का रूप देने में सफलता मिली है। अतएव उन कृतियों का भी मैं कृतज्ञ हूँ।

ग्रन्थ का श्रीगणेश वैशाखी पूर्णिमा (सं० २००४) को होकर रामनवमी (सं० २००५) को पूर्ण हुआ। शीघ्रता इसलिये हुई कि इस पुस्तक का मुद्रण कार्य भी साथ ही साथ प्रारम्भ कर दिया गया था। अतएव एक वर्ष के अल्पकाल में शीघ्रता से लिखते हुए अनेक दोष निकल सकते हैं; परन्तु मुझे आशा है कि विज्ञजन इसका परिमार्जन करने के लिये समय-समय पर मुझे निर्देश करते रहेंगे जिसके आधार पर अगले प्रकाशन में उसका उत्कृष्ट रूप प्राप्त हो सकेगा।

'सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं
दलि दुखदोष बिमल जस देहीं।' (रामचरितमानस)

संकलन करते हुए शल्यतन्त्रसम्बन्धित प्रायः सभी सुश्रुतोक्त शल्यकर्मों का वर्णन पुस्तक में यथास्थान आ गया है, परन्तु एक महत्त्व के कर्म गर्भशल्य आहरण (मूढगर्भ-शस्त्रकर्म) का उल्लेख जानबूझ कर छोड़ दिया गया है। यद्यपि सुश्रुतकालीन वर्गीकरण के अनुसार यह कर्म इसी अङ्ग का अङ्गी माना गया है, किन्तु आधुनिक युग में यह प्रसूतितन्त्र नामक अङ्ग के भीतर समाविष्ट समझा जाता है। यन्त्र-शस्त्रों के वर्णन में संक्षेप से उसका उल्लेख

भी हुआ है। अस्तु, प्राक्कथन में यहां पर उन मौलिक सूत्रों का उल्लेख करके ही सन्तोष करना पड़ रहा है।

'ततः स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेणाङ्गुलीशस्त्रेण वा शिरो विदा शिरःकपालान्याहृत्य, शङ्कुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वाऽपहरेत् अभिन्ने शिरसि चाक्षिकूटे गण्डे वा अंससक्तस्यांसदेशे बाहुं छित्त्वा दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य निरस्यान्त्राणि शिथिलीभूतमाहरेत्, जघनसंसक्तस्य वा जघनकपालानीति।

यद्यदङ्गं हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद्भिषक्।
सम्यग्विनिर्हरेच्छित्त्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥
नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्त्तमपि पण्डितः।
स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा॥
सचेतनञ्च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्।
दार्यमाणो हि जननीमात्मानञ्चैव घातयेत्॥'

(सु० चि० १–५)

इस शस्त्र कर्म को आधुनिक युग में गर्भच्छेदन (Embryotomy) कहते हैं। जब गर्भ मृत अवस्था में गतिहीन होकर गर्भाशय में शल्यभूत होकर बाधा देने लगता है तो माता की रक्षा की दृष्टि से यह कर्म किया जाता है। 'स्त्री को आश्वासित करके मण्डलाग्र (Decapitation hook) अथवा अङ्गुलिशस्त्र (Finger Knife) से शिरःकपालों को विदीर्ण करके उन्हें दबाकर और शंकु (गर्भ शंकु), चिबुक, तालु, वक्ष या कक्ष में लगा कर निकाल लेते हैं। अगर शिरोविदारण करना पड़ा हो तो अक्षिकूट और गण्डस्थलों में शंकु को अड़ाकर निकालना चाहिये। यदि गर्भ कन्धे से संसक्त हो तो कन्धे को काटकर निकालना चाहिये। यदि वायु पूर्णोदर होकर मृत गर्भ संसक्त हो तो उसका पेट चीर कर आन्त्रों को निकाल कर छोटा करके भ्रूण को बाहर निकाल दे। यदि जघन का भाग (स्फिक्) संसक्त हो तो जघनकपालों को काट कर निकालना चाहिये।'

इस शस्त्रकर्म में आधुनिक युग के कई शस्त्रकर्मों का वर्णन इस एक सूत्र में ही आ जाता है। जैसे—शिरश्छेदन (Craniotomy), ग्रीवाछेदन

(Decapitation), अक्षकास्थिच्छेदन (Cleidotomy) और कोष्ठाङ्गच्छेदन (Evisceration) आदि ।

इसके अतिरिक्त शूकरोग, उपदंश और श्लीपद रोगों के निदान एवं चिकित्सा पर भी स्वतन्त्र अध्याय रूप में प्रतिपादन नहीं हो पाया है । क्योंकि शूक रोगों के उपक्रमों में कुछ विशेष प्रतिपादन ग्रन्थ में नहीं है । एक तो वैसे ही ये रोग अप्रसिद्ध एवं अव्यवहार्य ज्ञात होते हैं, दूसरे इनकी शस्त्रचिकित्सा भी कुछ एक सामान्य शस्त्रकर्मों (लेखन प्रभृति) तक ही सीमित है । उपदंश में दुष्ट व्रणवदुपचार बतलाया गया है । श्लीपद में शिरावेध का वर्णन है । अस्तु, वृद्धिनिदान, चिकित्सा के अध्याय में ही उपदंश तथा श्लीपदसम्बन्धी शस्त्रकर्मों का उल्लेख करके वर्णन की समाप्ति की गई है ।

पुस्तक शल्यतन्त्र के ऊपर ही व्यवस्थित होने के कारण शालाक्य रोगों (आँख, कान, नाक, मुख, गला दन्त प्रभृति) का वर्णन पहले से नहीं करना उद्देश्य रहा । फलतः इन अंगों पर (जत्रु के ऊपर) होने वाले रोग अथवा उनके शस्त्रकर्मों का उल्लेख स्वतन्त्र तन्त्र (शालाक्य) के भीतर समाविष्ट होने के कारण इस ग्रन्थ में नहीं मिलेगा । न मिलना स्वाभाविक भी है । शालाक्यतन्त्र के अधिकार में अनेक प्रकार के शस्त्रकर्म मिलते हैं । यद्यपि उनके मूलभूत शस्त्र, क्षार और अग्निकर्म के ही प्रसंग हैं, परन्तु उन विविध विधियों का उल्लेख स्वतन्त्र पुस्तक में ही सम्भव है ।

संहिता ग्रन्थों की वर्णन शैली में विभिन्न रोगों के निदान एवं चिकित्सा के स्वतन्त्र स्थान पाये जाते हैं, मैंने उनका एक ही साथ पाठ दिया है, जिससे पाठक को एक ही धारा में पूरा ज्ञान हो जाय । फिर भी वर्णनों के प्रवाह में कई स्थानों पर रुकावट-सी प्रतीत होगी, जिसका निदान विभिन्न स्थानों में उक्त हुए सूत्रों का संग्रह ही है । जिन स्थानों पर ऐसे सूत्रसंग्रह किये गये है उनके स्थलों पर निर्देश टिप्पणी में कर दिया गया है । परन्तु जो बहुत प्रसिद्ध या प्रचलित मंत्र, सूत्र या श्लोक आये हैं, उनके स्थलनिर्देश नहीं भी हो पाये हैं । जैसे—ऋग्वेद से उद्धृत प्रथम की पाद–टिप्पणी । यह ऋग्वेद के १५ ऋक् के प्रथम मण्डल का ११६ वाँ सूक्त है ।

संकलन के अतिरिक्त आर्ष सूत्रों की महिमा आधुनिक युग की भाषा में

रखना भी मेरा मुख्य उद्देश्य है। क्योंकि उन सूत्रों का भाव अधिक ठोस है और उनमें प्रचुर वैज्ञानिक विचारणा का तथ्य भरा हुआ है, उनका जो कुछ भी सत्य रहा वह आज भी सत्य है और भविष्य में भी रहेगा। रोगों के बारे में जिसको उन लोगों ने साध्य कहा वह आज भी साध्य है, जिसको असाध्य घोषित किया वह आज भी असाध्य है। उपक्रमों के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ भी उद्देश्य रखा. आज भी उसी उद्देश्य से वैज्ञानिक लोग अग्रसर हैं। लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं है, हाँ, साधनों में विभिन्नता नहीं तो विविधता जरूर है। प्राचीनकाल में जो सिद्धान्त स्थिर किये गये, वे ही आज भी हैं, साधन और द्रव्य अनेक प्रकार के हो गये हैं। अन्यथा 'यदिहास्ति तदन्यत्र' कथन की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती।

प्राक्कथन का बहुत विस्तार न करते हुए अन्त में मैं अन्यान्य साधुजनों का कृतज्ञ हूँ, जिनके आशीर्वाद तथा कृपावश मैं इस कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो सका। तत्पश्चात् मैं आदरणीय गुरु प्रो० दत्तात्रेय अनन्तकुलकर्णी जी का परम कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर ग्रन्थ की अनुकूल प्रस्तावना लिखकर मुझे इस कार्य में प्रोत्साहित किया है।

आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तैर्दुष्प्रापणाय गुणसंगविवर्जिताय।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय॥
(श्रीमद्भागवत अ० ३)

रमानाथ द्विवेदी

विषयानुक्रमणिका

१ इतिवृत्तात्मकाध्याय

विषय प्रवेश :—वैदिक साहित्य में उत्कृष्ट शल्यकर्म, आयुर्वेद की परम्परा, ग्वेद में कृत्रिम अङ्ग-योजन का वर्णन, महाभारत-कालीन प्रौढ शल्यवैद्य, बौद्ध वं उत्तरकालीन शल्यकर्म-परम्परा, अशोककालीन तथा परवर्त्ती चित्रकला, थापत्यकला एवं शिलालेखों आदि में उल्लिखित चिकित्साशास्त्र अजायबघरों में गृहीत यन्त्र-शस्त्र, तुलनात्मक अनुसन्धान की आवश्यकता, विदेशी यात्रियों के खों में वर्णित चिकित्सा-अङ्ग, राजकीय निःशुल्क औषधालय, भारतीय मौलिक वैद्यक ग्रन्थों का अरबी एवं लैटिन में अनुवाद, उत्तरकाल में शल्यकर्म ज्ञान की कमी के कारण एवं उनका क्रमबद्ध विवेचन। पृष्ठ १–११

शल्यविषयकग्रंथ :—अनादि आयुर्वेद, अष्टांगविभाग, कायचिकित्सा या ात्रेय सम्प्रदाय, शल्यचिकित्सा या धान्वन्तर सम्प्रदाय, अथर्ववेद, चरकंहिता तथा उसके संस्कर्त्ता, हारीत एवं भेलसंहिता, महर्षि चरकाचार्य के कालर्णय में भ्रान्ति एवं उसका निराकरण, पुनर्वसु आत्रेय तथा अग्निवेश का समय, रकसंहिता के विभिन्न प्रकाशन, अनुवाद एवं प्राचीन टीकायें; सुश्रुताचार्य एवं ल्यप्रधान आयुर्वेद की परम्परा, उपलब्ध सुश्रुतसंहिता में परिवर्त्तन एवं परिवर्धन अन्तःसाक्ष्य, सुश्रुतसंहिता के संस्कर्त्ता नागार्जुन, प्राचीन टीकाओं में 'वृद्ध ुश्रुत' के प्रकीर्ण अंश, द्वितीय संस्कर्त्ता–चंद्रट, इतर शल्यग्रंथ, सुश्रुतसंहिता की ाचीन टीकायें, प्रकाशन तथा अनुवाद; वाग्भट प्रथम के कालनिर्णायक साक्ष्य, ाचीन टीका, प्रकाशन तथा अनुवाद; वाग्भट द्वितीय का समय, अष्टाङ्गहृदय—उसकी प्राचीन टीकायें, प्रकाशन तथा अनुवाद; वाग्भट तृतीय–उनकी रचना रसत्नसमुच्चय, माधवकर का माधवनिदान तथा उसका अरबी में अनुवाद, वृन्द माधव और चक्रपाणिदत्त तथा उनकी कृतियां, शार्ङ्गधर का समय और संहिता, ावमिश्र का महत्त्वपूर्ण प्रयास और भावप्रकाश। पृष्ठ ११—३३

प्राचीन चिकित्सालय और भेषजागार :—प्राचीन निःशुल्क चिकि गृह, पशुचिकित्सालय. पौराणिक युग के उक्त विषय के प्रमाण, पुण्यशालाएँ अन्न-वस्त्र-वितरक संस्थाएँ. प्राचीन दातव्य चिकित्सालयों में आधुनिक ढं व्यवस्था, कुमारागार, सूतिकागार, वैद्यगृह, आरोग्यशाला, भेषजागार, रसश व्रणितागार, कुटीप्रावेशिक रसायनगृह, कल्पागार, पंचकर्मगृह, पशुचिकित्सा आदि के निर्माण—विषयक कार्य का प्राचीन ग्रंथों में पूर्ण निर्देश, उक्त आगारों व्यवस्थित रूप से वर्णन । पृष्ठ ३४—

संज्ञाहर द्रव्य :— शल्यकर्मजन्य वेदनाशान्ति या वेदनासहनशक्ति लिये सीधु, मद्य, मैरेयादि का पानार्थ तथा गांजा के धूम्र का सुंघाने लिए प्रयोग । पृष्ठ ५१—

चिकित्सालय के कुछ अन्य आवश्यक उपकरण

दंतकाष्ठ एवं रस-वीर्य-दोष और ऋतु के अनुसार दंतधावन, दंतशो जिह्वानिर्लेखन, क्षौरकर्म, प्रसाधनी, आदर्श, व्यजन, विस्रावण या व्यापन्न शोधनविधि, जलपात्र, स्नान, भोजनपात्र, ष्ठीवन, वर्चः, मूत्र और पूय उलूखल एवं मूसल, चलनी तथा विस्रावक, शीत एवं उष्णोपचार—वाष्पस्ना उपनाह—स्वेद, पिचुवर्ति, चूर्णनशिला (Grind stone), खल्व, हिमपूर्ण (Ice bag) । पृष्ठ ५३—

२ यन्त्रोपयन्त्राध्याय

अति प्राचीनकाल से भारतीयों को लौह का ज्ञान, भारतीय तीक्ष्ण लौह विश्व में सर्वोत्कृष्टता, लौह—ताम्र—वङ्ग-शीश—यशद—स्वर्ण—रजत—शृङ्ग-हस्तिद काष्ठ एवं पाषाण का यन्त्र—शस्त्रनिर्माण में उपयोग, यन्त्रनिर्माणविधि, शस्त्रों धार तथा पायना, शस्त्रास्त्र के गुण दोष, निशान-शिला, शस्त्रकोष, वहनीय क फलक अथवा पीठ, अस्थिभग्न में कपाट-शयन, यन्त्रों के कर्म और यन्त्र गणन, स्वस्तिक—संदंश—ताल—नाडी—शलाका—उपयन्त्र आदि का भेदोपभेद, क व्यापार एवं रचना आदि के साथ विस्तारपूर्वक वर्णन, प्राचीन तथा न निबन्धों का तुलनात्मक वर्णन । पृष्ठ ६७—

३ शस्त्रानुशस्त्राध्याय

शस्त्रों का परिगणन, मण्डलाग्र-करपत्र-वृद्धिपत्र-नखशस्त्र-मुद्रिका या अङ्गुलि-शस्त्र-उत्पलपत्र-अर्धधार-सूची-कुशपत्र-आटीमुख-शरारिमुख-अन्तर्मुख-त्रिकूर्चक-कुठारिका-व्रीहिमुख-आरा-वेतसपत्र-वडिश-दंतशंकु-एषणी-लिंगनाशवेधनी-शलाका-कर्णवेधनशस्त्र-सर्पास्य इत्यादि शस्त्रों का भेदोपभेद, स्वरूप एवं कार्य-व्यापार सहित वर्णन। पृष्ठ १४५-१६९

४ शस्त्रकर्माध्याय

छेद्य-भेद्य-लेख्य-वेध्य-एष्य-आहार्य-विस्राव्य-सीव्य आदि शस्त्रकर्म के भेद एवं रोगों की पृथक्-पृथक् परिगणना, असीव्यव्रण, सीवन-विधि, संस्थान तथा प्रकार, वेल्लितक-गोफणिका-तुन्नसेवनी-ऋजुग्रंथि आदि बंध। पृष्ठ १६९-१७६

५ व्रणितोपासनीय या रक्षाकर्म

पूर्ण विश्राम की आवश्यकता, प्रशस्त आहार, अप्रशस्त आहार, मद्य का पूर्ण परित्याग, विषम आहार-विहार का परित्याग, मानसिक प्रसन्नता के लिए अप्रीतिकर दृश्य, दिवास्वप्न, रात्रिजागरण अमर्ष, क्रोध-शोकादि का परिहार, रक्षाकर्म के प्रतिकूल व्याधि बढ़ जाने पर आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विधानों का अनुसरण, अति प्राचीनकाल से जीवाणुओं का रूपज्ञान न होने पर भी विकृति की दशा से इनकी आनुमानिक विशोधन-चिकित्सा का प्रचलन, शल्यकर्म में जीवाणुनाशक तथा जन्तुरहित (Aseptic) कर्मों की आवश्यकता एवं उनके साधन; प्राचीन एवं नवीन शोधनपद्धतियाँ, जलशोधन—अवधूलनकर्म—विभिन्न जीवाणुनाशक लेप, वर्त्ति, कल्क, कषाय, द्रव एवं तैल आदि— व्रणों का धूपन एवं बाष्प के द्वारा शोधन, अग्नि के द्वारा विशोधन, पायना-विधियाँ, विशोधन द्रव्यों का अद्यावधि सिंहावलोकन. प्राच्य चिकित्सा का क्षेत्रप्राधान्य तथा पाश्चात्य चिकित्सा का बीजप्राधान्य होना ही यत्र-तत्र विभेद का कारण। पृष्ठ १७६-१८९

६ त्रिविधकर्मीयाध्याय

शस्त्रकर्म के तीन भेद, पूर्व कर्म, प्रधान कर्म— प्रशस्तव्रण-पूर्णपूयस्रावण-व्रणबंधन. पश्चात् कर्म-रक्षाकर्म-व्रणबंधन खोलने के नियम, आत्ययिक स्थिति में आशुक्रिया की आवश्यकता, मूर्च्छा, वेदना, निद्रानाश आदि उपद्रवों की लाक्षणिक चिकित्सा। पृष्ठ १९०-१९७

७ रक्तावसेचनाध्याय

रक्तमोक्षण की आवश्यकता, दोषभेद–दोषाधिष्ठान एवं विस्तार तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से रक्तमोक्षण के साधन, रक्तमोक्षण के सामान्य नियम-सिरावेध काल निषिद्ध अवस्थाएँ–आत्ययिक अवस्था में विधान, सुकुमार रक्तमोक्षण विधि जलौका, जलौकाभेद तथा उनके संरक्षण के साधन, जलौकावचारणकर्म–जलौकावसेचनकर्म का योगायोग, जलौकासाध्य व्याधियाँ, शृंगयन्त्रकर्म, अलाबु तथा घटीकर्म, सिरावेध का पूर्वकर्म, वेधकर्म एवं अधिष्ठान भेद से यंत्रणविधि, सम्यक व्यध के लक्षण, सिरावेध होने पर भी रक्त न निकालने के कारण, सशेषदोष-विस्रावण, रक्तमोक्षण का परम परिमाण, पश्चात् कर्म, सिरावेध का अयोग-अतियोग–मिथ्यायोग या दुष्ट व्यध, रोगानुसार सिरावेध के स्थान, अवेध्य सिराएँ, सिरावेध कर्म पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण, अत्यधिक रक्तस्राव होने पर स्तंभन–संधान-स्कंदन–पाचन–दहन-आभ्यन्तरिक चिकित्सा, उपद्रवों की चिकित्सा। पृष्ठ १९८–२५

८ क्षाराग्निकर्मीयाध्याय

क्षार के प्रधान कर्म और गुण, क्षार के भेद, क्षारनिर्माण की सामान्य विधि, मृदुक्षार और तीक्ष्ण क्षार की निर्माणविधि, उपयोग एवं उनके रासायनिक घटक तथा प्रतिसारणीय क्षार की क्रियापद्धति, प्रतिसारणीय क्षारसाध्य व्याधियाँ, क्षारकर्म की श्रेष्ठता के कारण, प्रशस्त और अप्रशस्त क्षार के लक्षण, क्षारकर्म विधि–पूर्वकर्म-मुख्यकर्म–पश्चात् कर्म, सम्यग्दग्ध, हीनदग्ध, अतिदग्ध, क्षारशान्ति के सम्बन्ध में प्राचीन तथा आधुनिक मत, क्षारकर्म के अयोग्य रोगी, क्षार पातन का काल, क्षारकर्म का माहात्म्य; अग्निकर्म की व्याख्या तथा उसके प्रचलित नवीन रूप, विद्युत्-दहन-कर्म, अग्निकर्म की श्रेष्ठता, दहन के उपकरण या माध्यम, अग्निकर्म के भेद, अग्निकर्म का काल–योग्य रोगी एवं रोगानुसार स्थान विशेष, अग्निकर्मविधि–पूर्वकर्म–कर्म–पश्चात्कर्म, त्वग्दग्ध–मांस–सिरा–स्नायु-सन्धि और अस्थिदग्ध के लक्षण, अग्निकर्म के अयोग्य रोगी, इतरथादग्ध या प्रमाददग्ध के प्रकार–प्लुष्ट–दुर्दग्ध-सम्यग्दग्ध–अतिदग्ध, इतरथादग्ध ; के सार्वदैहिक लक्षण–विस्तृति के अनुसार–विषमयता के अनुसार–उपसर्ग के बलाबल के अनुसार, दग्ध की चिकित्सा--अवस्था विशेष में इति कर्त्तव्यता तथा सामान्य

चिकित्सा दग्ध कल्प अन्य रोग एवं उनकी चिकित्सा, धूमोपहत की विभिन्न अवस्थाएँ तथा उनकी चिकित्सा-वमन-गण्डूष-शिरोविरेचन कृत्रिमश्वास क्रिया-शुद्ध प्राणवायु का प्रयोग-विद्युत् से उत्तेजन एवं उत्तेजक ओषधियों का प्रयोग, उष्ण वातातपदग्ध के लक्षण तथा चिकित्सा, शीत वातातपदग्ध के लक्षण तथा चिकित्सा, अतितेजोदग्धचिकित्सा। पृष्ठ २३५—२६४

९ प्रनष्टशल्यविज्ञानीय तथा शल्यापनयनीयाध्याय

शल्य की निरुक्ति, शारीरिक और आगन्तुक शल्य, व्रणों की आकृतियां, शल्यों की गति, शल्ययुक्त व्रण का सामान्य लक्षण, विशिष्ट अधिष्ठान होने पर पृथक् २ लक्षण, शल्यापनयन की आवश्यकता, गुप्त शल्यों की परीक्षा विधि, शल्यों का विपरिणाम, निर्गत शल्यव्रण के चिह्न और लक्षण, शल्यों के निकालने के उपाय—अनुलोम तथा प्रतिलोम विधियां, पश्चात् कर्म, अंगानुसार शल्यापनयन, उदकपूर्णोदर का शल्यापनयन तथा जलनिमग्न की विशेष चिकित्सा, बाहु—रज्जु एवं लतापाश द्वारा ग्रीवाग्रह या गला घुट जाने पर प्रयुक्त चिकित्सा विधि, कर्णस्रोत में कीट या तोय मरजाने पर निकालने के साधन।

पृष्ठ २६५—२८३

१० संधानकर्मीयाध्याय

अति प्राचीन काल से संधानकर्म के उदाहरण एवं विधिविधान, कर्णसंधान का काल, कर्म, पश्चात् कर्म, उपद्रव और उनके प्रतिकार, कर्णसंधानविधि, अनेक बंध—प्रकार, युक्त संधान की परीक्षा, कर्णशष्कुली तथा पुत्रिका का वेध—संधान—चिकित्सा तथा विभिन्न उपद्रव और उनका प्रतिकार; नासासंधानविधि—समय, आवश्यकता और पद्धति, ओष्ठसंधानविधि। पृष्ठ २८३—२९५

११ आमपक्वैषणीयाध्याय

व्रण, शोफ—कारण और सम्प्राप्ति, सामान्य लक्षण, दोषानुसार लक्षणों में भेद, शोफ के परिणाम—उपशम या विकृति, व्रणशोफ की तीनों अवस्थाएं—आमावस्था—पच्यमानावस्था—पक्वावस्था, पूयोत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार; व्रणशोफ की

चिकित्सा–अपतर्पण–आलेप–परिषेक–अभ्यंग–स्वेद–विम्लापन उपनाह–पाचन–शोणितमोक्षण–स्नेहन–वमन–विरेचन तथा अन्य सामान्यविचार, विद्रधि या प
शोफ की चिकित्सा–छेदन–भेदन–दारण–लेखन–एषण–आहरण–विस्रावरण संधा
या दीपन; व्रण के भेद एवं लक्षण, दोष तथा रोहण की दृष्टि से व्रण के भेद या विभि
अवस्थायें, व्रणस्राव, सर्वव्रणवेदना–वातादिभेद से पृथक्-पृथक् लक्षण, व्रणों की व
द्वारा परीक्षा, व्रण की साध्यासाध्यता के कारण, असाध्य व्रण के लक्षण, व्रण की चिकित्सा–सामान्यतया शोधन एवं रोपण का प्रयोग–इसके विभिन्न साधन; वैकृतापह क्रियायें, संक्षेप में षण्मूल, अष्टपरिग्राही, पंचलक्षणलक्षित, चतुष्पादसमन्वित तथा षष्टि उपक्रमों से युक्त व्रण का वर्णन। पृष्ठ २९५–३३८

१२ सद्योव्रणचिकित्सीयाध्याय

व्रण के लक्षण तथा आगन्तुक सद्योव्रण की विभिन्न आकृतियां, सद्योव्रण के भेद, छिन्न-चिकित्सा–रक्तस्तंभन, यथास्थानानयन, सीवन तथा सम्यक् बंध विश्राम, भिन्न–विद्ध–पिच्चित-घृष्ट आदि के लक्षण और चिकित्सा, विश्लिष्ट देह, अध्वादिक्षीण, मर्महत दुष्ट व्रण के लक्षण और चिकित्सा। पृष्ठ ३३८–३५३

१३ विद्रधि-निदान-चिकित्सीयाध्याय

विद्रधि की व्याख्या तथा सम्प्राप्ति, आन्तरिक तथा बाह्य विद्रधि के विभिन्न भेद, स्थानिक तथा सार्वदैहिक लक्षण या चिह्न, आभ्यन्तरविद्रधि का हेतु, साध्यासाध्यता, गुल्म से विभेदक लक्षण, चिकित्सा; मज्ज-परिपाक और उसकी चिकित्सा।

पृष्ठ ३५३–३६९

१४ विसर्प-नाडीस्तनरोग-निदान-चिकित्सीयाध्याय

विसर्प के दोष एवं दूष्य, विसर्प की व्याख्या कारण, सम्प्राप्ति, भेद, लक्षण एवं सामान्य चिह्न, साध्यासाध्यता तथा चिकित्सा, नाडीव्रण के कारण लक्षण, भेद, साध्यासाध्यता तथा चिकित्सा–कल्क–क्षारसूत्र–तैल पिचु या वर्ति का विशेष रूप से प्रयोग; स्तनकोप के कारण और चिकित्सा–पाचन या शस्त्रकर्म।

पृष्ठ ३६९–३८४

१५ ग्रन्थ्यपच्यर्बुद-निदान-चिकित्सीयाध्याय

ग्रन्थि के लक्षण, प्रकार, दोष एवं अधिष्ठान भेद से ग्रन्थिके भेद, सामान्य तथा दोषानुसार पृथक्-पृथक् विशेष चिकित्सा; अपची का स्वरूप एवं विशिष्ट लक्षण तथा भेद, अपची की चिकित्सा—मूर्धविरेचन—शस्त्रकर्म—क्षारकर्म, रोपण एवं विभिन्न औषधियों का प्रयोग, पथ्य तथा साध्यासाध्यता; अर्बुद की व्याख्या, सौम्य तथा घातक अर्बुद तथा अन्य भेद, हेतु, रक्तार्बुद, मांसार्बुद, अर्बुदों में पाक न होने के कारण, साध्यासाध्यता, अर्बुदों की पृथक्-पृथक् चिकित्सा क्षार—अग्नि तथा शस्त्रकर्म, उपद्रवों की चिकित्सा; गलगण्ड की निरुक्ति तथा कारण, भेद और लक्षण, उपद्रव, चिकित्सा। पृष्ठ ३८४–४१२

१६ वृद्धि-निदान-चिकित्सीयाध्याय

ब्रध्न या वृद्धि का व्यापक अर्थ सम्प्राति, हेतु और भेद, पूर्वरूप तथा लक्षण, अन्त्रवृद्धि का विस्तृत वर्णन—निदान, लक्षण तथा चिह्न, सामान्य तथा विशेष चिकित्सा—संशामक क्रिया—रोगनिर्मूलन तथा शस्त्रकर्म, उपदंश तथा श्लीपद में शस्त्र—चिकित्सा, श्लीपद में शिरावेध। पृष्ठ ४१२–४२३

१७ भग्न-निदान-चिकित्सीयाध्याय

भग्न का अर्थ, हेतु, भेद तथा प्रकार, पूर्ण तथा अपूर्ण भेद, संधिमुक्त तथा काण्डभग्न के सामान्य चिह्न और लक्षण, सार्वदैहिक लक्षण, उपद्रव, साध्यासाध्यता, असंयोजन या विकृत संयोजन के कारण, अस्थिसंयोजन का सिद्धान्त और असंयोजन के परिणाम, सामान्य भग्नचिकित्सा, सन्धिविश्लेष में पीडन, ग्रहण, नमन, उन्नमन, परिवर्त्तन के द्वारा यथास्थान नमन, बन्धन, उद्वर्त्तन और चालन, अस्थिभग्न में पीडनादि के अतिरिक्त स्थानानयन, स्थिरीकरण, उद्वर्त्तन; प्रत्यङ्गभग्न के अनुसार विधियों का वर्णन, कपाटशयन, गन्धतैल, सम्यग्रूढ की पहचान। पृष्ठ ४२३–४४६

१८ अर्शनिदान-चिकित्सीयाध्याय

अर्श का व्यापक अर्थ, अर्श का हेतु और सम्प्राप्ति, अर्शस्थान की रचना, अर्श के प्रकार, पूर्वरूप, रूप—शुष्कार्श—परिस्रावी, लक्षणों का दोषानुसार ज्ञान,

साध्यासाध्यता; अन्य अङ्गों के अर्श–लिङ्गार्श, योन्यर्श, नाभ्यर्श चर्मकीलादि के लक्षण; अर्श में भेषजचिकित्सा की निरापदता, चिकित्सा के चार प्रकार के साधनोपाय–भेषज, क्षार, अग्नि, शस्त्र, स्थानिक आलेप, आभ्यन्तरीय प्रयोग अपथ्य; क्षार, अग्नि तथा शस्त्रक्रिया का पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात् कर्म सम्यदग्ध के लक्षण, आधुनिक शस्त्रकर्म की चार विधियाँ। पृष्ठ ४४७ ४६६

१९ भगन्दर-निदान-चिकित्सीयाध्याय

व्याख्या, हेतु, सम्प्राप्ति और प्रकार, पूर्वरूप, लक्षण साध्यासाध्यता, चिकित्सा-भेषज, क्षार, अग्नि और शस्त्र, कुछ स्थानिक प्रयोग, मुख्य भेदों की पृथक्-पृथक् चिकित्सा का वर्णन, उपद्रवों की चिकित्सा। पृष्ठ ४६७–४७७

२० उदररोग-निदान-चिकित्सीयाध्याय

उदररोग तथा उसके मुख्य कारण—मेदोवृद्धि, वायु, जल, मल, उदरस्थ अङ्गों का आयाम-विस्तार, अर्बुद; उदररोग के भेद, हेतु, सम्प्राप्ति, पूर्वरूप, लक्षण, दूष्योदर, प्लीहोदर, यकृद्दाल्युदर, बद्धगुदोदर, परिस्राव्युदर, दकोदर या जलोदर, साध्यासाध्यता, सामान्य चिकित्सा–पथ्य, अपथ्य, त्रिदोषशामक उपचार, बहुशः अनुलोमन तथा कुछ सामान्य योग, आनाहवर्त्तिक्रिया, गुदवर्ति; विभिन्न भेदों की विशिष्ट चिकित्सा, बद्धगुद तथा परिस्रावी उदर के रोगियों में विशेष व्याख्या, जलोदर का शस्त्रकर्म। पृष्ठ ४७७—४९७

२१ अश्मरी-निदान-चिकित्सीयाध्याय

अश्मरी की व्याख्या, मुख्य कारण तथा सम्प्राप्ति, बस्तिगत अश्मरी रोग का पूर्वरूप, सामान्य लक्षण या रूप, अश्मरी के प्राचीन तथा नवीन वर्गीकरण, अश्मरी तथा शर्करा, मूत्रमार्ग-प्रवृत्ता अश्मरी के लक्षण, अश्मरी की दोषानुसार सामान्य चिकित्सा, बस्तिगत अश्मरी का छेदनकर्म—पूर्वकर्म तथा विशिष्ट प्रधानकर्म, मूत्रमार्ग-प्रतिपन्न अश्मरी का प्रधानकर्म, पश्चात्कर्म, आचार या विहार, अश्मरी-कर्म के स्थान के चारों ओर के आठ मर्म, अश्मरीभञ्जन, अश्मर्याहरण के मार्ग, अश्मरी में शस्त्रकर्म के दोष तथा गुण तथा शस्त्रकर्म की आधुनिक विधि का विवेचन। पृष्ठ ४९८—५१८

२२ प्रमेहपिडिका-निदान-चिकित्सीयाध्याय

दश प्रकार की प्रमेहपिडिकायें, व्याख्या, हेतु, सम्प्राप्ति तथा अवस्थान; पिडिका के लक्षण तथा भेद, साध्यासाध्यता, सार्वदैहिक तथा स्थानिक भेद से चिकित्सा, सर्वप्रथम प्रमेह की चिकित्सा की आवश्यकता, कुछ प्रसिद्ध योग, संशोधन चिकित्सा, पक्व तथा अपक्वावस्था में स्थानिक उपचार। पृष्ठ ५१८–५२६

२३ क्षुद्ररोग-निदान-चिकित्सीयाध्याय

क्षुद्ररोगों की अनेक व्याख्याएं, विभिन्न ग्रन्थों में रोगों की संख्या में भेद होने के कारण; अलजी —लक्षण, चिकित्सा, यवप्रख्या, अन्धालजी, कच्छपी, पनसिका, पाषाणगर्दभ की चिकित्सा, विवृता, इन्द्रवृद्धा, जालगर्दभ, कक्षा, विस्फोटक के लक्षण तथा चिकित्सा, वल्मीक की विशिष्ट चिकित्सा, अग्निरोहिणी, चिप्प, कुनख, अनुशयी, विदारिका, शर्करार्बुद आदि की पृथक् पृथक् चिकित्सा, पामा, विचर्चिका, रकसा की व्यवस्था, पाददारी तथा कदर की चिकित्सा, अलस की चिकित्सा, इन्द्रलुप्त, दारुणक, अरुंषिका, पलित की चिकित्सा, मसूरिका के भेद, स्वरूप, हेतु, सम्प्राप्ति, पूर्वरूप एवं रूप, साध्यासाध्यता तथा चिकित्सा, युवानपिडिका, पद्मिनीकण्टक, जतुमणि, मशक, तिलकालक, न्यच्छ, चर्मकील, व्यङ्ग की चिकित्सा, परिवर्त्तिका का लक्षण तथा चिकित्सा, अवपाटिका, निरुद्धप्रकश के कारण तथा विस्तृत चिकित्सा, सन्निरुद्धगुदचिकित्सा, अहिपूतनक के लक्षण एवं चिकित्सा, वृषणकच्छु तथा गुदभ्रंश की चिकित्सा, शूकरदंष्ट्र की व्यवस्था। क्षुद्ररोगों में पथ्यापथ्य। पृष्ठ ५२६–५६२

२४ मिश्रकद्रव्य—संग्रहणीयाध्याय

आरग्वधादि, वरुणादि, वीरतर्वादि, रोध्रादि, अर्कादि, सुरसादि, पटोलादि, ऊषकादि, न्यग्रोधादि, लाक्षादिगण, लघुपंचमूल, बृहत्पञ्चमूल, वल्लीपञ्चमूल, कंटकपञ्चमूल, तृणपञ्चमूल, प्रियंग्वादिगण, अम्बष्ठादिगण, शालसारादिगणों का वर्णन, वात–पित्त–कफ तथा सन्निपातजन्य शोफशामक वर्ग-तिलाष्टक, शोधनकेसरी लेप, शरपुंखामूल लेप और अन्य रोपणयोग तथा इतर प्रभावकारी तैल, घृत, मलहर आदि का उल्लेख। पृष्ठ ५६३–५७१

२५ योग्यासूत्रीयाध्याय

शिष्य के कर्त्तव्य, आयुर्वेद में प्रत्यक्ष कर्माभ्यास की आवश्यकता, यो
का अर्थ, प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के साधन, छेदन–भेदनादि कर्माभ्यास के आश्र
बन्धनकर्म का अभ्यास, अग्नि तथा क्षारकर्म का यथास्थान अभ्यास ।

पृष्ठ ५७२–५७

२६ विशिखानुप्रवेशनीयाध्याय

विशिखा शब्द का अर्थ–व्यवसाय में प्रविष्ट होने के पूर्व राजाज्ञा की आव
श्यकता, आचार, वस्त्र, वेष–भूषा, रोगी के साथ सम्बन्ध, दूत, निमित्त शकु
आदि का सम्यक् ज्ञान तथा रोग का भली प्रकार निदान और चिकित्सा; रो
तथा रोगी की परीक्षाविधियाँ, रोगी की परीक्षा के विभिन्न सिद्धान्तों का समन्व
कुछ अन्य उपदेश, वैद्य के गुण । पृष्ठ ५७५–५८

उपसंहार

सुश्रुतशल्य की उपयोगिता तथा विशेषता, कुछ निष्पक्ष समालोचकों
वचन, भारतीयों की मौलिक चिकित्सापद्धति, सुश्रुतशल्य को अधिक व्यावहारि
रूप देने की आवश्यकता तथा उपाय, सुश्रुतशल्य की उपयोगिता के तीन पहलू

पृष्ठ ५८२–५९

प्रथम प्रकरण

इतिवृत्तात्मकाध्याय

(१) विषय-प्रवेश

भारतीय आर्य चिकित्सा-प्रणाली का क्रमबद्ध घटनाप्रधान इतिहास का लिखना एक बड़ा दुःसाध्य कार्य है। प्राक ऐतिहासिक युग से आरम्भ करके यह क्रम आज तक निरंतर रूप से किसी न किसी रूप में चला आ रहा है। इस शास्त्र के कई अंगों की परम्परा निर्बाध बनी मिलती है; परन्तु कई अंगों का विकास मध्य में विराम को प्राप्त हो गया है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति अपने प्रस्तुत विषय की है। शल्य—शालाक्यविषयक सिद्धान्तों का विकास अथवा उसकी व्यावहारिकता और प्रयोगात्मक रूप का एक बड़ा अन्तराल दिखाई पड़ता है, जो कई शताब्दियों का है। फिर भी जो साधन उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इतिवृत्त का एक ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। इसका विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व होगा। साथ ही इस ज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि शल्यकर्म करना चिकित्सा का सब से प्रथम और प्रधान अंग रहा है। भारतवर्ष में अतिप्राचीन काल से यह कर्म किया जाता रहा और कर्म करने वालों का एक प्रबल सम्प्रदाय रहा।

सामयिक साहित्यों का प्रमाण—'ऋग्वेद' संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ है। आर्य जाति वेदों को सब ज्ञान का उद्गमस्थल मानती है। आज के विकसित ज्ञान का अंकुररूप में पाया जाना सर्वमान्य सिद्धान्त है। ऋग्वेद में चिकित्सा के विज्ञान से संबंधित प्रचुर मंत्र पाये जाते हैं। कई आचार्यों की सम्मति में तो ऋग्वेद का ही उपवेद आयुर्वेद है। इस ग्रन्थ में आधुनिक कृत्रिम अंगयोजन का वर्णन मिलता है। कथा है—खेल नामक राजा रहे, उनके पुरोहित रहे अगस्त्य। राजा की सम्बन्धिनी एक स्त्री रही उसका नाम था विशाला। किसी युद्ध में उस स्त्री का पैर कट गया। अगस्त्य ने अश्विनीकुमारों

की प्रार्थना की और वे अवतरित होकर आये। उन्होंने रात्रि के समय में स्त्री के कटे हुए पैर के स्थान पर लौहनिर्मित कृत्रिम पैर का संयोजन कर दि[1] इसी प्रकार अथर्ववेद में जिसे चरक और सुश्रुतसंहिताओं ने अपना वेद मा आयुर्वेद को उपवेद घोषित किया है, कई वर्णन काय तथा शल्य–चिकि सम्बन्धी मिलते हैं। शारीरशास्त्र, रक्तपरिभ्रमण, मूत्रविस्रावण आदि का मिलता है[2]। कई मंत्र यक्ष्मा के प्रतिषेध रूप में मिलते हैं।[3]

इस प्रकार अति प्राचीन काल से वेदों के युग से शल्यविदों का स्व सम्प्रदाय चला आता है। इसलिये चिकित्सा के इस अङ्ग को आदि क गया है। परवर्ती काल में रामायण में सञ्जीवनी के द्वारा मूर्च्छित लक्ष्मण पुनरुज्जीवित करने का प्रसंग सदैव साकार है। महाभारत के युग में ज्ञान का भूरिशः विकास दृष्टिगोचर होता है। राजा परीक्षित ने शृङ्गी ऋ के शाप से रक्षा करने के निमित्त जल में एक-स्तम्भ वाला मकान बनवाया और वहाँ अनेक मंत्र और विषचिकित्सक अगदों (प्रतिविषों) के साथ नि किये गये थे[4]। योद्धा भीष्म पितामह के शर-शय्या पर लेट जाने की अ में दुर्योधन ने अनेक शल्यविदों को उनके शल्योद्धरण के लिये बुलाया प पितामह की अनुमति न मिलने की वजह से उन चिकित्सकों को प्रचुर धन और पूजन के अनन्तर विदा करना पड़ा[5]।

---

१. चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णम्, आजा खेलस्य पारितक्म्यायाम्।
सद्यो जंघामायसीं विशालायै, धने हिते सर्त्तवे प्रत्यधत्ताम्॥

२. अथर्ववेद १।४।१७।४ तथा १।२।११

३. अथर्ववेद ७-७-७६-३

४. संमन्त्र्य मन्त्रिमिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित्। प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षित
रक्षाञ्च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च। ब्राह्मणान् मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत्
(महाभारत आदिपर्व ४२।२८,२

५. उपतिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः। सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः सुष्ठु शिक्षिताः
तान्दृष्ट्वा जाह्नवीपुत्रः प्रोवाच तनयं तव। धनं दत्त्वा विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः
एवंगते मयेदानीं वैद्यकार्यमिहास्ति किम्। क्षात्रधर्मे प्रशस्तां हि प्राप्तोस्मि परमां गति
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव। वैद्यान् विसर्जयामास पूजयित्वा यथार्हतः
(महाभारत भीष्मपर्व १२०।५५-५८

बौद्धकाल में भी शल्यतन्त्र के प्रचार का प्रमाण मिलता है। महावग्ग में खा है जीवक ने भगवान् बुद्ध की चिकित्सा की थी। वह कपाल देश के शस्त्र-र्मों को सफलता के साथ किया करता था। इस वैद्य ने तक्षशिला विश्वविद्यालय सात वर्ष तक आयुर्वेद का अध्ययन किया था तदनन्तर वह राजा बिम्बसार राजवैद्य नियुक्त हुआ था। ऐसा ही प्रसंग अश्वघोष के द्वारा भगंदर की चिकित्सा सम्बन्ध में आता है। पश्चात् बुद्ध ने स्थान के मृदु होने से तथा व्रण के पूर्ण ाफ न होने के कारण इस कर्म का निषेध कर दिया।

पश्चात्कालीन काव्य-ग्रन्थों में चिकित्सकों के कई विशिष्ट सम्प्रदायों का ल्लेख मिलता है। जैसे भोजप्रबन्ध की कहानी में शस्त्रकर्म के पूर्व किसी संज्ञाहर व्य का प्रयोग, मालविकाग्निमित्र में मन्त्रसिद्ध विष–वैद्य का आख्यान।

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में जैसे मनुस्मृति में इस व्यवसाय के करने वालों के ाथ साधारण जन-समाज के व्यवहार की व्याख्या मिलती है। उस में शल्य-कर्म करने वालों के हाथ का भोजन निषिद्ध बतलाया गया है। निश्चित ही यह अवनति के युग का सूचक है[१]।

चित्रकला और स्थापत्य—देश में अनेक भागों में बिखरे हुए शिला-ेख (अशोक के शिखालेख) अंकित भित्तिचित्र, निर्मित मूर्ति, विभिन्न खुदी ई प्रशस्ति और स्तंभलेख आदि के द्वारा जिस प्रकार प्राचीन इतिहास की ामग्री एकत्रित की जाती है, उसी प्रकार चिकित्सा शास्त्र का भी इतिहास प्राप्त ो सकता है। अशोक के शिलालेखों में लिखा मिलता है कि उसने अपने ाज्य भर में बहुत से आतुरालय खुलवाये थे, जिसमें न केवल मनुष्यों का ही रन् पशुओं का भी इलाज होता रहा। चित्रों में अनेक वनौषधियों (जड़ी-ूटियों) के अंकन मिलते हैं, जिनका ध्यानपूर्वक अध्ययन इस दिशा में प्रेरित र सकता हैं। दृश्यों में चित्रित व्यक्तियों एवं उनके चित्र में अंकित कार्यों को देख र एक खासी सामग्री इकट्ठी हो सकती है। परन्तु ऐसी चीजें बहुत थोड़ी हैं।

'गणेश' गुफा में एक चित्र में संवाहन का दृश्य लिखित है। संभवतः

---

[१] चिकित्सका देवलका मांसविक्रयिणस्तथा। विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याःस्युर्हव्यकव्ययोः॥
चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः। उग्रान्नं पूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दिशम्॥
(मनु० चतुर्थ० २१२)

पिता की सेवा करती हुई कन्या का दृश्य है; परन्तु इतने समीप में बैठ क दाहिना हाथ पुरुष व्यक्ति के गले में लगा कर सेवा अविवाहिता स्त्री के लि असम्भव-सा जान पड़ता है। परन्तु यदि इस झुके पुरुष व्यक्ति के अंकन व घायल आदमी मान लिया जाय अथवा रोग-ग्रस्त व्यक्ति, तो कन्या को परिचारिका अथवा संवाहिका (Maiden Nurse) मानने में कोई आप नहीं। उसके शुद्ध चरित्र पर भी कोई लाँछन नहीं आता।"[1]

यन्त्र-शस्त्र—अजायब घरों में संगृहीत शल्य कर्म में प्रयुक्त होने वा हथियारों, उनके प्रयोगों के ऊपर विचार करते हुए उनके प्रचार और विस्तार द्वारा स्वशास्त्र-विषयक प्रचुर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह सब विदित है कि एथेन्स और नेप्लस शहर के संग्रहालयों के नमूनों के अध्ययन प्राचीन शल्यविद्या पर कितना प्रकाश पड़ा है और उसके फलस्वरूप आज युग कितना विकास की ओर अग्रसर हो पाया है। परन्तु जहाँ तक अ भारतीय संग्रहालयों का प्रश्न है उन पदार्थों का अभाव-सा ही है।

तुलनात्मक अध्ययन—चिकित्सा-विषयक प्राचीन और मान्य मौलि ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे मिलते हैं। सूत्रण-पद्धति और परम्परा के अनुसरण कारण भाषा क्लिष्ट और भाव कई जगह दुरूह हो जाते हैं, टीकायें भी अर्थ ग्रह कराने में मौन रहती हैं। यन्त्र और शस्त्रों के विवरण संक्षिप्त हैं। हथियारों अव्यवहार तथा परम्परया प्रयोग न होने की वजह से उनके विशिष्ट प्रयोग त निर्माण-विधि आदि का ज्ञान स्पष्ट नहीं हो पाता। फलतः उनके बारे में क्रियात्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये तत्सदृश ज्ञान जो ग्रीस और रोम देश के शल्यविदों रहा, जानना आवश्यक हो जाता है। ग्रीस, रोम और अरब देश में आज संग्रहालयों में तत्कालीन यन्त्र, शस्त्र जो शल्यकर्म में व्यवहृत होते थे, उपलब्ध हैं उनके प्रयोग तथा निर्माणविधि का भी ज्ञान शेष है। उन शस्त्रों का वर्णन पढ़ अपने शास्त्रों में निहित ज्ञान की तुलना करने से हुए अध्ययन करने से बहुत बा स्पष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार आधुनिक युग के शल्यकर्म में व्यवहृत होने वा हथियारों की तुलना भी आवश्यक है। जिस प्रकार तुलनात्मक कहानी साहित्य औ

---

[1] दी एण्टिकिटीज़ आफ ओरिसा, द्वितीय भाग ११ सफा पर डा० मित्र का लेख क्रि

भाषा विज्ञान (शब्दों की तुलना) के अध्ययन से बड़ी-बड़ी खोजें हुई हैं उसी प्रकार तुलनात्मक चिकित्सासाहित्यके अध्ययन से भी बड़ा अन्वेषण किया जा सकता है।

यात्रियों के लेख—प्राचीन काल में भारतवर्ष में भ्रमण करनेवाले व्यक्तियों, इतिहासकारों और तीर्थयात्रियों ने देश की तत्कालीन दशा, समाज, शासन, ज्ञान और विज्ञान संबन्धी लेख लिखा है। उससे उस युग के इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। उनके लेखों से ज्ञात होता है कि उस युग में चिकित्सा-व्यवसाय का अच्छा प्रचलन रहा। चिकित्सा के आठ अंग रहे, जिन पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखी थीं और उनके विशेषज्ञ होते रहे। ह्वेनसांग और फाह्यान के युग में अनेक अस्पतालों का वर्णन मिलता है। देश भर में दातव्य औषधालय और पुण्यशालाओं की व्यवस्था रही, उनका प्रबन्ध राज्य की ओर से होता रहा। एरियन ने अपने इतिहास ग्रन्थ में वैद्यक विद्या के अध्ययनाध्यापन कर्म में पटु ब्राह्मणों की प्रशंसा की है। ईसा की आठवीं शताब्दी में चिकित्सा के मौलिक ग्रन्थों का अनुवाद अरबी में हुआ और इस शताब्दी तक बहुत भारतीय वनौषधियां ग्रीक निघंटु में अपना स्थान प्राप्त कर चुकी थीं।

अद्यावधि वैद्यक का व्यवहार—अब प्रश्न यह उठता है कि चिकित्सा व्यवसाय तो आज भी उसी मौलिक रूप में चला आ रहा है, उसकी परम्परा धारा-प्रवाह से चलती ही आ रही है फिर तो आसानी के साथ यंत्र-शस्त्र का ज्ञान, निर्माण और उसका प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है! आज के युग में आयुर्वेद के चिकित्सकों से कोई भी ज्ञान शल्य-विषयक नहीं प्राप्त किया जा सकता, न ग्रन्थ के लेखन में ही कोई महत्त्व की सहायता प्राप्त हो सकती है। उनका शल्य–संबन्धी ज्ञान आज की तुलना में नगण्य है–'क्योंकि उस विज्ञान की हीन दशा बौद्ध काल में ही प्रारंभ हो चुकी थी और मुसलमानों का राज्य-काल पहुँचते-पहुँचते पूर्णतया नष्ट हो गई।' फिर भी शल्य-कर्म-संबन्धी ग्रन्थ लिखने में भी प्रयास संभव था, किया गया है। बहुविध प्राप्य सुविधाओं की सहायता लेने में भी कोई कोर-कसर नहीं रखी गई है। विषय का भव्य रूप देने के लिये जो प्रयास किया गया है, उसे पाठक स्वयं अनुभव करेंगे।

प्राचीन युग में इस प्रकार सफलता के साथ जिस शल्यकर्म की कला और क्रिया का अभ्यास होता रहा, आज की वैद्य–परम्परा में उसका एकदम अभाव

कैसे हो गया। शल्यकर्म की अवनति में सहायभूत कारणों का विचार किया जायगा।

१. कुछ धार्मिक रूढियों और अपवित्रता का विचार करते हुए भार वर्ष के अधिवासी हिंदू जाति ने शवच्छेद करने का अभ्यास बहुत दिनों से दिया था—शवच्छेद का कर्म शरीर–रचना के ज्ञान के लिये एक आधार साधन है, इस साधन के अभाव में शल्यकर्म दुरूह हो जाता है। इसमें सं नहीं कि बहुत प्राचीन युग के हिन्दू इन संकुचित विचारों से दूर रहे, तभी उन्होंने धर्म-ग्रन्थों में लिखा है कि केवल स्नान के द्वारा शवस्पर्श करने वा ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है[1]। और मृत जीवों की अस्थि का स्पर्श करने व व्यक्ति की भी शुद्धि गौ का स्पर्श करके अथवा विना अभ्यंग के गण्डूष (कुल्ल मात्र से हो जाती है[2]। परन्तु उसी मनुस्मृति में शल्यविद्या की अवन का सूचक तो दूसरा श्लोक मिलता है, जिसमें चिकित्सकों का विशेष शल्यकर्म करने वालों का भोजन करना तक निषिद्ध बतलाया गया है[3]।

२. पुरोहितों और धर्मगुरुओं की बाधा— जिस प्रकार यूरोप के वि की प्रगति में बाधक सिद्ध हुई थी उसी प्रकार भारत की मध्ययुगीन साधना हुई। इस युग में लोगों की श्रद्धा मंत्र, तंत्र, योग, दैव आदि में अधिक हो लगी—'अधमः शस्त्रदाहाभ्यां सिद्धवैद्यस्तु मान्त्रिकः', कई मन्दिरों चिकित्सालय का रूप धारण कर लिया। वहां पर स्वप्नों के जरिये तथा मंदि में रात्रिनिवास के द्वारा रोगों के इलाज की व्यवस्था होने लगी। तारकेश्वर मंदिर आज भी मशहूर है। वहां पर शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार व्याधि दूर हो जाती है, ऐसी प्रसिद्धि है। ग्रीस और इजिप्ट में भी पुरा जमाने में ऐसी व्यवस्था थी। आधुनिक युग में विशिष्ट मुद्रा (Galvani ring) विशेष प्रकार के कमरकस (Abdominal belt) और हीप्न

---

[1] शवं तत्स्पृष्टिनञ्चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति।

[2] नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति।
आचम्यैव तु निस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा॥

[3] पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम्॥ (मनुस्मृति ४, २२०)

टिज्म के द्वारा चिकित्सा की व्यवस्था उसी का प्रतीक है। इस प्रकार शस्त्रकर्म एवं दाहकर्म प्रभृति शल्यतंत्रीय उपचारों को अधमकर्म समझ कर लोगों ने मंत्र-चिकित्सा को महत्ता दी। फलतः शल्य-विद्या की अवनति होने लगी।

३. संज्ञाहर द्रव्यों का अभाव—शल्य कर्म में प्रयुक्त होने वाले शस्त्रों से जनता बहुत डरती थी, क्योंकि इस कर्म में रोगी को कष्ट और यंत्रणा होती थी, अतः रोगी और चिकित्सक दोनों इस कष्ट से बचना चाहते थे। परन्तु इसके साधक संज्ञानाशक द्रव्यों के अभाव में कर्म की प्रगति में रुकावट पड़ती थी। शस्त्रकर्म के अतिरिक्त अन्य बाह्य उपचारों की जैसे स्वेदन, उपनाह (पुल्टिश), क्षार, दाह कर्म की सफलता का प्रभाव जन साधारण के ऊपर बहुत पड़ता था और वे स्वीकार करते थे कि प्रत्येक समय चाकू का प्रयोग आवश्यक नहीं है। यह धारणा केवल साधारण जनता तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि उस काल के शल्यविदों में भी इसी बात का प्रचार रहा जैसा की सुश्रुत की उक्ति से पता चलता है।—'शस्त्रकर्म से क्षारकर्म, क्षार से अग्निकर्म श्रेष्ठ है।'

इस प्रकार शल्य-उपचार के पक्षपाती होते हुए भी वे शस्त्रकर्म करनेकी अपेक्षा औषध, क्षार, अग्नि का उपयोग उन-उन आधिकारिक रोगों में करने लगे, फलतः शस्त्रकर्म में उनकी अनवधानता हो गई। विकृति शरीर के अध्ययन की तरफ भी उनकी प्रवृत्ति नहीं रही। शव परीक्षा (Post Mortem) अथवा शस्त्र-कर्म के द्वारा विकृति-विज्ञान अथवा यथार्थ निदान का ज्ञान होना कठिन हो गया। इसके अभाव में न केवल शल्य अपितु काय-चिकित्सा का भी ह्रास हुआ।

४. ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में अतीव श्रद्धा—प्रारम्भिक युग के ग्रन्थ ऋषि-प्रणीत होने से आर्ष कहलाते हैं। परम्परा के अनुसार वे मौलिक, अकाट्य, विश्वसनीय और पवित्र माने जाते हैं। उनके विचारों का खण्डन अनुचित समझा जाता है। उनके प्रवचनों की समीक्षा अथवा योग्यायोग्यता की विवेचना बड़ी संयत भाषा में की जाती है, इसके विपरीत पश्चिमात्य देश के आधुनिक वैज्ञानिकों को देखें अथवा उनकी रचनाओं का विचार करें तो बहुत बड़ा अन्तर प्रतीत होता है। यूरोप में भी पहले परम्परा के अन्धभक्त व्यक्ति रहे। वे अपने पूर्व ग्रन्थ-कारों की रचना में परिवर्तन नहीं चाहते थे। यही कारण था कि चिकित्सा के क्षेत्र में गेलेन दो सहस्र वर्ष तक प्रधान आचार्य रहा। इसी भांति आयुर्वेद कई

सहस्र वर्षों से चला आ रहा है अनेक वैज्ञानिक पैदा हुए उनका सम्मान बहुत रहा, परन्तु उनके द्वारा विद्या का प्रचुर विकास नहीं हो पाया। वास्तव दो ही ग्रन्थकार चरक और सुश्रुत प्रधान और मौलिक हैं, अन्यथा परवर्त्ती दू आचार्य, यद्यपि उनकी भी संख्या कम नहीं, कोई नई चीज नहीं दे पाये। कुछ ए तो दोनों ग्रन्थों के अविकल सारांश देकर संतुष्ट हो गये और अन्य लोगों ने य अपनी भिन्नता भी दिखाई तो उन्हीं स्थलों पर जहां पर पूर्व के ग्रन्थकार कोई बड़ी गलती दिखाई पड़ी। कहने का तात्पर्य यह है कि काय-चिकित्सा क्षेत्र में तो कुछ स्वतंत्र प्रतिपादन हुआ, परन्तु शल्य के क्षेत्र में कुछ टीकाओं अतिरिक्त स्वतंत्र प्रतिपादन करते हुए कोई मौलिक अथवा संग्रह ग्रन्थ लिखा नहीं जा सका।

५. **बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव**—बौद्ध धर्म का उद्भव ब्राह्मणों के यज्ञादि हिंसा के प्रतिक्रिया रूप में हुआ। फलतः उसने दया और अहिंसा का उपदे देना प्रारंभ किया। शस्त्रकर्म में रोगी और चिकित्सक दोनों को पीड़ा यंत्रणा होती थी, फलस्वरूप इस धर्म के उपदेशकों ने शस्त्रकर्म का निषेध क हुए औषधिसाध्य विधानों को प्रचारित किया। रसौषधि अथवा दिव्यौषधि का जन्मदाता नागाजुन नामक महान वैज्ञानिक इसी युग की देन है। उस अपने प्रभाव से पूर्णतया नवीन चिकित्साप्रणाली की उद्भावना की[1]। पर बौद्धधर्म की बढ़ती हुई प्रगति शल्यविद्या को अवनति की दशा में ले आने एक प्रधान कारण हुई। धीरे-धीरे देश भर में बौद्ध धर्म का तीव्र गति से प्रचा होने लगा और सर्वत्र इस विद्या की प्रगति बंद हो गई। यद्यपि बुद्धदेव के उपदेश में कई स्थानों पर कुछ शस्त्रों (Lancet) के प्रयोग की व्यवस्था है परन्तु अधि स्थानों पर विशेषतः संदेहात्मक स्थलों पर इसका पूर्णतया निषेध किया गया है उदाहरणार्थ विद्रधि की चिकित्सा ने उन्होंने वृद्धिपत्र (चाकू) का इस्तेमा बतलाया परन्तु भगन्दर की चिकित्सा में केवल शस्त्रों (Lancet) का ही न

---

[1] दिव्यौषधि विना देवि शस्त्रविद्या सुनिष्फला। वैरूप्यं कुरुते याश्च दुश्चिकित्स्ये व्यधान्तरे
जायन्ते हि यथार्शांसि पाटितानि पुनः पुनः। किं तत्र शस्त्रसाध्यं स्यात्सुसिद्धैर्भेषजैर्विना
धातूनां व्यापदि यच्च भेषजं नैव सिद्ध्यति। ह्यामये दुस्तरे तस्मिन् शस्त्रमेव प्रसिद्ध्यति
पुनः संशमनं तत्र धातूनां हि प्रशान्तये॥ (महानीलरत्न पटल १०)

चरन् वस्ति (Clyster) तक को प्रयोग के लिए निषिद्ध किया है। यदि महावग्ग के इस संबन्ध की कथा उद्धृत की जावे तो अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

जब तक भगवान् ने उचित समझा 'सवथ्थी' में निवास करते रहे, पश्चात् 'राजगृह' की यात्रा की। पहुंचने के बाद राजगृह में वेलुवाना के समीप कालन्दक निपाय में रहने लगे। उस स्थान पर एक भिक्षु रहे जिन्हें गुद भगन्दर हो गया था, वहां पर एक चिकित्सक रहे 'आकासगोत्त' जिन्हें रोगी की चिकित्सा करनी होती थी। भिक्षुक के व्रण शस्त्र (Lancet) का प्रयोग करते रहे। भगवान् अपने शयनस्थल से टहलते हुए उस जगह पर आये जहां वह भिक्षु रहता था।

'आकासगोत्त' वैद्य ने दूर से आते हुए भगवान् को देखकर कहा—भगवन् इस भिक्षु के छिद्र को देखने की कृपा करें, इसका मुख छिपकली के सदृश है। बुद्धदेव ने यह सोचकर कि यह मेरी हंसी कर रहा है मौन हो गये वहां से मुंह मोड़कर दूसरी तरफ चल दिये। इस संबन्ध में उन्होंने भिक्षु-संघ की सभा बुलाई और पूछने लगे:—

'हे भिक्षुओ उस विहार में कोई व्यक्ति अस्वस्थ है ?

'हां भगवन्'

'हे भिक्षुगण उसे क्या तकलीफ है ?'

'भगवन्, उसे गुद भगन्दर है और 'आकासगोत्त' वैद्य उसकी चिकित्सा लेन्सेट (Lancet) से कर रहा है।'

'बुद्धदेव ने उस भिक्षु को फटकार दी और कहा— हे भिक्षुगण यह अनुचित कर्म है, मौर्ख्य है, अनहोनी-सी बात है, अभद्र और श्रमणों के अयोग्य है, अग्रहणीय है, ऐसा नहीं करना चाहिये। हे भिक्षुणण कैसे यह मूर्ख भिक्षु शरीर के ऐसे कोमल अंग पर शस्त्रकर्म कराने को उद्यत हुआ। हे भिक्षुओ यहां का चर्म कोमल है, व्रण की चिकित्सा कठिन है—चाकू को संभाल कर चलाना भी कठिन है।

उसके फटकार के बाद उन्होंने सब धार्मिक उपदेश दिया और बतलाया— हे भिक्षुओ ! तुम लोग कभी अपने अङ्ग के उस भाग में शस्त्रकर्म न कराना, जो ऐसा कर्म करेगा अथवा करावेगा वह 'थुल्लाख्य दण्ड' का भागी होगा। उसी

समय मठ में 'खब्बगीय भिक्षु' में बस्ति का प्रयोग चल रहा था उसे भी उन्होंने निषिद्ध बतलाया।

इसके बाद जीवक नामक चिकित्सक की कथा आती है। उसने मगध के राजा बिम्बसार के गुदभगन्दर में एक लेप का बाहरी प्रयोग से राजा को स्वस्थ किया था। इस प्रकार शस्त्रकर्म का प्रयोग इतना कम होने लगा कि शंकराचार्य को जब यही रोग हुआ तो तत्कालीन वैद्यों ने उसकी चिकित्सा करने में भी शस्त्रकर्म को आवश्यक नहीं समझा। यद्यपि उनकी चिकित्सा में उस युग के योग्य से योग्य चिकित्सकों की व्यवस्था थी[1]।

मेगस्थनीज के लेखों से पता चलता है कि 'वन में रहने वाले श्रमणों का समाज में बड़ा सम्मान था, उसके बाद सम्मानार्हं पद साधु-वैद्यों का था, और उनके बाद आदर भाग्यवक्ता दैवज्ञों का किया जाता था'। 'स्ट्रैबो' ने इन वैद्यों के बारे में लिखा है कि ये वैद्य औषधि के द्वारा उपचार न करते हुए केवल पथ्य-निर्देश और बाह्योपचारों के द्वारा चिकित्सा किया करते थे।

६. **राज्याश्रय का अभाव**—किसी भी विज्ञान की उन्नति में राज्यसाहाय्य आवश्यक है। राज्याश्रय के अभाव में विद्या का पनपना कठिन हो जाता है। भारतवर्ष की आर्य जाति अपने वैभव के युग में स्वतन्त्र रही उसके ज्ञान और विज्ञान की वृद्धि और विकास के लिये जनसाधारण तथा राज्य सतत प्रयत्नशील रहे। फलस्वरूप उनका विज्ञान प्रगतिशील रहा। परन्तु परवर्त्ती काल में जाति स्वतन्त्र नहीं रह पाई, विदेशी जातियों के द्वारा पराजित होकर उनके अधीन हो गई। एक तो वैसे ही इनके विचार संकुचित रहे, जिसके परिणाम-स्वरूप पूर्वजों की परम्परा से आई हुई विद्या के न गुण को ही बढ़ा पाये न परिमाण को। विजयी विदेशी सरकारों की तरफ से भी किसी प्रकार का प्रोत्साहन आयुर्वेद

---

[1] अचिकित्स्यभगंदराख्यरोगप्रसरे शोणितपङ्किलस्वशाट्याम्।
अजुगुप्स्यविशोधनादिरूपां परिचर्यामकृताऽस्य त्रोटकाचार्यः॥

× × × × × ×

निगदिते मुनिनेति भिषग्वरा विदधिरे बहुधागदसत्क्रियाः।
न च शशाम गदो बहुतापदो विमनसः पटवो भिषजोऽभवन्॥

(शंकरविजय १६ अ०)

विद्या के लिये नहीं प्राप्त हो सका। मुसलमानों ने अपने राज्यकाल में हकीमों को और अंग्रेजी सरकार ने डाक्टर्स को प्रोत्साहित किया। वैद्य भी इतने संकुचित विचारों के रहे कि किसी पदार्थ की उत्तमता स्वीकार करते हुए भी हिम्मत के साथ अपने शास्त्र में उन औषधियों का प्रवेश नहीं करा सके। जैसे क्विनीन को विषम ज्वर की चिकित्सा में। एल्फिसटन की आलोचना कटु सत्य है—'चिकित्सकों ने अपने गुरुओं के उपदेशों का अनुसरण के द्वारा दवा करना आरम्भ किया, उनमें स्वयं परखने की दृष्टि का अभाव रहा। शल्य विद्या की कला की तरफ इतनी अनवधानता दिखलाई कि रक्तविस्रावण का कर्म नाइयों के जिम्मे और अस्थि तथा सन्धिभग्न की चिकित्सा पशु चराने वालों के हाथ में चली गई और हर एक व्यक्ति ब्लिस्टरर्स का प्रयोग कराने लगा जो बहुधा सेहुंड के दूध से अथवा अग्नि कर्म के द्वारा होता था।'

७. विदेशी आक्रमण—विदेशी आक्रमणों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को नष्ट करने में बहुत बड़ा भाग लिया। अनेक बड़े-बड़े पुस्तकालय और संग्रहालय नष्ट कर दिये गये। भारतीय विज्ञान को अवनति की दिशा में ले जाने वाला यह भी एक महत्व का कारण हुआ।

(२) शल्य-विषयक ग्रन्थ

भारतीय परम्परा के अनुसार आयुर्वेद (चिकित्सा–विज्ञान) अनादि और शाश्वत है, जिसकी अभिव्यक्ति ब्रह्मदेव के द्वारा प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में होती है। 'इस संसार में आयुर्वेद वही ज्ञान है जो अथर्ववेद का उपांग है, एवं जिसको स्वयंभू भगवान् (ब्रह्मा) ने सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व ही एक लक्ष श्लोकों और एक सहस्र अध्यायों में निर्मित किया है। पुनः मनुष्यों की स्वल्प आयु और बुद्धि देखकर उन्होंने उसके आठ भाग कर दिये हैं।' जैसे—

१ शल्य तन्त्र (General surgery)

२ शालाक्य तन्त्र (Surgery of the parts above the clavicle इस वर्ग में Eye, ear, nose, throat को विशिष्ट चिकित्सा तथा आधुनिक दन्त चिकित्सा (Dentistry) नामक विषय का भी समावेश है)

३ कायचिकित्सा (Medicine)

४ भूतविद्या (Demnology)

५ कौमारभृत्य (Science of Paediatrics inchuding obstretric and hynaecology)

६ अगद तन्त्र (Toxicology)

७ रसायन (Treatment to prolonglife or Natural Inmunity or Geriatrics)

८ वाजीकरण (Treatment to stimulate the sexual organs. or Aphordiasic)

चरक और हस्त्यायुर्वेद में भी आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपाङ्ग घोषित किया है। परन्तु व्यासकृत चरणव्यूह और शंकरकृत आयुर्वेद में इस विद्या को ऋग्वेद का अंग बतलाया गया है।

उपर्युक्त आठ अंगों का विभाजन ब्रह्मा के द्वारा न मानकर अष्टाङ्गसंग्रह के प्रणेता ने ऋषिकृत विभाग कहा है।

हारीतसंहिता में लक्ष श्लोकात्मक आदि वैद्यक ग्रन्थ का एक दूसरा ही समाधान किया है—

'आयुर्वेद स्वयं अपार है उसके आदि ग्रन्थ की काया भी एक लाख होने से विस्तृत है। निदान अन्यकाल मे उसका परिज्ञान कैसे सम्भव है। कलियुग के मनुष्य भी अल्प आयु वाले, अल्पवक्ता, थोड़े शास्त्र का ज्ञान रखने वाले, स्वल्प धारणा शक्ति वाले हो गये हैं। अस्तु, मैंने पूरे ग्रन्थ को पाँच भागों में बाँट दिया है जिन्हें संहिता कहते हैं।' इनमें —

प्रथम संहिता चौबीस सहस्र श्लोकों की संख्या वाली है।
द्वितीय ,, द्वादश ,, ,, ,, ,,
तृतीय ,, छः ,, ,, ,, ,,
चतुर्थ ,, तीन ,, ,, ,, ,,
पंचम ,, डेढ़ ,, ,, ,, ,,

स्मृति और पुराणों के अनुसार आयुर्वेद में भी यह माना गया है कि युग के अनुसार मनुष्यों की आयु घटती जा रही है। कृतयुग में चार सौ वर्ष की, त्रेतायुग में तीन सौ वर्ष की, द्वापर में दो सौ वर्ष की और कलियुग के आरम्भ में

एक सौ साल की आयु होती है[1]। इससे सिद्ध है कि आयु क्रमशः घटती जा रही है। फलतः आदि ग्रन्थ का युग के अनुरूप संक्षिप्त रूप देना आवश्यक था।

आज वह लक्ष-श्लोकात्मक आदि वैद्यक ग्रन्थ प्राप्त नहीं, न उसके विभाजन ही स्वतंत्र रूप से उपलब्ध होते हैं। चिकित्सा शास्त्र के ऊपर लिखे आठो अंगों के आश्रित आठ बड़ी-बड़ी संहितायें रही होंगी। प्राचीन काल में उनके विशेषज्ञ भी रहे होंगे, परन्तु आजकल कायचिकित्सा और शल्य के सिवा अन्य अंगों के ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं।

आयुर्वेद में प्राचीनकाल से ही कायचिकित्सा और शल्यचिकित्सा नामक दो सम्प्रदाय प्रचलित हैं। प्रथम सम्प्रदाय महर्षि आत्रेय के नाम से और दूसरा सम्प्रदाय भगवान् धन्वन्तरि के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्यों ने अनेक ग्रन्थ निर्माण किये थे। इनमें अधिकांश ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में चरकसंहिता आत्रेय सम्प्रदाय का और सुश्रुतसंहिता धान्वन्तर सम्प्रदाय का प्रधान ग्रन्थ है।

इन दोनों ग्रन्थों में विषय-प्राधान्य के कारण ही सम्प्रदाय का भेद है; अन्यथा आयुर्वेद के आठों अङ्गों पर लेख मिलता है। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखते हुए प्रणयन किया गया है कि कोई भी विषय अछूता न रह जावे। अपने विषय का वर्णन प्रधान रूप से तथा अन्य अङ्गों का संक्षिप्त रूप से। फलतः सम्प्रदाय-भेद विषय-प्रधानता के ही कारण है, जैसा कि आगे के वर्णनों से स्पष्ट होगा।

इतना ही नहीं परवर्त्ती ग्रन्थकार भी अपनी संहिताओं में आठो अंगों से सम्बन्धित विषयों का वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिये वृद्ध वाग्भट कृत अष्टाङ्गसंग्रह, युवा वाग्भटकृत अष्टाङ्गहृदय एवं शार्ङ्गधर कृत संहिता आदि।

ऐसी दशा में प्रस्तुत विषय के अध्ययन में इन सभी संग्रह-ग्रन्थों के आधार पर शल्यविषयक यावतीय ज्ञान का संग्रह किया जावेगा। अस्तु, इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों पर एक संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक है।

---

[1] युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते। गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते॥
संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्। देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते॥
(च० चि० ३)

अथर्ववेद—अथर्ववेद के उल्लेखों पर विशद विचार किया जाय तो उसमें कई एक मंत्र ऐसे मिलते हैं, जिनका प्रयोग विभिन्न रोगों के प्रतीकारार्थं अथवा बाधक भूत, प्रेत और राक्षसों के निराकरणार्थं प्रयुक्त हुए हैं। कुछ मंत्रों का प्रयोग ज्वर (तकमान), कुष्ठ, कामला, जलोदर, अपची, कास, नेत्राभिष्यन्द, इन्द्रलुप्त, खालित्य एवं निर्वीर्यत्व आदि कायचिकित्सासंबन्धी तथा अस्थिभग्न, संधिविश्लेष और व्रण आदि शल्यचिकित्सा-विषयक रोगों को दूर करने के लिये हुआ है। इसी प्रकार सर्पदंश, घातक कीटदंश तथा साधारण विषों के प्रतिकार के लिये भी मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। इन मन्त्रों के उच्चारण के साथ-साथ कई प्रकार के वनस्पतियों का भी स्थानिक अथवा सार्वदैहिक प्रयोग का विधान है[1]।

इसलिये अथर्ववेद प्राचीन भारतीय–चिकित्साशास्त्र का प्रथम उपहार है। यह वेद ईसा से एक सहस्र वर्ष पूर्व के बाद का लिखा हुआ कदापि नहीं हो सकता। अर्थात् इससे पूर्व का ही[2] है।

कई अन्वेषकों के प्रयास से दो प्रकार की अथर्ववेद की प्रतियां मिल हैं। एक पिप्पलाद जिसका उल्लेख हस्तलिखित ग्रन्थों में हुआ है एवं जिसकी खोज प्रो० बुहलर ने की थी। इसी का वर्णन प्रो० रौथ ने 'काश्मीर में अथर्ववेद' नामक पुस्तक में किया है। दूसरी है शौनकशाखा की छपी हुई प्रति, जिसका सम्पादन प्रथम बार प्रो० रौथ और ह्विटनी ने किया था। यह प्रकाशन सन् १८५६ ई० में बर्लिन में हुआ था।

ह्विटनी महोदय ने अंग्रेजी गद्य में तथा ग्रीफिथ साहब ने महत्त्व के कुछ पदों का पद्यों में अनुवाद किया। श्री ब्लूम फील्ड महोदय ने भी कुछ मन्त्रों का अनुवाद करके 'प्राच्य का पवित्र ग्रन्थ' (Sacred Book of the East) में प्रकाशन किया।

स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रभाषा हिन्दी टीका के साथ अथर्ववेद के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें सातवलेकर प्रणीत सुबोध हिन्दी भाष्य सहित, जयदेवविद्यालंकार कृत भाषा भाष्य सहित तथा श्रीराम शर्मा आचार्य प्रणीत सायणभाष्यावलम्बी हिन्दी व्याख्या सहित संस्करणों का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

---

[1] चरकसूत्र। [2] मैकडोनल्स संस्कृत लिटरेचर।

चरकसंहिता—परम्परा के अनुसार ब्रह्मा ने दक्ष को आयुर्वेद का उपदेश किया। दक्षप्रजापति अश्विनीकुमारों के गुरु बने। अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को सिखलाया। इन्द्र ने पुनः इस ज्ञान का भरद्वाज को, जो ऋषियों के नायक बनाकर भेजे गये थे, लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर उपदेश किया। पुनः भरद्वाज ऋषि के पुनर्वसु आत्रेयादि कई शिष्य बने। तत्पश्चात् पुनर्वसु आत्रेय ने अपने कई शिष्यों को जिनकी संख्या छः की रही एवं जिनके नाम अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि रहा; उपदेश किया। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति ने अपने-अपने नाम से स्वतंत्र-स्वतंत्र संहिता का निर्माण किया। इनमें अधिकांश अनुपलब्ध हैं, और कुछ का त्रुटित अंश ही प्राप्य है।

इन्हीं ग्रन्थों में से एक अग्निवेश-प्रणीत और महर्षि चरक के द्वारा संस्कृत तथा दृढबल के द्वारा परिवर्द्धित होकर आज के रूप में उपलब्ध चरकसंहिता है। जिसको सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और है।

यद्यपि महर्षि चरक ने सम्पूर्ण पुस्तक का संस्कार किया था, परन्तु आखिर के चौआलीस अध्यायों का सम्पादन और परिवर्द्धन दृढबल ने किया था जो पंचनदपुर के निवासी थे। पंचनदपुर से पहले पाँच नदियों का देश पंजाब समझा जाता था; परन्तु डा० हारनोल के अन्वेषणों के पश्चात् आजकल काश्मीर का एक शहर स्थिर किया गया है। दृढबल के संस्करण का उद्देश्य संहिता को अष्टाङ्गपूर्ण बनाना ही रहा। 'चरकसंस्कृत अग्निवेश तंत्र' में चिकित्सा के अन्त के सत्रह अध्याय, कल्प और सिद्धि स्थान नहीं थे, उसको कापिलबल दृढबल ने महान् अर्थ वाले तंत्र की पूर्ति के लिए यथातथ्यं लिखकर जोड़ दिया[1]।

हारीत और भेल लिखित दो अन्य ग्रन्थ भी आजकल मिलते हैं। हारीतसंहिता का प्रथम प्रकाशन कविराज के० सी० सेन और बी० एल० सेन ने कलकत्ते से किया और भेलसंहिता तंजोर पुस्तकालय के हस्तलिखित प्रतियों में रही, जिसको कलकत्ता विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया।

महर्षि चरक के काल-निर्णय में बड़ा मतभेद है। भारतीय विद्वान् उन्हें ऋषि मानकर उनके ग्रन्थ को ऋषिप्रणीत अथवा आर्ष कहकर उनको अति प्राचीन

---

[1] चरक चि० १२

अथवा प्रागैतिहासिक मानते हैं। इनके विपरीत पाश्चात्य विद्वान् उनका इतिहा के साथ संबन्ध जोड़कर अपेक्षाकृत अधिक नये युग में लाने का प्रयत्न करते हैं।

'सीलिवयन लेवी' ने एक बौद्धत्रिपिटक के चीनी अनुवाद के आधार प 'इण्डो सिथियन' राजा कनिष्क का राजवैद्य सिद्ध किया है—फलतः यह सम ईसा की प्रथम शताब्दी हो सकती है। परन्तु इस कालनिर्णय के सम्बन्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं।

१. कनिष्क का राज्यकाल अनिश्चित है। ऐतिहासिकों का अनुमान है ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्व से लेकर ईस्वी सन् के दो शतक के बीच उसका राज्यकाल था। साथ ही बौद्धत्रिपिटिक ग्रन्थों में चरक का नाम एक साधार दर्बारी चिकित्सक के रूप में उल्लिखित है, उसमें ऐसा कोई भी संकेत नहीं मिलता जहाँ पर वे संहिताकार अथवा महान् ग्रन्थ के रचयिता माने गये हों अन्यत्र भी कई स्थानों में इस प्रकार का नाम-लेख पाया जाता है; परन्तु उस द्वारा किसी विशिष्ट व्यक्ति को सूचित किया गया हो, ऐसी बात नहीं माल होती।

२. भारतीय वैद्य-परम्परा के अनुसार यह काल सुश्रुत और वाग्भट प्र के पूर्व का है।

३ आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय के अनुसार चरक गोत्र-संज्ञा रही, जिसक प्रचलन त्रिपिटक ग्रन्थों में रहा। जिस प्रकार वाग्भट संज्ञा कई एक सफ चिकित्सकों और विद्वान् वैद्यों की थी। पश्चात् युग में चरक की उपाधि कई उत्त कोटि के चिकित्सकों की रही। उदाहरण के लिए वाग्भट को सिन्धु देश क चरक 'सिन्धुचर' भी कहा जाता था[1]।

४ पाणिनि ने अपने सूत्रों में चरक और अग्निवेश के नाम से विशिष्ट सूत्र बनाये[2]। इसलिये ये दोनों नाम निश्चित ही पाणिनि से पूर्व प्रचलित रहे हों अन्यथा उनके नाम पर विशेष सूत्रों का उल्लेख संभव नहीं था। प्रो० गोल्डस्टूकर

---

[1] हिन्दू केमिस्ट्री की भूमिका।

[2] 'कठचरकाल्लुक्' 'गर्गादिभ्यो यञ्' यथा गार्ग्यः वात्स्यः × × अग्निवेश पराशर। × × जतुकर्ण।

'आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथ वादी यः स इति चरके पतञ्जलिः। (लघुमञ्जूषा)

का संस्कर्ता बतलाया जाता है[1]। इस प्रमाण के आधार पर चरक बहुत पूर्व के ठहरते हैं और चरक ग्रन्थ का महत्त्व भी उस युग में बहुत था। यदि ऐसा नहीं होता तो पतञ्जलि ने ग्रन्थसंस्कार का कार्य नहीं किया होता।

कुछ विद्वान् पतंजलि को संस्कर्ता या भाष्यकर्त्ता न मानकर स्वतंत्र रचनाकार ही मानते हैं।

६. चरकसंहिता में उपलब्ध भीतरी प्रमाण भी 'लेवी' साहब के कथन के विपरीत अर्थ का द्योतक हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में किसी भी पौराणिक देव और देवी की चर्चा नहीं, न कहीं शाक्यमुनि अथवा उनसे संबन्धित धर्मका ही उल्लेख है। यदि चरक, बौद्ध राजा कनिष्क के दर्बारी चिकित्सक होते तो बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में अथवा तत्कालीन दातव्य औषधालयों के बारे में जिनका विस्तृत प्रचार उस युग में रहा, वर्णन मिलता। परन्तु ऐसे लेख का अभाव है; बल्कि प्रसंगवश एकाध स्थलों पर ऐसे भव्य चिकित्सालयों का वर्णन मिलता है, जिसे धनी मानी व्यक्ति ही अपने घरों में बना सकते थे। पौराणिक युगके देवों के नाम उस युग में अज्ञात रहे। इसमें शक नहीं कि चिकित्सा—स्थान में यत्र-तत्र विष्णु, लक्ष्मी, कृष्ण एवं वासुदेव शब्द प्रयुक्त हुए हैं; परन्तु वे दृढबल के द्वारा पश्चात् युग में जोड़े हुए प्रतीत होते हैं[2]।

गोमांस उस युग में सम्भव है, ऐसा निषिद्ध मांसाहार नहीं रहा हो, क्योंकि

---

[1] पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेहिपतये नमः॥

(आयुर्वेदार्थदीपिका।)

चरकः सुश्रुतश्चैव वाग्भटश्च तथा परः। मुख्याश्च संहिता वाच्यास्तिस्र एव युगे युगे॥
आत्रिः कृतयुगे वैद्यो द्वापरे सुश्रुतो मतः। कलौ वाग्भटनामा च गरिमाऽत्र प्रदृश्यते॥

(हारीत-परिशिष्टाध्यायः)

[2] सर्वग्रहा न तत्र प्रभवन्ति न चाग्निशस्त्रनृपचौराः।
लक्ष्मीश्च तत्र भजते यत्र महागन्धहस्त्यस्ति॥
ष्यमाणमिमं चात्र सिद्धं मन्त्रमुदीरयेत। मम माता जया नाम विजयो नाम मे पिता॥

(च० चि० २३।)

सोऽहं जयो जयापुत्रो विजयोऽथ जानामि च। नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे प्रभविष्णवे॥
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च। तेजो वृषाकपेः साक्षात् तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे॥
यथाहं नाभिजानामि वासुदेव पराजयम्। (च० चि० २३)

उसे भी एक ऐसे आहार की सामग्रियों में जिनका प्रतिदिन व्यवहार होता है उल्लेख मिलता है। इसके अतिसेवन का भी निषेध है। क्योंकि इनसे वातरक्त नामक रोग होता है।[1]

ग्रन्थ की शैली पूर्णतया आर्ष और ब्राह्मण है। प्राचीन न्याय और वैशेषिक के प्रचुर पदार्थों का वर्णन मिलता है परन्तु उसकी भाषा, सूत्रों से भिन्न स्वरू की है। अतः संभवतः उनके सूत्रों के निर्माण के बहुत पहले ही ग्रन्थ लिखा ज चुका था।

इस प्रकार पतञ्जलि को ही अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कर्त्ता माना जावे, तं यह काल २१०० वर्ष ईस्वी पूर्व का होगा। और यदि कनिष्क का राजवैद्य चर को संस्कर्त्ता समझा जाय; तो ऐसी दशा में वह काल १८५० वर्ष के पूर्व होगा। चरक में ज्वर की चिकित्सा में 'सहस्रशीर्षवाले चराचरपति विभु वि को सहस्र नाम से स्तुति करने को बतलाया है।' यह एक दैवव्यपाश्रया चिकि है, इससे रोगी ज्वर से मुक्त हो जाता है। यहाँ 'विष्णुसहस्रस्तोत्रनामक' म भारत का पाठ ही उद्देश्य है। फलतः चरक का प्रतिसंस्कार महाभारत के प वर्त्ती युग का है। महाभारत का अधिक सम्मत काल खृष्ट पूर्व २५० वर्ष है

भगवान् शंकर की औषधनिर्माण करते समय स्तुति—

'भगवन्तं वृषभध्वजमभिपूज्य'।

अगदोऽयं वैश्रवणाख्यातस्त्र्यम्बकेण षष्ट्यङ्गः। (च० चि० २३)

कार्तिकेय—प्रसूष्व त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने।

कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम्॥ (च० शा० ८)

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्। पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात॥
विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्। स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति॥
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्। गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्ट्या पूजयञ्जयति ज्वरान्।
भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च। ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च॥

जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च॥ (च० चि० ३)

[1] कूर्चिकाश्च किलाटांश्च शौकरं गव्यमामिषम्।
मत्स्यान्दधि च माषांश्च यावकांश्च न शीलयेत॥

[2] चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार मेलसंहिता, सूत्र १८।१।

परन्तु आत्रेय-शिष्य अग्निवेश के द्वारा संहिता का प्रणयन बहुत पूर्व का हो चुका था। महर्षि पुनर्वसु आत्रेय और अग्निवेश समसामयिक थे। महर्षि आत्रेय के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि–यह स्वयं तत्कालीन विद्याकेन्द्र तक्षशिला के विद्यालय में चिकित्सा-विषय के अध्यापक थे। महाभारत में भी 'कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्' का उल्लेख पाया जाता है। इस दृष्टि से भी ये स्वयं महाभारतरचना के पूर्व के ठहरते हैं।

दूसरा प्रमाण भेलसंहिता के कुछ श्लोक हैं, जिसमें भगवान् आत्रेय स्वर्णमार्गद राजा नग्नजित् के आश्रित वैद्य माने गये हैं। और इनकी जन्मभूमि गान्धार मानी गई है।[1]

इस राजा को ऐतिहासिक व्यक्ति मानकर विद्वानों ने इसे महाराज दारायस नामक ईरान के बादशाह का समकालीन माना है। इसी के आधिपत्य के अन्दर राजा नग्नजित् भी थे, जिन्हें कर रूप में लक्ष सुवर्णमुद्रा देना पड़ता था। इसी लिये इनका विशेषण स्वर्णद नग्नजित् रहा। इन्हीं के आश्रित राजवैद्य भगवान् आत्रेय रहे होंगे। यह समय ईसा पूर्व ५२९ से ४८५ वर्ष है।

स्थूल काल-निर्णय का एक और भी साधन है। इस तन्त्र (चरकसंहिता) में विशिष्ट मुहूर्त्त बतलाते समय तिथि करण, मुहूर्त्त और नक्षत्रों के साथ-साथ दिनों का (वार-तिथि) संकेत नहीं पाया जाता है। इस से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में वारगणना की पद्धति आरम्भ होने के पूर्व की रचना है। भारतवर्ष में वारगणना-पद्धति का उद्भव शक संवत् के आरम्भ के एक सहस्र वर्ष पूर्व हुआ। ऐसा बालकृष्ण दीक्षित ने भारतीय ज्योतिःशास्त्र-नामक ग्रन्थ में लिखा है। इस प्रकार यह प्रमाण अग्निवेशतन्त्र को ढाई हजार वर्ष पूर्व के काल में रखता है[2]।

---

१. गान्धारदेशे राजर्षिर्नग्नजित् स्वर्णमार्गदः। संगृह्य पादौ प्रपच्छ चन्द्रभागं पुनर्वसुम्॥
न च स्त्रीभ्यो न चास्त्रेभ्यो न भृत्येभ्योऽस्ति मे भयम्।
अन्यत्र विषयोगेभ्यः सोऽत्र मे शरणं भवान्॥
एवमुक्तस्तथा तस्मै महर्षिः पार्थिवर्षये।
विषयोगेषु विज्ञानं प्रोवाच वदतां वर॥ (भेलसं० ३० पृ०)

२. इष्टे तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रे। (च. सू. १५)
अदारुणेषु नक्षत्रेष्वनुग्रेषु ध्रुवेषु च। विना चतुर्थीं नवमीं विना रिक्तां चतुर्दशीम्॥

प्रकाशन—इस ग्रन्थ के कई प्रकाशन कलकत्ता, बम्बई, लाहौर और काशी आदि आदि केन्द्रों से हो चुके हैं। प्रथम मुद्रण जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा सन् १८७७ ई. में हुआ था।

अनुवाद—

१ अंग्रेजी में—ए. सी. कविरत्न के द्वारा १८९७ ई. में कलकत्ते से।

२ 'शरक इण्डियानस' नाम से अरबी में आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में।

३ एक अनुवाद संस्कृत से फारसी में, फारसी से अरबी में ९८७ ई. में।

अबबी का 'अलीइब्नाजइन' का किया अनुवाद आलबेरुनी को ट्रैविस्तान से प्राप्त हुआ था, जो उस के चिकित्साज्ञान का मूल उद्गम रहा।

प्राचीन संस्कृत टीकायें—

१ पतञ्जलि (?) ई. सन् २०० अप्राप्य।

२ चक्रपाणिदत्त–चरक-तात्पर्य टीका अथवा आयुर्वेददीपिका ई. स. १०६

३ हरिश्चन्द्र—ई. सन् ११११ इन्हीं का दूसरा नाम भट्टार हरिचन्द रहा। इनकी टीका का नाम चरकन्यास। पूरी उपलब्ध नहीं। मद्रास के राजकीय प्राच पुस्तकागार में मिलती है। आदि से सूत्रस्थान के तीसरे अध्याय पर्यन्त प्राप्त है

४ शिवदास—तत्त्वचन्द्रिका या चरकतत्त्वप्रदीपिका। यह टीका भी अपू है। अथ से सूत्र स्थान के सत्ताईसवें अध्याय पर्यन्त मिली है। बम्बई की राय एसियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

५ जेज्जटाचार्य— निरन्तरपद व्याख्या नाम की टीका चिकित्सास्थान सिद्धि स्थान तक। बीच बीच में त्रुटितांश युक्त है। मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में रक्षित है।

६ श्रीगङ्गाधर कविराज—जल्पकल्पतरु टीका सन् १८७९ ई.

७ वैद्यरत्न कविराज योगेन्द्रनाथ सेन—चरकोपस्कार व्याख्या, प्रारम्भ चिकित्सास्थान के तेरहवें अध्याय पर्यंन्त प्रकाशित मिलती है।

मध्याह्नमर्धरात्रं च भूकम्पं राहुदर्शनम्।

इन सूत्रों में तिथियां कही गई है–वार नहीं। (चि. ८)

सुश्रुत संहिता

शल्य विषय से सम्बन्धित सर्वाङ्ग सुन्दर ग्रन्थ है। भगवान् धन्वन्तरि से महर्षि सुश्रुत ने शल्य-प्रधान आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर जिस ग्रन्थ का निर्माण किया उसी का नाम सुश्रुत तन्त्र है। सुश्रुत जी रार्जषि बिश्वामित्र के सुपुत्र थे, जो भगवान् रामचन्द्र के समसामयिक रहे। इन्होंने वैद्यक विद्या का अध्ययन धन्वन्तरि से, जिनकी उपाधि दिवोदास की थी और जो स्वयं काशीराज थे; किया था।

सुश्रुत विद्याभ्यास के काल में सम्भवतः काशी में ही रहते थे। यहीं पर रहकर इन्होंने काशीराज दिवोदास धन्वन्तरि से शल्य तन्त्र की शिक्षा पाई थी। इनके कई अन्य सहपाठी रहे, जिनके नाम औषधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित प्रभृति थे। इनमें सुश्रुत जी अग्रणी थे और वे सब साथियों का मत देख कर प्रश्न करते थे तथा भगवान् धन्वन्तरि उसका उपदेश किया करते थे। सभी शिष्यों की अभिरुचि के अनुसार उन्होंने शल्यप्रधान आयुर्वेद का ही उपदेश किया।

भगवान् धन्वन्तरि ने, सर्वप्रथम परम्पराज्ञान कराया। इस आयुर्वेद के सर्वप्रथम ज्ञाता ब्रह्माजी हैं, ब्रह्माजी से दक्ष प्रजापति ने पढ़ा, दक्ष प्रजापति से अश्विनीकुमार, अश्विनीकुमारों से इन्द्र और इन्द्र से मैं (धन्वन्तरि) पढ़ता रहा। अब मुझे प्रजा के कल्याण के लिए मृत्युलोक में विद्यार्थियों के लिए इस विद्या का दान करना है।

इसमें तथ्य यह है—कि 'मैं देवों की वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु को हरण करनेवाला आदिदेव धन्वन्तरि हूँ, और आयुर्वेद के अन्य अङ्ग के साथ शल्यतन्त्र का उपदेश करने के लिए पुनः इस पृथ्वी पर प्राप्त हुआ हूँ।'

इस प्रकार धन्वन्तरि भगवान् का अवतार महर्षि सुश्रुत के द्वारा शल्यप्रधान चिकित्सा विज्ञान का लोककल्याण के लिए प्रचार और प्रसार करने के लिए हुआ था। सुश्रुत के निदान के नवें अध्याय का प्रथम श्लोक भी इसी मत की पुष्टि करता है। सर्वामरगुरुः श्रीमान्निमित्तान्तरभूमिपः। शिष्यायोवाच निखिलमिदं विद्रधिलक्षणम् ॥ ३ ॥ (सु. नि. ९) 'सभी देवताओं के गुरु तथा कारणवश

पृथिवी के राजा के रूप में अवतीर्ण हुए श्रीमान् भगवान् धन्वन्तरि ने आगे कहे जाने वाले सम्पूर्ण विद्रधि के लक्षणों को शिष्य के लिये कथन किया' ॥ ३ ॥

अस्तु, सुश्रुत— तन्त्र शल्यचिकित्सक सम्प्रदाय का प्रतिनिधि एवं प्रमुख ग्रन्थ है। एवं जैसा कि पूर्व में ही कहा जा चुका है, चरक संहिता काय चिकित्सक सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है।

ग्रन्थ के रचयिता के बारे में मतों की विभिन्नता पाई जाती है। सुश्रुत के अनुसार धन्वन्तरि ने उन्हें शल्यविषयक व्याख्यानों का उपदेश किया, जिसको उन्होंने लिपिबद्ध करके वर्तमान रूप दिया। परन्तु आज जो सुश्रुतसंहिता उपलब्ध है, वह यद्यपि सुश्रुत के नाम से प्रसिद्ध है, तथापि वह सुश्रुत-प्रणीत मूलसंहिता नहीं है। इसके कई प्रमाण संहिता में ही मिलते हैं' ।

१ कहीं-कहीं ग्रन्थ के प्रारम्भ में ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनी, इन्द्र, धन्वन्तरि और सुश्रुत प्रभृति देवों की प्रार्थना का पाठ मिलता है। इससे मालूम होता है कि सुश्रुत इस ग्रन्थ के रचनाकार नहीं हो सकते अथवा उपलब्ध संहिता उनके प्रणीत नहीं है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने आपको प्रणाम नहीं करता[2] ।

२ प्रभृतिभ्यः शब्द से उस युग के कुछ विशिष्ट शल्यविदों का ग्रहण है; वे सुश्रुत के समकालीन, पूर्व में अथवा पश्चात्काल के रहे होंगे। सम्भवतः मूलसुश्रुत तन्त्र के किसी संस्कर्ता ने अपने सम्पादन के समय में संहिता के मूल लेखक के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उन्हें प्रणाम किया हो। आज वह संस्कृत रूप ही मिलता है।

३ डल्हणाचार्य की टीका में सुश्रुत तन्त्र के संस्कर्ता नागार्जुन बतलाये ग हैं[3] । निश्चित रूप से चिकित्सकों की परम्परा में इस प्रकार की प्रसिद्धि है परन्तु भारतवर्ष में सिद्ध नागार्जुन, बौद्ध नरपति नागार्जुन और महायानप्रतिष्ठ

---

१. धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो वाग्विशारदः। विश्वामित्रात्मजमृषि शिष्यं सुश्रुतमन्वशा सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो तपोदृष्टिरुदारधीः। वैश्वामित्रं शशासाथ शिष्यं काशीपतिर्मुनि (महाभारत अनुशासनपर्व १३

२. नमः प्रजापत्यश्विवलभिद्धन्वन्तरि सुश्रुतप्रभृतिभ्यः।

३. यत्र तत्र परोक्षे लिट् प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यम्। प्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुन एव। (डल्हण)

पक नागार्जुन नाम के अनेक नागार्जुन हो चुके हैं। इनमें से महायानप्रतिष्ठापक बौद्ध नागार्जुन ने ही प्रतिसंस्करण किया—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। यह एक बड़ा रसायनवेत्ता रहा और दो सहस्र वर्ष पूर्व विद्यमान था। इससे यह सिद्ध है कि उपलब्ध संहिता दो हजार साल की पुरानी है।

४ मूल सुश्रुततन्त्र के कई पाठ, वृद्ध सुश्रुत के नाम से सर्वाङ्गसुन्दरी व्याख्या, मधुकोष, व्याख्याकुसुमावलि, निबन्धसंग्रह, टोडरानन्द, भावप्रकाश इत्यादि ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं, वे वर्तमान उपलब्ध संहिता में नहीं मिलते हैं।

५ सूत्रस्थान के तीसरे अध्याय में सुश्रुत ने ग्रन्थ के वर्णन में किये जानेवाले विषयों की सूची दी है। पूरा अध्याय एक विषयसूची के रूप में ही है। उसमें पूरे ग्रन्थ को पाँच स्कन्धों और एक सौ बीस अध्यायों में बाँट कर लिखने की प्रतिज्ञा की गई है[1]। फिर वहीं पर आगे स्वतन्त्रतया 'अवशिष्ट रोगों का पृथक् वर्णन उत्तर तन्त्र में किया जावेगा' यह भी लिखा गया है। इससे यह ज्ञात होता है उत्तर तन्त्र पश्चात् काल में किसी विद्वान् ने जो मूल तन्त्र का संस्कर्त्ता रहा होगा पूरक रूप में मिला दिया है। यही नहीं, ग्रन्थ के पांचवें स्थान में ग्रन्थ के समाप्तिसूचक कुछ श्लोक भी मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि मूल सुश्रुततन्त्र केवल पांच स्थानों और एक सौ बीस अध्यायों वाला ही रहा। ग्रन्थ के उपलब्ध रूप में बहुत कुछ जोड़ा हुआ है।

६ उत्तर तंत्र में भी एक विशेषता है—यहां पर आचार्य रूप में धन्वन्तरि न आकर निमि मुनि आते हैं। सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान प्रथम अध्याय में वर्णनों के अनुसार ऋषियों ने शल्यज्ञान के लिये केवल धन्वन्तरि से प्रार्थना की है। और उन्होंने उसका उपदेश भी पांच स्थानों में किया है। परन्तु उत्तर तन्त्र में इतर विषयों वर्णन है, शालाक्य और कायचिकित्सा का। इसी लिये दूसरे ऋषि के उपदेशों का संग्रह है। संभवतः यह स्थान ग्रन्थ की सर्वाङ्ग पूर्ति के लिये किसी ने इसमें समाविष्ट कर दिया गया हो।

---

[1] वीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रतीर्तितम्। सविंशमध्यायशतं तस्य व्याख्या भविष्यति॥ तच्च सविंशमध्यायशतं, पञ्चसु स्थानेषु। अर्थवशात् संविभज्य उत्तरे तन्त्रे शेषानर्थान् व्याक्यास्यामः।

सुश्रुत का कालनिर्णय कठिन है। ये विश्वामित्र ऋषि के पुत्र थे, इस अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं। विश्वामित्र निश्चित एक वैदिक ऋषि हैं, क्योंकि इनके नाम से कई एक वैदिक मन्त्र मिलते है। महाभारत में दोनों व्यक्तियों का उल्लेख है। कुछ उचित प्रमाणों के आधार पर महाभारत का काल एक सहस्र ई. पूर्व निर्धारित किया गया है। इसलिये सुश्रुत इसके बहुत पूर्व रहे होंगे। सब से अधिक सम्मत कल इनके बारे में ६ सौ इस्वी-पूर्व समझा जाता है क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में अस्थियों की संख्या बतलाते समय सुश्रुत के तुल्य ही विचार रखे गये हैं। इससे ज्ञात होता है—कि ब्राह्मण ग्रन्थ का लेखक सुश्रुत-तन्त्र से परिचत रहा।

अथर्ववेद के दसवें भाग में मनुष्य के निर्माणसम्बन्धी एक मन्त्र आता है जिसमें अस्थियों का वर्णन आत्रेय और सुश्रुत के अनुसार है। इस ग्रन्थ क अधिकांश भाग निश्चित रूप से बहुत पहले का (ईसा-पूर्व एक सहस्र वर्ष का) है। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि सुश्रुत तन्त्र का समय इस सदी के पश्चात् का नहीं हो सकता।

पालकाप्य लिखित हस्त्यायुर्वेद नामक पुस्तक में शल्यविषय से संबंध रखने वाले यन्त्र और शस्त्रों का वर्णन आता है। यह वर्णन बहुत कुछ सुश्रुत के ऊपर ही आश्रित है। पालकाप्य हाथियों के रोगों के विशेषज्ञ रहे, एवं अंगाधिपति रोमपाद[1] के राज-चिकित्सक रहे, जिनकी चम्पा नामक नगरी राजधानी रही, जिसको आजकल भागलपुर कहते हैं। राजा रोमपाद रामायण के उल्लेखानुसार महाराज रामचन्द्र एवं दशरथ के समकालीन रहे। सुश्रुतकाल के निर्णय में यह भी बड़ा प्रमाण है।

सुश्रुत का नाम कात्यायन के वार्तिकों में मिलता है। कात्यायन का समय खिस्त पूर्व चार सौ वर्ष माना गया है।

बौद्ध रसवैद्य नागार्जुन—जिसने सुश्रुत का प्रतिसंस्कार किया था, कनिष्क के युग का अर्थात् एक सदी ईसा-पूर्व का था।

सुश्रुत के एक दूसरे प्रतिसंस्कर्ता का नाम चंद्रट रहा, जो चिकित्साकलिका के

---

[1] अग्निं शुश्रूषमाणस्य पितरं च यशस्विनम्।
एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान्॥

लेखक तीसटाचार्य के सुपुत्र रहे । उन्होंने संहिता के मूल पाठ का संशोधन किया । उनका समय ईस्वी सन् की नवीं शताब्दी मानी जाती है ।

वर्त्तमान सुश्रुत संहिता का रूप अनेक शताब्दियों के संशोधन, परिवर्त्तन एवं परिवर्द्धन के पश्चात् आया है । मूल तंत्र का रूप कुछ दूसरा ही रहा होगा । आज का आकार-प्रकार प्रतिसंस्कर्त्ताओं के सम्पादन के बाद का है । इस कोटि के कुछ और भी शल्य ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो आज उपलब्ध नहीं हैं । ‘औपधेनव, औरभ्र, सौश्रुत और पौष्कलावत; ये चार ग्रन्थ शल्यग्रन्थों के मूल या आधारभूत हैं ।’ इन्हीं के ऊपर आश्रित होकर शल्य तन्त्र की अन्य पुस्तकें लिखी गई हैं । ये सभी मूल संहितायें सम्पादित हैं, एक व्यक्ति के द्वारा स्वतन्त्रतया न लिखी जाकर अनेक तद्विद्य विद्वज्जन के परिश्रमों का फल है ।

प्राचीन टीकायें—सुश्रुत तंत्र के ऊपर कई प्राचीन टीकायें थीं, जिनमें अधिक अनुपलब्ध, कुछ खण्डित और अल्प लब्ध और अप्रकाशित हैं ।

१ चक्रपाणिदत्त	भानुमती टीका	१०६० ई० शती
२ गयदास	न्यायचन्द्रिका या पञ्जिका	११ वीं शती
३ जेज्जटाचार्य		
४ भास्कर		
५ माधव		
६ ब्रह्मदेव		
७ डल्हणाचार्य	निबन्धसंग्रह	१२ वीं शती
८ उभल्ट	(काश्मीर)	

प्रकाशन–कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि केन्द्रों से कई प्रकाशन हो चुके हैं ।

अनुवाद—

१ श्री यू. सी. दत्त के द्वारा कुछ भाग का अंग्रेजी अनुवाद–१८८३ ई० में ।
२ श्री ए० चट्टोपाध्याय १८९१ में ।
३ हार्नोल १८९७ में ।
४ भिषग्रत्न–इसी का फोटो-प्रिन्ट चौखम्बा संस्कृत सीरीज ।

---

१. सुश्रुतेन प्रोक्तं सौश्रुतम् ।
औषधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम् । शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत् ॥

५ लैटिन भाषानुवाद प्रो० हेसलर के द्वारा ।
६ जर्मन भाषानुवाद प्रो० बुलर्स के द्वारा ।

७ अरबी अनुवाद 'किताबे शौशनल हिन्दी' के नाम से हुआ । 'किता सुस्रुद' नाम से कई बार प्रसङ्ग अरबी ग्रन्थों में आया है । कई स्थानों में ग्री चिकित्सकों ने शल्य के विषयों में 'सरद' का प्रमाण दिया है । वह सुश्रुत त का ही द्योतक है ।

वाग्भट, प्रथम

आयुर्वेद के रचनाकारों में तीसरे महापुरुष वाग्भट हुए, जिनका ग्रन्थ आ भी श्रद्धा का भाजन है । उनके ग्रन्थ का नाम अष्टांगसंग्रह है । इसके पश्चात् इ के राशिनामा एक दूसरे लेखक हुये, उनकी एक दूसरी रचना है, जिसका नाम अष्टाङ्गहृदय । इस द्वितीय वाग्भट अथवा छोटे वाग्भट ने स्पष्टतया लिखा है मेरा संग्रह पूर्ण रूप से पहले संग्रहकर्त्ता वाग्भट या वृद्ध वाग्भट के आधार लिखा गया है[1] ।

वाग्भट प्रथम के कालनिर्णय में भी उसी प्रकार की भ्रान्ति है, जिस प्र की इनके पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकारों के । फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सक है कि—ये चरक और सुश्रुत के परवर्त्ती हैं । क्योंकि इन्होंने उन संहिताकारों उद्धरणों को अपने ग्रन्थ में रखा है ।

वैद्यपरम्परा के अनुसार भी एक श्लोक पाया जाता है, जिसके अनुसा आत्रेय, सुश्रुत और वाग्भट को क्रमशः त्रेता, द्वापर और कलियुग के प्रतिनि चिकित्सक और शास्त्रकार माना जाता है, इन तीनों का उल्लेख वृद्धत्रयी के ना से होता है ।

डाक्टर हार्नोल ने वाग्भट प्रथम को सातवीं शती (ई०) के आरम्भ विद्यमान बतलाया है । इसके लिए उन्होंने प्रमाणों में बतलाया है कि—'बौ तीर्थयात्री इत्सिङ्ग जो विहार के नालन्दा विश्वविद्यालय में दस बरस तक र था (६७५–६८६ ई०), अपने इतिवृत्तों में लिखता है कि 'चिकित्सा के आ

---

१. अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टाङ्गसंग्रहमहामृतराशिराप्तः ।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम् ॥ (अ. हृ. उत्तर

अङ्गों पर पहले आठ अलग-अलग ग्रन्थ रहे। उनको उस युग के किसी पण्डित ने एक जिल्द में रचकर संग्रह किया।'

इस कथन को सत्य मानकर प्रो० जोली सुश्रुत संहिता समझते हैं। परन्तु डाक्टर हार्नोल अधिक दृढ़ प्रमाणों के द्वारा वाग्भट प्रथम के द्वारा लिखा हुआ अष्टांगसंग्रह सिद्ध करते हैं।

इत्सिङ्ग के इस संक्षिप्त वर्णन के ऊपर कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी बहुत सम्भव है उसने अष्टाङ्गहृदय के सम्बन्ध में ही—जो वाग्भट द्वितीय की रचना थी, लिखा हो परन्तु इसका खण्डन इस तरह किया जा सकता है। डा० हार्नोल ने स्पष्ट लिखा है कि इस वाग्भट (द्वितीय) को आठवीं शताब्दी के पूर्व कदापि नहीं रखा जा सकता। वैसे तो सातवीं से नवीं सदी के बीच कई अन्य ग्रन्थकार भी हुए, जैसे माधव, दृढबल और वाग्भट द्वितीय, जिनके कालों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। इस कालनिर्णय के लिये प्रमाण रूप में एकमात्र आधार वाग्भट प्रथम के समय में आये हुए चीनी यात्री इत्सिङ्ग के लेख ही हैं। इस प्रकार हार्नोल साहब को जो कुछ प्रमाणित करना है, उसको पहले ही मान बैठते हैं।

उन्होंने यह दिखलाया है कि सुश्रुत पहले हुये, उसके बाद वाग्भट प्रथम, तत्पश्चात् वाग्भट द्वितीय का काल आया। परन्तु केवल यह सिद्ध करने के लिये वाग्भट सातवीं शताब्दी में रहे और उन्हीं के सम्बन्ध में इत्सिङ्ग का उल्लेख है, वाग्भट द्वितीय को आठवीं शताब्दी में रखना कहाँ तक उचित है। सबसे बड़ा प्रमाण इस सिद्धान्त के विपरीत यह है कि याज्ञवल्क्य संहिता में उल्लिखित अस्थियों की जो सूची दी गई है, वह बिल्कुल चरक और सुश्रुत से मिलती-जुलती है। जिसके आधार पर विद्वान् उन्हें ३५० ईस्वी का मानते हैं। वाग्भट प्रथम अपनी लिखित प्रति में चरक और सुश्रुत के पश्चात्कालीन सूची (Corrupted Recension) को ग्रहण किया है। ऐतिहासिकों का अनुमान है कि पुराना संस्करण (Old-recension) चौथी शताब्दी तक निश्चित रूप से प्रचलित रहा, क्योंकि चौथी शताब्दी में ही याज्ञवल्क्य ने इसको ग्रहण किया था। उसके बदलने में यदि तीन सौ वर्ष का काल लग गया होवे तो वाग्भट प्रथम का काल इस प्रमाण पर भी ई० की सातवीं शती ही माना जा सकता है। परन्तु काल-निर्णय का यह

निश्चय सब को मान्य नहीं, इसके कई कारण हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक डा० हार्नोल महोदय भी इसको बिल्कुल ठीक मानने में शंकास्पद रहते हैं।

वाग्भट के सप्तम शतक के रचयिता होने के विपरीत कई मतान्तर नीचे दिये जाते हैं।

१ वाग्भट प्रथम आयुर्वेदज्ञों के द्वारा ईस्वी सन् के बहुत पूर्व काल के समझे जाते हैं। कुछ लोग तो उनका सम्बन्ध युधिष्ठिर के राज्यकाल से जोड़ते हैं परन्तु महाभारत में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। वृद्धत्रयी के सिद्धान्त के अनुसार ये कलियुग के प्रारम्भ में विद्यमान रहे।

२ यदि 'अष्टाङ्गसंग्रह' को 'इत्सिङ्ग' के वर्णनों के अनुसार आठों अङ्गों पर एक संग्रह मान लिया जाय, तो 'अष्टाङ्गहृदय' ही क्यों नहीं कहा जा सकता जो वाग्भट द्वितीय की रचना है।

३ पुनः 'इत्सिङ्ग' ने अपने लेखों में एक ऐसे ग्रन्थ का हवाला दिया है, जो भारतवर्षभर में सर्वमान्य था। ऐसा स्थान वाग्भट प्रथम और द्वितीय दोनों के लिये हो सकता है। परन्तु वाग्भट प्रथम की ही पुस्तक का इतना सम्मान हुआ होता, और वह स्थान प्राप्त होता तो इस बात की कल्पना भी कठिन है कि वाग्भट द्वितीय ने अपना संग्रह, जो मूलतः उसके पूर्व कृत्य पर ही अवलम्बित रहा, एक ही शताब्दी बाद क्यों रचा। आज के युग में भी यही देखते हैं कि अष्टाङ्गहृदय का प्रचार की दृष्टि से अष्टाङ्गसंग्रह की अपेक्षा क्षेत्र विस्तृत है। अष्टाङ्गहृदय के कितने ही प्रकाशन हुए, यहाँतक वाग्भट नाम से अथवा ग्रन्थकार की संहिता के नाम से अष्टाङ्गहृदय ही समझा जाता है।

यही नहीं 'राह्जेए' नामक एक अरब चिकित्सक ने जिसका समय ख्रिस्त की नवीं शती है, अदरक और केला आदि वनस्पतियों के गुणों का वर्णन करते हुए जिस भारतीय विद्वान् का मत उद्धृत किया है, उसे सिंधक्षर या सिन्धचर कहता है। इन पर्यायों से अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट ही वर्णित हैं। इसी ग्रन्थ का अनुवाद कैफिलस ने आठवीं शताब्दी में कराया था।

चरक, सुश्रुत और वाग्भटका अनुवाद 'थिबेटन ताञ्जोर' में मिलता है। 'जार्ज हुथ' महोदय ने 'ताञ्जोर' से प्राप्त सामग्रियों पर विवेचना करते हुए लिखा है कि इन ग्रन्थों का अनुवादकाल ख्रिस्त की आठवीं शती है।

इस प्रकार तीन ग्रन्थकारों (सुश्रुत, वाग्भट प्रथम और द्वितीय) में से वाग्भट द्वितीय को 'इत्सिङ्ग' के उल्लेखों से सम्बन्धित मानना अधिक न्याय्य है। फलतः वाग्भट प्रथम के लिये— जिसे ह्वार्नोल साहब ने सप्तम शतक के प्रारम्भ में माना, वह वाग्भट द्वितीय के लिये ठीक जचता है।

'काडियर' महोदय ने राजतरङ्गिणी के आधार पर ११९६–१२१८ ई० का काल माना है। परन्तु 'स्टेन' सम्पादित राजतरङ्गिणी में—जो सर्वमान्य है, इनका उल्लेख नहीं मिलता, निदान कालनिर्णय के सम्बन्ध में ऐसे विचारों को छोड़ना ही अधिक उचित है[1]।

प्रकाशन—अष्टाङ्गसंग्रह का बम्बई से। टीका—अरुणदत्त की सन् ११२० ई. नया प्रकाशन हिन्दी अनुवाद के साथ चौखम्भा एवं निर्णयसागर प्रेस काशी बम्बई से।

वाग्भट द्वितीय

आयुर्वेद के रचनाकारों में एक अन्यतम महारथी वाग्भट द्वितीय हैं। आप सिन्धु देश के रहने वाले और सिंहगुप्त के पुत्र थे।[2] इनकी पुस्तक है अष्टाङ्गहृदयसंहिता— जिस में स्वयं इन्हों ने लिखा है कि यह ग्रन्थ अपने पूर्ववर्त्ती ग्रन्थ का ही संक्षिप्त रूप है। साथ ही सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में अन्य ग्रन्थकारों से–अग्निवेश, भेल और हारीत से–जो सामग्री ग्रहण की है, उसका भी जिक्र किया है।

वाग्भट ने अपने पूर्व के वैद्यों की सूची में चरक नाम नहीं दिया है। इस लिये कुल लोग चरक को वाग्भट के पश्चात् मानते हैं। इसका निष्कर्ष यह देते हैं कि अग्निवेश और सुश्रुत ने वाग्भट के बहुत पूर्व रचना की थी; परन्तु उस समय तक अग्निवेश तंत्र चरक के नाम से प्रसिद्ध नहीं हो सका था, अथवा न तो चरक के द्वारा संस्कृत ही हो पाया था। इस दलील के सम्बन्ध में इतना ही कहा

---

१. सिंहगुप्तसुतः परमबौद्धो वाग्भटाचार्यः काश्मीरनगरपति–जयसिंहस्य प्रजापालन-समये (शक ११८०–४०) वर्त्तमान आसीत् ।

२. भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य ।
सुतोऽभवत् तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा ॥

जा सकता है कि वाग्भट को अग्निवेश तन्त्र अपने मौलिक रूप में उपल हुआ होगा । इसीलिये सूत्रस्थान के आरम्भ में अन्य ग्रन्थकारों के साथ संभव अग्निवेश तन्त्र का ही उल्लेख है, चरक का नहीं ।

परन्तु पाश्चिमात्य विद्वानों का यह कथन निराधार है, क्योंकि उत्तर स्थान अन्त में वाग्भट ने चरक का नाम बड़े सम्मान के साथ दिया है[1] । फलतः कथन में शङ्का का लेश तक नहीं कि अग्निवेशसंहिता का चरक के द्वारा सम्पादन वाग्भट द्वितीय के अष्टाङ्गहृदय के लिखने के बहुत पहले से प्रसिद्ध था ।

प्रकाशन— इस ग्रन्थ के अनेक प्रकाशन मूल, संस्कृत टीका तथा विभि भाषानुवादों (बङ्गला, मराठी, हिन्दी में) के साथ हो चुके हैं ।

प्राचीन संस्कृत टीकायें—

१ सर्वाङ्गसुन्दरी व्याख्या—अरुणदत्त—मृगांगपुत्र के द्वारा १२२० ई.
२ आयुर्वेद-दर्शायिन (दिनचर्य्याप्रकरण)—हेमाद्रि या कामदेव देवगिरि के राजा के द्वारा । खण्डित उपलब्ध होता है ।
३ अष्टाङ्गहृदयद्योत- आशाधर सल्लेक्षण के द्वारा ।
४ पदार्थदीपिका-चन्द्रचन्दनकृत
५ संकेतमञ्जरी—दामोदरकृत
६ अष्टाङ्गहृदयटीका—रामनाथ वैद्यकृत
७ वालप्रबोधिका
८ हृदयबोधिका
९ पाठ्य
१० वाग्भटार्थ कौमुदी—हरिकृष्ण सेन मल्लिक
११ प्रदीप—यशोदानन्द सरकारकृत १२९८

---

[1] यदि चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादिप्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः ।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः किमिह खलु करोतु व्याधितानां वराकः ॥

× × × ×

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।
भेडाद्याः किन्न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ॥ (अ. हृ. उत्तर)

वाग्भट तृतीय

यहाँ रसरत्नसमुच्चयकार वाग्भट का नाम भी अप्रासंगिक नहीं होगा। यद्यपि ये ग्रन्थकार रसविद्या के ज्ञाता थे, शल्यतन्त्र के सम्बन्ध में इनकी कोई भी रचना स्वतन्त्र अथवा संग्रह रूप में नहीं पाई जाती। वाग्भट द्वितीय के सदृश उन्होंने भी अपना परिचय 'सिंहगुप्तसूनुः' करके दिया है। इसलिये कुछ विद्वान् इनको वाग्भट द्वितीय ही मानते हैं, परन्तु अधिकसंख्यक ऐतिहासिक इनको एक स्वतन्त्र रसशास्त्रकार बौद्ध पण्डित मानते हैं।

कई प्रमाणों के आधार पर इनके काल को तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी ईस्वी का मध्य माना गया है। जैसे—

ग्रन्थ के आरम्भ के मङ्गलाचरण में बौद्ध शैली का अनुसरण किया गया है। इन्होंने रसार्णव तन्त्र का आधार लेकर रचना की है। इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थ में अहिफेन का चिकित्सा में प्रयोग नहीं मिलता और न फिरङ्ग नामक रोग का ही उल्लेख है। तथा ग्रन्थ में रसचिकित्सा के एक विकसित रूप का वर्णन है, जो वाग्भट द्वितीय के पश्चात् काल की वस्तु है।

प्रकाशन-अनुवाद-टीकायें—

माधवकर

शल्य-विषय की बहुत कुछ सामग्री संग्रहरूप से माधवनिदान नामक संग्रह ग्रन्थ से मिल जाती है। इसके रचयिता माधवकर बतलाये गये हैं। 'हारुनुल रसीद' के आज्ञानुसार उस पुस्तक का एक अनुवाद अरबी भाषा में हुआ था। अस्तु-इस ग्रन्थ को सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी से अधिक नवीन काल मे नहीं रखा जा सकता।

माधव नाम के कई ख्यातनामा रचनाकार भारतवर्ष में हो चुके हैं, उनमें से माधव नामक कौन से विशिष्ट व्यक्ति रहे, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

गोण्डल के ठाकुर साहब ने इन्हें माधवाचार्य बतलाया है, जो वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य के भाई रहे, एवं जिन्होंने 'सर्वदर्शनसंग्रहः' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। परन्तु नामसाम्य के अतिरिक्त कोई भी प्रमाण इस बात का द्योतक नहीं है। दूसरी बात यह कि माधव और सायणाचार्य बारहवीं शताब्दी के लेखक हैं।

इसी प्रकार 'हार्नोल' महोदय ने 'सिद्धयोग'[1] के रचयिता वृन्द माधव औ निदान के लेखक माधवकर को एक ही व्यक्ति माना है। वे ऐसा कहते हैं उस व्यक्ति का वास्तविक नाम वृन्द और उपनाम माधव था। ग्रन्थकार प्रसिद्धि उपनाम से ही अधिक हो गई। यह मत भी युक्तियुक्त नहीं जंचता इस विपरीत में भी कई प्रमाण दिये जा सकते हैं।

चक्रपाणिदत्त

चक्रपाणिदत्त या जिनका अधिक प्रसिद्ध नाम चक्रदत्त है इसी नाम चिकित्सा-विषयक प्रबंध की भी रचना की है। अपने परिचय के सम्बन्ध स्वरचित ग्रन्थ चिकित्सासारसंग्रह में कुछ श्लोक देते हैं।

'इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीचक्रपाणि प्रसिद्ध लोध्रवली वंश के हैं, ये भानु अनुज तथा नारायण के—जो गौडाधिपति न्यायपाल के महानस के अध्यक्ष सुपुत्र हैं'[1]।

यह पुस्तक वृन्द के सिद्धयोगसंग्रह की शैली पर लिखी हुई है[2]। माधवनिदान के अनुरूप क्रम से चिकित्सा का वर्णन हुआ है। चक्रदत्त काल ई० १०६० रहा है। वृन्द भी चक्रपाणि और माधव के मध्यकाल में होंगे, क्योंकि इन्होंने अपने ग्रन्थ में माधव के उद्धरण दिये हैं, साथ ही चक्रपा की टीका में भी इनका नामोल्लेख आता है। इस आधार पर वृन्द का संभावि काल ख़िस्त की नवीं शती रही होगी।

चक्रपाणिदत्त ने चरक और सुश्रुत के ऊपर महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखीं। इन अतिरिक्त कई स्वतन्त्र ग्रन्थरत्नों की रचना के द्वारा आयुर्वेद की गरिमा बढ़ाई। यथा—

१ चिकित्सासारसंग्रह—(चिकित्सा–विषयक) प्रसिद्ध नाम चक्रदत्त।

---

१. गौडाधिनाथरसवत्यधिकारिपात्र–नारायणस्य तनयः सुमयोऽन्तरङ्गात्।
भानोरनुप्रथितलोध्रवलीकुलीनः श्रीचक्रपाणिरिह कर्त्तृपदाधिकारी
यः सिद्धयोगलिखिताधिकसिद्धयोगानत्रैव निक्षिपति केवलमुद्धरेद्वा।
भट्टत्रयत्रिपथवेदविदा जनेन दत्तः पतेत् सपदि मूर्धनि तस्य शापः॥
(चक्रदत्त, अन्तिम श्लोक।

१. वृन्देन सलिख्यते गदविनिश्चयक्रमेण। (वृन्द का सिद्धयोग)

२ चक्रदत्त (चिकित्सा-विषयक)।

३ औषधगुणधर्म (निघण्टुविषय)।

४ मुक्तावली—यह भी वनस्पतियों के निघण्टु के समान की रचना है। चनाकार भी यही माने जाते हैं।

५ भानुमती—सुश्रुत की टीका।

६ आयुर्वेददीपिका—चरक की टीका।

काशन—भाषानुवादों के साथ कई प्रकाशन मिलते हैं।

शार्ङ्गधर

'शार्ङ्गधरसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना शार्ङ्गधर ने की। आधार रूप में नके मौलिक चरक, सुश्रुत और वाग्भट आदि ग्रन्थों की रचनायें रहीं। भारत उत्तर-पश्चिमी भाग में इनका अधिक आदर और प्रचार है। इनके अनुभूत गों का व्यवहार बहुलता से होता है[1]। आप दामोदर के सुपुत्र थे, तथा स्त की पन्द्रहवीं शती में वर्त्तमान थे।

प्रकाशन—बहुत से प्रकाशन भाषानुवादों के साथ उपलब्ध हैं।

प्राचीन टीका—शार्ङ्गधर टीका—आढमल्ल के द्वारा की गई मिलती है।

भावमिश्र

आज से चार सौ वर्ष पूर्व लटक मिश्र के सुपुत्र भावमिश्र ने जो काशी रहने वाले थे, चिकित्सा-सम्बन्धी एक बहुत बड़े और महत्त्व के ग्रन्थ का र्माण किया, जिसका नाम है, भावप्रकाश। इनकी गणना चिकित्सकचूडा-णि और अखिल शास्त्रों के ज्ञाता[2] के रूप में होती रही, ये ईस्वी सन् १५५० वर्तमान रहे।

---

१. प्रसिद्धयोगा मुनिभिः प्रयुक्ताश्चिकित्सकैर्ये बहुशोऽनुभूताः।
विधीयते शार्ङ्गधरेण तासां, सुसंग्रहः सज्जनरञ्जनाय॥ (शा० १. १)

२. आयुर्वेदाब्धिमध्यादतिमुनयो योगरत्नादि यत्ना-
ल्लब्ध्वा स्वे स्वे निबन्धे दधुरखिलजनव्याधिविध्वंसनाय।
तत्तद्ग्रन्थाद् गृहीतैः सुवचनमणिभिर्भावमिश्रश्चिकित्सा-
शास्त्रे जाड्यान्धकारं प्रशमयितुमिमं संविधत्ते प्रकाशम्॥ (भा० प्र०)

आपने अपने ग्रन्थ में एक नये रोग (फिरङ्ग) का वर्णन किया और उ
चिकित्सा उस युग के प्रचलित औषधि चीनी मूल का चोपचीनी के ना
आयुर्वेदीय चिकित्सा में व्यवहृत किया[1] । अभी तक प्राचीन ग्रन्थों में जिन
का वर्णन नहीं पाया जाता था, उनका भी उन्होंने शास्त्रीय नाम देकर
चिकित्सा में बरतने का महत्त्वपूर्ण प्रथम प्रयास किया । इस दृष्टि से आयु
इनका एक बहुत बड़ा प्रमुख स्थान है ।

कई औषधियों का जैसे बदक्शानी, नस्पाती, खोरासानी अजवायन
पारसीक वचा, सुलेमानी नमक, खजूर और अहिफेन एवं कर्पूर आदि का
ग्रन्थ में नया योग दिया है ।

प्रस्तुत पुस्तक का लेखन उपर्युक्त मौलिक वैद्यक ग्रन्थों के आधर पर
होगा । इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य छोटे-मोटे ग्रन्थ शल्य—विषय के
हैं, जिनका संग्रह के अतिरिक्त स्वतंत्रतया मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता।

(३) प्राचीन चिकित्सालय और भेषजागार

फाह्यान (४०५—४११ ई०) नामक यात्री जो चन्द्रगुप्त विक्रमादि
समकालीन है, पाटलिपुत्र के एक दातव्य औषधालय का वर्णन करते हुए
है—देश के रईसों और धनी-मानी गृहस्थों ने शहर में एक चिकित्साल
स्थापना की है, जिसमें अपाहिज, गरीब, अस्वस्थ और रोगियों के ठीक
का प्रबन्ध है । उनको हर एक प्रकार की आवश्यक सहायता दी जाती है।
उनके रोगों का निरीक्षण करते हैं और अवस्थानुसार भोज्य, पेय, औषध,
आदि की व्यवस्था करते हैं । उनके आराम के अन्य सामान भी मिलते हैं।
रोगी अच्छे हो जाते हैं, तब वे अपने मनोनीत स्थानोंके लिए बिदा किये
हैं ।" स्मिथ इसी पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—'संसार में इस प्राची
में और कहीं पर भी इस प्रकार की संस्था नहीं दिखायी पड़ती, इनका अ
वर्तमाम ईसाइयत की उदारता के सदृश है । उन संस्थाओं का विद्यमान
तत्कालीन नागरिकों के–जिनके दान से ऐसी संस्थाएँ बन पायी थीं, पवित्राचर

---

[1] फिरङ्गसंज्ञके देके बाहुल्येनैव यद् भवेत् ।
तस्मात् फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिव्याधिविशारदैः ॥ भावप्रकाश

द्योतक है; साथ ही महान् अशोक के बुद्धि-वैभव का भी उदाहरण है, जिनकी शिक्षाओं का उत्तम फल उनके देहावसान के शताब्दियों बाद भी वर्तमान रूप में दीख रहा है। योरप का प्रथम चिकित्सालय तो पैरिस का 'मैसम डचू' सातवीं शताब्दी में खुला।'

बौद्धकाल में भी ऐसी संस्थाओं के वर्तमान रहनेके बहुत से प्रमाण मिलते है। 'महावंसों' नामक ग्रन्थ में ऐसे कई लेख प्राप्त होते है। बुद्धदास के सुपुत्र उपतिस्से ने एक चिकित्सालय अपाहिजों की सेवा के लिये, गर्भिणी स्त्रियों के सुप्रसव और परिचर्या के लिए, अन्धे और रोगियों की शुश्रूषा और चिकित्सा के लिये निर्माण कराया था। धातुसेन ने भी ऐसा ही चिकित्सा-गृह निर्माण कराया था। बुद्धदास ने स्वयं भी असमर्थ रोगियों के लिये एक रोगाश्रम बनवाया था। कुछ वैद्यों को भी जनता की सेवा के लिये प्रति दस गाँव पर एक वैद्य के हिसाब से नियुक्त किया था।

पशु-चिकित्सलय या पिंजरापोल्स जो आज भी भारतवर्ष में बंबई, अहमदाबाद, सूरत, सोदपुर (बङ्गाल) आदि में है—मौर्य्य राजओं के द्वारा स्थापित ऐसी ही संस्थाओं के प्रतीक है। मिल्टन का अठारहवीं शताब्दी में सूरत की पशुशाला का वर्णन इस प्रकार है:—

'सूरत में सब से आकर्षक संस्था 'बन्यान चिकित्सालय' है—जिसकी स्थापना १७८० ई० से पूर्व ही हुई थी। उस युग में यह एक बहुत बड़े क्षेत्र में बनाया गया था जो चारों तरफ से ऊँची दीवालों से घिरा था। उसमें फिर कई कोष्ठ और प्राङ्गण आदि छोटे-छोटे विभाग थे जिनमें पशुओं के रखने का स्थान था। रुग्णावस्था में उनकी सेवा तत्परता के साथ होती थी, जो असमर्थ और वृद्ध पशु होते थे उनके लिये एक शान्त सेवाश्रम था।

जब कभी किसी जानवर का पैर टूट जाता था अथवा पंगु हो जाता था तो उसका मालिक उसे चिकित्सालय में लाता था। वहाँ के अधिकारियों द्वारा प्रसन्नतापूर्वक, मालिक के बिना जाति अथवा देश के भेद रखते हुए रुग्ण पशु का स्वागत होता था। सन् १७७२ ई० में इस चिकित्सालय में घोड़े, खच्चर, भेड़, बकरियाँ, बैल, बन्दर, मुर्गे, कबूतर तथा अन्य विविध पक्षी थे। साथ ही एक बड़ा कछुआ भी रहता था जो पचहत्तर वर्ष की आयु का माना जाता था। सबसे

असाधारण विभाग वह था जहाँ पर, चूहे, गिलहरी आदि हानिकारक पाले जाते थे । उनके लिये उचित खाद्य दिया जाता था ।'

पौराणिक युग में भी ऐसी संस्थाओं के अस्तित्व का भूरिशः प्रमाण जा सकता है । विभिन्न पुराणकार ऋषियों ने आरोग्यदान के महत्त्व का,आरो शाला के संस्थापक के पुण्य फल का जो वर्णन किया है वह बहुत रोचक है ही तत्कालीन औषधालयों की वर्तमानता का द्योतक भी है ।

यहाँ पर हेमाद्रिकृत चतुर्वर्ग-चिन्तामणि के दानखण्ड अध्याय से उद् देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा—

अथ आरोग्यदानम् । तत्रारोग्यदानन्तावदुच्यते—

आरोग्यदानात्परमं न दानं विद्यते क्वचित् । अतो देयं रुजार्त्तानामारोग्यं भाग्यकृ
औषधं पथ्यमहारं तैलाभ्यङ्गं प्रतिश्रयम् ।
यः प्रयच्छति रोगिभ्यः स भवेत् व्याधिवर्जितः । —आह विश्
औषधं स्नेहमाहारं रोगिणां रोगशान्तये । ददानो रोगरहितः सुखी दीर्घायुरेव
—

अन्नौषधप्रदातारः सुखं यान्ति निरामयाः । —अगस्त्यः ।
रोगिणो रोगशान्त्यर्थमौषधं यः प्रयच्छति । रोगहीनः स दीर्घायुः सुखी भवति सर्व
—सौरपु

अञ्जनं यो नरो दद्यादक्षणोर्व्याधिनिवृत्तये । विप्राय स पुमान् याति सूर्यलोकं महा
आरोग्यनयनो दिव्यः सुभगो जायते नरः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः । अतस्त्वारोग्यदानेन नरो भवति सर्व
आरोग्यशालां कुरुते महौषधपरिच्छदां । विदग्धवैद्यसंयुक्तां भृत्यावसथसंयुता
वैद्यस्तु शास्त्रवित्प्राज्ञो दृष्टौषधपराक्रमः । औषधीमूलवर्णज्ञः समुद्धरण-कालवि
रसवीर्यविपाकज्ञः शालिमासौषधी मये । योगविद्देहिनां देहं यो धिया प्रविशेद्
धातुपथ्यमयज्ञश्चनिदानविदतन्द्रितः । व्याधीनां पूर्वलिङ्गज्ञस्तदुत्तरविधानवि
देशकालविधानज्ञश्चिकित्साशास्त्रवित्तथा । अष्टाङ्गायुर्वेदवेत्ता मुष्टियोगविधानवि
—नन्दिपु

एवंविधः शुभो वैद्यो भवेद्यत्राभियोजितः । आरोग्यशालामेवन्तु कुर्याद्यो धर्मसंश्र

स पुमान् धार्मिको लोके स कृतार्थः स बुद्धिमान् ।
सम्यगारोग्यशालायामौषधैः स्नेहपाचनैः ॥
व्याधितं विरुजीकृत्य अप्येकं करुणायुतः । प्रयाति ब्रह्मसदनं कुलसप्तकसंयुतः ॥
आढ्यो वित्तानुसारेण दरिद्रफलभाग् भवेत् ।
दरिद्रस्य कुतः शाला आरोग्याय भिषग्युता ।
अपि सूक्तेन केनापि मर्दनाद्यैरथापि वा । स्वस्थीकृते भवेन्मर्त्यैं पूर्वोक्तं लोकमव्ययम् ॥
आरोग्यशालां यः कुर्याद् महावैद्यपुरस्कृताम् । सर्वोपकरणोपेतां तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः । तस्मादारोग्यदानेन तद्दत्तं स्याच्चतुष्टयम् ॥
अर्थैकमात्रं विद्वांसं स्वस्थीकृत्य प्रयत्नतः । प्राप्नोति सुमहत्पुण्यमनन्तं क्षयवर्जितम् ॥
ब्रह्मा विष्णुः सुराः सर्वे व्याधयः स्वजना नृपाः ।
योगस्यैते महाविघ्ना व्याधयस्तेन योगिनाम् ॥
ब्रह्मक्षत्रियविट् शूद्रान् रोगार्तान् परिपाल्य च । यत्पुण्यं महदाप्नोति तत्सर्वं महामखैः ।
आकाशस्य यथा नान्तः सुरैरप्युपलभ्यते । तद्वदारोग्यदानस्य नान्तो वै विद्यते क्वचित् ॥
पुण्येनानेन महता गत्वा शिवपुरे नरः । मोदते विविधैर्भोगैर्विमानैः सर्वकामिकैः ॥
एकविंशत्कुलोपेतः सभृत्यः परिपालितः । आस्ते शिवपुरे तावद् यावदाहूतसंप्लवम् ॥
ततः स्वधर्मशेषेण सम्प्राप्तः प्रयतः सदा । ज्ञानमुत्पद्यते तस्य रुद्रेभ्यः परिचारकः ॥
ज्ञानाद्विरक्तः संसारात् शिवध्यानमुपाश्रितः ।
स्वदेहं तृणवत्त्यक्त्वा सर्वदुःखान्तमाप्नुयात् ॥
समस्तदुःखनिर्मुक्तः शुद्धः स्वात्मन्यवस्थितः । सर्वज्ञः परिपूर्णश्च मुक्त इत्यभिधीयते ॥
तस्माद्भोगापवर्गार्थं रोगार्त्तं समुपाचरेत् । विशेषेण तु योगीन्द्रं शरीरेण धनेन च ॥
रोगिणो नोद्विजेत् प्राज्ञो दुर्बलानपि सर्वदा । तान् पापाद् गुरुवन्नित्यमेवं धर्मः प्रवर्तते ॥
योऽनुगृह्णीतमात्मानं मन्यमानो दिने दिने । उपसर्पितरोगार्त्तं तीर्णस्तेन भवार्णवः ॥

—स्कन्दपुराणे

अशोक महान् के शिलालेख (Edict II) स्पष्ट बतलाते हैं कि उस युग में दातव्य संस्थायें पूरे राज्य-भर में थीं, उनके प्रचार का ज्ञान निम्नलिखित वाक्यों से हो सकता है—

'देवानां प्रिय प्रियदर्शी के राज्य-भर में तथा सीमान्त देशों में भी—जैसे चोल राज्य, पाण्ड्य राज्य, सत्यपुत्र और केरल साम्राज्य में ताम्बयानी सीमा

तक— साथ ही तत्कालीन प्रतिवेशी राज्यों में भी जैसे ग्रीकाधिपति 'अण्टियोक के देश में आरोग्यशालायें और दातव्य औषधालय बने थे। प्रत्येक स्थल प देवानां प्रिय प्रियदर्शी ने दो प्रकार की मनुष्यों और पशुओं के लिए औषध वित रण की व्यवस्था की थी। जहाँ कहीं भी कोई जड़ी बूटी पशु को हितकर या मनु के लिए लाभदायक पायी जाती थी, आवश्यक होने पर वहीं भेज दी जाती थीं उस स्थल पर उनके उगाने का भी प्रबन्ध किया जाता था। जहाँ-कहीं भी ज और फल की कमी पड़ती, भेजी जाती थीं और पैदा की जाती थीं। जनप और सड़कों पर कुंए बनवाये जाते थे, जो जानवर और आदमी दोनों व्यवहार में आते थे।

शिलादित्य द्वितीय (६१०-६५० ई०) के युग में आये हुए चीनी यात्र ह्वेनसाङ्ग के उल्लेखों से पता चलता है कि शिलादित्य की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म ओर झुकी। उसने अपने राज्य में अहिंसा का प्रचार किया। बहुत स्तूपादि बनवाये। भारतवर्ष की बड़ी सड़कों पर और कस्बों तथा नगरों में दवाखानों स्थापना की। उनमें भोजन, जल, शुश्रूषा और योग्य चिकित्सकों का प्रब रहता था, जिसमें बिना शुल्क यात्रियों और रोगियों की सेवा की जाती थी उसने अपने लेख में एक धनी भिक्षु श्रुतवितिकोटि के पिता का भी उल्ले किया है, जिन्होंने अपने घर से लेकर बर्फीली चोटियों तक विश्रामगृह बनवा थे, जिनके द्वारा औषध-साहाय्य होता था।

वह अपने लेख में उस युग में प्रचलित पुण्यशालाओं का भी वर्णन करत है। यह एक आम संस्था रही। बहुत से ऐसे गृह थे जिनमें भोजन-वस्त्रादि अ आवश्यकताओं के साथ चिकित्सा का प्रबन्ध रहा।

उसने अपने वर्णन में लिखा है, उदार राजाओं ने 'भातीपुर' और पुण्यश लाओं का निर्माण कराया है, जिन में अनाथ, विधवाओं, अभागों और रोगि के दुःख के दूरीकरण का प्रबन्ध है। मुल्तान देश के प्रसङ्ग में भी ऐसी संस्था का वर्णन किया है और स्पष्ट लिखता है कि शिलादित्य नरेशने चार प्रकार विशेष भिक्षाओं का प्रबन्ध किया है—भोजन, जल, औषध और वस्त्र।

इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों (महावग्ग) में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में, भिक्षु की शङ्काओं का समाधान करते बुद्ध भगवान् के उपदेश के रूप में और अन्य

रोचक कहानियों के ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनके आधार पर दावे के साथ कहा जा सकता है कि उस युग में भी चिकित्सालय और दातव्य औषधालय थे, उनमें आधुनिक ढंग के चिकित्सालयों की व्यवस्थायें थी। उदाहरण के लिए—

१. अष्टाङ्गज्ञाता सुपठित और अनुभवी चिकित्सक, २. अनुरागी परिचारक ३. औषधागार, ४. त्याज्य और गन्दे पदार्थों के दूरीकरण का प्रवन्ध, ५. सेवा शुश्रूषा का प्रवन्ध, ६. पथ्य (भोजन, जल, औषध) और वस्त्रादि की सुव्यवस्था।

केवल इन ऐतिहासिक तथ्यों को ही प्रमाण माना जाय तो उनके आधार पर श्री अमीरअली का यह कथन कि 'अरब-वासियों ने रासायनिक औषधियों का आविष्कार किया, रसशालायें बनवायीं। फलतः उन संस्थाओं के जिन्हें आज की भाषा में दातव्य औषधालय (Dispensaries) कहा जाता है वे ही प्रथम प्रतिष्ठाता हैं' सत्य नहीं माना जा सकता।

इतिवृत्तों का वर्णन केवल उन-उन युगों में पाये जाने वाले चिकित्सालयों का प्रमाण भर देता है। इनका वास्तविक और व्यावहारिक रूप क्या था यह तत्कालीन वैद्यक और वास्तुविद्या के आधार पर एकैकशः विचारणीय विषय है।

अशोक के शिलालेखों के बहुत पूर्व से ही चिकित्सालयों का प्रचार भारतवर्ष में था। प्राचीन चिकित्सा ग्रन्थों में कई नामों का बहुधा उल्लेख मिलता है।

१ कुमारागार २ सूतिकागार	Children Welfare and Maternity Centre
३ वैद्यगृह	Medical Officer's Chamber
४ आरोग्यशाला	(Medical Wards) General Hospital
५ भेषजागार	Dispensary
६ रसशाला	Pharmacy
७ व्रणितागार आदि	Surgical Ward
८ कुटी-प्रवेशिका रसायन गृह	
९ कल्पागार	
१० पञ्चकर्म गृह	

११ महानस (महानसिक वैद्य)

१२ पशु-चिकित्सालय

इन सबका प्राचीनतम वैद्यक ग्रन्थ चरक में उल्लेख है। उपर्युक्त किसी प्रकार की आरोग्यशाला के निर्माण करते समय वहाँ की भूमि की परीक्षा औ परिस्थति का ज्ञान अवश्यक है। अतः वास्तुशास्त्र के अनुसार भूमि की प्रशस्त का विचार आवश्यक है। कारण यह है कि जिस भूमि पर मकान तैयार कि जाता है उसका हितकर अथवा अहितकर प्रभाव मकान में रहने वाले के स्वास्थ पर पड़ता है। यदि वास्तु प्रशस्त हो तो स्वास्थ्य चिरंतन होता है, यदि अप्रश हो तो स्वास्थ्य बिगड़ जाता है तथा आगन्तुक, मानस और त्रिविध शारीरि रोग उत्पन्न होते हैं। मकान बनाने के लिए वह स्थान ठीक है जहाँ की भू कंकरीली, बालुकायुक्त, खड़ियायुक्त, ग्रैनाइट या क्लेस्टोन से बनी हुई सुषिर, शु और शुद्ध हो, जहां जल न एकत्रित हो सके, जहां वायु और सूर्य के प्रकाश किसी प्रकार का अवरोध न हो। प्राचीन परम्परा के अनुसार चिकित्सागारों निर्माण में प्रशस्त भूमिके विचारके पश्चात् गृह का दृढ, रम्य, प्रवातयुक्त, प्रकाशि निर्वातयुक्त, श्वापद, मूषिक, पतङ्ग, मच्छर आदि हानिकारक जीवोंसे रहित कर का विधान किया जाता था। इसके अतिरिक्त उस आरोग्यशाला से सम्बन्धि ही महानस, मूत्रस्थान, वर्च्चःस्थान, (पाखाना) आदि साधन रहता था।

बिल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डितः सप्तपर्णकः।
सहकारश्च षड्वृक्षैरारूढा या समस्थला॥

निष्कपाला निरुपला कृमिवल्मीकवर्जिता। अस्थिवर्ज्या च सुषिरा तनुवालुक-संयुता।
अङ्गारैर्वृक्षमूलैश्च शूलैश्चापि पृथग्विधैः। पङ्कसंकरकूपैश्च दारुभिर्लोष्ठकैरपि।
शर्कराभिरसंयुक्ता भस्माद्यैस्तु तुषैरपि। सा शुभा सर्ववर्णानां सर्वसम्पत्करी धरा।
मनसश्चक्षुषो यत्र संतोषो जायते भुवि। तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्।

कुमारागार, सूतिकागार, वैद्यगृह के लिए चरक शारीर अध्याय देखें।

इन आगारों को 'पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख (प्राग्द्वारम् उदग्द्वारं वा बनाने का निर्देश है। उसमें सील न हो, शुद्ध वायु का प्रवेश अच्छी तरह से (प्रवातं); कमरे गर्मियों के ठंडे और शीतकाल में उष्ण रहें (ऋतुसुखं); प्रका सभी कमरों में भली भांति पहुंच सके (अतमस्कं); मकान के दरवाजे और छ पर्याप्त ऊँचे हों जिससे घर से घूमते समय किसी प्रकार की कठिनाई न हो (सु

प्रविचारं); उसके चारों ओर सूखा स्थान हो; उससे अधिक ऊँचाई का कोई भी मकान उसके समीप न हो (अनुपत्यकं); इतना विस्तृत हो कि मकान में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के पीछे ७० से १०० वर्ग फीट शयन योग्य स्थान मिल सके (अष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं), और इतना खुला और ऊँचा हो कि मकानमें धूलि धुआँ और गर्मी इनसे किसी प्रकार की कठिनाई न हो (धूमातपरजसा अनभिगमनीयम्); आधुनिक वैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक मनुष्य को प्रति घण्टा ३०,४० घन फीट शुद्ध वायु मिलनी चाहिए। रुग्णावस्था में इससे भी अधिक वायु की आवश्यकता होती है। अर्थात् रोगी को खुले और विस्तृत स्थान में रखना चाहिये। उसकी शय्या दो खिड़कियों के बीच में होनी चाहिए जिससे वायु का झोंका सीधे उसके शरीर को स्पर्श न कर सके (निर्वातप्रवातैकदेशम्); सूर्य से हमें प्रकाश और ताप प्राप्त होता है जिसकी आवश्यकता व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, परन्तु रोगी के शयन स्थान पर सीधे सूर्य की किरणें न आनी चाहिए। परन्तु उस स्थान के अन्य भागों में सूर्य-प्रकाश आता रहे जिससे रोगी को बिखरा हुआ प्रकाश मिल सके (Diffused light आतपवर्जिते आतपैकदेशे)।

प्रत्येक सामान्य चिकित्सालय के सम्भार, उसमें रखने वाली उपयोगी वस्तुओं, उसमें के परिचारक, संवाहक, बन्धुवर्ग (सुहृद), संगीत, वाद्य, आख्यायिका, अनुकूल विशेषज्ञ सेवक, विविध प्रकार के पशु, छोटे-छोटे पक्षी (मृग, कपिञ्जल, लावक, तित्तिर) आदि के मनोरञ्जक प्रबन्ध को देखते हुए आज के लेखकों को शंका हो जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है।[1] 'आरोग्यशालाएँ धनिकों के लिए ही थीं, आम जनता का उनमें प्रवेश नहीं हो पाता था।' परन्तु बात ऐसी नहीं है। आरोग्यशालायें सर्वजन सुलभ होती थीं। चिकित्सालयस्थ रोगियों के व्यवहार के लिए उसी चिकित्सालय से सम्बन्धित गोशाला का रहना आवश्यक था, जिनमें चुन कर जीवितवत्सा ही रखी जाती थीं।

---

[1] आरोग्यशाला के मनोरञ्जक द्रव्य—

शीलशौचाचारानुराग····कुशलान्, सर्वकर्मसु पर्यवदातान् सूपौदनपाचकस्नापकसंवाहकोत्थापकसंवेशकौषधपेषकपरिचारकान् ····गीतवादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहास ····कुशलानभिप्रायज्ञाननुमतांश्च देशकालविदः परिषद्यांश्च। तथा लावकपिञ्जल ····हरिणैणकालपुच्छकमृगमातृकोरभ्रान्। (च० सू० १५)

इस प्रकार से एक सामान्य आरोग्यशाला का निर्माण उपरि लिखित विधि पर होता था। यदि आज भी उनकी अविकल नकल करली जाय अथवा उस किंचित् परिवर्तन और परिवर्द्धन कर लिये जाँय तो एक आदर्श आयुर्वेदि आरोग्यशाला (Hospital) बन सकती है। अन्य चिकित्सालयों के लि उनके उपयोगों को ध्यान में रखते हुए उनके योग्य विशिष्ट सामग्रियों से सुसज्ज विभाग (Wards) बन सकते हैं, जिनका वर्णन क्रमशः आगे चलेगा।

आरोग्य-शाला—चरक संहिता के सूत्रस्थान पंद्रहवें अध्याय में रोगी लिये शोधन-गृह बनाने का वर्णन मिलता है। यद्यपि ये गृह राजा, राजमा अथवा विपुल-द्रव्य वाले पुरुषों के निमित्त ही बनाये जाते थे; फिर भी उन आतुरालय के आधुनिक रूप के अंकुर प्रचुर मात्रा में विद्यमान पाये जाते हैं।

गृहनिर्माण कला में दक्ष व्यक्तियों के द्वारा सबसे प्रथम प्रशस्त गृह निर्माण कराना चाहिये। यह गृह मजबूत बना रहे, हवा का झोंका सीध आवे, फिर भी हवा के एक तरफ से आने में कोई बाधा न हो, उसमें अच् प्रकार से आवागमन किया जा सके, उसके चारों तरफ मकान नहीं बने उसमें धुआँ, धूप, धूलि आदि पदार्थ प्रवेश न कर सकें, इसी प्रकार अरुचिक शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध का प्रवेश न हो, लकड़ी की बनी हुई सीढ़ ओखल, मूसल, जलपात्र आदि हों, इसके अतिरिक्त वहीं पर वर्चःस्था (मल एवं मूत्र विसर्जन के स्थान) स्नानागार और महानस भी बने हों।

तदनन्तर शील, शौच, पवित्र आचरण, अनुराग, चातुर्य और दक्षता आ गुणों से युक्त उपचार कुशल परिचारक होने चाहिये अपने-अपने कर्म में द सूपौदन आदि बनाने वाले पाचक, स्नान कराने वाले स्नापक, पैर दबाने वा संवाहक, रोगियों को उठाने-बैठाने में सुशिक्षित उत्थापक और संवेशक, औषधि को पीस कर योग्य करके समयानुसार देने वाले परिपेषक का प्रबन्ध हो चाहिये। आतुर-गृह के प्रत्येक कर्मचारी को किसी प्रकार के आज्ञापालन अथवा कर्म करने में अप्रतिकूल बनना नचाहिये। वहाँ पर रोगी की शुश्रुषा कर वाले साथियों में ललितकलओं का गुण भी आवश्वक है। उन्हें, गायक, वाद भाषण देने वाला उल्लापक तथा कुछ को श्लोक, गाथा, आख्यायिका, इतिहा पुराण में निपुण होना चाहिये। साथ ही देश और काल के ज्ञाता, रोगी

इङ्गित और मनोभावों को जानने वाला और रोगी के अनुसार आचरण करने वाला बनना चाहिये। इसके अतिरिक्त रोगी के मनोरञ्जन के लिये तित्तिर कपिञ्जल, खरगोश, हरिण, मृग, काले पूंछ वाले मृग, मृग-मातृका, उरभ्र आदि पशु-पक्षी होवें। निरोग, शीलवती, जीवित बछड़े वाली, प्रचुर दूध देने वाली गायें होनी चाहिये, जिन्हें साफ वर्त्तन में खाने के लिये सुन्दर साफ-सुथरा जल, घास-भूसा आदि दिया गया हो। जलपात्र, धोने वाले वर्त्तन, जलकोष्ठ मणिक, घट, पिठर, पर्योग, कुम्भी, कुम्भ, कुण्ड, शराव, दर्वी (कलछी) कट प्रभृति पानी के लिये अथवा पथ्य के बनाने के लिये, तथा मथने के लिये मथनी आदि से युक्त आरोग्यशाला होनी चाहिये। चर्म, वस्त्र, सूत्र, कपास, ऊन आदि के बने बिस्तर और आसन प्रभृति द्रव्यों से सुसज्ज होना चाहिये।

रोगी का विस्तर चौड़ी दरी, चद्दर, तकिया से युक्त चारपाई होनी चाहिये। आसन और बिस्तर के लिये अच्छे २ लकड़ी के सामानों का भी संग्रह होना चाहिये। इस प्रकार के पात्र होने चाहिये जिनके द्वारा स्नेह, स्वेद और अभ्यङ्ग, प्रदेह, परिषेक, अनुलेपन, वमन, विरेचन, स्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, मूत्रक्रिया, उच्चारकर्म सुविधा के साथ किया जा सके। कई प्रकार के यंत्र, शस्त्र, सहायक यंत्र (अनुयन्त्र) भी आवश्यक हैं। उदाहरण के लिये अच्छी तरह धुले और साफ किये गये तीन प्रकार चिकने, खुरदरे और तेज पत्थर की बनी शिला पास में होनी चाहिये। कई प्रकार के नाडीयन्त्र, धूमनेत्र, बस्तिनेत्र, उत्तरबस्ति-नेत्र देने के लिये यंत्र तैयार रहने चाहिये। अतिरिक्त उनके निम्नलिखित द्रव्यों का भी संग्रह आवश्यक होता है:—कुशहस्तक (Brushes and Brooms), तुला (Weighing Scale), मानभाण्ड (बांट), घृत, तैल, वसा, मज्जा, क्षौद्र, फाणित, लवण, ईंधन, उदक, मधु, सीधु, सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, दधि, दधिमण्ड, ओदन, सिद्ध किये हुए अम्ल (कांजी), विभिन्न प्रकार के पशुमूत्र, शालि, षष्टिक, मुद्ग, माष, यव, तिल, कुलथी, बेर, मुनक्का, गम्भारी का फल, फरहद, आँवला, बहेरा आदि, नाना प्रकार के स्नेह और स्वेद के उपकरण द्रव्य तथा ऊर्ध्व और अधोहर उभय प्रकार की औषधियां, संग्रहणीय, पाचनीय, दीपनीय, उपशमनीय, वातहर दवायें। इसके अतिरिक्त कई प्रकार के प्रतिविषों का भी संग्रह रखना चाहिये जो औषधि के

अतियोग की अवस्था में प्रयुक्त की जा सकें। अन्य आवश्यक द्रव्य भी उपयो हों रखे जा सकते है।'

सुश्रुत ने भी अपने व्रणितागार (Surgical ward) में कई आवश्य द्रव्यों का वर्णन किया है, जिनसे शस्त्रकर्म के पूर्व आगार का सुसज्ज हो परमावश्यक है—'यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, शृङ्ग, जलौका, अला जाम्बवौष्ट, पिचु. सूत्र. प्रोत, पत्र, पट्ट, मधु, घृत. वसा. पय, तैल, तर्प कषाय, अवलेपन. कल्क, व्यञ्जन, शीतोष्णोदक, कटाह. स्थिर स्निग्ध औ बलवान परिचारक।'

सूतिकागृह या सूतिकागार—नवें मास के पूरे होने के पहले सूतिकागार का निर्माण माता के लिए कराना चाहिये। जिस भूमि पर यह बनाना हो वहां से अस्थि, कंकड़ और घट-कपाल आदि को दूर करके प्रश रूप, रस और गंधवाली पृथिवी पर पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख आगार निर्माण करावे। यहां पर बिल्व, तिन्दुक, इङ्गुदी, भल्लातक, खदिर आदि का का संग्रह हो। इसके अतिरिक्त एतादृश अन्य काष्ठ जो अथर्ववेदी ब्राह्मणों द्वारा प्रशंसित या आदेशित हों, उनका संग्रह किया जावे। वहां पर वस्त्र, ओढ़ बिस्तर आदि की सुव्यवस्था होनी चाहिये। इस आगार का निर्माण वा विद्या के मर्मज्ञों के अनुसार होना चाहिये। वहाँ प्रसूता के लिए अग्नि, ज ओखल वर्च्चःस्थान (पाखाना). स्नानभूमि, (Bath-room) और 'महान ऋतु के अनुकूल बना होना चाहिये।

वहां पर घी. तैल, मधु. सैन्धव, सौवर्चल, कालानमक, विडङ्ग, गुड़, किलिम. सोंठ, पिप्पलीमूल, हस्तिपिप्पली, मण्डूकपर्णी, एला, लाङ्गली. व चव्य. चित्रक, चिलबिल, सर्षप. हिंगु. लशुन. कनक. कनिका, नीपात, सौ बिल्वपत्र, भूर्जपत्र, कुलत्थ, मैरेय, सुरा, आसव, प्रभृति द्रव्य रहने चाहिये साथ ही निम्नलिखित द्रव्यों का भी संग्रह होना चाहिये-जैसे—पत्थर के हुए दो टुकड़े (सील और लोढ़ा). खरल (मूसल और नौकाकार पात्र) ओखलें गधे और बैल दो, दो तेज सूई और तागे, चाँदी और स्वर्ण की पत्ती दो सूचिकायें, तीक्ष्ण लोह के बने दो शस्त्र, वेत के बुने दो पर्यंक, चारपा तिन्दुक और इङ्गुद की लकड़ियां (आग जलाने के लिये), बहुप्रसवा बहुत

स्त्रियां होनी चाहिये। उनमें कई गुणों का रहना आवश्यक है। जैसे सौहार्दयुक्त होना अर्थात् प्रसूता के मित्र या परिवार की होवे, सेवा करने में तत्परा, तत्कालीन आचरण में कुशला, बुद्धिमती, स्वभाव से वात्सल्यमयी, प्रसन्नचित्तवाली (खुशमिजाज), क्लेशसहिष्णु, शिशु के प्रति कोमल भाव तथा माता पर प्रेम करने वाली होना, अथर्ववेद के ज्ञाता ब्राह्मण और भी आवश्यकतानुसार वृद्धा स्त्रियों को रखा जा सकता है वहां पर उन्हें जो आदेश मिले करें।

कुमारागार—इसके बाद कुमारागार बनाने की विधि बतलाई जा रही है। वास्तु-विद्या के विशेषज्ञ को चाहिये कि प्रशस्त भूमि पर, विस्तृत, सुन्दर, प्रकाशयुक्त, निवात और प्रवातैकदेश, मजबूत घर बनावे। उसके भीतर हिंस्रजीव, पशु, दांत वाले जीव, चूहे और कीट, पतंग, मच्छर आदि के न घुसने योग्य करे। उसमें ठीक-ठीक यथास्थान विभाजित करके जल, उदूखल, मूत्र और वर्च्चःस्थान, स्नानभूमि, महानस ऋतु के अनुकूल, शयन की चारपाई, विस्तर आदि की व्यवस्था करे तथा सुन्दर ढङ्ग से कुमार की रक्षा के विधान का अनुष्ठान करे, तन्निमित्त बलि, मङ्गल, होम, प्रायश्चित्त की व्यवस्था रहे। पवित्र वृद्ध वैद्य तथा प्रेमीजन से संयुक्त आगार बना रहे। कुमार का शयन (विस्तर) आस्तरण (चद्दर); प्रावरण (गिलाफ), मृदु हल्का पवित्र और सुगन्धित होना चाहिये। स्वेद, मल, जन्तु और मलमूत्रोपसृष्ट वस्त्रों और पदार्थों का वर्ज्जन करे। यदि दूसरे वस्त्र न संभव हों तो उन्हीं को धोकर सुखाकर धूपित करके प्रयोग करे। वस्त्रों के धूपन के लिये जौ, सर्षप, अलसी, हिंगु, गुग्गुल, वच, चोरक, वयःस्था, गोलोमी, जटिला, पलंकषा, अशोक, रोहिणी और सर्पनिर्मोक (केंचुली) घृत मिलाकर अग्नि में जलाकर धूपन करे। कुमार को मणि धारण भी होना चाहिये। कई पशुओं के शृङ्गाग्र जैसे जीवित गैंडा, गवय और वृषभादि। मन्त्र और औषधियां जैसे जीवक, ऋषभक आदि, ब्राह्मणों से प्रशंसित द्रव्यों का धारण कुमार के लिए प्रशस्त है। इसके खिलौने विचित्र, शब्द करनेवाले, हल्के नोकहीन, अतीक्ष्ण होने चाहिए जिसका बालक के मुख में प्रवेश न हो सके जिनसे प्राणनाश का कोई भय न हो अथवा जिनसे कुमार न डरे। ऐसे खिलौने बालक को दिये जायें।

व्रणितागार—सुश्रुत ने व्रणित रोगियों के लिये एक विशिष्ट प्रकार के

आगार बनवाने का निर्देश किया है। (सु० सू० १५) 'जिन रोगियों पर श कर्म किया गया हो अथवा जो शोथ, विद्रधि अथवा व्रण के रोगी हों उन्हें प्रश वस्तुयुक्त गृह में सुरक्षित किया जावे। यह गृह पवित्रस्थल में साफ सुथरी ज पर निर्मित हो उसमें वायु के झोंके और प्रखर आतप का प्रवेश न हो क्योंकि ऐसे खुले और हवादार विभाग में रहनेवालों को शारीरिक आगन्तु अथवा मानसिक रोग नहीं होते। उस कमरे को काफी स्थान युक्त, विस्तृ मृदु, मनोज्ञ और स्वास्तीर्ण होना चाहिये। उसका शिरःस्थान पूर्व की तरफ हे रक्षा-निमित्त लौहनिर्मित छोटे शस्त्र हों। ऐसे विस्तर लगे हों कि जिनपर शयना रोगी सुखपूर्वक लेट सकता है इच्छानुसार करवटें बदल सकता है। साथ ही प्रा दिशा में शिर रखने का अर्थ तद्देशस्थ देवताओं की पूजा में नत शिर होना हो है। वहां पर प्रिय और अनुकूल भाषण करनेवाले मित्रों की मण्डली हो जो रो की यथेष्ठ सेवा करती रहे। क्योंकि अनुकूल और प्रियंवद मित्र बहुशः आश्व सन देकर रोगी के व्रण की वेदना को कम कर देते है। रोगी को दिन में न सोना चाहिये, क्योंकि दिन में शयन करने से शरीर में गौरव बढ़ता है, व्रण खुजली होती है, शोथ, पीड़ा और अधिक स्राव होने लगता है। व्र को अपने उठने, बैठने, करवट बदलने, टहलने बल के साथ बोलने में अप्रम होकर प्राण की रक्षा का ध्यान रखना चाहिये। शक्तिमान होने पर भी व्रणित रो को उठना, बैठना, टहलना, सवारी पर चलना आदि कर्म नहीं करना चाहिये उन कर्मों से वायु बढ़ती है जिससे अङ्गों में पीडाधिक्य हो जाता है इसलि रोगी को इन कर्मों का निषेध किया जाता है। गम्य स्त्री का दर्शन, सम्भाष और स्पर्श दूर से भी निषिद्ध है।" व्याधित को वैद्य के निर्देशानुसार पथ्य आहार-विहार का ग्रहण करना चाहिये। उसके कमरे में एक जलता हुआ दीप रात्रि में होना चाहिये, सुगंधित पुष्पों की माला की भी व्यवस्था दीवारों प होनी चाहिये। भूतों और राक्षसों से रक्षा के निमित्त कई प्रकार के शस्त्र दीवार पर लटकते रहने चाहिये। वैद्य और पुरोहित को प्रातः-सायं दोनों काल दे देखते रहना चाहिये। दस दिनों तक प्रतिदिन धूपन द्रव्यों को घी में मिलाक (गुग्गुल, अगुरु लोहवान, राल, निम्ब प्रभृति) कमरे में जलाना चाहिये। शोथ युक्त अंग पर चामर का व्यजन होना चाहिये।

महानस— सुश्रुत ने राजा के महानस का विस्तृत वर्णन किया है (सु०कल्प १

'यह महानस प्रशस्त भूमि पर और उचित दिशा में निर्मित होना चाहिये। उसमें अनेक प्रकार के छोटे-बड़े साफ सुथरे भाण्डों की व्यवस्था करनी चाहिये। महानस में आवश्यकतानुसार अनेक गवाक्ष बने हों जिन पर जालक (जालियां) लगी हों। महानस में केवल आत्मीय जनों का प्रवेश होना चाहिये दूसरों का नहीं। वहां पर लगी हुई घास को साफ कर देना चाहिये जहाँ तहां वितान (चांदवा) लगाये जाने चाहिये। उस स्थान को मंत्रपाठ के द्वारा पवित्र किया गया हो और देवताओं की नित्य पूजा होती हो। महानस में कार्य करने वाले सभी स्त्री और पुरुषपरीक्षित और विश्वसनीय हों। वहां का अध्यक्ष प्राय: वैद्य के गुणों से युक्त होना चाहिये। पाचन और अन्य कर्मचारियों में, पवित्रता, दक्षता, चातुरी, विनीतता आदि सौम्य गुण होने चाहिये। साथ ही देखने में सुविभक्त शरीर वाले, शुचि मन वाले और देखने में सुन्दर हों। उनके केश और नख छोटे छोटे हों। गम्भीरता और दृढ़ता उनमें प्रचुर रूप से मिलनी चाहिये। उन्हें संयमी नित्य स्नान करने वाला और उष्णीष (पगड़ी) धारण करना चाहिये। अध्यक्ष की आज्ञा का पालन करना प्रत्येक कर्मचारी का कर्तव्य होता है। चूंकि प्राणियों के लिये बढ़िया आहार एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु है उसी पर मनुष्य-जीवन आश्रित रहता है इस लिये महानस में वैद्य को प्रमाद रहित होकर कार्य करना चाहिये। साथ ही महानस के कर्मचारियों को इशारे का समझनेवाला होना, अर्थात् वाक्य-चेष्टा मुख की मुद्रा से ही भाव ग्रहण करने वाला होना चाहिये। सदैव वैद्य के आदेश पर आचरण भी करते रहना चाहिये।

महानसिक वैद्य— इनमें कई प्रकार के गुण आवश्यक हैं-कुलीनता, धार्मिकता, तत्परता, मैत्री, निर्लोभिता, अशठता, भक्ति, कृतज्ञता, प्रियदर्शनता, क्रोध-पारुष्य-मात्सर्य मद-आलस्य-हीनता, जितेन्द्रियत्व, क्षमा, पवित्रता, शीलता, पटुत्व, प्रगल्भत्व, निपुणत्व, दक्षत्व, छल–विहीनता, मेधावित्व, असंभ्रान्तत्व, अनुरक्तत्व आदि इन गुणों से युक्त हितैषी वैद्य को जो अपने समाज से प्रशंसित हों, सदै विषघ्न औषधियों से युक्त हो, महानस में राजा के द्वारा नियुक्त किया जाना चाहिये।

पंचकर्मागार अथवा रसायनागार—चरक-संहिता में रसायन-सेवन करने के लिये द्विविध मार्ग बतलाया है। एक खुली हवा में (वातातपिक) और

दूसरा कुटी के भीतर (कुटीप्रावेशिक) इस कुटी का विशद वर्णन प्रसंग में दि है । (च० चि० प्रकर०) इस कुटी का निर्माण ऐसे स्थान पर होना चाहिये पर राजा, वैद्य और ब्राह्मणों की बस्ती हो, अथवा जहां पर शुभ करने वा साधुजन (सज्जन) लोग बसते हों । ऐसे निर्भय और प्रशस्त भूमि पव जहां प्रत्ये आवश्यक उपकरण सुलभ हों, पूर्व अथवा उत्तर की दिशा में कुटी का निर्मा करावे । यह कुटी विस्तार युक्त हो और ऊचे स्थान पर बननी चाहिये । विस्तार तात्पर्य जिसमें आवागमन सुविधेसे हो सके । कुटी का त्रिगर्भा होना आवश्यक है पहले एक घर उसके आभ्यन्तर दूसरा और उसके भीतर तीसरा बनना चाहिये हवादार गृह को रखने के लिये उसमें छोटी-छोटी खिड़कियों का रहना आवश्य है । सभी ऋतुओं में सुख पहुंचाने के लिये इसकी दीवालें मोटी और सुस बनी रहनी चाहिये । कुटीर ऐसा हो कि उसके देखते ही मन प्रसन्न हो जा और रहने की अभिरुचि जागृत हो । अप्रिय और अरुचिकर बाहर के शब्दों तथा गम्य स्त्री का प्रवेश निषिद्ध होना चाहिये । वहां पर सदैव इष्ट, द्रव्य, वै और पुरोहित तैय्यार रहें । इस कुटी में रोगी को जब उत्तरायण के सूर्य हो शुभ तिथि नक्षत्र, मूहूर्त्त-करणादि का विचार करके शुक्ल पक्ष में, क्षौर क कराके प्रवेश कराना चाहिये । साथ ही रोगी को काम; क्रोध, मद, लोभ, द्वेषा मानसिक दोषों को दूर कर के जीवमात्र के प्रति हृदय में सद्भावना लेकर श्रद्धा के साथ धैर्य और स्मरणशक्ति के साथ अपने इष्टदेव की पूजा कर देवता, गौ और ब्राह्मण की पूजा और प्रदक्षिणा कर स्वकल्याण के लिये कुटी भीतर प्रविष्ट होना चाहिये । वहां पर उसका पंचकर्म के द्वारा शोधन और शक्ति आजाने पर रसायन का प्रयोग कराया जाना चाहिये ।

स्वेदनगृह—स्वेदन कार्य का वर्णन करते हुए चरक ने कई प्रकार गृहों का निर्माण करने को बतलाया है जिनका प्रयोग केवल व्याधित के स्वेद के लिये होता रहा । भूगृह, जेन्ताक और उष्ण-गर्भगृह ।

जेन्ताक—बनाने के पूर्व भूमिकी परीक्षा आवश्यक है । प्रशस्त औ गुणवान् भूमि के खण्ड पर पूर्व या उत्तर दिशा में (बस्ती के) जहां की मि काले रंग की या पीले रंग की हो, किसी पुष्करिणी अथवा दीर्घिका आदि जलाशय के पश्चिमी या दक्षिणी तट पर किसी तीर्थ के समीप घर का निर्मा

होना चाहिये। यह स्थान पानी की सतह से सात या आठ (३½ या ४ गज) हाथ की दूरी पर तीर्थ (घाट) की तरफ मुंह करके बनाया जाय। दरवाजे ऐसे बने हों कि उनका द्वार पूर्व दिशा में अथवा उत्तर दिशा में पड़े। यह आगार कूट अर्थात् वर्तुलाकार बनना चाहिये। यह मकान ऊँचाई और विस्तार की दृष्टि से वीस हाथ (१० गज) का बना रहे। चारों तरफ मिट्टी के बने गोलाकार अनेक वातायन (छोटी-छोटी खिड़कियाँ) होनी चाहिये। इस वर्तुलागार में दरवाजे तक चारों तरफ अंदर एक हाथ के उभार और विस्तार वाले अनेक पिण्डक बनाना चाहिये। इस कूटागार के बीच में चार हाथ (२ गज) विस्तार का और ऊँचाई में पुरुष के परिमाण का कन्द्वाकार की भट्ठी बनावे। इस भट्ठी में बहुत से छिद्र बने हों और अग्नि जलाने के कोष्ठक स्तंभ (अवकाश) बने होने चाहिये, साथ ही ऊपर से ढकने के लिये पिधान बनाना चाहिये। उस में खदिर और अश्वकर्णादि काष्ठों के द्वारा अग्नि प्रज्वलित करे। जब आग अच्छी तरह से प्रज्वलित हो जावे, काष्ठ अच्छे प्रकार से जलने लगें, धूमादि शान्त हो जावे, केवल दीप्त अङ्गार कोष्ठक में रह जावें, उस अवस्था में इस अग्नि गृह को स्वेद योग्य समझना चाहिये। तत्पश्चात् स्वेदनार्ह व्याधित को वातघ्न तैलों से शरीर पर अभ्यङ्ग कराके रोगी को वस्त्राच्छादित करके कूटागार में प्रवेश कराना चाहिये।

उष्ण गर्भ गृह—इस प्रकार के गृह निर्माण में एक कुटी निर्माण कराना चाहिये, जो न अधिक ऊँची हो न विस्तृत। उसकी दीवालें मोटी हों। इसकी भी बनावट गोलाकार होती है, परन्तु उसमें वातायन नहीं होते। कुष्ठादि के द्वारा दीवालें लिप्त होती हैं। कुटी के बीच बिस्तर, चारपाई आदि की व्यवस्था करके चारपाई के नीचे अंगीठियों में अग्नि जला दी जाती है। फिर अभ्यक्त होकर रोगी आवृत शरीर होकर विस्तर पर लेटता और स्वेदन होता चलता है।

भूमि गृह—भी इसी प्रकार प्रशस्त निर्वात और समतल भूमि में बनना चाहिये। उसमें रोगी का स्वेदन होना चाहिये। रक्त-पित्त की चिकित्सा में भी दाह की शान्ति के लिये इस प्रकार के भूमि-गृह (तहखानों) की व्यवस्था की जाती है (चर० चि० ३)। परन्तु इस भूमि गृह में स्वेदन न करा के शीतलीकरण की व्यवस्था की जाती है।

धारा गृह—दाह के शमन के लिये इस प्रकार के गृह का निर्माण क जाता था जिसके ऊपर से जल की धारा बहती रहती थी और उसके रोगी की दाह की अथवा रक्त और पित्त विकृति के उपचार की व्य रहती थी।[1]

रसशाला—रसशाला को स्वच्छ, ओषधियों के उपवन के एक प्रा बना होना चाहिये। उसके कमरों की दीवालों में सुन्दर गवाक्ष बने होने चा कर्मचारियों के अतिरिक्त व्यक्तियों का प्रवेश निषिद्ध होना चाहिये। इसके निखिल ओषधियों (रस, उपरस, वनस्पतियों) का संग्रहालय होना चा प्रसिद्ध रस वैद्यों के चित्र, मूर्ति और यंत्रों के चित्र होने चाहिये।

कर्मविभाग—पूर्व दिशा में रसविद्या के आदि देव शंकर जी की आग्नेयकोण पर भ्राष्ट्री प्रभृति अग्निकर्म के साधन, नैर्ऋत्य दिशा में और प्रक्षालन आदि के साधन, वायव्य दिशा में सुखाने का प्रबंध, उत्तर में यंत्रों के रखने का स्थान, ईशान कोण पर रससाधन के प्रमुख उपकर व्यवस्था होनी चाहिये।

उपकरण—द्रोणी के आकार या वर्त्तुलाकार पाषाण निर्मित खल्व, लं खल्व, पीसने की शिला, काच, मिट्टी, काष्ठ, लोह आदि के बने पात्र; संदं कर्त्तरी, उदूखल, शूर्प, चलनो, वह्निमित्रा (दियासलाई); दोलायंत्र, सुदृढ़ आकार की काच निर्मित कूपिकायें और पिधान आदि द्रव्य होने चाहिये।[2]

भेषजागार—सुश्रुत ने भेषजागार (Dispensary) निर्माण क सम्बन्ध में वर्णन किया है (सु० सूत्र ३७)। दवाखाना साफ सुथरे स्था प्रशस्त दिशा में (ग्राम के पूर्व अथवा उत्तर दिशा में), भूमि प्रविभागीय में कथित पवित्र भूमि पर बना होना चाहिये। औषधियों को कपड़े के या मिट्टी के पके हुए बर्तनों (मृद्भाण्डों) में रखने का भी उपदेश ये बर्त्तन काठ के बने फलकों (तख्तों) पर रखे जाँय, आवश्यकतानुसार दीवालों में लगी कीलों पर भी लटकाया जाना चाहिये। डाक्टर हायने ने प्रा कालीन हिन्दू दवाखानों के बारे में लिखा है—जिस स्थान पर औषधियाँ

---

१. च० चि० ६।

२. रसतरंगिणी से उद्धृत।

ायँ उसे स्वच्छ गंदगी और सीड़ रहित (शुष्क) होना चाहिये। उसमें चूहे, दीमक और धूलि के कारण किसी प्रकार की हानि नहीं पहुचनी चाहिये। औषधियों को खने के लिये थैले, जालियां और बड़े बड़े वर्तन व्यवहार में आने चाहिये। र्तनों के मुंह कपड़े से बंधे हों और वे दीवालों से लटकते रहने चाहिये। ग्नि, धूम और जल को दवाखाने से दूर रखना चाहिये।

जिस घर में औषधियों का संग्रह किया जाय; वह न अधिक ऊंचा और न धिक नीचा होता हो तथा औषधियों के ग्रहण करने के स्थान से अधिक दूरी र न हो कर समीप में हो। इसका द्वार दक्षिण अथवा उत्तर की दिशा में बना ोना चाहिए तथा सामने की तरफ एक बरामदा भी हो।

आवश्यक उपकरण द्रव्यों का जैसे-शिला, तुला, मानभाण्ड आदि को पवित्र थलों पर रखना चाहिये।

इसी प्रसङ्ग में आगे चलकर सुश्रुत ने लिखा है 'मतिमान् वैद्य को ओषधियों संग्रह के अनन्तर कषाय, लेप, तैल और घृत आदि का निर्माण करना ाहिये। ओषधियों का संग्रह करके उन का संरक्षण इस प्रकार का करना ाहिये जिसमें धुवां, वर्षा का जल, वायु, धूल आदि के द्वारा द्रव्य नष्ट या हीन वीर्य न होने पावे। फिर दोष भेद का विचार कर भिन्न भिन्न गण वाली ओषधियों को पृथक् पृथक् अथवा मिश्रण करके यथा स्थान प्रयोग करना चाहिये।'

(४) संज्ञाहर द्रव्य

प्राचीन उपलब्ध चिकित्सा ग्रन्थों में संज्ञाहर द्रव्यों का उल्लेख नहीं मिलता जस के आधार पर यह कहा जा सके कि उस युग में किस द्रव्य का व्यवहार इस ार्यं के लिये होता रहा। तो भी इस दिशा में कई एक प्रयोगों का वर्णन आता , जिसकी उस युग के शल्यकर्ता को आवश्यकता पड़ती थी। इस का उद्देश्य दना का कम करना रहता था। चरक तथा सुश्रुत दोनों संहिताओं में ऐसा भाव उत्पादन करने के लिये मद्य का प्रसङ्ग आता है। चरक ने लिखा है ृत गर्भ के गर्भाशय से निकलने के बाद, अथवा आमावस्था में ही गर्भ का र्हरण होने के अनन्तर स्त्री को सुरा, सीधु, अरिष्ट, मधु, मदिरा अथवा आसव से किसी एक को बल और काल के अनुसार पिलाना चाहिये। इस का

उद्देश्य गर्भ कोष्ठ की शुद्धि अथवा शस्त्रकर्म जन्म पीड़ा को दूर करना अ हर्षण करना होता है।'[1]

सुश्रुत ने तो स्पष्टतया शस्त्रकर्म के पूर्व मद्य का प्रयोग बतलाया है— कर्म के पूर्व इस का विधान दिया है। यहाँ पर उसका लक्ष्य संज्ञानाशन अ संवेदना को कम करना ही है।[2] 'रोगी को शस्त्र कर्म के पूर्व भर पेट भो खिलाना चाहिये तदनन्तर उसको तीक्ष्ण मद्य पिलाना चाहिये जिससे वेदना बर्दाश्त करने की शक्ति आ जाय। अन्न सेवन का फल यह होता है कि मूर्छित नहीं होता और मद्य पिलाने से यह मतवाला हो जाता है और की पीड़ा का अनुभव नहीं हो पाता।'

कुछ औषधियों का संज्ञाहर रूप में प्रयोग ग्रीस और रोम देश के चिकित्सक करते रहे। कई लेखकों ने मंड्रागोरा (Mandragora) का भ्यंतरिक प्रयोग निद्राकार और संज्ञाहर रूप में किया है। प्रथम शताब्दी प्लिनी नामक वैज्ञानिक अपनी पुस्तक 'नेचुरल हिस्टरी' में लिखता है कि संज्ञाहर द्रव्यों का प्रयोग नासिका के द्वारा होता है, उसके परवर्ती वैज्ञानि जैसे गैलेन और सेल्सस ने भी उसका समर्थन किया है। अरब निवासी चिकि भी इस द्रव्य का व्यवहार करते रहे। चीनी शल्यविद् आज इसी प्रका किसी चूर्ण का प्रयोग करते हैं, जिससे रोगी गाढ़ निद्रा में पड़ जाता है उसके शरीर के अङ्गों पर शस्त्रकर्म सुविधा के साथ किया जाता है। ते शताब्दी के अन्वेषक ने जिसका नाम 'थियोडोरिक' था एक औषधि 'स्पा यो सोम्नीफेरा' (Spongio Somniphera) की खोज की–जिस की को सूंघने पर अचेत होकर रोगी सुषुप्ति की अवस्था में पड़ जाता था सर्जन की चाकू का अनुभव नहीं कर पाता था। इसी भांति अहिफेन के यौगिक इस काल में इस का कार्य के लिये व्यवहृत होते रहे।

---

[1] व्यपगतगर्भशल्यां तु स्त्रियमामगर्भां सुरासीध्वरिष्टमधुमदिरासवानामन्यतम सामर्थ्यतः पाययेत् गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थं प्रहर्षणार्थञ्चेति। (च. सं. ४, ८)

[2] प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक्। मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदना न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं नबुध्यते। तस्मादवश्यं भोक्तव्यं रोगेपूक्तेषु क प्राणो ह्याभ्यन्तरो नृणां बाह्यप्राणगुणान्वितः। धारयत्वविरोधेन शरीरं पांचभौति
(सु. सू.

अति प्राचीन काल में भारतीय चिकित्सक भी जलते हुए गाँजे का धूम्र सुंघाकर अथवा पिलाकर संज्ञाहरण का कार्य करते रहे । ईसा की दसवीं शताब्दी के लेखक पं० वल्लाल ने (९२७ ई० में) अपने भोजप्रबन्ध में ऐसा एक उल्लेख किया है—राजा भोज के शिर के ऊपर शस्त्रकर्म करते हुए चिकित्सक ने उन्हें मोहचूर्ण (संज्ञानाशक द्रव्य) से अचेत किया था। जिससे राजा को शस्त्रकर्म जन्य पीड़ा का कुछ भी अनुभव नहीं हो सका । फिर उसे शस्त्र क्रिया के अनन्तर किसी 'सञ्जीवनी' औषधि के द्वारा सचेत किया ।[1]

चिकित्सालय के कुछ अन्य आवश्यक उपकरण

दंत–शोधन–चूर्ण (Tooth Powder)

दन्तकाष्ठ (Tooth Brush)

प्राचीन ग्रन्थों में मुँह, दाँत और मसूड़ों की सफाई के लिये अनेक प्रकार के वृक्षों के टहनियों की बने दाँतूनों के कूंचे का ही व्यवहार बतलाया गया है। इस प्रकार के दांतूनों की दन्तपवन या दन्तकाष्ठ संज्ञा है। इन की लम्बाई आठ अंगुल से बारह अंगुल की, मोटाई छोटी अंगुली के परिणाह की होनी चाहिये। दन्तकाष्ठों के चयन में कई बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। दाँतून सीधी (ऋजु), बिना गाँठदार रचना की (अग्रन्थित) और बिना घुन लगी हुई (अव्रण) होनी चाहिये। ऐसे वृक्ष से तोड़ी हुई हो जो प्रशस्त भूमि पर उगा हुआ हो ।

रस, वीर्य, दोष और ऋतु के विचार से कषैले, मधुर, तिक्त और कटु स्वाद वाले ताजे दाँतूनों का व्यवहार होना चाहिये। तिक्त वृक्षों में निम्ब, कषाय रसवालों में बबूल या खदिर, मीठे स्वादवालों में महुआ और कटु रसवालों में करञ्ज के पौदे सर्वश्रेष्ठ हैं[2] ।

---

[1] १. ततस्तावपि राजानौ मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरःकपालमादाय तत्करोटिकापुटे स्थितं शफरकुल गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निःक्षिप्य संधानकरण्या कपालं यथावदारचय्य संजीवन्या च तं जीवयितुं तस्मै तद्दर्शयताम् । (भो. प्र.)

[2] २. निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये बब्बुलस्तथा । मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा ॥
कनीन्यग्रसमस्थौल्यं प्रगुणं द्वादशाङ्गुलम् । भक्षयेद्दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन् ॥
(अ. हृ. सूत्र २)

दाँतून का कूर्चक बनाकर, उससे एकैकशः दांतों का घर्षण करके करना चाहिये। इसके लिये सैन्धव, तैल, त्रिकटु, मधु और तेजोवती द्रव्यों का भी व्यवहार हो सकता है। मुलायम कूँचे के सहारे मसूड़े और की सफाई दंतशोधन चूर्ण के द्वारा की जाती थी।[1]

भावमिश्र ने तो कई वृक्षों के विभिन्न उपयोगिता की दृष्टि से दन्तका बनाने का निर्देश किया है। साथ ही कई प्रकार के पेड़ों को इस का निषिद्ध भी बतलाया है।

उनके मत में अर्क वट, करञ्ज, प्लक्ष, खदिर, बिल्व, उदुम्बर, क चम्पक, शिरीष, अपामार्ग, दाडिम, अर्जुन, कुटज, जाती, मालती, तगर मन्दार दन्तधावन कर्म में प्रयुक्त होनेवाली श्रेष्ठ वनस्पतियाँ हैं।[2] विपरीत साल, तृणराज (गुवाक, ताल, हिन्ताल, केतक, बृहत्तृण, खर्जू नारिकेल) ये निकृष्ट पौदे हैं।[3]

कई मुख और कान के रोगों में दाँतों में कूर्चक का निषेध भी बत गया है—ऐसी अवस्था में गण्डूष मात्र (कई कुल्ले) से ही मुख की करनी चाहिये।[4]

चरक ने मुख की गन्ध, विरसता, दन्त, जिह्वा और मसूड़ों के मल को करने के लिए, सायं प्रातः दोनों काल में दातून करने का उपदेश किया है।

---

१. क्षौद्रव्योषत्रिवर्गाक्तं सतैलं सैन्धवेन च। चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशो
एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन वा। दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबा(
(सु. ४,

२. अर्के वीर्यं वटे दीप्तिः करञ्जे विजयो भवेत्। प्लक्षे चैवार्थसम्पत्तिर्बदर्यां मधुरो ध
खदिरे मुखसौगंध्यं बिल्वेतु विपुलंधनम्। उदुम्बरे तु वाक्सिद्धिराम्रे त्वारोग्यमेव
कदम्बे तु धृतिर्मेधा चम्पके च दृढा मतिः। शिरीषे कीर्तिसौभाग्यमायुरारोग्यमेव
अपामार्गे धृतिर्मेवा प्रज्ञाशक्तिस्तथा ध्वनिः। दाडिम्यां सुन्दराकारं कुकुभे कुटजे
जातीतगरमन्दारैर्दुःस्वप्पनञ्च विनश्यति। (भाव. १.)

३. तृणराजसमुत्पन्नं यः कुर्याद्दन्तधावनम्। नरः चाण्डालयोनिः स्याद् यावद्गङ्गान्न प

४. अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धदिवसेषु च। मात्रद्वादशगन्डूषैर्मुखशुद्धिर्विधी
नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्दिती। तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च
(अ.

सुश्रुत ने दन्तधावन कूर्चक के द्वारा गले से अँटकी की हुई मछली हड्डी को निकालने की विधि बतलाई है।

दन्तशोधन (Tooth Pick)

सूश्रुत ने या तृण के सीकों के द्वारा दाँतों में लगे मल को साफ करने का निर्देश किया है। भोजन के पश्चात् प्रत्यह दोनों समय करना चाहिये। अन्यथा दांतों के मध्य में पड़ा हुआ अन्न सड़कर मुख में बदबू पैदा करता है। मसूड़े शोथयुक्त होकर दांत कमजोर हो जाते हैं। भावप्रकाश ने लिखा है—यदि दन्तलग्न मल कड़ा होकर अनिर्हार्य हो गया हो तो उसके निकालने के लिए बहुत जोर करने की आवश्यकता नहीं।

जिह्वानिर्लेखन (Tongue scraper)[1]

जीभ की सफाई के लिये अधिकतर दातून के चीरे को मोड़कर काम चलाया जाता है, परन्तु शास्त्रकारों ने 'जिह्वानिर्लेखन' नामक एक स्वतन्त्र यन्त्र का प्रयोग इस कार्य में बतलाया है। यह यन्त्र दस अंगुल लम्बा, मुड़ा हुआ, सुवर्ण, रजत, ताम्र, वंग और पित्तल आदि धातुओं का बनता था। धातुओं के अभाव से लकड़ी का भी बनाया जाता था। इसका मृदु, अतीक्ष्ण और श्लक्ष्ण (चिक्कन) होना आवश्यक है।

सम्प्रसाधन या क्षौर कर्म (The practice of shaving)

स्वास्थ्य की दृष्टि से केश, श्मश्रु और नख आदि का काटना बड़ा प्रशस्त है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रति पांचवें दिन (भा० प्रकाश) अर्थात् पक्ष में तीन दिन (चरक) केश, श्मश्रु और नख का सम्प्रसाधन आवश्यक बतलाया गया है।

इस क्रिया के द्वारा शरीर की पुष्टि और बृंहण होता है, आयु बढ़ती है, पवित्रता आती है तथा रूप सुन्दर हो जाता है। अस्तु, केश नख कटवाने की क्रिया अथवा सम्प्रसाधन सबके लिये हितकर है।

प्रसाधनी या केशप्रसाधनी (Comb)

कंघी का व्यवहार अतिप्राचीनकाल से होता आया है। अथर्ववेद में सौ दांतोंवाली कंघी का उल्लेख मिलता है। चरक ने वालों में कंघी का करना एक

---

१. जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव वा। (सु.)
सुवर्णरूप्यताम्राणि त्रपुरीतिमयानि च। (च.)

आवश्यक कर्म बतलाया है। कंघी के बाद ही वेश ठीक होता है। (साधु प्रबाधितकेश:)।

कंघी से बालों की धूलि और मैल साफ हो जाती है, यूका और लिक्षा होकर केश बढ़ते और सुन्दर होते हैं।

आदर्श (Looking glass)

नित्य प्रति शीशे से अपना मुख देखना चाहिये। इसे मंगल, कान्तिका पौष्टिक, बल्य, आयुष्य और पाप को दूर करनेवाला कहा गया है। प्राचं युग में आदर्श धातुवों के बनते थे। रजत, पीतल सुवर्णादि धातुवों को घिस चिकना कर लिया जाता था कि उसमें चेहरा दिखलाई पड़ने लगे। बड़े परिम के आदर्श श्रीमन्त व्यक्तियों के पास या बड़े बड़े राज दरबारों के फाटक लगे रहते थे। इन आदर्शों की सफाई तैल, वस्त्र एवं केशों के गुच्छे के स की जाती है।

> एतैरविमलं सत्वं शुद्ध्युपायैर्विशुद्धयति
> मृज्यमानमिवादर्शं तैल चैलकचादिभि:। (च. शा. ५-१३)

व्यजन या चामर (Fans)

हवा करने का साधन पंखा है। रोगियों में पंखे का व्यवहार अधिक मक्खियों को शरीर से दूर करने के लिये होता रहा। शोष, दाह, श्रम स्वेद से पीड़ित व्यक्तियों को पंखे की हवा तत्काल लाभ पहुँचाती है।

चमरी गौ की पूंछ के बने पंखे को चामर कहते हैं। इसका उपयोग शोफ की अवस्था में पीड़ा कम करने के लिये और खुले व्रणों को मक्षिकाओं रक्षा करने में होता है। प्राचीनकाल में छत्रदण्ड आदि की भाँति चामर अन्यतम राजचिह्न भी था।

चरक के एक स्थल पर नवजात मृत शिशु में पुनः चेतना लाने के निमि सूप से हवा करने का उपदेश किया है।

पंखे कई आकार के और अनेक द्रव्यों के बनाये जाते हैं—जैसे तालप बांस, चमरी की पूंछ, बाल, वस्त्र, मयूरपंख और बेंत आदि। गुण की दृष्टि इनकी हवा में भेद हो जाता है। उदारहरण के लिये, ताल का बना पंखा त्रिदो शामक, बांस का रूक्ष, उष्म और रक्त पित्त को कुपित करने वाला, चमर, व

मयूरपंख और बेंत के बने पंखे स्निग्ध, हृद्य और त्रिदोषशामक होने से प्रशंसित हैं। बाल के बनाये पंखे भी श्रेष्ठ माने गये हैं।

बौद्ध भिक्षुओं में तालपत्र के बने पंखों का प्रचलन रहा।

विस्रावण या निर्वापन (Filters)

द्रव पदार्थों को छानने की प्रथा बहुत प्राचीनकाल ने भारतवर्ष में प्रचलित है। इस कार्य के लिये धातु अथवा मिट्टी के बने पात्रों के मुंह पर कपड़े का एक या दो परत कपड़ा फैलाकर वर्तन के गले में बांध दिया जाता है।

सुश्रुत ने गंदे (व्यापन्न) जल के शोधन के लिये कई विधियां बतलाई हैं—

१. अग्नि पर खौलाकर।

२. सूर्य ताप ये तपाकर।

३. उष्ण लौहपिण्ड को जल में बुझाकर।

४. मिट्टी या बालुका के बने ढेले (लोष्ट) को रक्ततप्त करके बुझाकर।

क्रमशः शीतल करना। तत्पश्चात् पानी को अधिक स्वच्छ (प्रसादन) करने के लिये कई प्रकार के फूलों को उसमें रखना चाहिये। जैसे—नागकेसर, चम्पा, उत्पल, पाटला (गुलाब) के फूल। इन फूलों के अधिवासन से जल शुद्ध और सुगंधयुक्त बन जाता है।

कलुषित जल के प्रसादन के लिये अन्य भी सात प्रसादन की विधियां बतलाई गई हैं—

१. कतक फल या निर्मली।

२. गोमेदक (मणिविशेष)।

३. विसग्रन्थि (मृणाल)।

४. शैवालमूल।

५. वस्त्रखण्ड।

६. मुक्ता।

७. अन्य मणियां।

इन द्रव्यों के निक्षेप से गंदा पानी स्वच्छ हो जाता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी विशेष हितकर हो जाता है।

जलपात्र को जमीन पर नहीं रखना चाहिये। जमीन और पात्र के बीच में कोई व्यवधान होना चाहिये। इन जलपात्रों को रखने के लिये पांच तरीके दर्शाये गये हैं—

१. फलक—(सेमल का बना तख्ता)।

२, त्र्यष्टक—(स्टूल अष्टकोणाकार)।

३. मुञ्जवलय—(मूज का बना गोलाकार वेष्टन)।

४. उदकमंचिका—(बांस या बेंत की बनी मचान)।

५. शिक्य—(तीन रस्सियों के सहारे लटकाकार रखने का सींका, सिकहर)।

जल को शृत शीत (ठण्डा) करने के लिये सात तरीके बतलाये गये हैं-

१. प्रवात स्थापन—(खुली हवा में रखना)।

२. उदक प्रक्षेपण—(ठंडा पानी डालना अथवा वर्तन के ऊपर ठंडे पा का छिड़काव)।

३. यष्टिकाभ्रामण—(छड़ के द्वारा पानी को चलाते रहना)।

४. व्यजन—(पंखा करना)।

५. वस्त्रोद्धरण—(पानी को वस्त्र के कई परत करके या रुई से छानना)

६. जलपात्र को बालू पर रखना—(प्रक्षेपण)।

७. शिक्यावलम्बन—(सींके पर रखकर लटका देना)।

वर्षाजल के संग्रह के संबन्ध में भी चौड़े, स्वच्छ, पवित्र और श्वेत के कपड़े से छने जल का ही ग्रहण करने का विधान बतलाया है। वर्षा आश्विन और कार्तिक में ही संग्रह करना चाहिये। उस समय आकाश वायुमण्डल के स्वच्छ होने से जल स्वच्छ आता है। ऐसे संगृहीत जल की गाङ्ग जल है।[1]

आजकल भी नदी और तालावों का जल वस्त्रावेष्टित मुख वाले पात्रों लेने का तरीका प्रचलित है।

सुश्रुत ने स्पष्टतया अशुद्ध जल को मनुष्य शरीर के लिये दोषजनक लाया है। ऐसे व्यापन्न जल का पान करने का निषेध किया है—इससे प्रकार के रोग हो जाते हैं।

'व्यापन्न जल का बिना शोधन और प्रसादन किये पान करने से श्वय पाण्डुरोग, त्वग्दोष, मन्दाग्नि, श्वास, कास, प्रतिश्याय, शूल, गुल्म, उदर तथा अन्य भी कई विषम रोग शीघ्रता से हो जाते हैं। निदान ऐसे जल वर्जन करना चाहिये।'

---

१. गाङ्गं पुनः प्रधानं तदुपाददीताश्वयुजे मासि-शुचि-शुक्लपटैकदेशच्युतमथवा तलपरिभ्रष्टमन्यैर्वा शुचिभिर्भाजनैर्गृहीतम्। (सु. सू.)

बौद्ध और गैन धर्मशास्त्र में तो जल का विस्रावण धार्मिक दृष्टि से एक आवश्यक अङ्ग है। अहिंसा की रक्षा का एक परम आचार हैं। बौद्धों में तो छः अत्यावश्यक द्रव्यों में एक परिस्रावण (छनना) भी है।

जलपात्र (Water vessels)

जलपात्र अधिकतर ताम्र के बनते थे, परन्तु अभाव में मिट्टी के बने पात्रों का भी व्यवहार था। सुश्रुत ने जल रखते के लिये सोने, चांदी अथवा मिट्टी के बर्तनों का उपदेश किया है। आजकल यो लौह, ताम्र पित्तल आदि कई विभिन्न धातुओं के बने पात्र व्यवहार में आते हैं।

शास्त्रों में सुगन्धित जलों के पीने की विधि वर्णित है। भावप्रकाशकार ने जलपात्र को सुवर्ण, रजत, ताम्र और मिश्र धातुओं के अतिरिक्त कई मूल्यवान् मणियों के बनाने का निर्देश किया है। स्फटिक पात्र का जल पवित्र और शीतल होता है। इसी प्रकार काच और वैदूर्य मणि के पात्र भी पित्तशामक होते हैं।

स्नान (Bathing)

हिन्दू जाति में स्नान एक नित्यकर्म का अंग माना जाता है। स्वस्थ व्यक्तियों में बिना स्नान किये अन्न ग्रहण या भोजन करना भी निषिद्ध समझा जाता है।

भावमिश्र ने लिखा है–'स्नान से अग्नि दीप्त होती है, बल, वीर्य, ओज एवं आयु बढ़ती है। खुजली, मैल, स्वेद, तृषा, दाह और थकावट दूर होती है। शीतल जल के स्नान से बाह्य उष्मा भीतर प्रविष्ट होकर अग्नि को प्रज्वलित करती है। रक्तपित्त नामक रोग शान्त होता है। उष्ण जल से स्नान करने से वायु और कफ का रोग शान्त होता है। इसलिये वायु और कफ की विकृति में ऐसा ही स्नान विधेय है। उष्ण जल से स्नान करना हो तो सिर को शीतल जल से धोकर शेष अङ्ग को उष्ण स्नान करावे। उष्ण जल से शिरस्क–स्नान (सिर से स्नान करना) नेत्र के लिये अहितकर है।'

सामान्य स्नानों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट स्नान (Medical bath) का भी प्रमाण मिलता है। ऐसे स्नानों के द्वारा रोगी की चिकित्सा की जाती थी।

इत्सिङ्ग ने अपने लेखों में ऐसे जलाशयों का वर्णन किया है, जो ईंट के बने होते थे और खुली हवा में खुदे रहते थे। इनमें स्नान करने से रोगी रोगमुक्त

हो जाता था। कई बार इनको स्नान के पूर्व तैल का पूरे शरीर में अभ्य कराया जाता था। कई बार सिर में अथवा पैर के तलवे में अभ्यङ्ग कराके स्ना कराया जाता था। इस क्रिया से प्रतिश्याय ठीक हो जाता था और नेत्र शक्ति बढ़ती थी।

'स्नान सदैव खाली पेट होने पर करना चाहिये। इससे दो लाभ होते हैं- प्रथम तो शरीर, गर्द, गुब्बार से स्वतन्त्र होकर अग्नि दीप्त हो जाती है—दूस यह कि भोजन करने के पश्चात् उसका पाक सुचारु रूप से हो जाता है। इसलि चिकित्सा विद्या में भोजनोत्तर स्नान निषिद्ध है।'

भोजनपात्र (Dinner vessels)

भोजनपात्रों के सम्बन्ध में भावमिश्र ने विस्तृत विवेचना की है।

चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से भोजन परोसने के लिये सोने का पात्र (था सर्वोत्तम है। यह आँख के लिये बड़ा हितकर है। यकृत की क्रिया को बढ़ाता इसी प्रकार लाभप्रद रजतपात्र है। यशद पात्र क्षुधा और बुद्धि को बढ़ाता पित्तल की थाली वायु पित्त को बढ़ाती है, परन्तु श्लेष्मा के विकार को कम कर है। लौह और काच पात्र में किया गया भोजन शोथ और पाण्डु को दूर के बल को बढ़ाता है। मिट्टी और पत्थर का बर्त्तन दारिद्र्य-द्योतक है। लक के बने बर्त्तन में खाया हुआ अन्न रुचिवर्द्धक और कफकारक है। वृक्षों पत्ते से बना पत्तल रुचिवर्द्धक, अग्निदीपक और विषों का नाश करने वा होता है। भोजन के आसन पर बैठे हुए व्यक्ति के दाहिनी तरफ जलपा (छोटा और बड़ा) रखना चाहिये।

विभिन्न प्रकार के भोजन के परिवेषण के लिये भी पात्र विभिन्न हों चाहिये—(सुश्रुत)

लौह पात्र—घी के लिये।
रजत पात्र—पेय, दाल, यूष, रस आदि के लिये।
कदली पात्र—फल और मिष्टान्न के लिये।
पत्थर के पात्र—अम्ल पदार्थ के लिये।
ताम्र पात्र—जल के लिये।
मृत्पात्र—जल, शर्बत और मद्य के लिये।

काच, स्फटिक, वैदूर्य आदि मणिपात्र—राग, षाडव, सट्टक आदि (खट्टे और चरपरे पदार्थ) के लिये।

प्रकिग्रह या भृंगार—प्रकिग्रह श्रृङ्गार प्रकिग्रह (Spittoon)

पिकदान का थूकने के लिये व्यवहार बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। चरक ने चिकित्सालय में रोगी के बिस्तर के समीप पिकदान रखने की व्यवस्था दी है। बौद्ध युग में भी इसका प्रचलन महावग्ग के प्रमाणों के अनुसार ज्ञात होता है। फाहयान ने इस बुद्धदेश में पत्थरों के बने पिकदान देखे थे[1]।

वर्चःपात्र (Bedpan) और मूत्रपान (Urine Bottle)

रोगियों की उपचार सामग्रियों में मल और मूत्र त्याग करने के लिए पात्र समीप में ही रखा जाता था। विस्तर के पास इन वर्त्तनों का रहना आवश्यक था।

पूय पात्र (Pus basins)

शल्यकर्म के पश्चात् व्रण स्थान से निकले हुए पूय अथवा रक्त को इकट्ठा करने के लिये विभिन्न आकार और आयाम के बने धातु के बर्त्तनों का व्यवहार होता रहा। अश्ववैद्यक में शिरावेधजन्य रक्त को किसी विशिष्ट वर्त्तन में संग्रह करने की विधि बतलाई गई है, इससे रक्त की निकली हुई मात्रा का भी ज्ञान हो जाता है।[2]

उलूखल (Pestals) तथा मूसल (Mortars)

ऋग्वेद के युग में भी सोमरस का अभिषवन करने के लिये आर्य लोग उलूखल और मूसल का व्यवहार करते थे। निर्माणशालाओं और गृहकार्यों में इसका व्यवहार नित्य होता है।

निर्माणशाला में व्यवहृत होने वाले उलूखल पत्थर के बने होते हैं। परन्तु आतुर गृह के लिए विशेषतः सूतिकागार में काष्ठ के बने हुए होने चाहिये। संहिताओं में इसका उल्लेख है—'इन्हें बहुत मजबूत काष्ठ का बनाना चाहिये—

---

[1] वील्स रेकार्ड प्रथम भाग भूमिका।

[2] प्रदेशे लोमशे नित्यं लोमान्युत्पाद्य वेधयेत्। प्रमाणार्थञ्च पात्रेण रक्तं गृह्णाति बुद्धिमान् ॥
(अ. वै. १५, ३०)

इसके लिये वरुण की लकड़ी प्रशस्त है। इसके अभाव में उलूखल पलाश का मूसल खदिर काष्ठ का होना चाहिये। उलूखल की ऊंचाई घुटने के बराबर मूसल की अरत्नि प्रमाण (एक हाथ) की होनी चाहिए।'

चलनी, छनना और विस्रावक (Seives, Strainers, Filter

प्राचीन काल में द्रव अथवा चूर्ण आदि ठोस पदार्थों के छानने के लिये की बनी चलनी का ही प्रचलन था। द्रव पदार्थों में छानने के लिए कपड़े दो या तीन तह करके कार्य होता रहा। ऋग्वेद में छानने की क्रिया का उल्ले मिलता है।[1] पवित्र शब्द आता है। विल्सन महोदय ने इस शब्द का साफ छनना ही किया है 'Through the Purifying filters' चलनी की प्राचीन संज्ञा पवित्र या पवित्री है।

शीत और उष्णोपचार (Cold & Hot applications)

तीव्रोदर शूल की शान्ति के लिये चांदी और ताम्र धातु अथवा मणियो बने पात्रों में शीतल जल भर कर नाभि पर रखने की विधि है। यह एक प्र का शीतोपचार है जिससे पीड़ा का शमन होता है। चरक ने शीतल चिकि में सुवर्ण, रजत और कांस्य पात्रों के अतिरिक्त ठंडे जल से भरे वस्ति का विधान किया है। प्रलाप की अवस्था में शीतल जल से भरे बैग को सिर रखने का निर्देश है।

उष्णोपचार के लिए कई विभिन्न विधियां बतलाई गई हैं। ये विधि निम्नलिखित हैं। इनके द्वारा ताप सीधे शरीर में प्रविष्ट होता है। इसके सुश्रुतोक्त तरीके हैं—

१. ताप स्वेद—हाथ के तलवे (पाणि), कांसे के बर्त्तन, मिट्टी के के टुकड़े (कपाल), बालू की पोटली, वस्त्र और खदिर के अङ्गारे के सेंक करना।

---

१. मध्यं पुनाना कविभिः पवित्रैर्द्युभिहिन्वं त्यक्तुमिथनुमीः। (ऋ. ३, ३१, १६)

२. मणिराजतताम्राणि भाजनानि च सर्वशः। वारिपूर्णानि तान्यस्य शूलस्योपरिनिःक्षिपेत॥
पूर्णानां हिमपूर्णानां दृतानां पवनाहृताः। (च. सं. १२)

२. **उष्ण स्वेद**—कपाल, पत्थर, ईंट, अथवा लौह पिण्ड को तप्त कर, लाल होने पर उस पर पानी के छींटे देकर उसके वाष्प से सेंकना, अङ्ग का स्वेद करना। इस स्वेद के लिये अङ्ग को गीले वस्त्र के टुकड़े से लपेट कर रखना चाहिये।

इस प्रकार के भीतर नाडी स्वेद का भी समावेश है। एक सँकरे मुख के वर्त्तन में मांसरस, दूध, दही, धान्याम्ल अथवा वातघ्न क्वाथ को भर के उसके मुख को कपड़े से ढक कर अग्नि पर चढ़ा दे। पुनः वस्त्रावेष्टित होकर वाष्प से स्वेद करना चाहिये। इसके लिये दूसरा उपाय यह है कि 'वातघ्न क्वाथ को अग्नि पर चढ़ा कर घडे के पार्श्व में एक छिद्र करके उसके हस्ती शुण्ड की आकृति की एक नाड़ी जोढ़ कर उसके द्वारा स्वेदन किया जावे।'

वाष्पस्नान (Vapour Bath)—शाङ्गंधर संहिता में वाष्पस्नान कराने की विधि इस प्रकार वर्णित है—'वात नाशक द्रव्यों से बने क्वाथ घड़े में भर कर गर्म करना चाहिये। इस घड़े के पार्श्व में एक छिद्र होना चाहिये और मुँह बन्द होना चाहिये। पार्श्व छिद्र से लगी हुई एक तीन खण्ड वाली, दो हाथ लम्बी, धातु अथवा काष्ठ निर्मित नलिका होनी चाहिये। नलिका का अग्र गोपुच्छ सदृश छः अंगुल लम्बा बनाना चाहिये। रोगी को तैल का अभ्यंग करा के सूख पूर्वक आसन लगा कर मोटे कपड़े का आवरण बना कर शरीर को आच्छादित करके बैठना चाहिये।' यह कार्य कम्बल के द्वारा भी हो सकता है। फिर नलिका द्वारा निकला हुआ बाष्प पूरे शरीर का स्वेदन कर देता है।

इस प्रकार का स्वेदन वस्त्र आवरण के अतिरिक्त छोटे टेण्ट्स के भीतर भी किया जाता है। इसमें चार दरवाजे होने चाहिये। बाहर से अग्नि जला दी जाती है, भीतर बैठे हुए रोगी का स्वेदन हो जाता है।

उपनाह स्वेद (Poulitce)—कई बनस्पतियों के मूल का कल्क बना कर उसमें सर्षप, राई आदि का योग कर के, उष्ण कर के पतले कपड़े पर रख कर स्थान पर लगाना।

द्रोणी स्वेद (Tub Bath)—इस क्रिया में रोगी को गर्म जल अथवा क्वाथ से भरे कोष्ठक (Tub) में बैठाना चाहिये। शाङ्गंधर ने लिखा है। द्रोणी (Tub) सुवर्ण, रजत, ताम्र, लौह अथवा काष्ठ की बनाई जाती है। इसकी

लम्बाई और ऊँचाई प्रत्येक की छत्तीस अंगुल की होती है । इसमें तब रोगी
तो उस अवस्था में द्रव्य का क्वाथ भरा हो और ऊँचाई रोगी की नाभि के
अंगुल ऊपर तक पहुँचती हो । इतनी मात्रा होनी चाहिये ।

पतन, प्रहार, अभिघात, मोच, भग्न आदि की चिकित्सा में रोगी के मर्म
लक्षणों (Shock symptoms) के शमन के लिये तैल से भरे द्रोणी
रखने का विधान है । भावप्रकाश एवं चक्रदत्त ने स्वेदन के चार प्रकार
हारीत ने सात प्रकार बतलाये हैं ।[1]

मानदण्ड या तुला (Balance)

औषधियों के मापने के लिये मानदण्ड औषधालयों में रखा रहता
जिसका उल्लेख प्रायः चिकित्सा ग्रन्थों में आता है । तौल करने के लिये छोटे
लेकर बड़े तक कई भार के बांट (Weights) स्वतन्त्र रूप से
रहते थे । 'एलबेरूनी' ने अपने युग के वैद्यों में प्रचलित विशेष प्रकार
तराजू का जिक्र किया है । इसके बांट (तौल) स्वतन्त्र न रहकर, मानद
ही तुले रहते थे, इस प्रकार तराजू की संज्ञा तुला थी । इससे अनुमान है कि 'म
दण्ड' मामूली तराजू को कहा जाता था, जिसका व्यवहार अधिकतर बैंकों में
तुला से बिमेष प्रकार के बने रेखाङ्कित तराजू का ग्रहण है । इस प्रकार के
आकार के बने 'बैलेन्स' पायेजाते हैं । रासायनिक द्रव्यों के संतुलन में आधु
वैज्ञानिक तुला इसी का प्रतिनिधि है अथवा विकसित रूप में पाई जाती है ।

तौल करने का एक दूसरा भी प्रकार था । विभिन्न आकार, परिमाण
तौल के बने वर्त्तनों में भरकर द्रव्यों का मापन । प्राचीनों के कलिङ्ग और मा
मानों में व्यवहृत होनेवाली संज्ञायें इस प्रकार के पात्रों का ही ज्ञान कराती
शुक्ति, (सीप सदृश पात्र), पाणितल (हाथ के तलवे) के परिमाण का
द्रोणी, सूर्प प्रभृति । कलिङ्ग देश वर्त्तमान उड़ीसा सामुद्रिक व्यापार का
रहा । इस अंचल में समुद्र तट पर बड़े बड़े बन्दरगाह थे । फलतः विदेशों
आयात-निर्यात सम्बन्धी व्यापार या कारोबार कलिङ्ग मान से चलते थे ।

---

१. स्वेदः सप्तविधः प्रोक्तो कोष्ठस्वेदो वाष्पस्वेदोऽग्निज्वालास्वेदो घटस्वेदो बल
फलस्वेदो बालुकास्वेदश्च । (हा. सं. ५, ४)

भीतरी व्यापारों या कारोबार में मागध-मान का प्रचलन अधिक रहा। आचार्य सुश्रुत ने अपने ग्रन्थ में कलिङ्ग-मान को प्रधानता दी है और आचार्य चरक ने अपने ग्रन्थ में मागधमान को। इन दोनों में एक-दो अनुपात है अर्थात् कलिङ्गमान से द्विगुण मागध-मान होता है।

अंजन पात्र

नेत्रों में अंजन लगाने की प्रथा बहुत प्राचीन है। इससे पक्ष्म बढ़ते, नेत्र गोलक की कान्ति बढ़ती एवं तारे स्वच्छ होकर दृष्टिशक्ति बढ़ती है। अंजनों में सौवीर की प्रशंसा सबसे अधिक की गई है, इसके लिये सिन्धुदेश का होना आवश्यक है। इस प्रकार के अंजन का व्यवहार नेत्रों को स्वस्थ रखता है। दर्शन की शक्ति और कान्ति के लिये हितकर है। अंजनों की दो जातियों का वर्णन शास्त्रों में चक्षुष्य कहके पाया जाता है स्रोतोञ्जन (काला सुरमा) और सौवीराञ्जन (सफेद सुरमा)।

सुश्रुतने कई रस के अंजनों की विधियाँ बतलाई हैं। इन अंजनों के रखने के विविध प्रकार के पात्रों का भी निर्देश किया है।

सुवर्ण के बने पात्र	मधुर रस के अंजन के लिये।
रजत ,, ,, ,,	अम्लरस ,, ,, ।
श्रृङ्ग ,, ,, ,,	लवणरस ,, ,, ।
ताम्र और लौह के बने पात्र	कषायरस ,, ,, ।
स्फटिक ,, ,,	खट्टे या अम्ल ,, ।
मिश्र धातु ,, ,,	कटुरस ,, ,, ।

इसके अतिरिक्त हस्तीदन्त, स्फटिक, वैदूर्य, शंख एवं शैलादि द्रव्यों के बर्त्तन भी व्यवहृत होते हैं। बाँस (वेणु गह्वर) के बने बर्त्तन में अञ्जन औषध रखने का विधान है। खदिर काष्ठ के बने पात्र क्षुद्राञ्जनों के रखने के काम में आते हैं। दृढबल ने पत्थर और भेंड़ के श्रृङ्ग का भी इस कार्य में व्यवहार किया है।

शुक्तिपात्र (Medicine glass or Major Glasses)

सीप का उपयोग छोटे बच्चों के दूध पिलाने में औषधियों की बनी घुटी देने में आज भी देखा जाता है। सुश्रुत ने दवा पिलाने के लिये रजत, सुवर्ण,

ताम्र अथवा मिट्टी के बने बर्त्तन या शुक्ति के द्वारा विधान बतलाया है। औषधि का मात्रा-निर्धारण एवं अव्यवच्छिन्न धार गिलाने का कार्य भी सुवि पूर्वक हो जाता है।

आधुनिक युग में कांच के बने ग्लास इस कार्य में बरते जाते हैं, जिसे 'मेडिसिन ग्लास' की संज्ञा है।

पिचुवर्त्ति (Droppers)[1]

प्राचीन काल में आंखों में आश्च्योतन के कार्य में ओषधि-द्रव को छो के लिये रूई की बनी वर्ति का व्यवहार होता रहा, इसके द्वारा बूँद-बूँद क यथावश्यक मात्रा में दवा छोड़ी जाती थी।

'रोगी को हवा के झोंके आने वाले स्थान से अलग हटाकर बायें हाथ सहारे उसकी आंखों को खोलकर शुद्ध पात्र में रखे हुए ओषधि रस में साफ की बनी वर्त्ति को भिगोकर दो अंगुल की ऊंचाई से दस अथवा बारह बूंद मात्रा में बूंद बूंदकर के दवा को छोड़ना चाहिये। (चक्र०); इस प्रकार आ निक युग के 'ड्रापर' का कार्य पिचुवर्ति ही सम्पादन करती थी।

चूर्णन शिला (Grind stone)

बौद्ध ग्रन्थों में औषधियों के पीसने के लिये शिलाओं का वर्णन मिलता 'पिसन-शिलाका' 'पिसन पोटोका' नाम से उल्लेख है। (बुद्धघोष)

शिला के साथ ही साथ पत्थर या लोहे के बने लोढ़ों (Stone a Iron Muller) का भी उल्लेख मिलता है। ताजे ओषधियों का क इनकी सहायता से तैयार किया जा सकता है।

साँची स्तूप में द्वार पर के चित्राङ्कन में एक महानस का दृश्य है, उसमें स्त्री को पीसने के कार्य में व्यस्त दिखलाया गया है। वह किसी चपटी शिला गोल लोढ़े से कुछ पीस रही है।[2]

---

[1] निवातस्थस्य वामेन पाणिनोन्मील्य लोचनम्। शुक्तौ प्रलम्बयानेन पिचुवर्त्या कनीनि दश द्वादश वा बिन्दून् द्व्यङ्गुलादवसेचयेत्। (चक्र०)

[2] Surgical Instruments of Hindus. by Mukerjee.

खल्व

छोटे-बड़े कई पैमाने के खरल का व्यवहार औषधियों के निर्माण में होता है। छोटे आकार के खल्व अधिकतर भेषजागारों में दवाओं के मिलाने में काम आते हैं। औषधियों के निर्माण (Pharmacy) के कार्य में प्रायः बड़े आकार के खल्व उपयुक्त होते हैं।

फार्मेसी के लिये उपयोगी अन्य कई पदार्थों की भी आवश्यकता होती है-जैसे :—

विविध आकार के विभिन्न धातुओं के बने पात्र, दर्वी (Spoon) छोटी-बड़ी कई साइज की लौहसंदंश, अंगीठी, लौह अथवा काष्ठदण्ड (Rods) या शलाका, धौंकनी (Bellows), अंकुश (Hooks), लोहे के हथौड़े (Hammers) मिट्टी के कई आकार के पात्र इत्यादि।

हिमपूर्ण दृति (Ice bag)

हेमराजत कांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः।
पूर्णानां हिमपूर्णानां दृतीनां पवनाहताः॥ चरक, चि० २४।१५४

पैत्तिक मदात्यय की चिकित्सा में दाह और ज्वराधिक्य आदि पैत्तिक लक्षणों के शमन के लिये सिर पर बर्फ से भरी थैली को रखकर शीतल वायु का पंखे के द्वारा चालन का विधान है। इसका प्रयोग सर्वदा पित्ताधिक्य के शमन के लिये किया जा सकता है।

* * *

द्वितीय प्रकरण

यन्त्रोपयन्त्राध्याय

यन्त्र और शस्त्र के उपकरण

ऋग्वेद में 'अयस्' शब्द का प्रयोग बहुत आता है। सुवर्ण के बाद महत्व की दूसरी धातु यही मानी गई है। 'अयस्' शब्द से सामान्यतया सभी धातुओं का ग्रहण होता रहा, परन्तु परवर्त्ती काल में यह विशिष्टार्थ का द्योतक होकर लौहवाची हो गया। अथर्ववेद में कृष्ण और रक्त भेद से दो प्रकार के लौह (अयस्) का वर्णन आता है जो निश्चित रूप से ताम्र और लौह का भेदक है।

यन्त्र और शस्त्र के निर्माण कराने के लिये लौह को सुश्रुत ने सबसे अ उपयुक्त बतलाया है; परन्तु उसके अभाव में उसके प्रतिनिधि रूप में अन्य से भी निर्माण की स्वतंत्रता दी गई है[1]। अशुद्ध लौह का व्यवहार हथियारों बनाने में नहीं होता था सुश्रुत ने स्पष्टतगा उसका निषेध भी किया है। उन् शल्यविदों को सतर्क किया है कि ऐसे बने हथियारों का व्यवहार न करें क्यों कच्चा लोहा विश्वसनीय नहीं होता।

प्राचीन भारत के आर्य चिकित्सक इस्पात से परिचित रहे, वे खनिज से सुन्दर ढंग का लौह (Steel) निर्माण करने की कला से सुपरिचित बौद्ध रसवैद्य नागार्जुन ने लौह और इस्पात पर कोई पुस्तक भी लिखी थी शिवदास ने चक्रपाणि पर टिप्पणी करते हुए पतञ्जलि को इस विषय अधिकारी कथन किया है।

धनुर्वेद, वीरचिन्तामणि, शार्ङ्गधरपद्धति और लोहार्णव ग्रंथों में तीक्ष्ण कान्त नाम से लौह के दो भेदों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। इसमें तीक्ष्ण का प्रयोग तलवार बनाने में होता रहा।[3]

ऐतिहासिकों का मत है कि ऋग्वेद के युग में ही लौह का उपयोग श निर्माण में होने लगा था। तलवार, बर्छे, भाले आदि हथियारों का मिलता है, ये शस्त्रास्त्र स्वर्ण-निर्मित अथवा सुवर्ण जैसे चमकीले होते थे। कई विशेषणों का उल्लेख मिलता है। जैसे 'चमकते हुए' 'जलते हुए' और 'लौह निर्मित'। इनकी तीक्ष्णता बढ़ाने के लिये विशेष प्रकार के प्रस्तर पर धार रगड़ कर तेज बनायी जाती थी। चमकीले करने के लिये पा (Polish) की जाती रही। 'नियार्कश' नामक इतिहासज्ञ ने लिखा है महाराज पुरु ने सिकन्दर को पंद्रह सेर तीक्ष्णायस भेंट किया था जो उस का सबसे अधिक मूल्यवान् उपहार था।

---

१. तानि प्रायशो लौहानि भवन्ति तत्प्रतिरूपकाणि वा तदलाभे। (सु० सू० ७)
शस्त्राण्येतानि मतिमान् शुद्धशैक्यायसानि तु। कारयेत् करणैः प्राप्तं कर्मारं कर्मकोवि

२. नागार्जुनो मुनीन्द्रं शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद्विशदाक्षरैर्ब्रूमः॥ (चक्र. रसायन.

३. अर्चयित्वा विधानेन हेरम्बं गुरुभास्करौ। लोकपालान् ग्रहांश्चैव क्षेत्रपालानथौषधम्
आदित्यदेवताश्चेष्ट्वा धन्वन्तरिपतञ्जली। दद्याद् वलिं च सर्वेभ्यो नानाभक्ष्योपचार
—चक्र. लौहमारण विधि में शिवदास की टी

'रायले ने भी वहाँ की तीक्ष्णामस के द्वारा हथियार बनाने की कला को बहुत प्राचीन बतलाया है। मध्यपूर्व के देशों में इस कला की इतनी प्रशंसा थी कि फारस में आज़ भी ऐसे मुहावरे प्रयोग में आते हैं जिनमें भारतीय धातु-विद्या की अत्यन्त प्रशंसा मालूम होती है 'फौलादे हिन्द' 'जवावे हिन्द' इसका अ होता है हिन्दुस्तानी तलवार की चोट।

ताम्र[1]

चिकित्सा ग्रन्थों में इस धातु का प्रयोग जल पात्र बनाने में प्रशंसित है। अंजन का आँखों में प्रयोग करने के लिये ताम्र-शलाकाओं का वर्णन मिलता है। ऐसी शलाकायें विजनौर और विहात की खुदाई में प्राप्त हुई हैं। चक्रदत्त ने लेखन अञ्जन का प्रयोग ताम्र की शलाका से बतलाया है। सुश्रुत ने लिङ्गनाश की चिकित्सा में ताम्र-शलाका का प्रयोग बतलाया है।

वंग

वंग का व्यवहार यंत्रों के निर्माण में हुआ है। सुश्रुत ने वंग के पत्तरों के द्वारा अर्बुद को चारों तरफ से लपेट कर स्वस्थ धातुओं की रक्षा करते हुए अग्निकर्म का विधान किया है। इस प्रकार के पत्तर सीस, ताम्र अथवा लौह के भी हो सकते हैं और उनका व्यवहार भी इस कार्य में किया जा सकता है।[2]

सीस

सीस धातु की नलिकायें धूपन में व्यवहृत होती थीं। इस धातु की बनी हुई शलाकाओं का व्यवहार आँख में अञ्जन लगाने के काम में होता रहा। पत्तर बनाकर अर्बुद के शस्त्रकर्म, क्षार और अग्निकर्म में व्यवहार होता रहा। न पत्तरों का उद्देश्य अर्बुद के अतिरिक्त स्वस्थ धाधुओं को ढककर उनकी क्षा करना था।

---

१. प्रशस्ता लेखने ताम्रा रोपणे काललोहजा (चक्रदत्त अंजनाधिकार ।)
ताम्रायसी शातकौम्भी शलाका स्यादनिन्दिता (सु० ६. १७)

२. अल्पावशिष्टे कृमिभिः कृते च लिखेत् ततोग्नि विदधीत पश्चात् ।
यदल्पमूलं त्रपुताम्रसीसपट्टैः समावेश्य तदायसैर्वा ॥
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद्विदध्यात् प्राणान्न हिंसन् भिषगप्रमत्तः । (सु० चि० १८)

मिश्रधातु

यशद या वंग और ताम्र का (२५% और ७५%) मिश्रण किये धातु का प्रयोग होता रहा था। इसकी अञ्जन-शलाकायें बनती थीं।

सुवर्ण और रजत

आर्यों में सुवर्ण का ज्ञान बहुत प्राचीन युग से रहा। ऋग्वेद में धा के वर्णन के प्रसङ्ग में प्रायः इसका उल्लेख है। संभवतः 'रजत का ज्ञान उस में अज्ञात रहा हो क्योंकि रजत का नामोल्लेख ऋग्वेद में नहीं आता!' पलि चिकित्सा ग्रन्थों में सुवर्ण, रजत और अन्य बहुमूल्य प्रस्तर आदि का व्यव यन्त्रों के निर्माण में होता रहा। सुवर्ण और रजत के पात्रों का वर्णन संके साहित्य में मिलता है।[1]

चरक ने चिकित्सा-गृह की उपकरण-सूची में अन्यान्य द्रव्यों के सुवर्ण और रजय सूचिकाओं का भी वर्णन किया है। नवजात शिशु के न च्छेदन में सुवर्ण, रजत अथवा लौह के बने हुये चाकू का वर्णन मिलता मनु संहिता[2] में पुरुष बच्चे का प्रसव होने पर गर्भ-नाडीच्छेदन के पूर्व ही च्चारण के साथ बच्चे को घी और मधु मिलाकर सोने के चम्मच में र चटाने का निर्देश हैं। आयुर्वेद के सभी संहिताकारोंने बालक के प्रसव हो बाद सुवर्ण, बच, मधु और घी का मिश्रण प्राश के रूप में बना कर चटा विधान दिया है। सुश्रुत ने सोम-मूल का स्वरस निकालने के लिए सुव बनी सूई का ही विधान किया है। चक्रदत्त ने भी पक्ष्म रोग के दाहकर्म में सु निर्मित सूची का ही आदेश दिया है। साथ ही रोमकूपों को नष्ट करने के ऐसी ही सूई से दाह करने को बतलाया है।[3]

---

[1] सौवर्णं राजतं शाङ्गं ताम्रं वैदूर्यकांस्यजम्। आयसानि च योज्यानि शलाकाश्च यथाक्र
(सु० ६,

[2] प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मंत्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पि
(मनुसंहिता २,

[3] रक्षन्नक्षि दहेत् पक्ष्म तप्तहेमशलाकया। पक्ष्मरोगे पुनर्नैवं कदाचिद्रोगसंभवः।
प्रवृद्धान्तरमुखं रोम सहिष्णोरुद्धरेच्छनैः। संदंशेनोद्धरेद् दृष्ट्या पक्ष्मरोमाणि बुद्धि
(चक्र. नेत्र

योगरत्नाकर में गुदभगंदर के दाहकर्म में ऐसी ही सोने की सूई का निर्देश किये है।[1] शार्ङ्गधर ने नस्यकर्म में व्यवहृत होंने वाली औषधियों को सुवर्ण अथवा शुक्ति के बने वर्त्तन में रखने का उपदेश किया है।[2] सुवर्ण और रजत के बने हुए बड़े-वड़े कोष्टक (बर्त्तन) बने रहते थे जिनमें औषधियों के घोल भरे रहते थे और उनमें रोगियों को बिठाया जाता था।[3]

शृङ्ग

पशुओं के शृङ्ग का व्यवहार आचूषक यन्त्रों में होता रहा। आचूषण के लिये अधिकतर गोशृङ्ग का विधान है। शृङ्ग की बनी शलाकाओं का व्यवहार अंजन कर्म में मिलता है। विषचिकित्सा में व्यवहृत होने वाले अगदों के रखने के लिये भी शृङ्ग का व्यवहार बताया गया है (सु० कल्प०)। अंजन रखने के लिये बकरी के शृङ्ग का बना हुआ पात्र सुश्रुत ने बतलाया है। कुछ उपयोगी पात्र भी इसका बनाने का निर्देश किया है। चरक ने दुम्बे के सींग में दवा रखने का विधान किया है। वस्तियंत्र की नलिकायें शृङ्ग की बनती रहीं।[5]

अस्थि और हाथी के दांत

वाग्भट द्वितीय ने अंगुलित्राणक बनाने के लिये कई पदार्थों का निर्देश किया है। ये हाथीदांत के अथवा लकड़ी के बनते थे।[6]

---

१. अपानमार्गपिडिकां दहेत स्वर्णशलाकया ॥
अग्निप्रतप्तया पश्चात कुर्यादग्निव्रणक्रियाम्। (योगरत्नाकर)

२. कोष्ठभिच्छन्नधारञ्च हेमताराद्दिशुक्तिभिः
शुक्त्या वा पात्रे युक्त्या वा प्लोतैर्वा नस्यमाचरेत। (शा. ३. ८.)

३. सौवर्णं राजतं वापि ताम्रमायसदारुजम्।
कोष्ठकं तत्र कुर्वीतोच्छ्राये षट् त्रिंशदङ्गुलम्। (शा. ३. २.)

४. चूषणे गवादिभवं सुषिरं शृङ्गम् (वाग्भटार्थकौमुदी)

५. चूर्णाञ्जनं कारयित्वा भाजने मेषशृङ्गजे। संस्थाप्योभयतः काले अञ्जयेत्सततं बुधः ॥
एतच्चूर्णाञ्जनं शस्तं श्रेष्ठं भाजने शुभे। दन्तस्फटिकवैदूर्यशंखशैलासनोद्भवे ॥
शातकुम्भेऽथ शार्ङ्गे वा राजते वा सुसंस्कृते। (सु. क.)
सिद्धशैलासने भाण्डे मेषशृङ्गे च संस्थितः। (च. ६, २६.)
विमुद्र्यांसं त्रिखण्डाञ्च धातुजां काष्ठजां तथा।
षड्ङ्गुलास्यां गोपुच्छां नाडीं युज्याद् द्विहस्तिकाम्। (शा. ३. २.)

अङ्गुलित्राणकं दान्तं वार्क्षं वा चतुरङ्गुलम्। (अष्टाङ्गहृदय)

लकड़ी

लकड़ी का व्यवहार नलिका (नाडी) बनाने में होता है ।[1] बाष्पस्ना
लिये शार्ङ्गधर ने धातु अथवा लकड़ी की बनी नाडी का निर्देश किया है।
नलिकायें वस्तियन्त्रों में भी व्यवहृत होती थीं ।[2]

पत्थर

अञ्जनशलाका धातु की या पाषाण की बनती रही। औषधियों के पे
मिश्रण और वितरण में प्रस्तरखल्व का व्यवहार होता है। ताजो औषधि
कल्क और स्वरस बनाने में शिला का उपयोग होता है। ऋग्वेद में सोमरस
अभिषवण क्रिया में दो प्रस्तर खण्डों का वर्णन मिलता है। शस्त्रों को खर
बनाने में शिला का व्यवहार होता रहा ।[3]

निर्माणविधि

यंत्रों के निर्माण में कई बातों का ध्यान होना चाहिये। 'अङ्ग और क
अनुसार उचित आयाम, आवश्यकतानुसार उनके अग्र चिकने ओर सुन्दर
चाहिये। सुदृढ़ उत्तम रूप वाले, उत्तम पकड़ वाले (वृन्त वाले) होने चा
शस्त्रों की बनावट के बारे में भी उसे सुनिशित रखने की विधि है। श
चयन में शस्त्रकर्म करने के पूर्व निशातनी पर घर्षण से जब शस्त्र बाल
में समर्थ हो जाता है, तब उसको यथास्थान ग्रहण करके कार्यमें प्रयोग
चाहिये।' बुद्धिमान् शल्यविद् को चाहिये कि शस्त्र और यन्त्रों को शुद्ध फौ
का बनवाये और निर्माण कार्य में कुशल लौहकार को नियुक्त करे। वा
भी इन्हीं बातों का अपने ग्रन्थ में निर्देश किया है ।[4]

---

[1] नेत्राणि धातुजान्याहुर्नलवंशादिजान्यपि ।

[2] नेत्र कार्यं सुवर्णादिधातुभिर्वृक्षवेणुभिः । नलैर्दण्डैर्विषाणाग्रैर्मणिभिर्वा विधीयते।
(शा. ३,

[3] मुखयोः कुण्ठता श्लक्ष्णा शलाकाष्ठाङ्गुलोन्मिता ।
अश्मजा धातुजा वा स्यात् कलायपरिमण्डला ।

[4] यदा सुनिश्चितं शस्त्रं रोमविच्छेदि सुसंस्थितम् । सुगृहीतं प्रमाणेन तदा
योजयेत् । (सु. सू. ७)

सजावट

जब तक कि प्राचीन युग के किसी यन्त्र या शस्त्र की प्रतिकृति अथवा नमूना नहीं प्राप्त होता उसकी सजावट के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। उन हथियारों का सुन्दर रूप देने के लिए अथवा शोभा और सजावट के लिये कैसा उपक्रम होता था, स्थिर रूप से नहीं कह सकते। फिर भी वाग्भट द्वितीय ने अपने एक शस्त्र मुचुण्डी के निर्माण में उसकी शोभा के लिये एक अंगूठी बनाने का निर्देश किया है।[1]

शस्त्रों की धार

इन शस्त्रों की धार की मात्रा में भेद थे।[2] सब शस्त्रों की धार एक सी नहीं होती थी। जो शस्त्र भेदन के कार्य में आते थे उनकी धार (मसूरदल) मसूर की परिमाण की होती थी और जो शस्त्र लेखन के कार्य के थे, उनकी धार भेदन शस्त्रों से आधी (अर्थात् आधे मसूर के बराबर) होती थी। जो शस्त्र व्यधन के कार्य में आते उनकी धार बाल के समान और जो छेदन के कार्य में आते थे उनकी धार व्यधन शस्त्रों से भी आधी अर्थात् बाल से भी आधी होती थी। इसी प्रकार बडिश और दन्तशंकु जौ के पत्ते के समान बनाने का निर्देश ग्रंथों में पाया जाता है। अञ्जन लगाने की शलाका दोनों ओर से कुण्ठित, चिकनी, मटर के बराबर मोटी पत्थर या धातु की होती थी।

पायना

पायना शब्द कारीगरों की भाषा में व्यवहृत होता है, इसका अर्थ है, निर्मित हुए शस्त्रों को विभिन्न द्रवों में रक्त तप्त करके डुबोना। इसका उद्देश्य शस्त्र को

षड्विंशतिः सुकर्मारैर्घटितानि यथाविधि। शस्त्राणि रोमवाहीनि बाहुल्येनाङ्गुलानि षट्।
सुरूपाणि सुधाराणि सुग्रहाणि च कारयेत्। अकरालानि सुध्मातसुतीक्ष्णावर्तितेऽयसि।
समाहितमुखाग्राणि नीलाम्भोजच्छवीनि च।
नामानुगतरूपाणि सदा सन्निहितानि च। (अ. हृ. १, २६)

[1] मुचुण्डी सूक्ष्मदन्तर्जुमूले रुचकभूषणा। (अ. हृ. १, २५)

[2] तत्र धारा भेदनानां मासूरी लेखनानां अर्धमासूरी। व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी। छेदनानामर्धकैशिकी। बडिशो दन्तशंकुश्चानताग्रे तीक्ष्णकण्टकप्रथमयवपत्रमुखे।
आगमादुपदेशादन्यत्र यन्त्रदर्शनात् युक्तितश्च कारयेत्। (सु. सू. ७)

धारा को दृढ़ बनाना होता था। सुश्रुत ने पायना की विधियों को तीन वि में बतलाया है। क्षार, उदक और तैल पायना। इसके लिये शस्त्र को नि करते हुए अथवा बन जाने पर अग्नि में लाल करके तेल या पानी अथवा क्षा निर्वापित किया जाता था। इनमें क्षारपायित शस्त्रों का उपयोग शर शल्य नि लने अथवा अस्थि के छेदन में होता रहा, जलनिर्वापित शस्त्रों का प्रयोग मां छेदन, भेदन और पाटन में होता था और तैल में बुझाये शस्त्रों का प्रयोग सि के वेधन और स्नायु के छेदन में किया करते थे।

तन्त्रान्तरों में युद्ध में प्रयुक्त होने वाले शस्त्रों के पायना का विधान हो जाता है। शार्ङ्गधर (वृद्ध) में बाणों के तीक्ष्णाग्रों और तलवारों की धार (फ को खर बनाने की कई विधियां दी गई हैं। फलों की पायना बतलाई जा र जिसके द्वारा दुर्भेद्य कवच भी पेड़ के पत्तों के सदृश काटे जा सकते हैं। वि काष्ठौषधियों को पीसकर तैल, क्षार अथवा जल में बुझाने की वि दी गई हैं।[1]

शुक्राचार्य अथवा उशनस ने बृहत्संहिता में तलवार की धार को खर क के लिये शस्त्रों के पायना की विधियों का उल्लेख किया है।

हाराणचंद्र ने पायना कर्म की सुन्दर व्याख्या की है। 'शस्त्र तैयार कर पश्चात् उसकी धारा को कठिन करने के लिये संतप्त अवस्था में भिन्न-भिन्न द्र उसको डुबाना। भिन्न-भिन्न द्रवों का धारा पर विशेष प्रभाव पड़ता है, जि वह अपना कार्य करने में अधिक समर्थ होता है।'

---

[1] फलस्य पायनं वक्ष्ये वनौषधिविलेपनैः। येन दुर्भेद्यवर्माणि भेदयेत् तरुपर्णवत्।
पिप्पली सैन्धवं कुष्ठं गोमूत्रेण च पेषयेत्। अतिशीतमनाविद्धं पीतं नष्टं तथौषधम्।
अनेन लेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत्। ततो निर्वापितं तैलं लौहं तत्र विशिष्यते।
पञ्चभिर्लवणैः पिष्टं मधुसिक्तं च सर्षपैः। एभिः प्रलेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत्।
शिखिग्रीवा तु वर्णाभं तप्तपीतं तथौषधम्।
ततस्तु विमलं तोयं पाययेद्भस्ममुत्तमम्। (वृद्ध शार्ङ्गधर।)
क्षारं कदल्या मथितेन युक्ते दिवोन्दिते पायनमायसे यत्
सम्यक् शितं चाश्मनि नैति भंगं न चान्यलोहेष्वपि चैति कौण्ठ्यम्।
वडवोष्ट्रकरेणुदुग्धपानं यदि पानेन समीहतेऽर्थसिद्धिम्।
झषपिण्डमृगाश्ववस्तदुग्धैः, करिहस्तच्छिदयेसतालगर्भैः॥

अंग्रेजी में पायना को टेम्परिङ्ग (Tempering) कहते हैं। कुछ लोगों इसक अर्थ जीवाणुनाशन (Sterilization) भी किया है, जो संदर्भ के नुसार अयथार्थ ज्ञात होता है।

✓यन्त्र-शस्त्रों के गुण और दोष

यन्त्रों के कई गुण[1] सुश्रुत संहिता में उल्लिखित है जिसका वृन्त ऐसा बना हो कि अच्छी तरह से पकड़ में आ सके (सुग्रह), मजबूत फौलाद का बना हुआ हो (सुलौहानि) धार अच्छी बनी हो (सुधाराणि), देखने में सुन्दर और योग्य आकार के हों (सुरूपाणि), उनके अग्र ठीक हों (सुसमाहितमुखाग्राणि), उनकी धार दन्तुरित न हों (अकरालानि), शस्त्रकर्म करते हुए ऐसे सुनिशित शस्त्र के चयन का वर्णन है जो चर्म पर के केशों को काट सके (यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि), इस प्रकार के शस्त्रों के द्वारा कर्म करे।

शस्त्रों के आठ दोष ग्रन्थ में बतलाये गये हैं। टेढ़ा होना (वक्र), धार का न होना (कुण्ठ), टूटा होना (खण्डम्), टेढ़ा-मेढ़ा काटने वाला (खरधार), बहुत मोटा होना (अतिस्थूलम्), बहुत पतला होना या छोटा होना (अत्यल्पं) अत्यन्त छोटा (अतिह्रस्व), अथवा अत्यन्त लम्बा (अतिदीर्घम्)। इन दोषों से रहित शस्त्र प्रशस्त हैं। उनका प्रयोग शस्त्रकर्म में करना चाहिये। खर धार वाले शस्त्रों का व्यवहार केवल अस्थि के काटने में करना चाहिये। वाग्भट ने भी इन्हीं दोषों का वर्णन अपनी संहिता में किया है।[2]

इसी भांति यन्त्रों के भी बारह दोष सूश्रुत ने बतलाये हैं। बहुत मोटा या भद्दा (अतिस्थूलम्) होना, अशुद्ध लोहनिर्मित (असार), बहुत लम्बा होना (अतिदीर्घं), बहुत छोटा होना (अतिह्रस्व), पकड़ने योग्य न होना (अग्राहि), कठिनाई से पकड़ में आने वाला (विषम ग्राहि), टेढ़ा (वक्र), कोमल वस्तु का

आर्कं पयो हुडु विषाण मसी समेतं पारावतस्य शकृता च युतं प्रलेपः।
शस्त्रस्य तैलमथितस्य ततोऽस्य पानं पश्चाच्छितस्य न शिलासु भवेद्विघातः॥ (बृहत्संहिता)

✓[1] समाहितानि यन्त्राणि खरश्लक्ष्णमुखानि च।
सुदृढानि सुरूपाणि सुरूपाणि च कारयेत॥

✓[2] कुण्ठं खण्डं तनु ह्रस्वं दीर्घात्यल्पत्ववक्रताः।
शस्त्राणां खरधारत्वमष्टौ दोषाः प्रकीर्तिताः॥

बना होना (शिथिलं), उठे हुए अग्र का होना (अत्युन्नतं), कील का टेढ़ा, या कमजोर होना (मृदु कीलम्), अग्र का मृदु होना (मृदुमुखम्), दोनों का मृदु या ढीला होना जिससे यन्त्रण ठीक न हो सके (मृदुपाशम्)। इन का प्रधानतया निर्देश स्वस्तिक यन्त्रों के सम्बन्ध में किया गया है।

शिला

युद्ध में व्यवहृत होने वाले शस्त्रों की धार तेज करने के लिये अच्छे शिला का वर्णन मिलता है। उस के ऊपर रगड़ कर शस्त्र की धारों को करने की परिपाटी आज तक चली आ रही है। पुरा काल के भारतीय कर्ता अपने शस्त्रों की धार ऐसे ही चिकने पत्थरों पर घर्षण करके तीक्ष्ण रहे। सुश्रुत के वर्णनों में आता है 'उनके निशानार्थ उड़द के रङ्ग की शिला शिला होनी चाहिये।' ग्रीस और रोम देश के जर्राहों में भी यही विधि प्र रही। वे अपने व्यवहार में पत्थर की या 'बालूदार मिट्टी की, या मिटी की स्लेटें लाते थे। रगड़ने की क्रिया की पारिभाषिकी संज्ञा निशान रही और प्र -खण्ड को शिला कहा जाता था।

शस्त्र-कोष[१]

शस्त्रों की सुरक्षा के विचार से और धार को कुण्ठित न होने देने के एक प्रकार का कोष बनाया जाता था जिसे 'शस्त्रकोष' कहा जाता था कोमल और हल्के होने की दृष्टि से सेमल की लकड़ी से (शाल्मली फ बनते थे। आवश्यकतानुसार ये क्षौमपट्ट, ऊन, रेशम अथवा मृदुचर्म बनते रहे। उन कोषों की लम्बाई बारह अंगुल और चौड़ाई नौ अंगुलों की रही। बटुए की तरह उनमें धागे क्रम से लगे होते थे (विन्यस्तपाशः), खाने होते रहे, जिनमें शस्त्रों को पृथक्-पृथक् रखा जा सके (सान्तराणि) खानों के बीच में भेड़ के ऊन में रखे जाते थे (मेषादिलोममध्ये स्थिता सिलाई बड़ी मजबूत होती रही (सुस्यूत)। ये मोड़े जा सकते रहे और कोषों के मुख पर एक शलाका रही, जिसके द्वारा उसका मुंह गांठ

---

[१] स्यान्नवाङ्गुलिविस्तारः सुघनो द्वादशाङ्गुलः। क्षौमपट्टोर्णकौषेयदुकूलमृदुचर्मजः॥
विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्थिशस्त्रकः। शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोषः सुसञ्च

न्द किया जा सकता था, साथ ही गांठ को खोलकर धागों को खींच कर खोला जा सकता था। नापितों में हथियारों को रखने के लिये आज भी ऐसी स्त्रकोष की प्रथा दीख पड़ती है।

वहनीय कोष (Bags)

महावग्ग के अनुसार बुद्ध ने प्रलेपों को धूल आदि से सुरक्षित रखने के लिये ब्बे बनाने की आज्ञा दी थी। ये छोटे बड़े कई प्रकार के और कई धातुओं के ोने, चांदी, बांस, अस्थि, सींग, लकड़ी या ताम्र के बने होते थे, उन पर क्कन लगाये जाते थे। प्रलेपों को लगाने के लिये शलाकायें थीं। इन लाकाओं को सुरक्षित रखने के लिये कोष बनवाने की आज्ञा थी। एवं उनको ले जाने के थैले थे। इन थैलों को कंधे से लटका कर ले जाने के लिये धागे लगे रहते थे जिससे सुविधानुसार स्थानान्तर किया जा सकता था।

इसी प्रकार बुद्ध ने नासा में औषध पहुँचाने के लिये भिक्षुकों को 'यमक तुकरनी' (Double Nasal spoon) बनाने की आज्ञा दी थी। ढक्कनदार ल बनवाये थे जिससे उनमें धूल आदि न पड़ सके। ये नल आपस में रगड न ायें इस लिये दुहरे बैग बनाये गये थे, इनमें कंधे से लटकाने वाली रस्सियाँ गी रहती थीं।

फलक अथवा पीठ

शल्यकर्म करते हुए अथवा अर्श, भगंदर आदि रोगों की परीक्षा करते समय रोगी को एक विशेष प्रकार के तख्त पर या बिस्तर पर लेटा दिया जाता था।[1] व्रणितागार में इस प्रकार तख्त सदैव तैयार रहा करते थे। उनकी संज्ञा थी फलक। आधुनिक युग में इसका प्रतिनिधि टेबुल है, जिस पर शस्त्र कर्म किये जाते है। अष्टाङ्गहृदय में इस प्रकार के 'आपरेशन टेबुल' का वर्णन मिलता है।[2]

---

१. भुक्तवन्तमुपवेश्य सम्भृते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रकाले समे फलके। (सु० ४. ६.)

२. शुचिं कृतस्वस्त्ययनं मुक्तविण्मूत्रमव्यथम्। शयने फलके वान्यनरोत्संगे व्यपाश्रितम्।
(अष्टाङ्ग हृदय ६. ८)

ततो बलवन्तमविक्लवमाजानुसमे फलके प्रागुपवेश्य
पुरुषञ्च तस्योत्सङ्गे निषण्णं पूर्वकायमुत्तानमुन्नतकटिकम्। (सु०)

इन फलकों की लंबाई मनुष्य की जानु से लेकर ललाटाग्र तक की दूरी के होती थी और ये पृथिवी सतह से घुटने भर (आजानुसमे फलके) ऊँचा रखे जाते थे। सुश्रुत ने ऐसे समान फलकों का वर्णन अधिकतर अर्श, और अश्मरी के शस्त्रकर्म के सम्बन्ध में किया है।

वस्तियन्त्र का पुरुष के मूत्रमार्ग में प्रवेश करते समय भी इसी प्रक जानुसमासन फलक पर रोगी को बैठाने का निर्देश है।

शिरा वेध करने के समय रोगी को एक विशेष प्रकार के पीठ (Sto पर बैठाया जाता था जो अरत्नि प्रमाण ऊंचा होता था। अरत्नि का मा कनिष्ठिका अंगुली के अग्र से आरम्भ करके अन्तर्बाह्वस्थि के कूटक प्र (लगभग डेढ़ फीट) तक की दूरी।[1]

कपाट शयन

फलकों के वर्णन के साथ ही साथ कपाटशयन का भी वर्णन अप्रा नहीं होगा। अधःशाखा के भग्न की चिकित्सा में इसका विधान है। यह प्रकार की काठ के तख्तों से निर्मित भग्न-शय्या (Fracture bed) थी जिसकी आकृति दरवाजे के सदृश होती थी, इसी पर रोगी को लेटे पड़ता था। कपाट से समानता रहने की वजह से इसे कपाट-शयन कहते। तख्तों से पाँच कीलें लगी रहती थीं जिनसे भग्न हुए अङ्ग बंधे रहते थे उनमें गति न हो सके। बन्धन का तरीका यह रहा कि संधि के दोनों पार्श्व दो दो कीलक रहते और पादतल की तरफ एक रहता था। डल्हण ने टीका में कुछ विशद करते हुए लिखा है—पंचकीलक (कीलें) का तात्पर्य है कि यदि जंघा का भग्न हो तो गुल्फ संधि के दोनों तरफ दो-दो कीलें पादतल की तरफ एक कीलक दिया जावे। यदि ऊरु का भग्न हो तो संधि अथवा वंक्षण-संधि के दोनों तरफ दो दो और पैर के नीचे दिया जावे जंघा और ऊर्वस्थि दोनों का भग्न एक साथ हो तो ऐसी दशा में सात की के द्वारा यंत्रण होना चाहिये। अर्थात् बाहर की तरफ से दो गुल्फ के, जानु दो वंक्षण के पास और एक पाद तल की ओर।

स्नातस्य भुक्तभक्तस्य रसेन पयसापि वा। सृष्टविण्मूत्रवेगस्य पीठे जानुसमे मृदौ।

[1] तत्र व्यधसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने। (सु० ३. ८

इस शय्या का प्रयोग अधिकतर जंघा और ऊरु के भग्न में होता है; परन्तु ोणि, पृष्ठ, वंक्षण, वक्ष और अक्षक संधि के विश्लेष अथवा अस्थियों के भग्न में ी कपाट-शयन का विधान प्रशस्त है ।[1]

हीपोक्रेटीस नामक ग्रीक वैज्ञानिक भी अपने भग्न की चिकित्सा में इन धियों का अनुसरण करता था। उसने इसी प्रकार के विस्तर बनाने का निर्देश या है जिसे 'हीपोक्रेटिक का बेंच' कहा जाता था ।

यन्त्र एवं शस्त्र की व्याख्या

यन्त्र शब्द से विना धार वाले, शस्त्रकर्म में व्यवहृत होने वाले हथियारों का हण होता है। इसकी शास्त्रीय व्याख्या सुश्रुत ने संक्षेप में यह बतलाई है। 'तत्र नः शरीराबाधकराणि शल्यानि तस्याहरणोपायो यंत्राणि ।' (सु. सू ७.) म्पूर्ण शरीर में बाधा या कष्ट पहुँचाने वाले विजातीय द्रव्य (Foreign ody) को शल्य कहते हैं और उसके दूर करने या निकालने के साधनों को त्र कहते हैं। संक्षेप में रोग के निदान और चिकित्सा में व्यवहृत होनेवाले, ना धार वाले हथियारों को यंत्र (Blunt Instruments) कहा जाता । वाग्भट ने यंत्र की परिभाषा इस प्रकार से श्लोक बद्ध की है :—

---

[1] अथ जंघोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम् ।
कीलका बंधनार्थञ्च पञ्च कार्या विजानता ॥
यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा ।
संधेरुभयतो द्वौ द्वौ तले चैकश्च कीलकः ॥
श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा ।
भग्नसंधिविमोक्षेषु विधिमेनं समाचरेत् ॥
(सु. ४. ३)

कटीजंघोरुभग्नानां कपाटं शयनं हितम् ।
यन्त्रणार्थं तथा कीलाः पञ्च कार्याणि बन्धना ॥
जंघायोः पार्श्वयोर्द्वौ द्वौ तल एकश्च कीलकः ।
श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षयोस्तथा ॥
(अष्टांगहृदय ६, २७)

नानाविधानां शल्यानां नानादेशप्रबाधिनाम् ।
आहर्त्तुमभ्युपायो यस्तद्यन्त्रं तच्च दर्शने ॥

(अ. हृ. सू २५

मन और शरीर में पीड़ा देने वाली वस्तु को शल्य कहते हैं। ये शल्य भौतिक द्रव्यों के ही होते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जो भौतिक न हुए भी पीडादायक होते हैं. जैसे आध्यात्मिक भाव क्रोध, भीति, चिन्ता शोक आदि । इन दो प्रकार के शल्यों का निर्हरण करना ही यंत्रों का प्र कार्य है। आध्यात्मिक शल्यों का आहरण तो मानस शास्त्र का विषय है। भी कुछ अवस्थाओं में इनका प्रयोग आवश्यक होता है। जैसे शस्त्रकर्म की से बचाने के लिए हर्षण अथवा आश्वासन का उपयोग ।

आहरण के अतिरिक्त अन्य भी कुछ कार्य यंत्रों के देखे जाते हैं । उदाह लिये—दर्शन-रोग अथवा शल्य के स्थल को देखना । आधुनिक यांत्रिक परि में ऐसे यन्त्रों को स्पेकुलम्' और 'स्कोप' कहते हैं जैसे कण्ठ शल्यावलोकन (Laryngoscope, Pharyngoscope) योनिव्रणेक्षणयंत्र (V nal Speculum)।

क्रिया सौकर्य—अंग-संरक्षणार्थ (Directers and Probes) शस्त्र करते वक्त अन्य अङ्गों की रक्षा के लिए और शस्त्रकर्म में सहूलियत के ऐसे यन्त्रों का उपयोग होता है। जैसे (Probe and Director, Her Director, Wound retractors) आदि ।

यन्त्र कर्म— स्थूल दृष्टि से अथवा संक्षेप में उपयुक्त तीन ही कर्म यं प्रधान हैं। परन्तु उनके विविध प्रयोगों की दृष्टि से सुश्रुत ने चौबीस वाग्भट ने केवल पन्द्रह कर्म गिनाये हैं। उनकी विशद विवेचना नीचे की ता में दी जा रही है—[1]

---

[1] निर्घातनोन्मथनपूरणमार्गशुद्धि-
संव्यूहनाहरणबंधनपीडनानि ।
आचूषणोन्नमनामनचालभंग-
व्यावर्त्तनर्जुकरणानि च यन्त्रकर्म ॥

(अ० सू० २५)

१. निर्घातन–(शल्य को पाषाणादि से आघात करना (Hammering)

२. पूरण–बस्ति के द्वारा कर्ण, गुदा, नेत्र और योनि में औषध का भरना (Filling).

३. बंधन–रज्जु से अथवा चर्म से या पट्ट से बाँधना (Bandaging)

४. व्यूहन–व्रणोष्ठों को मिलाना (Bringing together the edges of the wound)

५. वर्त्तन–यथास्थान स्थापन (Replacement)

६. चालन-एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना अथवा अटके हुए शल्य को निकालना } Transfering Moving a foreign body

७. विवर्त्तन–शल्य को ऐंठ कर निकालना (Turning round)

८. पीडन व्रणगत पूय और स्राव को दबाकर निकालना (Pressing)

९. विवरण-संकीर्ण मार्ग को चौड़ा करना (Dilatation)

०. मार्गविशोधन-सूत्रमार्ग और गुदा को साफ करना (Clearing the urethra and Rectal cannal)

१. विकर्षण–पकड़कर खींचना (Extraction)

२. आहरण–बाहर ले आना (Pulling out)

३. आंछन संकुचित अंगों को खींचना (Pulling up)

४. उन्नमन–अधःस्थित शल्य को ऊपर ले जाना (Elevation)

५. विनमन–उभरी हुई हड्डी आदि को नीचे दबाना (Depression)

६. भंजन–तोड़ना (Crushing)

७. उन्मथन–शलाका द्वारा विलोडन (Probing or stiring)

८. आचूषण–दूषित रक्त को शृङ्गादि के द्वारा चूसना (Suction)

९. एषण–गण्डूपदमुखी शलाका से मार्गान्वेषण (Exploration)

०. दारण- फाड़ना (Splitting)

१. ऋजुकरण- सीधा करना (Straightening)

२२. प्रक्षालन—व्रण को धोना (Washing of wound)

२३. प्रधमन-नाडी की सहायता से औषध का चूर्ण फूंकना (Blowing insuflation)

२४. प्रमार्जन—पोंछना (Rubbing out as a foreign body the eye)

यंत्र परिगणन

यंत्र एक पारिभाषिक शब्द है । सुश्रुत ने उसकी संख्या एक सौ एक क है। यह शब्दों की इयत्तासूचक नहीं प्रत्युत असंख्य-वाचक है । वाग अनुसार 'वैद्य अपनी बुद्धि की विकल्पना से विविध यन्त्र और शस्त्र बना उनके कार्यों का विभाजन कर सकता है ।' फलतः कर्म-वशतः इनका सं निर्धारण कठिन हो जाता है । हस्त की गणना यद्यपि उक्त यन्त्रों में है तथापि यन्त्रों में प्रधानतम माना गया है क्योंकि असंख्य प्रकार के सुन्दर यन्त्रों तेज शस्त्रों के रहते भी शल्य-चिकित्सक की कीर्ति उसके हस्त-कौशल प निर्भर होती है ।[1]

यन्त्र मूलतः छः प्रकार के होते हैं । निम्नलिखित सारणी में उनके भे भेद दर्शाये गये हैं:—[2]

---

[1] यन्त्रं शतमेकोत्तरम्; अत्र हस्तमेव प्रधानतमं यन्त्राणामवगच्छ । किं कार यस्माद् हस्तादृते यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव । तदधीनत्वाद्यन्त्रकर्मणाम्

[2] तानि षट्प्रकाराणि, तद्यथा—स्वस्तिकयन्त्राणि, सन्दंशयन्त्राणि, तालय नाडीयन्त्राणि, शलाकायन्त्राणि, उपयन्त्राणि चेति ।

तत्र चतुर्विंशतिः स्वस्तिकयन्त्राणि, द्वे सन्दंशयन्त्रे, द्वे एव तालयन्त्रे, विंशतिर् अष्टाविंशतिः शलाकाः, पञ्चविंशतिरुपयन्त्राणि ।

(सु. सू. ७

यन्त्र

स्वस्तिक (२४) | **संदंश** २ | **ताल** २

संदंश: सनिग्रह V, अनिग्रह U

ताल: एकताल, द्वितालू

— मुख | अवभंजन मुख
घ्र „ | नन्दी „
ं „
क्षु „
क्ष „
पि „
र्जार „
गाल „
ा „
ारुक „
क „
क „
रर „
स „
स „
—ाघाती „
ूक „
ल्ली „
न „
ध्र „
ंच „
ाराज „
जलिकर्ण „

यन्त्र

नाडी

२०

भगन्दर २ { एकछिद्र
द्विछिद्र

अर्शोयंत्र २ { एकछिद्र
द्विछिद्र

व्रण यंत्र १
वस्ति यंत्र ४
उत्तरवस्ति २
मूत्रवृद्धिस्रावक १
जलोदरस्रावक १
धूमनेत्र ३
निरुद्धप्रकश १
सन्निरुद्धगुद १
अलाबू १
शृङ्ग १

सुश्रुतानुसार २०

कंठशल्यावलोकनी
शल्यनिर्घातनी
अंगुलित्राणक
शमीयंत्र
घ्राणार्बुदार्शोयंत्र
योनिव्रणेक्षण
} वाग्भट के अनुसार

शलाका

२८

गण्डूपदमुखी
सर्पफणमुखी
शरपुंखमुखी
बडिशमुखी
मसूरदलमुखी
खल्लमुखी
अग्निकर्मार्थ
नासार्बुदाहरणार्थं
अंजनार्थं
गर्भशंकु
अग्रवक्र
कर्णशोधन
शरपुंखयंत्र
अर्धेन्दुमुखी
} वाग्भट

उपयन्त्र

रज्जु
वेणिका
चर्म
अंतर्वल्कल:
लता
वस्त्र
अष्ठीलाश्म
मुद्गर
पाणितल
पादतल
अङ्गुलि
जिह्वा
दन्त
नख
मुख
केश
अश्वकटक
शाखा
ष्ठीवन
प्रवाहण
हर्षण
अयस्कान्त
क्षार
अग्नि
भेषज

यंत्रों की संख्या के सम्बन्ध में अन्य ग्रंथकारों की मतभिन्नता पाई जाती है। हारीत संहिता में १२ यंत्र, १२ शस्त्र और ४ प्रबन्धों का वर्णन है जिनका योग विजातीय द्रव्यों (शल्यों) और बाणों के निकालने में किया जाता था।

वाग्भट द्वितीयने—११५ यंत्रों और २६ शस्त्रों का वर्णन किया है। पाल-प्य ने अपनी हस्तिचिकित्सा में केवल दस प्रकार के शस्त्रों का वर्णन किया है।

स्वस्तिक यंत्र (Cruciform Instruments)[1]

इन यंत्रों की साधारण लम्बाई अठारह अङ्गुलों की होती रही, मध्य में कील जुड़े रहते थे। इनके अग्रभाग अङ्कुश जैसे मुड़े रहते थे। इनके दो उपविभाग ये जा सकते थे। सिंहमुख से आरंभ करके मृगैर्वारुकमुख तक नौ स्वस्तिक त्रों का आकार विभिन्न वन्य पशुओं के मुख-सदृश होता था। इनका प्रयोग श्य या उपरितन शल्यों के आहरण में होता रहा। दूसरा विभाग काकमुख से न्दीमुख तक विविध पक्षियों के मुखसदृश पन्द्रह स्वस्तिक यंत्रों का था—उनका पयोग गूढ वा गहरे (अस्थि-प्रविष्ट) स्थान में लगे हुए शल्यों के निर्हरण के ये होता था। कारण यह है कि सिंहमुखादि यंत्र मोटे होने के कारण गहराई क नहीं जा सकते; परन्तु पक्षीमुख वाले कंकमुख प्रभृति सर्वत्र प्रवेश पा सकते । इसीलिये कंकमुख यंत्र की प्रधानता भी मानी गई है।[2]

आधुनिक युग में किसी वस्तु को पकड़ने के लिये, अथवा शल्यों के आहरण जो यंत्र प्रयुक्त होते हैं उनके नाम क्वचित् अन्वेषक के नाम के अनुसार कतिपय शु-पक्षियों के मुखानुकारी और अन्यत्र स्थानिक कार्यों के अनुसार होते हैं।

---

[1] नाना प्रकाराणां व्यालानां मृगपक्षिणां मुखैर्मुखानि यंत्राणाम् प्रायशः सदृशानि स्मात्तत्सारूप्यादागमादुपदेशादन्ययन्त्रदर्शनाद्युक्तितश्च कारयेत्।

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि—अष्टादशाङ्गुलप्रमाणानि, सिंहव्याघ्रवृकतरक्ष्वृक्षद्वीपिमार्जार-गालमृगैर्वारुककाककङ्ककुररचासमासशशघात्युलूकचिल्लिश्येनगृध्रक्रौञ्चभृङ्गराजाञ्जलिकर्णाव-अननन्दमुखमुखानि मसूराकृतिभिः कीलैरवबद्धानि मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवाराङ्गाणि अस्थि-दष्टशल्योद्धरणार्थमुपदिश्यन्ते। (सु० सू० ७)

[2] निवर्त्तते साध्ववगाहते च ग्राह्यं गृहीत्वोद्धरते च यस्मात्॥
यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानम् स्थानेषु सर्वेष्वधिकारि यत्र॥ (अ० हृ० १. २५)

जैसे— फर्ग्यूसन फारसेप, बेडफोर्ड्स फारसेप आदि आविष्कारक पर रखे गये हैं ।

दांत निकालने के लिये 'डेण्टल फारसेप' । कानके लिये 'आरल स्थानिक कार्य के अनुसार होते हैं ।

सिंहमुख (लायन फार्सेप), शशघातिमुख (हाकबिल फार्सेप), (क्रोकोडायल फार्सेप), भासमुख (ईगल फार्सेप) आदि पशु-पक्षि-मुख नाम हैं ।

संदंशयंत्र (Pincherlike Instrumentor Forceps)

स्वस्तिक यंत्रों से मिलते-जुलते हथियार भी होते हैं । परन्तु में विभिन्न उपयोग होने के कारण उनका एक स्वतंत्र वर्ग माना गया है। उपयोग कोमल अंगों से—जैसे त्वचा, मांस, सिरा और स्नायु से—विजाती के निकालने में होता हैं । इनकी आम लम्बाई सोलह अंगुलों की हो इनके दो प्रकार पाये जाते हैं ।

सन्निग्रह—जिन संदंशों में दोनों फलक एक कील से जुड़े रहते हैं। हृदय में स्पष्ट इस प्रकार के कील का वर्णन आता है 'कीलबद्धविमुक्ताग्रौ षोडशाङ्गुलौ' । इस तरह के यंत्र व्रणबंधन के कर्म में आज भी व्यवहृत है उन्हें 'ड्रेसिङ्ग फार्सेप' कहा जाता है । स्वर्णकार भी इस प्रकार के सं व्यवहार करते हैं । इनका आकार अंग्रेजी अक्षर V का होता है । डल्हो अपनी व्याख्या में सनिग्रह संदंश को कीलयुक्त न बताकर 'सवारङ्ग' है साथ वाला यंत्र बतलाया है । ऐसी दशा में सवारंग यंत्र, स्वस्तिक के ही समाविष्ट हो जाता है । फिर भी व्यवहार-भेद से उसका वर्गभेद स्वीकार गया है । आधुनिक यंत्रों में इस प्रकार के यंत्रों को 'विथ कैच' (catch) कहा जा सकता है ।

सनिग्रह संदंशों को हैण्डल पुक्त मानकर उनकी समता लोहारों की से की जा सकती है जिनके अग्र मुडे होते हैं ।

---

१. सनिग्रहोऽनिग्रहश्च संदंशौ षोडशाङ्गुलौ भवतः ।
त्वङ्मांससिरास्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपदिश्यते । (सु० सूत्र.७)

अनिग्रह—दूसरे प्रकार का संदंश सीधा, विना कील का और आगे से खुले मुख का होता था। उनके अग्र मुडे नहीं होते। उनकी भी लम्बाई षोडशाङ्गुल की ही मानी गई है। उनका आकार अंग्रेजी अक्षर U के सदृश होता रहा।

इन दो संदंशों के अतिरिक्त वाग्भट ने दो और संदंशों का वर्णन किया है। सूक्ष्म शल्यों को निकालने के लिये अथवा उपपक्ष्मों को उखाड़ने के लिये छः अंगुल की लम्बाई वाले संदंश।[१] हारीत संहिताने सूक्ष्म शल्यों के अपहरण में ऐसे ही छोटे संदंशों का वर्णन किया है।[२] पक्ष्मकोपसंदंश की चिकित्सा में संदंश की सहायता से तकलीफ देनेवाले केशोंके उखाड़ने की पद्धति प्रचलित थी। आधुनिक चिकित्सा में भी इस प्रकार के संदंश (Epilation forcep) का व्यवहार होता है।

दूसरा संदंश मुचुण्डी अथवा मुचुटी नाम का है। इसके मूल में एक वलय और अग्र में सूक्ष्म दांत होते हैं—मुचुण्डी का गम्भीर व्रणगत मासाङ्कुरों को तथा अर्म रोग के शस्त्रकर्म में अवशेष निकालने के लिये इसका व्यवहार दर्शाया गया है।[३] वाग्भटोक्त मुचुटी संदंश ही सुश्रुत का मुचुण्डी है। उन्होंने अर्म की चिकित्सा में अर्म को वडिश (हुक) से उठाकर मुचुण्डी के द्वारा पकड़ कर खींचकर शस्त्र चलाने का आदेश किया है।[४]

सुश्रुत ने बांस के वने हुए भी एक संदंश यंत्र का 'वंशविदलसंदंश' वर्णन किया है जिसका[५] उपयोग अणु तैल का अभ्यंग करा कर जूं के निकालने में होता रहा।

तालयंत्र (Spoon shaped Instruments)[६]

यन्त्रों का तीसरा वर्ग तालयन्त्रों का है। टीकाकारों में इस शब्द की

---

१. षडङ्गुलोन्यहरण सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम्। (अ. हृ. १. २५.)

२. अतिगुप्तञ्च शल्यञ्च संदंशेन समुद्धरेत्। (हा. सं. ३, ६,)

३. मुचुण्डी सूक्ष्मदन्तर्जुमूले रुचकभूषरता। गम्भीरव्रणमांसानामर्मणः शेषितस्य च।

४. अपाङ्गं प्रेक्षमाणस्य बडिशेन समाहितः (अ. हृ. १. २५)
मुचुण्ड्यागृह्य मेधावी सूचीसूत्रेण वा पुनः। (सु. ३.)

५. तानणुतैलेनाभ्यक्तस्यवंशविदलेनापहरेत् (सु. ४. १५.)

६. तालयंत्रं द्वादशाङ्गुले मत्स्यतालवदेकतालद्वितालके कर्णनासानां नाडीशल्यानामाहरणार्थम्। (सु. सू. ७.)

व्याख्या में मतभेद है। ताल शब्द का सरल अर्थ है निम्नतल (मध्य
आकार वाली वस्तु। कुछ लोग कांसे के वाद्य भाण्ड को ताल मानते हैं।
ने मत्स्यताल्लुवत् अथवा शल्कवत् पतला और गर्त्तयुक्त आकार बतलाया
दो प्रकार के होते थे। एक ताल—जिसमें एक ताल लगा हो, और
द्विताल—जिसमें दो ताल लगे हों। इनकी लम्बाई बारह अङ्गुल की होती
इनका उपयोग कान, नाक तथा अन्य शरीर के बाह्यरंध्रों से (नाड़ी)
शल्यों को निकालने में होता था।

आधुनिक युग में ऐसे यन्त्रों को स्कूप (Scoop) कह सकते हैं।
(Spoon) का भी समावेश इसी वर्ग में हो सकता है। एक ताल (Si
scoop) और द्विताल (Double scoop) होता है।

कर्णशल्यापहारी यन्त्र (Ear scoop) जिनका व्यवहार भारतीय
में कान की मैल निकालने (कर्ण विट्क) में अवशिष्ट रह गया है। वह
कथित एक ताल यन्त्र का ही प्रतिनिधि है।

नाडी यन्त्र (Tubular Instruments)

नाडीयन्त्र अनेक प्रकार के होते रहे और अनेक कामों में आते
उनमें कुछ एक मुख वाले (एक तरफ खुले हुए) और कुछ दो मुख
(दोनों तरफ खुले हुए) होते थे। कतिपय नाडीयन्त्र स्रोतोगत शल्य नि
के काम में, कतिपय रोगों की परीक्षा करने के लिए, कतिपय चूसने के का
और कतिपय शस्त्रकर्म के समय क्रिया में सुगमता उत्पन्न करने के का
आते थे। इनकी मोटाई नाड़ियों के छिद्र में ठीक प्रवेश करने योग्य और ल
आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक होती थी। अर्थात् उनकी लम्बाई-चौड़ाई का
निश्चित नहीं था।

---

१. नाडीयन्त्राणि—अनेकप्रकाराणि, अनेकप्रयोजनानि, एकतोमुखानि उ
मुखानि च। तानि स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थं, रोगदर्शनार्थम्, आचूषणार्थम्, क्रियासौ
र्थंन्चेति। तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि यथायोग्यदीर्घाणि च। तत्र भगन्दरार्शोव्रण
त्तरवस्तिमूत्रवृद्धिदकोदरधूमनिरुद्धप्रकशसन्निरुद्धगुदयन्त्राण्यलाबुश्रृङ्गयन्त्राणि चोप
द्क्ष्यामः। (सु० सू० ७)

संक्षेप में नाडीयन्त्र दो प्रकार के बतलाये गये हैं। एक वे जिनका उपयोग रोग-दर्शन में होता हो, दूसरे वे जिनका उपयोग रोग की चिकित्सा में होता हो। रोग के निदान में स्थानिक परीक्षा के सहायकभूत स्रोतोगत शल्यों के देखने या विकार को देखने में व्यवहृत होने वाले बहुत से यन्त्र आधुनिक युग के यन्त्र सम्भार में पाये जाते हैं। इनके दो वर्ग हैं, १. वीक्षण यन्त्र (Speculums) तथा २. दर्शनयन्त्र (Scopes) वीक्षण यन्त्र छोटे और मामूली हथियार होते हैं। दर्शन यन्त्र बहुत बड़े अधिक मूल्यवान् विशेषज्ञों द्वारा व्यवहृत होने वाले एवं विद्युत् के साधनों से सुसज्ज होते हैं। उदाहरणार्थ ऐसे कुछ यन्त्रों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं:—

नासावीक्षण यन्त्र (Nasal speculum)
वस्तिदर्शक यन्त्र (Cystoscope)
नेत्रदर्शक यन्त्र (Opthalmoscope)
कर्णवीक्षण यन्त्र—(Aural speculum)
गलान्तःदर्शक (Pharyngoscope)
स्वरान्तःदर्शक (Laryngoscope)
श्वसनिकान्तःदर्शक (Bronchoscope)
अन्नवहान्तःदर्शक (Oesaphagoscope)
आमाशयदर्शक (Gastroscope)
फुफ्फुसावृत्तिदर्शक (Pleuroscope)
गुदान्तःदर्शक (Sigmoidoscope)
गुदावीक्षण यन्त्र—(Rectal speculum)

नाडीयन्त्रों का इस्तेमाल भगन्दर, अर्श, अर्बुद, व्रणवस्ति, उत्तरवस्ति, मूत्रवृद्धि, जलोदर, धूमकर्म, निरुद्धप्रकश, सन्निरुद्धगुद के व्याधि-दर्शन एवं शस्त्रकर्मों में होता है। अलाबु और शृङ्ग भी नाडीयन्त्रों के अन्तर्गत ही आते हैं।

अष्टाङ्ग हृदय ने कुछ अन्य नाडी यन्त्रों का भी वर्णन किया है। उदाहरणार्थ:—१. कण्ठशल्यावलोकनी, २. पञ्चमुखा, ३. त्रिमुखा, ४. शल्यदर्शिनी,

---

२. दशाङ्गुलार्धनानान्तःकण्ठशल्यावलोकने।
द्रष्टव्य—साइंस एण्ड आर्ट आफ सर्जरी-प्रथम भाग (३४३)

५. शल्यनिर्घातनी, ६, शमीयन्त्र, ७. नासायन्त्र, ८. अङ्गुलित्राणक, ९. व्रणेक्षणयन्त्र।

कण्ठशल्यावलोकनी (Throat Speculum)

इस यन्त्र की लम्बाई दश अंगुलों की और परिधि पांच अंगुलों की थी। इसका उपयोग गले में फंसे हुए मछली के छिल्के (शकल) अथवा विजातीय द्रव्यों के निकालने में होता था।

सुश्रुत ने गले में रुद्ध शल्य को निकालने के लिए तीन विधियों का किया है।

(१) एक लौहनिर्मित तप्त शलाका को (Probe or sound शीतल ताम्र की वनी नलिका के भीतर आवृत कर कंठ के अन्दर प्रविष्ट उसकी उष्णता से यदि लाख का बना जातुष (लाख का) शल्य हो पिघलने लगेगा अथवा मृदु होकर शलाका से चिपकने लगेगा। फिर नलि द्वारा ठण्डे जल का परिषेचन करनें पर अच्छी तरह से शलाका की प आ जावेगा और दृढ़ता के साथ वाहर निकाला जा सकेगा।

(२) यदि शल्य अजातुष (लाख का न हो) तो उस अजातुष अव शलाका के अग्र पर मोम लगा कर प्रवेश करें। उसके द्वारा शल्य चिप बाहर आ सकता है।

(३ इसके अतिरिक्त कण्ठगत शल्याहरण के लिए केशोण्डुक का प्र जिसका वर्णन प्रसङ्गानुसार आगे किया जावेगा।

पञ्चमुखा और त्रिमुखा

इन यन्त्रों का उपयोग चार कर्ण एवं दो कर्ण वाले बाणों को निका होता था। यदि चार कर्ण वाले शल्य हों, तो पञ्चमुख छिद्रा से और दो वाले हों तो त्रिमुखा से भलीभांति पकड़ में आ जाते थे। इसका मध्य छिद्र बाणाग्र के लिये और अवशिष्ट छिद्र कर्णों को पकड़ में लाने के निमित्त करते थे[१]।

---

[१] नाडी पञ्चमुखच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य संग्रहे।
वारङ्गस्य द्विकर्णस्य त्रिच्छिद्रा तत्प्रमाणतः॥ (अ. ६. १–२६.)

वर्तमान युग में इस प्रकार के शल्य का निर्हरण करना हो तो जाल का व्यवहार होता है 'वैसे तो बाणों को निकालने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, परन्तु यदि वे कर्णयुक्त हुए तो विशेष सतर्कता की आवश्यकता रहती है । रक्षा और सुविधा को दृष्टि में रखते हुये जाल (Snares) का विधान इस कार्य में उपदिष्ट है ।'

शल्यदर्शनी नाडी (For inspection of foreign bodies)

वाग्भट ने शरीर में प्रविष्ट हुए अथवा स्रोतसों में अँटके हुए शल्यों के देखने के लिये विविध आकार और आयाम की भिन्न-भिन्न नाडियों के निर्माण का आदेश दिया है । आवश्यकतानुसार उन्हें एकच्छिद्र, द्विच्छिद्र तथा बहुच्छिद्र-युक्त बनाने की स्वतन्त्रता दी है । शल्यों के आकार लम्बाई और परिधि के अनुसार दर्शिनी नाडियां भी अनेक प्रकार की हो सकती हैं[1] ।

शल्यनिर्घातनी

इस यन्त्र का शिरोभाग पद्मकर्णिका के आकार का रहता था और बन्द होता था । दूसरा मुँह खुला रहता था इसमें केवल चौथाई भाग तक ही सुषिरता रहती थी, अर्थात् केवल तीन अंगुल तक छेद होता रहा । पूरे यन्त्र की लम्बाई बारह अंगुलों की होती थी । शरीर के गहरे भाग में प्रविष्ट शल्य को अथवा अस्थि पर चुभे शल्यों के आहरण में इसका व्यवहार होता रहा । क्योंकि, इससे पकड़ कर शल्य को चारों ओर घुमाकर ढ़ीला किया जा सकता था । सुश्रुत ने दृढ संलग्न शल्य को निकालने के लिये पत्थर के बने हथौड़े का उपयोग करने को कहा है, जिससे शल्य को ढीला करके बाहर निकालते थे[2] ।

ग्रीस एवं रोम देश के शल्यविदों में अस्थिविदष्ट शल्यों को निकालने में एक लोहे के हथियार का व्यवहार पाया जाता है जिसके द्वारा ठोंक कर शल्य को ढीला कर के निकाला जाता था ।

अर्शोयंत्र (Tubular instruments for piles)

सुश्रुत के अनुसार ये यन्त्र हाथी दांत, लोहे, सींग या लकड़ी के बनाये जाते

---

१. नाडीरेकं विधाश्चान्या द्रष्टुं शल्याणि कारयेत् ।

२. पद्मकर्णिकया 'मूर्ध्नि' सदृशी 'द्वादशाङ्गुला । चपुर्थंसुषिरा नाडी' शल्यनिर्घातनी मता ॥

थे। इनका आकार गौ के स्तन के समान होता रहा और बीच में पोले होते पुरुषों में इन की लम्बाई चार अङ्गुल और परिधि पाँच अङ्गुलों की होती परन्तु स्त्रियों में इनकी परिधि अधिक चौड़ी छः अङ्गुलों की बनायी जाती इन में दो छेद होते थे। एक छेद से रोग की परीक्षा और दर्शन किया जात और दूसरे छेद से क्रिया की जाती थी। यह क्रिया अधिकतर क्षार और कर्म की होती रही। छिद्र की लम्बाई तीन अंगुल और परिधि अंगुष्ठ के होंती थी। छिद्र से आधी अंगुल की दूरी पर आधा अंगुल ऊँचा एक होता था[1]।

वाग्भट ने उपर्युक्त दोनों अर्थों के लिये भिन्न-भिन्न दो यन्त्रों का बतलाया है। इनकी लम्बाई और परिधि एक समान होती थी। इन में का प्रयोग व्याधिदर्शन में और एकछिद्र का उपयोग क्रिया में होता इसमें आगे की ओर उभार रहता था जिसे कर्णिका कहते थे। इस का (का) उपयोग केवल रक्षा के लिये था जिसमें यन्त्र के प्रवेश करते वक्त अचानक बहुत भीतर तक न जा सके।

शमी यन्त्र

अष्टाङ्ग हृदय में इसी प्रकार के एक और यन्त्र का वर्णन, आता है पार्श्वों में छेद नहीं होते थे। उनके द्वारा केवल मस्से देखे जाते थे. इसे यन्त्र कहा जाता था।[2] इस का उपयोग अर्शों के मस्सोंको स्थिर करने में होता

पशुचिकित्सा में व्यवहृत होने वाले अर्शोयन्त्र जो घोड़े की चिकित्सा में आता था, उसका वर्णन पुराने ग्रन्थों में प्राप्त होता है। जयदत्त सूरि ने ग्रन्थ अश्ववैद्यक में ऐसे यन्त्र का वर्णन किया है—षडङ्गुल दीर्घ और पंच परिणाह का यन्त्र हो। उसके दोनों पार्श्वों में दो छिद्र बने हों, जो तीन लम्बे और आधे अंगुल चौड़े हों। एक के द्वारा रोग का दर्शन करते हुए दूस

---

[1] अर्शसां गोस्तनाकारं यन्त्रकं चतुरंगुलम्। नाहे पंचाङ्गुलं पुंसां प्रमदानां षडङ्गु द्विच्छिद्रं दर्शने व्याधेरेकच्छिद्रन्तु कर्मणि। मध्येऽस्य त्र्यङ्गुलच्छिद्रमङ्गुष्ठोदरविस्त अर्द्धाङ्गुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकश्च तदूर्ध्वतः। (अ० हृ. १. २५.)

[2] शम्याख्यं तादृगच्छिद्रं यन्त्रमर्शःप्रपीडनम्। (वा. सू. २५)

ारा शस्त्र कर्म किया जा सके। शस्त्र क्रिया के पूर्व घोड़े को गिरा कर बन्धनों यन्त्रण कर के स्थिर कर लेना आवश्यक होता है।[1]

भगन्दर यन्त्र

इसका आकार और लम्बाई अर्शोयन्त्र के समान ही होती है। इन में छिद्र के ऊपर ओष्ठ नहीं होता।[2] अर्थात् अर्शोयन्त्र में पाई जाने वाली कर्णिका का अभाव होता है। प्रकार भेद से यह भी एकछिद्र और द्विछिद्र द्विविध होता है।

अर्श और भगन्दर की चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों का सादृश्य आधुनिक Rectal speculum (रेक्टल स्पेकुलम) से है। आधुनिक यन्त्र संभारों में गुदा के विकारों को देखने में जिस नाडीयन्त्र का प्रयोग होता है, उसे Rectoscope कहते हैं। गुददर्शक यन्त्र के अतिरिक्त स्थूलांत्रवलय-दर्शक यन्त्र भी होता है उसे Sigmoidoscope कहा जाता है।

नासा यन्त्र (Nasal speculum)[3]

इसी यन्त्र का दूसरा नामकरण घ्राणार्बुदार्शी यन्त्र भी है। इसकी आकृति अर्शोयन्त्र के समान होती थी; परन्तु यह छोटा और पतला होता था। इसका उपयोग घ्राणार्बुद, घ्राणार्श और घ्राणगत शल्य के दर्शन और शस्त्रक्रिया में होता था। इसका दैर्घ्य दो अंगुल और छिद्र प्रदेशिनी अङ्गुलि के प्रवेश करने योग्य होता था। यन्त्र के पार्श्व में एक छिद्र रहा करता था।

इसके द्वारा नासिकारन्ध्र में फूत्कार द्वारा चूर्ण (प्रधमन नस्य) प्रविष्ट किया जाता था। चक्रदत्त और शार्ङ्गधर में इसका दैर्घ्य छः अङ्गुलों का निर्दिष्ट किया गया है और इसका परिणाह नासाछिद्र के परिमाण का बतलाया गया है।

---

१. यन्त्रं षडङ्गुलं विद्वान् छिद्रं पंचाङ्गुलं भिषक्। अर्द्धोर्द्धाङ्गुलविस्तीर्णं दैर्घ्येणाप्यङ्गुलत्रयम्॥
उभयोः पार्श्वयोस्तस्य कुर्याच्छिद्रद्वयं बुधः। अर्शस्तेन तु बाह्येन द्विच्छिद्रेण विलोकयेत्॥
एकच्छिद्रेण वै कर्म कुर्याच्छेदादिपूर्वकम्। पातितस्य सुबद्धस्य तुरङ्गस्य विचक्षणः॥

२. सर्वथापनयेदोष्ठ छिद्रादूर्ध्वं भगन्दरे। (वाग्भट)
ततो भगन्दरे दद्यात् एतदर्धेन्दुसन्निभम्। (सु०)
घ्राणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रा नाडयङ्गुलद्वया। प्रदेशिनीपरिणाहा स्याद् भगन्दरयन्त्रवत्॥

३. घ्राणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रा नाड्यङ्गुलद्वया।
प्रदेशिनीपरीणाहा स्याद् भगन्दरयन्त्रवत्। (वा. सू. २५)

'ध्मापन अथवा शिरोरेचन चूर्ण को इस नलिका के द्वारा मुख से हवा दे अङ्गुल लम्बी और द्विमुखा नाड़ी के द्वारा अन्दर पहुँचाना चाहिये ।'[1]

आधुनिक यन्त्र संभार में नासा, नासागत विकारों के देखने तथा चिकि कर्म में सुविधा के लिए इसी प्रकार का यन्त्र व्यवहार में आता है। उसे स्पेकुलम' कहते है। परन्तु उसमें मुठेड़ (Handle) के द्वारा परिणा छोटा-बड़ा करने का प्रबन्ध रहता है। नासा से नस्य देने की क्रिया प्रधमन (Insufflation) कहते हैं। इस कार्य में जिस यन्त्र का 'नैजल इनसफ्लेटर' दिया गया है।

प्राचीन ग्रीक चिकित्सा में स्निग्ध अथवा तैलीय पदार्थों के लिए एक प्र द्विमुख सीरिञ्ज का प्रयोग होता रहा। इसमें ऐसा प्रबन्ध रहा कि एक बा एक रन्ध्र से द्रव भीतर प्रविष्ट किया जा सकता था, दूसरी बार में दूसरे छिद्र

बौद्धकालीन ग्रन्थों में महावग्ग में द्रव द्रव्यों का प्रतिसर्ग कराने के इस प्रकार के नाडी यन्त्र का वर्णन पाया जाता है। यह एकनाडी अ द्विनाडी के संयोग से बनता रहा। इन्हें क्रमशः नाथुकरनी और यमक नाथुक की संज्ञा दी गई थी। इन नाड़ियों का निर्माण सुवर्ण, रजत, अस्थि, हस्ति शृङ्ग, नल, वंश, काष्ठ, लाक्षा और फलों के छिल्के आदि पदार्थों से होता र

वाग्भट ने औषधिसिद्ध तैलों को प्रविष्ट करने के लिए तरीके बतलाये 'नासापुट के एक छिद्र को बन्द करके दूसरे छिद्र से नाड़ी के द्वारा अ पिचु के द्वारा (तैल में भीगे हुए फाये के द्वारा) पर्याय क्रम से डालना चाहि

सुश्रुत ने नासास्थि के भग्न में अथवा नासा-संधान की चिकित्सा में पृ पृथक् दो नासा—नाड़ियों को नासारन्ध्रों में प्रवेश कराने का विधान दिया इसके दो उद्देश्य होते थे, एक तो नाड़ियों के द्वारा कुशा का कार्य होता याने भग्नास्थियों को यथास्थान रखा जा सकता रहा, दूसरा यह कि सुवि नुसार श्वास कार्य हो सकता रहा ।[3]

---

१. ध्मान विरेचनं चूर्णं युञ्ज्यात्तु मुखवायुना । (वाग्भट १. २६)
नावनं चूर्णनश्चैषामेषां प्रधमने हितम् । (च० ६, २६)

२. नासापुटं विधायैकं पर्यायेण निषेचयेत् । उष्णं तु भैषज्यं प्रनाड्या विकुनाथवा ॥
(अ० हृ० १.

२. नासां सन्नां च विवृतामृज्वीं कृत्वाशलाकया । पृथक् नासिकयोर्नाड्यौ द्विमुखौ संप्रवे

अङ्गुलित्राणक (Finger guard)[1]

यह यन्त्र आमतौर से हस्तिदन्त या लकड़ी का बनाया जाता था। इसका गोस्तनाकार और लम्बाई चार अंगुलों की होती थी। अर्शोयन्त्र की भांति के पार्श्व में दो छिद्र होते थे। इसका प्रयोग रोगी का मुख खोलते समय तों से अङ्गुलि की रक्षा करने में होती था। वर्त्तमान युग में मुख खोलनें का र्य 'माउथ गैग, से होता है, पहले इसी प्रकार के अङ्गुलित्राणक (Finger ard) का व्यवहार भी रहा है। आज कले की शल्यचिकित्सा में अङ्गुलि-णक की भांति मुलायम रबर का बना गोस्तनाकार पदार्थं प्रयुक्त होता है इसे ङ्गर स्टाल' कहा जाता है। इसका कार्य मामूली मल, मूत्र, पूय, रक्तादि दूषित ार्थों से रक्षा करने का है।

योनिव्रणेक्षण (Vaginal Speculum)

योनि के अभ्यन्तरीय प्रदेश के निरीक्षण के लिए इसका उपयोग होता हा। इसकी लम्बाई सोलह अङ्गुल और परिधि छः अंगुल की होती रही। में चार फलक होते रहे जो आधार पर एक वलय से जुड़े रहते थे। फलक धार ओर नुकीले और दूसरी ओर चौड़े होते रहे। प्रत्येक खण्ड के साथ क शलाका (Liver rod) लगी रहती थी जिन के ऊपर दबाव डालने से मल-मुकुल के समान यन्त्र का मुख विवृत होकर विकसित हो जाता रहा। ल्यकर्त्ता की इच्छानुसार भार देने पर यह खोला और भार हटा देने पर न्द किया जा सकता था।

'इस यंत्र की बनावट चार खण्डों की होती है; ये चारों खण्ड एक तरफ क मुद्रिका बँधे रहने पर सम्मिलित अवस्था में कमल के मुकुल के सदृश होते । ये अंतःशुषिर रहते हैं और इनके भीतर में छः अङ्गुलों की परिधि की नाड़ी ती है। पश्चात् उन के मध्य में प्रत्येक खण्ड से लगी हुई चार शलाकायें मुख र्यन्त लगी रहती हैं। शलाकाओं के मध्य भाग को इस प्रकार बंधा होना

ततः पट्टेन संवेष्ट्य घृतसेकं प्रदापयेद । (सु० ६, २)

[1] अङ्गुलित्राणकं दान्तं वार्क्षं वा चतुरङ्गुलम् ।
द्विच्छिद्रं गोस्तनाकारं तद्वक्त्रविवृतौ सुखम् । (वा. सू. २५)

चाहिये कि शलाकामूल को दबाने से यन्त्र का मुख विकसित होवे (खुल
(वाग्भटार्थ कौमुदी)[1]

एक अन्य प्रकार का योनिव्रणेक्षण यंत्र होता था जो भैंस के
अनुदैर्ध्य (लम्बाई में) बीच में सीधा काट कर बनाया जाता था।
संयोजन इस प्रकार का होता रहा कि इन के नतोदर भाग आमने-सामने
रहे। और क्रिया करते समय नुकीला भाग ऊपर रहता और चौड़ा
कर विवृत हो जाता था।

वर्त्तमानकाल में कई प्रकार के योनिवीक्षण यन्त्रों का व्यवहार हो
इन्हें 'वेजाइन स्पेकुलम' कहा जाता है। ये यन्त्रसंभार में कई रूपों में
होते हैं।

१. वृत्ताकार (अर्शोयंत्र की भांति यथा Fargussion Specum
२. द्विभित्त (बाई वाल्व) यथा 'वार्ने' का, 'न्यूजे बावर' अथवा 'कस्को'
२. त्रिभित्त (Trivalve)
४. चतुर्भित्त (Quadri-Valve) यथा एलिघस् स्पेकुलम्।

वाग्भटोक्त योनिव्रणेक्षण यन्त्र आधुनिक चतुर्भित्त 'वेजाइनल स्पेकु
साथ बहुत सादृश्य रखता है। अन्तर केवल यही है कि पूर्वोक्त में कार्य
के द्वारा होता है, पश्चादुक्त में क्रिया 'स्क्रू' के द्वारा।

व्रणवस्ति (Wound-Syringe)

यह एक प्रकार की उत्तरवस्ति वातिक व्रणों में, विशेषतः कटि
वाली विकृति में मूत्राघात, मूत्रदोष, शुक्रदोष, आर्त्तवदोष, अश्मरी और
मार्ग के व्रणों के प्रक्षालन में प्रयुक्त होती है। इस के लिये दो प्रकार के
बनाये जाते थे एक के द्वारा स्नेह (तैल, घृत आदि) का उपयोग हो
दूसरे के द्वारा व्रणों का प्रक्षालन किया जाता था।

यह वस्तियन्त्र एक नलिका और चमड़े के थैले का बना होता है,
गोल चिकनी और गोपुच्छ के सदृश होती है। आगे के भाग में कर्णिका

---

[1] योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशाङ्गुलम्। मुद्राबद्धं चतुर्भित्तमम्भोजमुकुला
चतुःशलाकमाक्रान्तं मूलेन विकसेन्मुखे। (अ. हृ. १. १६.)

होती । नाड़ी की पूरी लम्बाई कुल छः अङ्गुल की होती है, आगे की तरफ पतली, मटर के बराबर छिद्र वाली और जड़ में मोटी अंगुष्ठ के तुल्य छिद्र की होती है । शार्ङ्गधर ने इस 'नलिका की लम्बाई आठ अंगुल की, परिणाह गृध्र के पंख की नाड़ी के आयाम का और नेत्र को मुद्ग के प्रवेश मात्र का बतलाया है ।' चर्म के थैले से नलिका सरक न जावे इसके लिये सभी व्रण वस्तियों में संधिस्थल पर एक गाँठ दी जाती थी ।[1]

पालकाप्य ने हाथियों के व्रणों को धोने के लिये वस्ति निर्माण की जो विधि दी है उसमें नाड़ी को सोलह अंगुल दैर्घ्य का एवं ताम्र का बनाने को कहा है ।

आधुनिक युग के व्रणों के प्रक्षालन में विशोधक द्रवों का उपयोग 'सीरिञ्ज' द्वारा किया जाता है ।

धूम-यन्त्र (Inhaler or Fumigator)

नाड़ी यन्त्रों के प्रसङ्गमें धूमनाड़ी का वर्णन भी अप्रासङ्गिक नहीं होगा । इस यन्त्र का विशद वर्णन चिकित्सास्थान के अन्तिम भाग में सुश्रुतसंहिता में आता है । इसका उपयोग धूम पान (Inhalation) अथवा व्रण धूपन (Wound Fumigation) में होता रहा । व्रणों के धूपन में निम्ब वचादि जीवाणुनाशक ओषधियों का व्यवहार होता था। इस क्रिया में स्पष्टतया जीवाणु नाशक (Antiseptic method) पद्धति की चिकित्सा को अङ्गीकार किया गया है । वर्त्तमान शल्यचिकित्सा में व्रणों के धूपन की पद्धति मान्य नहीं क्योंकि अधिक तीव्र जीवाणुनाशक घोल प्रक्षालन में प्रयुक्त होते हैं । धूपन का प्रयोग आज भी प्राचीन काल की भांति कायचिकित्सा में होता है । इस क्रिया को धूमपान (Inhalation) कहा जाता है । कई प्रकार की ओषधियों का जो अधिक तीव्र जीवाणु नाशक हैं, प्रयोग राजयक्ष्मा, प्रतिश्याय, श्वास, कासादि श्वसन संस्थान के रोगों में बाष्प द्वारा मुख से अन्दर दी जाती हैं । आज के

---

[1] यंत्रे नाड़ीव्रणेऽभ्यङ्गक्षालनाय षडङ्गुले ।
वस्तियन्त्राकृतिर्मूलेऽङ्गुष्ठं च कलायके ॥
अग्रतोऽकर्णिके च स्यात् निर्बद्धं मृदुचर्मणे ।
(अ. हृ. १. २६,)

यण्त्र भी उसी ढङ्ग के बने होते हैं 'जब अग्नि के अङ्गारे निर्धूम हो जा
एक शराब में औषध की वर्ति को रखे, उसके ऊपर एक मध्यछिद्र शरा
रखकर ढक दे, फिर इस छिद्र में एक नाड़ी संयोजित करके दूसरे छिद्र से धू
सेवन करे।' ये धूम कई प्रकार के होते हैं १. प्रायोगिक २. स्नैहिक ३. वैरे
और ४. कासघ्न । इसका विशेष वर्णन शालाक्य तन्त्र (लेखकर
में मिलेगा ।

दकोदर यन्त्र (Canula)

जलोदर की चिकित्सा में इस प्रकार नाड़ी यन्त्र का प्रयोग बतलाया
है। यह नाड़ी वंग, सीस आदि किसी धातु की अथवा किसी पंख ना
विशेषतः मयूर की पंख नाली की बनती थी। प्रारम्भ से अन्त तक ए
परिणाह की सीलिंड्रीकल एवं पोली होती थी। और द्विद्वारा अथवा उभ
होती थी। मोर के पंख के बनने की वजह से शार्ङ्गधर ने इसे पिच्छ नाड़
भी संज्ञा दी है। उदर को व्रीहिमुख शस्त्र से वेध करके इसे संयोजित क
विस्रावण की प्रक्रिया प्रचलित थी।

इस प्रकार नाड़ी का व्यवहार प्राचीन काल के ग्रीक देश के सर्जन भी
दर के अतिरिक्त पूयोरस अथवा जलोरस (Empyema) में पूय अथवा
निर्हरण में करते रहे। इनके ये नाड़ी यन्त्र ताम्र, पित्तल अथवा रजत के बन

आधुनिक युग में भी समान आकृति की धातवीय 'कैन्युला' का व्य
होता है।

वृद्धियन्त्र

(Tubular instruments for Hydrocele)

इसकी रचना उपर्युक्त यंत्र के सदृश ही रही। इसके द्वारा भी फल
व्रीहिमुख शस्त्र से वेधकर द्विमुखनाडी का संयोजन करके जल का विस्र
किया जाता था।

ग्रीक सर्जनों में ऐसी जल-विस्रावण की परिपाटी नहीं रही। वे बे
द्वारा जल-विस्रावण का महत्व वेधन की अपेक्षा अधिक देते थे।

आधुनिक शस्त्रकर्म का विधान यथास्थान अन्यत्र लिखा जावेगा। इस विधि से भी पोते का पानी निकालने की विधि आजभी प्रचलित है, परन्तु यह अस्थायी प्रक्रिया है। स्थायी या रोग का पुनरुद्भव न हो सके एतदर्थ तो शस्त्र-कर्म ही उत्तम होता है।

निरुद्धप्रकश यंत्र अथवा लौह नाडी

(Instruments for urethral stricture or Phimosis)

शिश्नचर्म संकोच में स्रोत के विस्तार के लिये इसका प्रयोग होता था। यंत्र लोह, सुवर्ण, लकड़ी अथवा लाख के बने द्विमुख नलिका युक्त होते थे। सभी यंत्र एकही मोटाई के न होकर उत्तरोत्तर आयाम में एक दूसरे से बढ़ कर होते थे। इनका इस्तेमाल क्रमशः छोटे से आरंभ करके तीन-तीन दिनों के अन्तर से धीरे-धीरे मोटे यंत्र तक किया जाता था और तब तक करते थे जब तक स्रोत का मार्ग पूर्ण विस्तार को नहीं प्राप्त कर लेता था। इनका प्रवेश घृत से लिप्त कर चिकना करके किया जाता था। जैसा कि आजकल एरण्ड तैल या वेसलीन लगाकर करते हैं।

सन्निरुद्ध गुदयंत्र

(Tubular instruments for Rectal stricture)

उपर्युक्त यंत्रों के समान बनावट वाले यंत्र गुदसंकोच की चिकित्सा में भी व्यवहार में आते रहे। जो क्रिया निरुद्धप्रकश में की जाती है वही क्रिया उसी भांति सन्निरुद्धगुद में भी की जाती है।[1]

ये यंत्र भी भीतर से पोले होते रहे। ठोस आकार के यंत्र प्राचीन ग्रन्थों में स्रोतो–विस्तार के निमित्त उल्लिखित नहीं है। तथापि इतना निश्चित है कि उस युग में दो सेट (प्रकार) के विस्तारक (Dilators) उपलब्ध थे।

---

१. 'सन्निरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकशक्रिया ।(सु.)

'रेक्टल डायलेटर्स' सन्निरुद्धगुद के लिये और 'यूरेथ्रल डायलेटर्स' निरुद्ध के लिये।

वर्तमान शल्य-चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले विस्तारक (Bougie Dilators) पोले न होकर ठोस होते हैं। इनके सेट मिलते हैं जो क्रमश: रोत्तर बढ़ते हुए व्यास के होते हैं। प्रयोग इनका प्रारंभिक छोटे व्यास से क्रमश: बढ़ाकर पूरे बड़े व्यास की संख्या तक यथावश्यक होता है।

आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में विस्तारकों का एक प्रकार और भी मिल जिसके द्वारा गर्भाशय-ग्रीवा का संकोच दूर किया जाता है। सामान्यता से लेकर मोटे यन्त्र तक पूरे सेट में संख्या बारह तक होती है। प्रत्येक के उसकी मोटाई और संख्या लिखी होती है।

वस्ति यन्त्र

(Enema or Rectal Clysters)

गुदा में औषधियों को प्रविष्ट करने के लिये वस्तियन्त्र बनाये जाते थे। यन्त्र में एक चर्म का थैला और एक नली होती थी। नलिकायें कई पदा स्वर्ण, रजत, सीस, ताम्र, पित्तल, मिश्रधातु, हरित-दन्त, शृङ्ग, काच, लकड़ी और बाँस आदि में से किसी एक की बनाई जाती थीं। इन नलिका चिकनी, साफ, दृढ़ और नातिस्थूल, जड़ में मोटी और आगे को पतली (गोपुच्छ सदृश) आवश्यक होता था और जिसे अपने अंगूठे के समान मूल में आगे में कनिष्ठिका अङ्गुलि के समान मोटा होना चाहिये। इसके सिरे पर गु मुख गोल बल्बदार रचना बनाई जाती रही, इस वस्तिनेत्र या नलिका के दोनों कर्णिका बनाने का विधान रहा। एक कर्णिका मूल छिद्र से दो अंगुल की पर बनाई जाती थी जिससे वस्ति को भलीभाँति स्थिर किया जा सके दूसरी कर्णिका अग्र के समीप बनाते थे जिससे नलिका गुदा में अधिक सके। नेत्र के अग्र-छिद्र को रूई से भर कर रखा जाता था ताकि छिद्र न हो जावे। नलिकाओं की लम्बाई और परिधि में आयु के अनुसार होता था।

यह भेद निम्नलिखित तालिकाओं में दर्शाया गया है ।

चरक के अनुसार[1]

आयु वर्षों में	बस्तिनेत्र (नलिका) की लम्बाई	अग्र छिद्र में प्रवेश पाने योग्य द्रव्य
६	६ अंगुल	मुद्ग
१२	८ "	कलाय
२० तथा ऊपर की आयु में	१२ "	कर्कन्धु (बेर की गुठली)

सुश्रुत के अनुसार[2]

ायु ों में	नेत्र की लम्बाई	थैले के भीतर नेत्र का भाग मूल से कर्णिका की दूरी	नलिका की (नेत्र) परिधि	अग्रछिद्र के व्यास की परिधि	द्रव्य मात्रा	अग्र छिद्र
१	६ अङ्गुल	१½ अङ्गुल	कनिष्ठिका अंगुल	कंकमुख पंखनाडी	दो अञ्जलि	मुद्ग
८	८ "	२ "	अनामिका अंगुल	श्येन पंखनाडी	४ "	माष
१६	१० "	२½ "	मध्यमा	मयूर पंखनाडी	८ "	कलाय
५ से ० तक	१२ "	३ "	अंगुष्ठ मूल की ओर और कनिष्ठिका परिणाह आगे की ओर	गृध्रपक्षनाडी तुल्य	१२ "	कलाय (क्लिन्न)
७०	-१६ वर्ष की आयु सदृश					बेर की गुठली

नोट—द्रव्य मात्रा के सम्बन्ध में ग्रन्थोक्त प्रसृत—दो पल का द्योतक न होकर विभिन्न अवस्था वाले व्यक्तियों की अपनी अञ्जलि भर कर द्रव्य समझना चाहिये । फलतः व्यक्ति के अनुसार मात्रा में विभेद हो जावेगा ।

---

[1] च० सि० ३ ।
[2] सु० चि० ३५ ।

वाग्भट के अनुसार[1]

आयुवर्षों में	वस्तिनेत्र (नलिका) की लम्बाई	मूल या आधार पर का छिद्र	अन्त में अग्र प्रवेश पाने वाले
१ वर्ष से कम	५ अङ्गुल	१ अङ्गुल	मुद्ग
१ से ६ वर्ष तक	६ ,,	१½ ,,	माष
७ से ११ ,,	७ ,,	२ ,,	कलाय
१२ से १५ ,,	८ ,,	२½ ,,	स्विन्न कलाय
१६ से २० ,,	९ ,,	३ ,,	कर्कन्धु
२० से आगे	१२ ,,	३ ,,	+

नोट—अग्र छिद्र का परिणाह–रोगी की आयु, बल और परिमा अनुसार विविध हो सकता था अर्थात् बढ़ाया जा सकता था, परन्तु आ छिद्र अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती।

चक्रदत्त, शार्ङ्गधर और भावमिश्र ने चरक का परिमाण अङ्गीकार कि है। कर्णनाद ने भी तत् सदृश ही वर्णन किया है। हारीत-संहिता ने चार अ लम्बी बांस की बनी हुई नाडी का प्रयोग करने को लिखा है उसका प्रवेश में दो अंगुलों तक किया जाता था।[2]

चरक ने नाड़ी की बनावट की एक सामान्य व्यवस्था की है कि उ चौड़ाई वाला और सँकरा भाग क्रमशः अंगुष्ठ के परिणाह का मूल की तरफ

---

[1] ऊनेऽब्दे पञ्च, पूर्णेस्मिन्नासप्तेभ्योऽङ्गुलानि षट्। सप्तमे सप्त तान्यष्टौ द्वादशे षोडशे
द्वादशैव परं विंशाद्वीक्ष्य वर्षान्तरेषु च। वयोबलशरीराणि प्रमाणमभिवर्द्धयेत्।
(वा० सू०

[2] चतुरङ्गुलां वेणुमयीं नाडीं कृत्वा त्वरया वस्तिकर्म कुर्य्यात्।
गुदाभ्यन्तरे द्व्यङ्गुलमानं नाडीं संचारयेत्सुधीः॥

आरंभ करके कनिष्ठिका-परिणाह में अग्र की तरफ होना चाहिये। अग्र छिद्र में एक वर्त्तिका होनी चाहिये। जिससे छेद बंद किया जा सके। इस वर्त्ति का उद्देश्य नाडी को किसी विजातीय द्रव्य अथवा कीड़ों आदि से सुरक्षित रखना होता था। जब नली काम में लाई जाती थी वर्त्तिका हटा दी जाती थी, अन्यथा रूई की वर्त्ति को भरकर बन्द रखा जाता था।

'ट्यूब' के छिद्र से दो अंगुल की दूरी पर एक उभार अथवा वलय होता था, जिसके द्वारा गुदा में अधिक दूरी तक प्रवेश रोका जा सकता था। इस उभार को कणिका कहा करते थे। ऐसे ही दो कणिकायें आधार की तरफ भी होती थीं। सबसे नीचे वाला उभार नलिका को थैले से सरकने से बचाता था। उभार के अभाव में थैले पर अधिक भार देने से निकल जाने का भय रहता था। एक और उभार कुछ दूरी पर बनाया जाता था। यहाँ पर कर्म-कर्त्ता का हाथ रहता था, जिससे सुविधानुसार ट्यूब को पकड़ा जा सके। ये उभार अधिकतर वस्त्र या धागे लपेट कर बनाये जाते थे।

नलिका को निम्न कारणों से, आठ दोषों से रहित बनाने का उपदेश चरक संहिता ने किया है—

१. ह्रस्व (छोटी)— द्रव उचित स्थान तक नहीं पहुंचेगा।
२. दीर्घ— द्रव आवश्यकता से अधिक पहुंच जावेगा।
३. तनु (पतली)— द्रव उचित मात्रा में नहीं पहुंच पायेगा। थैले के विदीर्ण होने का भय रहेगा।
४. स्थूल— बहुत मोटी होने की वजह से नली प्रवेश करते समय अथवा निकालते समय गुद-नलिका की श्लैष्मिक कला को आगे या पीछे करती रहेगी।
५. जीर्ण— पुरानी कमजोर अथवा मुलायम हो जाने पर जोर पड़ने पर नलिका के गुदा के भीतर टूटने का भय बना रहेगा।
६. शिथिलबंध— जोड़ के ढीले होने पर थैले को पीडन करते समय द्रव बाहर निकल जाया करेगा।
७. पार्श्व छिद्र— नलिका के पार्श्व में छिद्र होने पर मुलायम स्थानों के रगड़ की वजह से व्रणित होने का भय रहता है, इस लिए छिद्र मध्य में होना चाहिये।

८. नलिका के मुड़ी हुई अथवा अर्धवृत्ताकार होने पर गुदा के मध्य न खुलकर पार्श्व पर दीवाल में मुह खुल सकता है। जिसकी व द्रव के भीतर प्रविष्ट होने पर आंत्र में ऊपर की ओर जाने में बाधा

सुश्रुत ने इन दोषों के अतिरिक्त अन्य कुछ और भी दोष बतलाये हैं, परिमार्जन आवश्यक है। उदाहरणार्थं—

सन्निकृष्ट – यदि कर्णिका बहुत पास में रहेगी तो गुदा में द्रव का सुविधानुसार नहीं हो सकता।

विप्रकृष्ट — दूर होने पर कर्णिका गुदा को व्रणित कर देती है जिससे स्राव का भय रहेगा।

कर्कश — रूक्षनलिकायें गुदा को व्रणित कर देती हैं।

सूक्ष्म छिद्र —द्रव का प्रवेश कठिनाई से होता है। फलतः यथोचित में औषधि नहीं पहुंच पाती।

अति छिद्र (बड़ा छेद)—अत्यधिक द्रव प्रविष्ट होकर उदरशूल पै जाने का भय रहेगा।

वस्तिपुटक (थैला) (Bags)

बस्ति पशुओं के मूत्राशय से बनाई जाती थी। इस कार्य में वृद्ध मृग सूअर, बकरी अथवा भेंड़ के मूत्राशय का व्यवहार होता था। सड़न के पैदा होने वाली दुर्गंध से बचाने के लिए चूने और पानी से अच्छी तर साफ किया जाता था पश्चात् उसे मञ्जिष्ठा अथवा हरीतकी के द्वारा रंग जाता था फिर खूब अच्छी तरह से सुखा कर इस्तेमाल किया जाता था। प्रकार ये थैले मुलायम, टिकाऊ और सुन्दर रूप में लाये जाते थे। यदि पशुओं का मूत्राशय अप्राप्य रहता, तो उसकी जगह मेढक की त्वचा अ किसी अन्य पशु के उदरावरण की झिल्ली, चमड़े का टुकड़ा, अथवा घने का टुकड़ा ग्रहण किया जाता था[२] रोगी की आयु के अनुसार वस्ति के आका

---

[१] वस्तेरलाभे प्लवजो गलो वा स्यादङ्कपादः सुघनः पटो वा। वस्ति (Bladd न मिलता हो तो प्लव पक्षी का गला, अङ्कपाद नामक जीव का चर्म या मोटा कपड़ा लेकर उसको वस्ति बना कर काम में लावे। (च. सि. ३)

भिन्नता होती थी। नलिका के आधार वाली कर्णिका (उभार) पर जबूती से बँधी रहती थी। इसी वस्ति के व्यवहार के कारण पूरे यंत्र का ही म वस्ति यन्त्र रखा गया।

चरक के सिद्धि स्थान में पशुओं की चिकित्सा में व्यवहृत होने वाली स्तियों का भी वर्णन मिलता है।[1] इस प्रकार की वस्ति माहिष-मूत्राशय की नाई जाती थी। महिष (भैंसे) के मूत्राशय से बनी वस्ति के द्वारा हाथी, ट, गाय और घोड़े में वस्ति-कर्म किया जाता था। बूढे मरे बैल या सांड के त्राशय से बनी वस्ति के द्वारा मेंड़ और बकरियों में वस्तिकर्म किया जाता था।

वस्तिनेत्र (नलिका) की लम्बाई पशुबों के आयाम के अनुसार भिन्न-भिन्न ती थी। जैसे हाथी में अरत्नि (एक हाथ) अर्थात् चौबीस अंगुल, ऊंट में ठारह अंगुल, गाय-बैलों में सोलह अंगुल तथा भेंड़ एवं बकरी में दस अंगुलों लम्बाई होती थी। इस लम्बाई का चतुर्थांशतक गुदा में प्रविष्ट करके क्रिया रने का विधान है।

प्रवेश किये जाने वाले औषध द्रव्य की मात्रा—भेड़ और बकरियों में एक स्थ, गाय और घोड़ों में दो या तीन प्रस्थ, ऊंटों में दो आढक और हाथियों इससे भी अधिक अर्थात् एक द्रोण दिया जा सकता था। यह मात्रा निरूह ी है। अनुवासन में $\frac{१}{६}$ भाग स्नेह भी मिला कर देना होता था।

अश्ववैद्यक में नलिका का निर्माण कई पदार्थों का बतलाया गया है, उदा-रणार्थः—लकड़ी, शृंग, बांस, नल अथवा धातु। इसकी लम्बाई बारह अंगुल ो, परिणाह छः अंगुलों का होता था। कोल मात्र छिद्र का परिमाण, आधार र दो और अग्र पर एक कर्णिका होती रही। क्रमशः आधार के तरफ मोटी ौर आगे की तरफ पतली ऋजु, श्लक्ष्ण, मसृण आदि गुणों से युक्त होती थी।[2]

पालकाप्य ने भी अपनी चिकित्सा में हाथियों के रोगों में वस्ति देने के ये विशिष्ट प्रकार की वस्ति बनाने का उपदेश किया हैं। इनमें मनुष्यों की

---

[1] १. चर. चि. १२।

[2] २. काष्ठैर्दण्डैरयोभिश्च शृङ्गवंशनलादिभिः। द्वादशाङ्गुलदीर्घन्तु परिणाहे षडङ्गुलम्॥
कोलास्थिमात्रच्छिद्रन्तु कुर्यान्नेत्रं विचक्षणः। मूलादनुक्रमं श्लक्ष्ण मसृणन्तु विशेषतः॥
त्यक्त्वाङ्गुलानि चत्वारि कर्णिकान्यस्य कारयेत्। पुटकस्य प्रबन्धाय मूले द्वे चापि कर्णिके॥
चरक. सिद्धि. ११

वस्ति देने वाली नलिका की लम्बाई सोलह और हाथियों वाली नलिका अंगुल लम्बी बतलाई है । आधार पर की कर्णिका की विशेष ऊंचाई अंगुल) बतलाई है । बड़े विस्तार में हाथी की स्थिति, प्रवेश आदि के ढंग का विवेचन है ।

ग्रन्थकारों ने वस्ति के निम्नलिखित आठ दोषों का वर्णन किया है, रहित वस्तियों के (थैले) व्यवहार का विधान है—

१. मांसल—थैले से दुर्गंध आने के कारण ।
२. छिद्रयुक्त—द्रव के टपकने के कारण ।
३. विषम—दबाव के समान न होने से द्रव के प्रवेश में बाधा होगी
४. स्थूल—पकड़ने में असुविधा होने के कारण दबाव ठीक नहीं पड़े
५. जालक—जालीदार रचना होने से द्रव के स्रवित होने का भय
६. वातला—पानी के साथ वायु के प्रवेश का भय रहता है— आनाह उत्पन्न हो सकता है
७ छिन्न—द्रव नीचे गिरेगा ।
८. क्लिन्न—वेग से द्रव का प्रवेश नहीं हो सकेगा ।

सुश्रुत ने वस्ति के पांच दोष गिनाये हैं— बहलता (मांसल), (वस्ति का छोटा होना), सच्छिद्रता, प्रस्तीर्णता (विशाल होने से सुविधानुसार नहीं हो सकता), दुर्विद्धता (समुचित बंध के अभा

उत्तर वस्ति

मूत्र स्रोत (Urethra) अपत्यमार्ग (Vagina) और गर्भा द्रवौषधियों का अन्तः प्रक्षेप करने की क्रिया को उत्तर वस्ति कहते हैं। लिये भी ऊपर दिये हुए वर्णन के सदृश ही वस्ति यन्त्र का (जिनमें वस्ति नेत्र हों) व्यवहार बतलाया गया है । स्रोतस के दैर्घ्य और परिणाह के नेत्र की लम्बाई-चौड़ाई रहती है ।

पुष्पनेत्र Tubular Instruments for urethra

पुरुष की मूत्र-नलिका के व्यवहार में आने वाले वस्ति यंत्र का नाम है । इनमें नेत्र की लम्बाई बारह अंगुल की बतलाई गई है । सुश्रुत ने लम्बा

माण चौदह अंगुल बतलाया है। उत्तर वस्ति देने वाले यंत्रों में नेत्र ड़ी) सुवर्ण के बनाये जाते थे। इनके आकार का सादृश्य जातीपुष्प अथवा लतीपुष्प के वृन्त सदृश होता था इसी आधार पर उत्तर वस्ति यंत्र का नाम नेत्र पड़ा है। कार्य की दृष्टि से आधुनिक युग के 'रबर कैथेटर्स' इस यंत्र प्रतिनिधि हैं। एतदर्थ 'कैथेटर' का संस्कृत पर्याय पुष्पनेत्र दिया गया है। छिद्र सरसों के निकलने योग्य बनाया जाता था। इसका उद्देश्य लिङ्ग के के आयाम का बनाना रहा।

सुश्रुत के अनुसार मध्य में एक उभार (कर्णिका) होता रहा, चरक के सार दो और वाग्भट के अनुसार तीन बनते रहे। वस्ति (थैला) बकरी के ाशय की बनाई जाती रही। प्रयोग के पूर्व मूत्रमार्ग की स्थिति का ठीक ज्ञान ाका के द्वारा किया जाता था, पुनः नेत्र की उचित दिशा में छः अङ्गुल तक ष्ट किया जाता था। नेत्र के आधार में संयोजित वस्ति का पीडन कर द्रव भीतर तक पहुँचाने की क्रिया की जाती थी।

स्त्री-रोगियों में पुष्पनेत्र की लम्बाई दश अंगुल की होती थी। आधार चार अंगुल की दूरी पर कर्णिका रहती थी। मूत्रमार्ग के परिणाह के ुसार नाड़ी की परिधि में अन्तर होता था। फिर भी उसके भीतर का छिद्र के पार कर जाने लायक होता था।

कैथेटर्स (Catheters)

कैथेटर जैसे महत्त्व के यंत्र का वर्णन चिकित्सा के बृहत्त्रयी अथवा लघुत्रयी थावलियों में नहीं पाया जाता। ऊपर लिखे गये वृत्तान्तों से इतना स्पष्ट है पुष्पनेत्र मूत्रमार्ग तक ही प्रवेश पा सकता रहा मूत्राशय तक नहीं जा सकता इसलिये आधुनिक कैथेटर का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। दूसरी बात वस्ति-ऋजु हुआ करते थे परन्तु कैथेटर को आवश्यकतानुसार वक्र होकर जाना ड़ता है। तथापि कार्य की समता की दृष्टि से पुष्पनेत्र शब्द का व्यवहार र्याय रूप में 'कैथेटर्स' के स्थान पर किया जा सकता है। अधिक व्यावहारिक ब्द मूत्र-नाडी भी हो सकता है। मूत्रनाड़ियाँ धातु की बनी धातवीय अथवा र की या 'गमएलास्टिक' भी हो सकती हैं।

अथर्ववेद[1] के कई मंत्रों में मूत्रावरोध की चिकित्सा बतलाई गई है, मूत्र त्याग को किसी शलाका के द्वारा नियमित करने की व्यवस्था है। वैदिक काल में कैथेटर के सदृश कोई यंत्र रहा हो जिसका पश्चाद्वर्ती प्रयोग नहीं रहा गया।

योनिके लिये उत्तर वस्ति (Tubular Instruments for Va

योनि के अन्दर द्रवों का अन्तःक्षेप करने के लिये भी इसी प्रकार के यंत्रों का व्यवहार होता रहा। इन्हें भी एक प्रकार की पुष्पनेत्र वस्ति क हैं। इनका परिणाह मूत्रस्रोत नाडी से अधिक कनिष्ठिका अंगुल की परि स्थूल बनाया जाता रहा। योनिस्रोत में चार अंगुल तक प्रविष्ट किया जा था जहाँ पर मूत्रस्रोत में केवल दो अंगुल का ही विधान है और बालि एक अंगुल।[2]

गर्भाशय के लिये उत्तर वस्ति

गर्भाशय और योनि के अन्दर अन्तःक्षेप करने वाले यंत्रों का स्प करण करना बड़ा ही कठिन है। क्योंकि उनके पारिभाषिक शब्द एक लागू होते रहते हैं। इसी भाँति मूत्राशय और मूत्रमार्ग में प्रयुक्त हो यन्त्रों का विभेद कठिन है। कई स्थलों में मूत्राशय के भीतर द्रवों का करने का वर्णन ज्ञात होता है, परन्तु वास्तव में वहां मूत्रमार्ग के प्रक्षा ही उद्देश्य अभिप्रेत रहता होगा। यद्यपि उपलब्ध ग्रन्थों में विशिष्ट नाड़ी का वर्णन नहीं प्राप्त होता परन्तु चरक का वर्णन गर्भाशय के और पूरण का ही द्योतक है।

'उत्तर वस्ति का प्रयोग स्त्रियों के आर्त्तवकाल में करना चाहिये, इस काल में गर्भाशय का मुख खुला रहता है, यह अवस्था गर्भस्थापन

---

[1] यदांत्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रितम्। एवा ते मूत्रमुच्यतां बहिर्बालितं
एते भिनद्मि मेहन······ (अथर्ववेद)

[2] स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलं नेत्रं कुर्याद्विचक्षणः। मुद्गप्रवेश्यं योज्यञ्च योन्यन्तश्चतुर
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं नियोजयेत्। मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानामेकम्
(शार्ङ्गधर ३, ७ भावप्रकाश

युक्त रहती है और अंतःक्षेप की गई औषधियों का ग्रहण गर्भाशय शीघ्र कर है ।'

सुश्रुत ने भी उत्तर वस्ति के विधान में रुग्णा स्त्री को उत्तान शयन करा के, ंचित ऊर्ध्व जानु और स्थिर कर द्रव का निक्षेप करने को बतलाया है। याओं में द्रव की मात्रा एक प्रसृत बतलाई गई है ।

'गर्भाशय के विशोधन के लिये द्रव में द्विगुण स्नेह होना चाहिये । योनि- में पूर्ववत् त्रिकर्णिक नेत्र का संयोजन करना चाहिये । यदि द्रव का अंतःक्षेप ने पर वह लौट नहीं पाया हो तो पुनः संशोधक गण से युक्त क्वाथ का प्रक्षेप अथवा गुदा में संशोधन द्रव्यों की वर्ति का प्रवेश करे, यदि फिर भी द्रव बाहर आगमन न हो सके तो एषणी शलाका को नेत्र (Tube) के भीतर लकर नली को साफ कर ले और नाभि के नीचे बलपूर्वक पीडन करे । उससे बाहर आ जावेगा ।'

स्पष्टतः इस वर्णन से गर्भाशय का शोधन लक्षित रहा और इस क्रिया में :संदेह गर्भाशय-नलिका का व्यवहार दृष्टिगोचर हो रहा है । क्योंकि यदि पत्यमार्ग (Vaginal canal) तक द्रव सीमित रहता; तो उसको बाहर कालने में इतने विविध उपायों की शरण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

धूम्रनेत्र अथवा धूमनाड़ी

Tubular instruments for inhalation or Fumigation)

वस्ति यन्त्र की भांति ही धूम्रपान करने वाली नाड़ी की भी रचना होती । यह विभिन्न धातुओं की, लकड़ी की और नल या बांस (शार्ङ्गधर) की ती थी। सामान्य तया इसकी रचना सीधी नलिका के सदृश होती थी इसका ड़ा आधार अंगुष्ठ परिणाह का और क्रमशः अग्र की तरफ पतला हो कर, निष्ठिका परिणाह का, अग्र छिद्र मटर प्रविष्ट हो सकने लायक अथवा कोलास्थि रमाण रहा करता था ।

नलिका के प्रत्येक चतुर्थांश भाग पर विस्तृत कर विस्फारक या कोष बनाये हते थे जिनकी आकृतियां अर्धविकसित कलिका (वाग्भट) से मिलती होती

थी। इसीलिए नलिका का विशेषण, त्रिखण्डा, त्रिपर्विका (शाङ्गधर) या
(च. सु. वा. चक्र में) दिया गया है।

नलिका का दैर्घ्य प्रयोग के अनुसार विभिन्न होता था। धूम्रपान पां
का होता था। फलतः नाड़ी की लम्बाई विभिन्न कर्मों के लिये विभिन्न
विविध दी गई है। जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

विधि	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	शाङ्ग
मध्यम	३२ अंगुल	४८ अंगुल	३२ अंगुल	४० अं
मृदु	९६ ,,	२४ ,,	४० ,,	३२
तीक्ष्ण	२४ ,,	३२ ,,	२४ ,,	२४
कासघ्न	×	×	×	१६
वामक	×	१६ ,,	×	×

१. सामान्यतया विरेचन के लिये (वैरेचनिक) नली की लम्बाई २४

२. स्नेहन के लिये (स्नैहिक) ,, ,, ३२

३. प्रायोगिक और कासघ्न के लिये ,, ,, १९

दृढबल ने औषधियों के पिष्ट कल्क को रेशम के कपड़े में लपेट क
तरफ जला कर दूसरे सिरे को मुख में रख कर सिगरेट जैसे धूम्रपान का
ढंग बताया है। पीने से पूर्व उसे घी में डुबो लेना चाहिये। घृत के विषघ्न
से विषजन्य रोगों की सम्भावना कम हो जाती है। धूम्रपान के अनन्तर
का अनुपान करने का विधान है।

चरक और शाङ्गधर में धूम्रपान का एक और तरीका बतलाया है
में अगुष्ठ की मोटाई का नल लेकर उसके ऊपर चूर्णित औषधियों के कल्क
के बराबर मोटा लेप कर के छाया में शुष्क कर नल को खींच लेने पर
औषध कल्क की नाड़ी बन जाती है। उसके एक सिरे को जलाकर दूसरे
को मुख में रख कर पान करने का विधान है। इसे धूम्रवर्ति कहा जाता

चरक में धूम्रपान का एक अन्य प्रकार है। यही सामान्य प्रकार ज्ञात
है। इसके निर्माण में दो सकोरों की आवश्यकता है। एक सकोरा नीचे

में औषधियों को रख कर दूसरे सछिद्र (मध्यछिद्र) सकोरे ढक कर कपड़-ट्टी कर दोनों के सन्धि-स्थल को बन्द कर दें। फिर निधूम अङ्गारे पर इस ाव को रखकर ऊपर वाले मध्य छिद्र से आठ या दश अंगुल लम्बाई से धूम्र ड़ी को संयुक्त कर के नाड़ी के दूसरे छिद्र से धूम्र-पान करे। इस प्रयोग कष्टकर कास में श्लेष्मा के रेचन में होता है। आज कल के 'इन र' इसी रचना के अनुसार बनते हैं। इस यन्त्र को मल्लक-सम्पुट अथवा ाव-सम्पुट कहते हैं। शल्य तन्त्र में वर्णित धूमयन्त्र का उपयोग व्रण-ान के विशोधन में होता था। नीम की पत्ती, गुग्गुलु, सर्जरस प्रभृति जीवाणु-रोधी (antiseptic) द्रव्यों को जलाकर उसका धुंवा व्रण-स्थान पर ाने की विधि है।

आचूषण शृङ्ग

आचूषण कार्य के लिये गोशृङ्ग प्रायः प्रयुक्त होता था। इसकी लम्बाई ारह अंगुल और आधार तीन अंगुल का होता था। इसका आकार शंकु श होता था, दैर्घ्य में मुड़ा हुआ या सीधा रहता था। शीर्ष बिन्दु पर सर्षप रमाण का छिद्र होता था। रोगी के व्याधित भाग पर शृङ्ग यन्त्र का आधार थवा मुख रखा जाता था और अग्र छिद्र सर्जन के मुख में रहता था। मुख से ायु को ऊपर खींच कर रक्त का चूषण होता था। क्रिया के पूर्व स्थान पर छान लगाकर अथवा लेखन करके स्वेदन (योगरत्नाकर) करके शृङ्ग के रा रक्त-चूषण का विधान रहा। चूषण के समय मुख में रक्त का सम्पर्क न हो वे इस लिये छिद्र को वस्त्रावगुंठित रखना पड़ता था।

भालुकि में आचूषण शृङ्ग बनाने की निम्नलिखित विधि बतलाई है। श्वेत की सींग जिसकी चौड़ाई सात अङ्गुल की हो अर्द्धचन्द्राकार काटना चाहिये। की आधार की परिधि अङ्गुष्ठमूल के तुल्य होनी चाहिये। ऊपर अग्र छिद्र ंग के प्रवेश होने योग्य बनना चाहिये। क्रिया के अतिरिक्त समय में रुई के ये से छिद्र को बन्द रखना चाहिये।[1]

विषाणःश्वेतगोरिन्दुश्चक्रं सप्ताङ्गुलायतम्। क्षिप्तान्तः पिचुपेशिकं च योज्यं वातायुतेऽसृजि॥
अङ्गुष्ठे मूलवन्मूले छिद्रेऽग्रेऽस्य मुद्गवत्। —निबन्ध-संग्रह से उद्धृत भालुकि-वाक्य।

सुश्रुत ने शृङ्ग प्रयोग की अद्भुत प्रक्रिया बतलाई है। कान में फँसे कीड़े, क्लेद और मल को भी चूषण के लिये शृङ्ग और जलौका का व्यवहार है। सुश्रुत को भी यह प्रक्रिया मान्य है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने ए प्रकार के शृङ्ग यन्त्र का सर्पविष के आचूषण में व्यवहार करने का दिया है। इसमें नाडी (नेत्र) का एक मुख सर्पदष्ट स्थान पर लगाया है। दूसरा सिरा क्रिया करनेवाले के मुख में। आधुनिक युग में इस यन्त्र का प्रतिनिधि चूषण क्रिया में प्रयुक्त होनेवाली 'एस्पिरेशन सिरिञ्ज'

आचूषण के प्रयोग में आने वाले शृङ्ग अथवा धातु के बने यन्त्रों का अरबी चिकित्सकों में आज भी पाया जाता है। इसी लिए पाश्चिमात्य का अनुमान है कि यह कला योग्य अरबी चिकित्सकों से उधार ली परन्तु अब लोगों का निश्चय हो गया है कि यह भारतीय ही देन है।

अलाबू यन्त्र

कद्दू या तुम्बी की बनी हुई नाड़ी के द्वारा दूषित कफ और रक्त रण प्रचलित था। विधि यह थी कि, प्रौढ़ कद्दू का फल लेकर उसके मज्जा और बीज को ऊपर की तरफ से वृत्ताकार काट कर निकाला था। फिर अवशेष को सुखाकर ग्रहण किया जाता था। ऐसे फल का आवश्यक है, जिसकी लम्बाई बारह से अठारह अंगुल तक, मुख गोल व्यास तीन या चार अंगुल का हो। इसके अंतराल में एक सूखे टुकड़े को जला कर रखा जाता था। (चरक) आवश्यकतानुसार दीपक भी जला कर रख सकते थे। (सु०) फिर रोगी के व्याधित सम्पर्क करा के आचूषण होता था। जलती अग्नि अथवा प्रदीप रखने का तुम्बी के भीतर निर्वात आकाश पैदा करना था। क्योंकि वायु में पंचमां प्राणवायु और पञ्चमांश नायट्रोजन का होता है। यह प्राणवायु जलने में होती है। इसके अभाव में जलने का कार्य नहीं हो सकता। तुम्बी के प्रदीप रखने से जो प्राणवायु भीतर होती है वह जलने के काम में जाती है और कुछ निर्वात स्थिति उत्पन्न करती है। प्राणवायु के जाने से दीपक भी बुझ जाता है। व्याधित स्थान से कफज रक्त का हो जाता है। शृङ्ग यन्त्र में निर्वात स्थिति कृत्रिम और मुख के भी

च कर पैदा की जाती है, परन्तु इस विधि में दीपक के द्वारा निर्वात स्थिति की जाती है । जिसके वेग से आचूषण की क्रिया हो सके ।

वर्त्तमान युग में शल्य-चिकित्सा में फोड़े फुन्सियों से दुष्ट रक्तादि के ये अलावू और शृङ्ग की भांति 'कपिङ्ग ग्लासेज' (Cupping glasses) व्यवहार होता है । परन्तु मुख द्वारा चूषण में खतरा होने के कारण आचूषण कार्य रबर के गेदों (Suction Balls) के द्वारा होता हैं ।

भालुकि तन्त्र में अलावू यन्त्र की लम्बाई आठ अङ्गुल की, परिधि का व्यास वत् चार अङ्गुल का बतलाया गया है । यन्त्र के ऊपर कृष्णमृत्तिका का एक क्कन लेप का भी विधान है । निर्देश रक्तावसेचन में किया गया है ।

इन दो यन्त्रों के अतिरिक्त वाग्भट ने चूषण के लिए घटीयन्त्र का भी धान किया है[1] । चरक ने गुल्मचिकित्सा में इस यन्त्र का उपयोग किया । यह कांसे या पीतल का बना आधुनिक जलपात्र लोटा अथवा घड़े सादृश रचना का होता है । प्रयोग के लिये जो स्थान स्थिर किया गया हो स पर एक दीपक जला कर घटी को ऊपर से औंधा देना चाहिये । थोड़ी र में यन्त्र स्थान पर चिपक जावेगा । (गुल्म अथवा उदरशूल में आज भी स प्रकार की आचृषण की प्रथा प्रचलित है) जब घटी स्थान पर चिपक जाती तो बलपूर्वक उठाकर खींच लिया जाता है । घटी को वस्त्र से आवृति रखना ता है । वाग्भट ने गुल्म का बिलयन अथवा उन्नमन इस यन्त्र के द्वारा करने निर्देश किया है ।

इस प्रकार 'कपिङ्ग' के द्वारा रक्तनिर्हरण की प्रक्रिया, बहुत प्राचीन है । सबसे श्चर्य तो तब होता है जब की ग्रीक और लैटीन शब्द 'कर्कवितुला' और संस्कृत ब्द आलावू का समानार्थ में व्यवहार होता है । दोनों का अर्थ है तुम्बी या द्दू । दोनों का व्यवहार एक ही प्रक्रिया में एक ही प्रकार से होता है । मिश्र श के सर्जनों में शृङ्ग और धातु के बने द्विमुख यन्त्रों से आचूषण प्रचलित था 'सान्तर्दीपया या आलाब्वा' वाले कला से अनभिज्ञ थे ।

---

[1] स्याद् द्वादशाङ्गुलोऽलाबुर्नाहे त्वष्टादशाङ्गुलः । चतुस्त्र्यङ्गुलवृत्तास्यो दीप्तोऽन्तः-श्लेष्मरक्तहृत् । तद्वद्घटी हिता गुल्मविलयोन्नमने च सा । (अ० सू० २५)

शलाका यंत्र (Rods)

संस्कृत नाम शलाका	आङ्गलपर्याय	संख्या	कार्य	दैर्घ
गण्डूपदमुखी	(Blunt Probe ब्लंट प्रोब	२	एषण	यथावश
सर्पफण ,,	रीट्रैक्टर्स Retractors	२	व्यूहन	(१) सोल (२) बार
शरपुंख ,,		२	चालन	(१) दश (२) बार
वडिशमुख	हुक Hook	२	आहरण	मछली प अंकुश स हुआ लोहे
मसूरदलमात्र ,,		२	स्रोतोगत-शल्योद्धरणार्थ	(१) आठ (२) नौ
खल्लमुखी (दर्व्याकृति)	चम्मच जैसे (Spoon Shaped)	३	क्षारौषधप्रणिधानार्थ	आठ अ
जाम्बववदन अंकुशवदन	काटरी Cautery	३ ३	अग्निकर्म	आवश्यकता
कोलास्थिदल-मात्रमुखकम्	(Nasal) curette नैजलक्यूरेट	१	नासार्श में दाह कर्म के लिये	
अञ्जनार्थशलाका	कोलीरियमप्रोब (Collyrium Probe	१	अञ्जनार्थ	आठ अ
मूत्रमार्गविशोधनार्थ	यूरेथ्रलसाउण्ड्स (Urethral Sounds)	१	मूत्रमार्गान्वेषण के लिये	यथाव

शलाका यन्त्र[1] (Rods, pincherlike Instruments. probes) नेक प्रकार के होते हैं, अनेक कामों में आते है और प्रयोजन के अनुसार मोटे था लम्बे होते हैं। उपरिलिखित तालिका में उनका स्पष्टी करण किया या है।

उष्णीष शलाका—उपर्युक्त (कोष्ठस्थ) बाइस प्रकार के शलाकाओं के अतिरक्त छः कार्पासकृतोष्णोप शलाकायें भी होती हैं। इनका कार्यं विविध प्रकार के ाह्यस्रोतों का प्रमार्जन रहता है।[2] इनका अग्र रुई से लिपटा रहने से आकृति गडी युक्त (सोष्णीष) जान पड़ती है। इन में दो का व्यावहार मलाशय के लये होता रहा और लम्बाई दस से बाहर लङ्गुल की होती रही। दो शलाकायें ान के कर्मों में व्यवहृत होती थीं उन की लम्बाई आठ या नौ अङ्गुल की थी। वशिष्ट अन्य दो शलाकाओं का व्यवहार नासिका के लिये रहा जिनकी म्बाई क्रमशः छ-सात अङ्गुल की होती थी।

आधुनिक यंत्र संभार में ऐसे यंत्र को 'स्वाब युक्त प्रोब' (Swab Probe) हते हैं।

जयदत्त सूरिने अपने अश्व-वैद्यक में भी ऐसे कार्पासयुक्त अग्र वाली शलाका ा प्रयोग घोड़े के कान से होने वाले स्राव में प्रमार्जन के लिये बतलया है[3]।

अब उपर्यक्त तालिका में दी गई शलाकाओं का किंचिद् विशदीकरण ासंगिक होगा:—

---

१. शलाकायन्त्राण्यपि नानाप्रकाराणि, नानाप्रयोजनानि, यथायोगपरिणाहदीर्घाणि ता। तेषां गण्डूपद, सर्पफण, शरपुंख, वडिशमुखे द्वे द्वे, एषणव्यूहनचालनार्थंपदिश्यते। मसूरदलमात्रमुखे द्वे किंचिदानताग्रे स्रोतोमलशल्योद्धरणार्थं षट्कार्पासतोष्णीषाणि प्रमार्जनक्रियासु, त्रीणि दर्व्याकृतीनि खल्लमुखानि क्षारौषधप्रणिधानार्थं त्रीण्ययानि जाम्बववदनानि, त्रीणि अंकुशवदनानि षडेवाग्निकर्मस्वभिप्रेतानि, नासार्बुदरणार्थमेकं कोलास्थिदलमात्रमुखं खल्लतीक्ष्णौष्ठम्, अञ्जनार्थमेकं कलायपरिमण्डलमुभयतोकुलाग्रं, मूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमण्डलमिति। (सु. सू. ७)

२. कार्पासविहितोष्णीषाःशलाकाः षट् प्रमार्जने। पायावासन्नदूरार्थे द्वे दश वा दशाङ्गुले॥
द्वे षट् सप्ताङ्गुले घ्राणे द्वे कर्णेऽष्टनवाङ्गुले। (अ० हृ० १, २५)

३. पूयास्रावेण जानीयाच्छोथमभ्यन्तरोद्भवम्। पिचुना वेष्टयित्वा तु शलाकाग्रं समाहितः॥
तेन कर्णान्तरं पूयं कर्षयित्वा विचक्षणः। पातितस्य सुबद्धस्य पूरयेन्मधुसर्पिषा।
(अश्ववैद्यक ३४ अ०)

गण्डूपदमुखी—केचुआ के मुख सदृश थोथे मुख की शलाका। स्थूल होने पर व्रण, नाड़ी आदि का अन्वेषण करते समय किसी प्रकार अथवा पीड़ा नही होती है। ऐसे यंत्रों को अंग्रेजी में ब्लंट प्रोब मोटाई और लम्बाई यथावश्यक होती है।

सर्पफणमुखी—सर्पफण के सदृश चपटे मुख वाली शलाका। दूसरा पर्याय अग्रवक्त्र या अग्रवक्र है जिसका प्रयोग अश्मरी के होता है। इन शलाकाओं के दो प्रकार है—एक की लम्बाई सोलह अङ्गु की बारह अंगुल होती है। उनका कार्य अधिकतर चौड़ाई में फैलाना हो इस लिये तुलना में आधुनिक रीट्रैक्टरों में समानता रखते हैं।

शरपुंखमुखी—वाणमूल के समान मुख वाली। इनकी लम्बाई दस और बारह अङ्गुल की होती है। चालन के काम में प्रयुक्त होती है।

वडिशमुखी—वड़िश मछली पकड़ने वाले लोहे के बने टेढ़े (H हुक को कहते हैं। इनके भी दो प्रकार हैं।

मसूरदलमुखी—मुख, नासा और कर्ण इत्यादि स्रोतों के शल्य नि में इसका उपयोग होता है। ये दो प्रकार की होती हैं। एक की लम्बा तथा दूसरे की नव अङ्गुल होती है।

खल्लमुखी—इनकी लम्बाई आठ अङ्गुलों की होती है। निम्नता तीन की क्रमशः कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमा अङ्गुली के नख के गर्त होती हैं। इसका आकार अञ्जलि के आकार का भी बतलाया गया है। इसे चम्मच के आकार की (Spoon Shaped) शलाका कह इसका व्यवहार क्षार कर्म में होता रहा। कलछुल के आकार सदृश गर्त हो वजह से इसकी दर्व्याकृति (सुश्रुत) भी होती थी।

अग्निकर्म—अग्निकर्म (Cutery) के प्रयोग में आने वाली छः की शलाकाओं का वर्णन मिलता है। इसमे जाम्बवोष्ठ की तीन और अंकु की तीन किस्मों का जिक्र आता है।

नासार्बुदहरणार्थ शलाका—इस शलाका का आकार वेर की गु समान और कार्य नासागत अर्श तथा अर्बुद में दाहकर्म बतलाया

ऐसी आकृति की शलाका 'नेजलक्यूरेट' (Nasal curette) नाम से आधुनिक युग में प्रचलित है। केवल एक प्रकार की होती है।

अञ्जनशलाका—आंख में अञ्जन लगाने की जो शलाका होती है वह चिक्कनी, मृदु, आठ अङ्गुल लम्बी (वाग्भट और सुश्रुत) मध्य में किञ्चित् पतली दोनों ओर मटर के समान मोटी (कलायपरिमण्डला), परन्तु मुकुल के समान अग्रवाली (वक्त्रयोर्मुकुलाकारा) होती है। लेखन, रोपण और प्रसादन गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न पदार्थो की बनाई जाती है। सुवर्ण, रजत, शृङ्ग, ताम्र, वैदूर्य, कांसा, लौह या पत्थर आदि की बनाई जाती है। प्रति दिन के व्यवहार में आमतौर से सीसे की बनी सलाई का प्रयोग होंता रहा[1]। यदि औषधि को पलकों के अतिरिक्त भाग श्वेत मण्डल में भी लगाना हो, तो अंगुल से लगाने का विधान है—क्योंकि यह विधि सबसे अधिक मृदु और सुरक्षित है। गुणों के अनुसार सलाई की विविधता निम्नलिखित रीति की भांति होती रही—(चक्रदत्त)

शलाका दशाङ्गुलदैर्घ्यं – लेखनकर्म में ताम्र की प्रशस्तता थी।
,, ,, —रोपणकर्म में काललोह की ,, ,,
,, अङ्गुलपरिणाह –प्रसादनकर्म में रजता या सुवर्ण,. ,,

शार्ङ्गधर के मतानुसार ताम्र, लोह और अश्म की बनी शलाका का व्यवहार लेखन अञ्जनो में, सुवर्ण और रजत की बनी शलाका का स्नेहन में और केवल अङ्गुली द्वारा अञ्जन का प्रयोग मृदु होने के कारण रोपण में होता था।

ऐसी शलाका को अंग्रेजी में 'कोलीरियम् प्रोब' कहा जाता है। भाग्य से इन शलाकाओं के नमूने विजनौर और बिहार के खुदाईयों में प्राप्त हुए हैं। ये शलाकायें ताम्र की बनी प्राप्त हुई हैं।

मूत्रमार्ग विशोधनी शलाका—मूत्रमार्ग के अन्वेषण के लिये बनाई जाती थी इसका अग्र मालती-पुष्पवृन्त (डंठल) के समान होता था। चरक में

---

[1] त्रिफलसलिलियोगे भृङ्गराजद्रवे च हविषि च विषकल्के क्षीर आजे मधूग्रे।
प्रतिदिनमथ तप्तं सप्तधा सीसमेकं, प्रणिहितमथ पश्चात् कारयेत्तच्छलाकाम्।
सवितुरुदयकाले साञ्जना व्यञ्जना वा, करकरिकसमेतानम्र्मपैचिट्यरोगान्।
असितसितसमुत्थान् संधिवर्त्माभिजातान्, हरति नयनरोगान् सेव्यमाना शलाका।
(चक्र. नेत्ररोग)

वस्ति देने के पूर्व इस शलाका के द्वारा गति का अन्वेषण करने को व गया है। आजकल के मन्त्रो में 'यूरेथ्रल प्रोब' अथवा 'यूरेथ्रल साउण्ड 'बूगीज' के साथ सादृश्य है।

वाग्भट ने उपर्युक्त शलाकाओं के अतिरिक्त पांच अन्य शलाकाओं वर्णन किया है--

(१) कर्णशोधन शलाका[1]—इस यन्त्र के किनारे अश्वत्थपत्र (अश्वत्थपत्रप्रान्तं) और मुख स्रुवा (स्रुवाननं) के तुल्य होते थे। रोग की चिकित्सा में शलाका द्वारा कान का मल निकालने के लिये सुश्रु चक्रदत्त में भी लिखा है। स्रुवा का उपयोग यज्ञ में आहुति के निमित्त हो उसका आकार चम्मच की तरह होता है। फलतः यन्त्र के अग्र पर छोटे की आकृति रहती रही। आधुनिक युग में उसका प्रतिनिधि 'इयर स्कूप' वाग्भट के अनुसार जो शलाका बनेगी उसका आकार अग्र पर गोल परन्तु सुश्रुत के अनुसार हंस के चोंच जैसे। इसी लिये सुश्रुत ने तालय ही वर्गीकरण में इसे रखा है।

(२) गर्भशङ्कु[2]— यह शंकु मूढगर्भ का शिरोविदारण करने के आहरण करने के लिये प्रयुक्त होता था। इसका अग्र गजाङ्कुश की भांति हुआ (नत) होता था। इसकी लम्बाई अन्य शङ्कु की भाँति दस से अंगुल और चौड़ाई आठ अंगुल की होती थी। मूढ गर्भ के आहरण में म अथवा अंगुलीय शस्त्र से शिरोविदारण करके शिरः कपालों का आहरण पश्चात् शंकु को वक्ष में अक्षक (Clavicle) में लगाकर मृत शि निकालने का विधान है। यदि सिर के कपालास्थियों का भंजन न हुआ अक्षिकूट अथवा कपोल प्रदेश में लगाकर निकालना चाहिये।

आज कल इस काम में ब्लंट हुक और क्राचेट (Blunt hook Crochet) नामक यन्त्र का व्यवहार होता है।

---

[1] क्लेदयित्वा तु तैलेन स्वेदेन प्रविलाप्य च।
शोधयेत् कर्णगूथस्तु भिषक् सम्यक् शलाकया॥ (चक्र.)

[2] नतोऽग्रे शंकुना तुल्यो गर्भशंकुरिति स्मृतः।
अष्टाङ्गुलायतस्तेन मूढगर्भं हरेत् स्त्रियाः॥ (अ. हृ. १, २५)

युग्मशंकु—वर्तमान युग में प्रसव कराने के लिये एक संदंश का व्यवहार ता है। इसमें दो शंकु के आकार की शलाकायें होती हैं। उनका एकैक शङ्कु र्भाशय के भीतर प्रविष्ट कर संयुक्त कर के मूढ गर्भ की अवस्था में जीवित शिशु प्रसव कराया जाता है। दोनों शलाकाओं के संयोजन से संदंश का रूप और र्य का सम्पादन होता है। फलतः इसका नाम भी प्रसूति-संदंश (Midwi-ry–forcep) यथार्थ है।

इस प्रकार के संदंश का पाठ भारतीय चिकित्सा-ग्रथों में नहीं मिलता। भवतः यह कार्य हस्त द्वारा सम्पादित होता था। इस लिये इस में स्वतन्त्र तु निर्मित यन्त्र का प्रयोग अनावश्यक समझा गया हो। जैसा कि योगरत्ना-र के[1] उद्धरणों से स्पष्ट है—'यदि गर्भस्थ शिशु जीवित हो और मूढावस्था को प्त हो तो उसे घृत से स्निग्ध हस्त को योनि के अन्दर प्रविष्ट करण के यत्न-र्वक निर्हरण करना चाहिये। परन्तु यदि गर्भ मृत हो तो गर्भिणी की योनि में स्त्र का प्रवेश करना चाहिये। इस कार्य के लिये लघुहस्त, भयरहित और शस्त्र था शास्त्र का अनुभवी ज्ञाता होना चाहिये।[2] चेतनायुक्त गर्भ का कभी दारण हीं करना चाहिये।[3]

ग्रीस, रोम और अरब देश के प्राचीन चिकित्सा-ग्रन्थों में भी ऐसे यन्त्र के र्णन का अभाव है। क्योंकि युग्म शंकु का कार्य (Midwifery forcep) स्तकौशल से ही होता था।

(३) **सर्पफण-शलाका**—इसका उपयोग अश्मरी हरण के लिये ता था। इस लिये इसे अग्रवक्र भी कहा जाता था। सुश्रुतने सर्पफण-लाका की संज्ञा से किसी यन्त्र का पाठ स्वतन्त्र नहीं दिया है। फिर भी श्मरी के शस्त्रकर्म में अग्रवक्र नाम से इसका निर्देश किया है। इसका व्यवहार वल पुरुषों में होता रहा। स्त्रियों में चिरस्रावी व्रण से रक्षा करने की गरज से क विशेष प्रकार के चाकू का आदेश किया गया है, जिसमें चम्मच के सदृश ल बना हो। (Knife having spoon like scoop)

गर्भे जीवति मूढे तु गर्भं यत्नेन निर्हरेत्। हस्तेन सर्पिषाक्तेन योनेरन्तर्गतेन वा॥

मृते तु गर्भे गर्भिण्या योनौ शस्त्रं प्रवेशयेत्। शस्त्रशास्त्रार्थविबुधो लघुहस्तो भयोज्झितः।

सचेतनं तु शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्। अश्मर्याहरणं सर्पफणावद्वक्र अग्रतः।

(अं० हृ१.२५)

आजकल अश्मरीहरण में जिस शलाका का प्रयोग होता है, उसे 'लिथोटामी फारसेप' और 'स्कूप' कहते हैं।

(४) शरपुंखमुख—यह यन्त्र चार अङ्गुल लम्बा होता है। इस योग दाँत निकालने में किया जाता है। इसका उपयोग और आकार 'टूथ एलिवेटर' का सादृश्य रखता है।[1]

(५) अर्धेन्दुमुखी—इसका उपयोग वंक्षणस्थ आन्त्रवृद्धि (Bu cele) की चिकित्सा में अग्निकर्म में होता रहा। यद्यपि सुश्रुत में स्व इस शलाका का वर्णन शलाका-प्रसङ्ग में नहीं प्राप्त होता, तथापि आंत्र चिकित्सा में इसका नाम आया है। वाग्भट ने इस 'शलाका के दण्ड handle) को गोल और मूल में अर्द्धचन्द्राकार' बनाने का उपदेश किया

बोन लिवर (Bone liver)—इन शलाकाओं के अतिरिक्त कई शलाकाओं का भी वर्णन यत्र-तत्र मिलता है। कई प्रकार की शलाका या सन्धि भग्न में व्यवहृत होती रहीं। नासा की हड्डियों के टूटे एक शलाका का व्यवहार था, इसका कार्य 'बोन लिवर' का रहा है। यही कार्य अक्षक विश्लेष अथवा अंससन्धि-विश्लेष में मुसल के द्वारा जाता रहा।

सगर्त्त एषणी (Directors) सुश्रुत केवल गण्डूपदमुखी (Blunt Probe) का उपदेश नहीं करते, बल्कि स्पष्टतया भग चिकित्सा में एषणी के सहारे शस्त्रकर्म का विधान देते हैं। एक विशि के द्वारा नागी की गति (मार्ग) का अन्वेषण करने के साथ चमड़े को काटने को बताया गया है। वर्त्तमान युग में ऐसे सगर्त्त एषणी का प्रचुर हार है। अंग्रेजी में इन्हें 'डाइरेक्टर्स' कहते हैं।

अनुयंत्र या उपयंत्र (Accessory Instruments)

यंत्रों का छठवाँ भेद उपयंत्र समूह है। उपयन्त्रका शाब्दिक अर्थ है रुपमितानि' अर्थात् यन्त्रों का सादृश्य रखने वाले, यंत्र समीपवर्ती अथ

---

१. शरपुंखमुखं दन्तपातनं चतुरङ्गुलम्। (अ० हृ० १, २५)

२. मध्योर्ध्ववृत्तदण्डाश्च मूले चार्धेन्दुसन्निभाम्। (वा. सू. २५)

त्र । जो काम पड़ने पर यंत्रों के अभाव में यन्त्रकर्म करने में समर्थ होते हैं, थवा यन्त्रों के कार्यों में सहायता करते हैं उन सबका ग्रहण उपयंत्र से हो जाता । यन्त्र शब्द से केवल धातवीय हथियारों का ही उद्देश्य नहीं, वरन् अन्यान्य पकरणों का भी इस वर्ग में समावेश है, जो शल्यकर्म में प्रयुक्त होते हैं। फलतः पयंत्रों के वर्ग में कई वाह्योपचार जो व्रण-शोफ-शामक, पाचक, और दारक प में व्यवहृत होते हैं, गृहीत हैं ।

उपयंत्र निम्न लिखित हैं[1]—

रज्जु (Thread) और वेणिका (Twine)

क्षारलिप्त सूत्रों का प्रयोग 'कृश, दुर्बल, भीरु रोगियों में अथवा मर्माश्रित नाड़ी व्रणों के छेदन कर्म में होता था, क्योंकि ऐसे रोगियों में शस्त्र के द्वारा कर्म निषिद्ध हैं।' इसी भांति रजनीचूर्ण और स्नुहीक्षीर से अनेक बार के भावित सूत्र को यदि अर्शो-भगन्दर में बांधा जावे तो उसका भेदन हो जाता है। इसके सिवाय सर्पविष की चिकित्सा में रज्जु का उपयोग दंशस्थान के कुछ ऊपर बाँधने में होता था, जिसके द्वारा विष का ऊर्ध्व गमन शीघ्रता से न हो और उपचार संभव हो सके। वेणिका का भी इसी भांति उपयोग होता रहा। सूत्र का एक अन्य प्रयोग फलवर्ति के रूप में मिलता है। 'यदि गर्भाशय में बस्ति दी गई हो और स्नेह न लौटा हो तो सूत्र-विनिर्मित स्निग्ध और शोधक द्रव्यों से लिप्त वर्ति का योनिमार्ग में प्रवेश करावे।'[2]

पट्ट (Bandage)—व्रणों के बन्धन में कई प्रकार के कपड़े उपयोगी होते हैं। कपास के वस्त्रों के अतिरिक्त वस्तु भी जो पट्टी बाँधने के काम में आते हैं, पट्ट कहते हैं। उदाहरण के लिये अलसी या सन से बने वस्त्र (क्षौम), रूई से बना हुआ कपड़ा (कार्पास), भेंड़ के ऊन का बना हुआ ऊनी वस्त्र (आविक), अत्यन्त महीन रेशम (दुकूल-कौशेय), वनस्पतियों के पत्र से बने

---

[1] १. अनुयन्त्राण्ययस्कान्तरज्जुवस्त्राश्ममुद्गराः ।
वध्रांत्रजिह्वावालाश्च शाखानखमुखद्विजाः ॥
कालः पाकः करः पादो भय हर्षश्च तत्क्रियाः ।
उपायवित्प्रविभजेदालोच्य निपुणं धिया ॥ (वा. सू. २५)

[2] २. फलवर्तिं निदध्याद्वा योनिमार्गे दृढां भिषक् ।
सूत्रैकनिर्मितां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुताम् ॥

कपड़े (पत्रोर्ण), चीन देश का बना महीन कपड़ा (चीन पट्ट), वृक्षों के के छिल्के (अंतर्वल्कल), बांस के खपचे (बिदल), द्विगुण चतुर्गुण कपड़े (तूलफल-सन्तानिका). सुवर्ण, रजत सीस अथवा लोहे के बने पत्तर (लौहानि), कद्दू के टूकड़े (अलाबुशकल), लता, रज्जु आदि का आवश्यकतानुसार रोग की प्रकृति और काल का विचार करते हुए होता है ।

व्रणबंधविधिः— व्रणों के बंधन में प्रायः कपड़े के टुकड़े का व्यवहार है । भिन्न-भिन्न कार्यों और स्थानों में भिन्न २ लंबाई और चौड़ाई की अंगों में तद् तद् अङ्गों के अनुरूप सुचारु रूप से बांधने के लिये अभ्या आवश्यकता होती है । केवल विभिन्न प्रकार के बंधनों की विधि का कंठस्थ करना ही पर्याप्त नहीं, वरन् इस कार्य में दक्षता लाने के लिये क्रियात्मक अभ्यास आवश्यक है । प्राचीन काल में बंधन कर्म का पुस्तमय पुरुषों (Dummy) के अङ्गों पर किया जाता था, परन्तु आधुनि में साथियों के अङ्गों के ऊपर ही बंधनाभ्यास करने का उपदेश है । तीन यह कार्य अच्छी तरह सीख सकते हैं । एक विद्यार्थी पट्टी बांधने की वि पुस्तक के अनुसार पाठ करता है. दूसरा तीसरे विद्यार्थी के अङ्गों पर है । इस प्रकार बारी २ से सभी अभ्यास करके दक्ष हो सकते हैं ।

आधुनिक युग में जो बंधन-विधियाँ व्यवहार में आती हैं, वे प्रायः सु बन्धन-प्रणाली के तौर पर ही होती हैं । फलतः प्राचीन युग में व्यवहृत वाली बंधविधि का आधुनिक युग के विधियों के साथ समन्वयात्मक आवश्यक है । सुश्रुत ने सूत्रण-पद्धति के अनुसार 'नामभिरेव तेषामा व्याख्याताः' केवल नाम और स्थान का निर्देश किया है । उनका विशदीकरण आवश्यक है ।

पट्टी बाँधने का कार्य शल्यविद्या में एक बहुत ही आवश्यक अङ्ग है । शस्त्र क्रिया के पश्चात्, प्रतिदिन व्रणोपचारक के पश्चात् , आघात, चोट, रक्तस्राव, अस्थिभग्न और संधिविश्लेष इत्यादि अनेक घटनायें होती र जिनमें विकृत अङ्ग को बंधन द्वारा बांधना आवश्यक होता है । श विभिन्न अङ्गों की रचना भिन्न-भिन्न होने की वजह से एक ही प्रकार का

ी स्थानों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। इसलिये भिन्न-भिन्न अङ्गो और नों के अनुसार भिन्न प्रकार के बंधन लगाने पड़ते हैं। फलतः बंधनों के क प्रकार हैं। सुश्रुत ने मूलतः चौदह प्रकार के बंध विशेष बतलाये हैं :—

१. कोश—सीलिण्ड्रिकल अथवा तलवार के म्यान सदृश बंध। इसका योग अङ्गुष्ठ और अंगुलि में बांधने के लिए होता है। इसी प्रकार का बंधन ों के छेदन के अनन्तर व्रणों को बांधने में होता है। आकृति के अनुसार 'शीथ बैण्डेज' (Sheath bandage) कहते हैं।

२. दाम—पीड़ायुक्त अङ्गों की पीड़ा अथवा पिण्डिकोद्वेष्टन के निवारण के इस बंधन का व्यवहार होता है। कुछ लोग इसका आकार मालासदृश और दूसरे लोग किसी चौपाये के पुच्छ सदृश मानते हैं। फलतः इसका प्रतिनिधि धुनिक बंधों में प्राप्त नहीं होता।

३. स्वस्तिक—यह बंधन अधिकतर संधि कूर्च, मर्म, भ्रूकुटी, स्तनों के च भाग, हस्ततल, पादतल और कान में लगाया जाता है। अंस–संधि के श्लेष में भी इसी बंधन का विधान है। जिस स्थान पर बंधन लगाना हो के नीचे पट्टी बांधना आरम्भ करना चाहिये, एक या दो लपेट लगाकर ट्टी को अङ्ग के एक ओर से संधि के ऊपर होते हुए दूसरी ओर ले जाना हिये। फिर वहां से पट्टी को अङ्ग के पीछे से होकर संधि के ऊपर होते हुए चे की ओर उस स्थान तक ले जाना चाहिये, जहाँ से पट्टी बांधना प्रारम्भ या गया था। इसी भांति कई लपेटों द्वारा संधि को पूरी तरह से ढक देना हिये। व्यवाहारिक दृष्टि से इसका आकार स्वस्तिक अथवा अंग्रेजी के आठ के मान होता और (Cross bandage or Spica) 'क्रास बैण्डेज' या पाइका' बंध कहलाता है[1]।

४. अनुवेल्लित—इस प्रकार का बन्धन शाखाओं में संधियों को छोड़कर न्यत्र लगाया जाता है। वल्ली लता जिस प्रकार नीचे से ऊपर को चढ़ती है सी भांति बन्ध शरीर पर नीचे से ऊपर को लपेटा जाता है। इसका सादृश्य ग्रेजी स्पाइरल बैण्डेज (Spiral bandage) के साथ होता है। इसीका

---

[1] स्वस्तिकाकृति स्वस्तिकं सदूर्ध्वं दक्षिणादेत्याधोवामं याते पुनः परिवृत्याधोदक्षिणार्ध्वं वामम् (इन्दुः)

दूसरा नाम 'इनसरकिलिङ्ग बैण्डेज' (encircling bandage) इसका ऊपयोग, तिर्यक्, गम्भीर और लम्बे व्रणों के बन्धन में होता है।

५. प्रतोली—एक प्रकार का चौड़ा बन्ध है, जिसका उपयोग ग्रीव मेढ्र के व्रणों में होता है।

६ मण्डल—वृत्ताकार गोल बंध। इसका प्रयोग शरीर के गोल पर बंधन कर्म में होता है; जैसे बाहु, उदर, जङ्घा और पीठ में।

७. स्थगिका—अङ्गुष्ठ, अंगुलि और मेढ्राग्र में छोटी कुशा (Sp लगाकर ऊपर से बंधेज लगा दिया जाता है। कोश के साथ इसका है। स्थगिका बन्ध की लम्बाई कुछ छोटी है। स्थगिका बन्ध लट तांबूल करण्ड (पान की डब्बी) के तुल्य आकृति का होता है। कुछ लोग स्थगिका बंध का सादृश्य पान की डब्बी के ढक्कन के साथ इसका आकार वर्त्तमान ठूंठ बंध (Stump Bandag) से मिल सुश्रुत ने चिकित्सा में मूत्र-वृद्धि से जल-विस्रावण के पश्चात् फल-कोष भांति के, बंधन का उपदेश किया है। इस अवस्था में कार्य की दृष्टि से बैण्डेज (Supporter Bandage) की समानता दीखती है।

८. यमक बंध—इस प्रकार के बंधन में एक ही पट्टी के द्वारा अङ्ग पर अवस्थित दो व्रणों को बांधने का विधान है।

९. खट्वा बंध—यह चार पट्टों बना हुआ बंध है-खट्वा को भी कहते हैं। आधुनिक युग में ऐसे बन्ध लगाये जाते हैं; अंग्रेजी में इसे 'फो बैण्डेज' (Four tailed Bandage) कहते हैं। इसका उपयोग हनु और कपोल देश के बंधन में होता है।

१० चीन बंध—इसका कोई विशेष आकार निर्दिष्ट नहीं है स्थान निर्देश है। अपाङ्ग के व्रणों अर्थात् आंख के बंधनो में इसका व्यवहार था। एक पतले, मुलायम, कपड़े की पट्टी से यह बंध लगाया जाता इसकी तुलना वर्त्तमान युग के नेत्रबंध (Bandage of the eye की जाती है।

---

१. स्तोकविस्तीर्णा आयता पट्टिका चीनम्। (इन्दुः)

११ विबंध बंध—यह बंधन उदर, उरःप्रदेश और पृष्ठ में लगाया जाता जब वस्त्र को बार-बार बदलना होता है, तब इसके प्रयोग में सुविधा होती यह बन्ध कई छोटी-छोटी पट्टियों से बनाया जाता है— प्राचीन काल में यह चीरिकायुत:' वनाया जाता था। इन छोटी पट्टियों को बीच में एक बड़े कोर कपड़े के साथ सी दिया जाता है। छोटी पतली पट्टियों की लम्बाई नी होनी चाहिये कि ये उदर पर या छाती पर चारों तरफ डेढ-बार टी जा सकें।

इसके नाम और लगाने के स्थान की दृष्टि से इस बंधन की तुलना आधुनिक जी के 'मेनी टेल्ड बैण्डेज' (Many tailed Bandage) से की ती है।

१२ वितान वन्ध—शामियाना की तरह यह वंध सिर पर फैलाया जाता। सिर की चोट में इस बंधन के लपेटे लगाये जाते है। आज कल इस कार के वंधन में दो पट्टियों की आवश्यकता होती है। दोनों के सिरे आपस सिले रहते हैं—दोनों पट्टियों के पृथक् २ बेलन रहते हैं। पट्टियां क्रमशः दो र तीन इञ्च चौड़ाई की होती हैं। छोटी पट्टी का वेलन दाहिने हाथ में ड़ी का वेलन बायें हाथ में होता है। वैद्य रोगी के पीछे खड़ा होकर रोगी को क तिपाई या कुर्सी पर बैठा कर बंधन का कर्म करता है। पट्टी के पूरी रह से बंध जाने पर आकृति पगडी के सदृश हो जाती है। अंग्रेजी भाषा में स प्रकार के वंधन को शिरोबंध (Capheline bandage) कहते हैं।

१३ गोफणा बंध—यह एक प्रकार का नतोदर बंध है जिसका उपयोग ढ़ी, नासा, ओष्ठ, अंस और बस्ति में बंधन के लिये होता है। गोफणा शब्द अर्थ है- एक प्रकार का साधन विशेष, जिसके द्वारा चिड़ियों से खेत की खवाली की जाती है उसके द्वारा छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े रखकर फेंके जाते हैं। लतः आकृति की दृष्टि से इस बंध का सादृश्य आधुनिक 'स्लिङ्ग बैण्डेज' Sling Bandag) के साथ होता है। आज कल इस प्रकार के बंध अङ्ग ो लटकाने में व्यवहृत होते हैं। जब सारा बाहु अथवा अग्र बाहु को सुरक्षित खना होता है-तो वस्त्र को त्रिकोणाकार करने कन्धे के ऊपर से गले में लटका ते हैं। स्थान और कार्य की दृष्टि से इस पट्टी के बांधने का विचार किया जावे

तो आधुनिक कौपीन बंध (T. Shaped Bandage) से इसकी दीखती है, जिसका उपयोग गुद और वृषण के लिये होता है।

१४ पञ्चाङ्गी बन्ध—इस बन्ध में पाँच पट्ट होते हैं—एक आ तरफ और चार नीचे की तरफ।[1] स्थान की दृष्टि से इसका उपयो (Clavicle) के ऊपर के भागों में होता है। हनुसंधि-विश्लेष की चिकि यथास्थान स्थापन के अनन्तर पञ्चाङ्गी बंध का आदेश है।[2] चरक ने एक का विशेष बंध कवलिका बतलाया है, जिसका प्रयोग कई प्रकार के स अथवा विश्लेष के सुधार के बाद होता रहा। संभवतः यह सुश्रुत का पञ्चा रहा है। आधुनिक युग में इस प्रकार के बंधन का कोई प्रतिनिधि नहीं प्राप्त

वाग्भट में एक अन्य प्रकार के बंध का प्रसङ्ग आता है। इसे बन्ध कहते हैं। वर्णन के अनुसार यह गले से बाहु को लटकाने के लिये जाता है। ऐसी अवस्था में यह एक प्रकार का 'आर्म स्लिङ्ग बैण्डेज' (Sling bandage) ही मालूम होता है।

इस प्रकार सुश्रुत के अनुसार चौदह और वाग्भट के अनुसार एक अर्थात् पंद्रह बन्धनों का वर्णन ग्रंथों में पाया जाता है। इन बन्धनों के अ भी कई प्रकार के बन्धन आजकल प्रचलित हैं। जिनके नाम अधिकतर स अनुसार रखे गये हैं। थोड़े-थोड़ फर्क के साथ विविध हो जाते हैं। उदाहर स्तनबन्ध, गुल्फबन्ध, वंक्षण-सन्धि-बन्ध और शिरोबन्धादि।

व्रणबंध विधिः—प्रसङ्गतः पट्टी के बाधने का साधारण तरीका प्र किया जा रहा है। बन्ध के बांधने के पूर्व पट्टी का एक वेलन बना लेना चा यह कार्य हाथों से या यन्त्र के द्वारा भी हो सकता है। वेलन मजबूत और लिपटा हुआ होना चाहिये। इसके द्वारा शरीर के अङ्ग पर बन्धन सीधा, (विना मोड़ के (अनाविद्ध) और ठीक फैलाकर (असंकुचित) बांधने में ही सुविधा होती है। यदि रोगी के बायें अङ्ग पर बन्ध बांधना हो तो प्राय पट्टी की वेलन वैद्य के दाहिने हाथ और सिरा बायें हाथ में होना चाहिये। रोगी के दाहिने अङ्ग पर बन्ध बांधना हो तो पट्टी का वेलन चिकित्सक के

---

[1] यस्मिन् पट्टे चत्वारो बाहवः एका चोर्ध्वं पट्टिका। (इन्दुः)

[2] हन्वस्थीनि समानीय हनुसंधौ विसंहते।
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पञ्चाङ्गीं वितरेद् भिषक्॥

हाथ में और सिरा दाहिने हाथ में होना चाहिये । (वाम हस्त अथवा दक्षिण हस्त परिक्षेप)। लपेटते समय वेलन को वाम हस्त से दक्षिण हस्त में और दक्षिण हस्त से वाम हस्त में बदलना पड़ता है। पट्टी को सदा अङ्ग के सामने की ओर भीतर से बाहर आना चाहिये और अङ्ग के पीछे की ओर बाहर से भीतर को जाना चाहिये। अर्थात् बंध का वेलन अङ्ग के भीतर की ओर से प्रारम्भ होकर अङ्ग के ऊपर होता हुआ बाहर की ओर और बाहर से अङ्ग के पीछे होता हुआ भीतर की ओर उसके अन्त तक इस प्रकार आता जाता रहता है। सारी प्रक्रिया में वेलन अङ्ग के सम्पर्क में रहता है।

आखिर में पहले सिरे के साथ अन्तिम सिरा को इस प्रकार बांधना चाहिये कि उसकी गांठ सीधे व्रण के ऊपर न पड़े, न उस गांठ से व्रण स्थान को कोई पीड़ा हो । व्रण-स्थान के ठीक ऊपर गांठ बांधने से व्रण को बाधा पहुंचती है। गांठ व्रण के ऊपर की ओर, नीचे या एक पार्श्व में होनी चाहिये ।

आजकल बन्धन को स्थिर करने में 'सेफ्टीपिन' का व्यवहार होता है। इसमें सुविधा होती है, किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती । पट्टी के अन्तिम सिरे को दोहरा करके पिन लगा देते हैं ।

यदि पट्टी को किसी व्रण के ऊपर बांधना हो तो व्रण का शोधन करके व्रण के ऊपर औषध-लिप्त विकेशिका और घनी कवलिका देकर स्थिर करने के लिये ऊपर से पट्टी बाँधी जाती है ।

विकेशिका के लिये (व्रण पर लगानेवाली बत्ती) कल्क अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष अथवा विषम प्रविष्ट या दुर्न्यस्त नहीं होना चाहिये । क्योंकि अतिस्निग्ध बत्ती के होने से व्रण में आर्द्रता बढ़ेगी, रूक्षता से व्रण फटकर रक्तस्राव होने का भय रहेगा और ठीक स्थान पर बत्ती (Gauze) के नहीं रहने से रगड़ का भय रहेगा । जिससे व्रण का रोपण शीघ्र नहीं हो सकेगा ।

व्रणों के स्थान, दोष, काल और आयतन के अनुसार बन्धन बांधने के तीन तरीके हैं ।

सामान्यविधि

गाढ़—जो मांसल भाग हो अथवा जहाँ पीडन की आवश्यकता हो, वहाँ पर गाढा बन्धन होना चाहिये । जैसे नितम्ब, कुक्षि, बाहुमूल, जंघामूल, जाँघ और सिर; इन अङ्गों में गाढा बन्धन होना चाहिये ।

सम— शाखा, मुख, कान, कण्ठ, लिङ्ग, वृषण, पीठ, पार्श्व, और छाती; इन अङ्गों पर न अधिक ढीला न कसा हुआ समान बन्धन चाहिये।

शिथिल—नेत्रों और सन्धियों पर शिथिल बन्धन लगाना चाहिये।

संक्षेप में जिस बन्धन को कसकर बाँधा गया हो, फिर भी व्रण-स्थान पीडा न पैदा करता हो यह गाढ बन्ध है; जो सावकाश यानी ढीला हो शिथिल बन्ध है; और जो न गाढा हो न शिथिल हो, वह सम्बन्ध है। बन्ध सबसे प्रशस्त है और आमतौर इसी का व्यवहार पाया जाता है।

दोषानुसार विधि— इनमें पैत्तिक व्रणों में कई बातों का ध्यान चाहिये। गाढ़ बन्ध के स्थानों पर पित्ताधिक्य हो तो समबन्ध लगावे, स्थान में शिथिल बन्ध और शिथिल के स्थान में अतिशिथिल लगावे, बिल्कुल बन्ध न लगावे। रक्तदुष्ट व्रणों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की करनी चाहिये।

श्लैष्मिक अथवा वातदुष्ट व्रणों के सम्बन्ध में इसके ठीक विपरीत अनुसरण करना चाहिये। अर्थात् शिथिल बन्ध के स्थान पर समबन्ध बंध के स्थान पर गाढ़े बंध से बांधे और गाढ़े बंध के स्थान पर बंधन पट्टी द्वारा बांधे।

कालानुसार विधि—रक्तज और पैत्तिक व्रणों को शरद और ऋतुओं में दिन में दो बार पट्टी को पलट कर बांधे। श्लैष्मिक व्रणों को और बसन्त ऋतुओं में तीसरे दिन बाँधे। इसी प्रकार वातदुष्ट व्रणों की बांधनी चाहिये। इस प्रकार स्थान, दोष एवं काल का विचार करके वैद्य, की विधि में विपर्यय (कुछ अन्तर) कर सकता है।

विपरीत बन्धन के दोष—सम और शिथिल बन्धन के स्थान पर पट्टी बाँधने से वर्ति और औषधि व्यर्थ हो जाती है, व्रण स्थान में सूजन पीड़ा पैदा होती है। गाढ़ एवं समान बन्ध बांधने के स्थान पर शिथिल लगाने से बत्ती और ओषधि गिर जाती है, पट्टी सरक जाती है, जिससे रगड़ होने लगती है। इसी भांति गाढ़ और शिथिल बंध के स्थान पर बंध बाँधने से कुछ भी गुण नहीं होता।

अविपरीत बन्धन के गुण—योग्य बंधन का प्रयोग करने से पीड़ा की ान्ति, रक्त का प्रसादन और व्रणस्थान में मृदुता उत्पन्न होती है।

पट्टी बाँधने के गुण— शल्यतंत्र में बंधन कर्म एक आवश्यक अङ्ग है। तिदिन शस्त्र क्रिया करते समय, व्रणोपचार के बाद, आघात, मोच, रक्तस्राव, स्थि-भग्न एवं सन्धिविश्लेष इत्यादि अनेक घटनायें होती रहती हैं, इनके श्चात् विकृत अङ्ग को वंधन द्वारा बांधने की आवश्यकता होती है। इससे कई भ होते हैं।[1]

१. बंधन के न करने से व्रण मक्षिका और मच्छर के दंश से; तृण, लकड़ी, पत्थर के कण, धूलि आदि के पड़ने से; शीत वायु और गर्मी से पीड़ित हो जाता है। उसमें अनेक प्रकार की पीड़ा उत्पन्न होकर वह दुष्ट हो जाता है। और उसकी लेप आदि की औषधियाँ सूख जाती हैं।

२. यदि शरीर का कोई अङ्ग चूर्णित, मथित, टूटा हुआ, संधिच्युत और स्थानच्युत हो गया हो या हड्डी, स्नायु और सिरा टूट गई हो तो वंध से अच्छे हो जाते है।[2]

३. बंध लगाने से व्रणी मनुष्य शान्ति से सोता है, आराम से चल-फिर सकता है, और बैठ सकता है। सुख पूर्वक सोने बैठने या विश्राम करने से। उसका व्रण भी शीघ्र अच्छा हो जाता है।

४. वंधन के द्वारा व्रण का शोधन होकर व्रण स्थान में मृदुता आ जाती है-- व्रण निःसंग (Without pus pockets) होने से निःशंक रोहण हो

---

[1] ऊर्ध्वं तिर्यगस्ताच्च यन्त्रणा त्रिविधा स्मृता। यथा च बध्यते बन्धस्तथा वक्ष्याम्यशेषतः।
घनां कवलिकां दत्त्वा मृदु चैवापि पट्टकम्। विकेशिकामौषधञ्च नातिस्निग्धं समाचरेत्॥
प्रक्लेदयेदतिस्निग्धा तथा रूक्षा क्षिणोति च। युक्तस्नेहा रोपयति दुर्न्यस्ता वर्त्म घर्षति॥
विषमं च व्रणं कुर्यात् स्तम्भयेत् स्रावदेत्तथा। यथाव्रणं विदित्वा तु योग्यं वैद्यं प्रयोजयेत्॥
देशं दोषञ्च विज्ञाय व्रणञ्च व्रणकोविदः। ऋतूंश्च परिसंख्याय ततो बन्धान्निवेशयेत्॥
(सु. सू. १८)

[2] चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमतिपातितम्। अस्थिस्नायुसिराच्छिन्नमाशुबन्धेन रोहति॥
सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति। सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः॥

जाता है। इस प्रकार पट्टी के द्वारा शोधन और रोपण दोनों कार्य होते रहते हैं—इसीलिये बंधन बाधने का विधान है।[1]

[2]अबन्ध्यव्रण—कुछ ऐसे भी व्रण होते है, जिनमें व्रण के बांधने की यकता नहीं होती है। १——जब व्रण पित्तजन्य, रक्तजन्य, आघातजन्य विषजन्य हो। २—जब व्रण में सूजन, जलन, पाक, सुरखी और तोदादि हो। ३—जब अग्नि और क्षार से व्रण बना हो। ४—जब पकने के कारण से सड़ा हुआ मांस कट कर गिरता हो। ५—कुष्ठियों के व्रण, मधुमेह की पिडिका, मूषिक विष से उत्पन्न कर्णिकायुक्त व्रण, विषयुक्त यदि मांस का पाक हो गया हो, तो बंधन बंध नहीं करना चाहिये। ६— भांति गुदा के पाक में भी बंधन नहीं करना चाहिये।

उदरबंध

चरक ने पट्ट का एक विशिष्ठ उपयोग सद्य;प्रसूता स्त्री के उदरवेष्टन के बतलाया है। 'एक बड़े वस्त्र से उदर पर वेष्टन करना चाहिये, अन्यथा अवकाश प्राप्त कर वायु विगुण होकर विकृति उत्पन्न कर सकती है।'

डा. 'बार्नें' ने लिखा है——'यदि शारीरिक भार का दशमांश हठात् से बाहर निकल जावे, तो उस अवस्था में एक बहुत बड़ी शक्ति का भार कम हो जाता है। अर्थात् तत्रस्थ रक्तवाहिनियों पर का, उदरस्थ और गुहास्थित अङ्गों का भार हठात् कम हो जाता है। भीतरी श्रोणिगुहा में काश उत्पन्न होकर रक्त संवहन क्रिया को विकृत कर देता है। ऐसी यदि कोई बंधन से पूरी उदरगुहा को कस कर रखे, तो भार या पीड़न को

---

१. यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणो यापि च मार्दवम्।
रोहत्यपि च निःशंकः (निःसंगः) तस्माद् बन्धो विधीयते ॥ (सु०
सुखमेवं व्रणो शेते सुखं गच्छति तिष्ठति।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः ॥

२. कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिडका-मधुमेहिनाम्।
कर्णिकाश्चोन्दुरुविषे विषजुष्टाश्च ये व्रणाः ॥
मांसपाके न बद्धयन्ते गुदपाके च दारुणे।
स्वबुद्धया चापि विभजेत् कृत्याकृत्यांश्च बुद्धिमान् ॥ (सु० सू० १८)

लता बनाये रख सकता है। साथ ही गर्भाशय पर पीड़न होने से गर्भाशय को कुचित होने के लिये लगातार मन्द उत्तेजन भी मिलता-रहता है। रुग्णा को इससे सुख का अनुभव होता है।'

फलतः आधुनिक प्रसूति-तन्त्र में, जिसमें निर्जीवाणुकरण की इतनी महत्ता जाती है—इस प्रकार का उदरवेष्टन बहुत ही प्रशस्त है। इसके द्वारा र्भाशय और योनि की दीवाल सम्पर्क में रहती है, जिससे द्रव, रक्त के थक्के थवा वायु का अवरोध नहीं होने पाता।

स्कंधावार (Field Hospital)

पट्ट का एक और उपयोग युद्ध में छोटे-छोटे टेण्ट्स लगाने में होता रहा। न कनातों में घायल रोगियों को रख कर इलाज का इन्तजाम किया जाता था। द्ध क्षेत्र में राजगृह के आसन्न वैद्य का भी कनात रहता था।[1]

वाष्पस्नान् कराने में भी छोटी अनातों में रोगी को रखने का विधान है।

चर्म की पट्टी

चर्म का उपयोग बंधन के लिये होता था। सुश्रुत ने ऊर्ध्व या अधः शाखा किसी तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा तिर्यक् कट जाने पर, उसका यथास्थान स्थापन रके सीवन के बाद, विकेशिका, कवलिका रख कर तैल से सिंचन करने के श्चात् ऊपर से चर्मनिर्मित गोफणा बंध का विधान किया है।

गोफणाकृति चर्म का बंध गुदभ्रंश में बतलाया है। 'गुदभ्रंश के रोगियों को हर निकले हुए भाग का स्नेहन और स्वेदन करने के बन्द अन्दर प्रविष्ट कर पर से गोफणाबंध करना चाहिये। इसके मध्य में वायु-निर्गमन के लिये एक द्र भी होना चाहिये।' आधुनिक युग में भी शल्यकर्ता आन्त्र का बहिर्गमन कने के लिये कवलिका देकर कौपीन बन्ध बांध देता है।

अन्यान्य वैद्यक ग्रन्थों में भी चर्म का यह प्रयोग उपलब्ध होता है।

स्कंधावारे च महति राजगेहादनन्तरम्। भवेद् सन्निहितो वैद्यः सर्वोपकरणान्वितः॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम्। उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यमयार्दिताः॥

चर्म-रज्जु या अरिष्टा (Ligature)

सर्पदंश की चिकित्सा में दंशस्थान के ऊपर विषसंचार रोकने के चर्मरज्जु के द्वारा बन्धन किया जाता था। चर्म के अभाव में अन्त लता अथवा सन की रस्सी से काम चलाया जाता था।

यन्त्र-शाकट(Lithotomy strap or Binding apparatu

अर्श, अश्मरी, शिरा-व्यधादि शस्त्रकर्मों में रोगी को कस कर लिये, जानु और कूर्पर को संकुचित करके रखने के लिये चर्म का उपयो था। इसी को यन्त्र-शाकट कहा करते थे। इसका उद्देश्य रोगी को (अस्पंदशरीर) करके शस्त्र कर्म का सुविधानुसार करना था।

वाग्भट में इस कार्य में चर्म के स्थान पर कपड़े (पट्ट) का उपयोग विधान मिलता है।[1]

ग्रीक सर्जन्स भी अपने शस्त्र–कर्मों में रोगी के यन्त्रण के लिये रज्जुओं के द्वारा सकुञ्चित जानु-कूर्परावस्था (Lithotomy positio रखकर हाथ और पैरों को स्थिर कर के शल्यकर्म किया करते थे।

आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में भी अर्श–भंगदरादि गुद–समीपवर्ती औ शय तथा स्त्रियों में प्रजनन अवयवों के शस्त्रकर्म के समय पाँव को निश्च के लिये चर्मपट्टों (Lithotomy straps) का व्यवहार होता है।

पाश—एक अन्य प्रकार का यन्त्र-शाकट है। इसका उपयोग रोगियों में होता है, इसका उद्देश्य उन्माद के रोगियों का त्रासन हो उल्लेख है—'भयङ्कर आकार के पुरुषों, हाथियों, तेज दांत वाले जान निर्विष सर्पों के द्वारा अथवा पाश के बन्धन द्वारा या कोड़े से रोगी को

उदरबन्ध— जलोदर में जल-विस्रावण के अनन्तर भार बनाये लिये चर्म के द्वारा उदरावेष्टन का विधान मिलना है।

चर्मकोष— बस्तिकोष (Bag) का वर्णन ऊपर हो चुका है। निर्माण में चर्म का ही व्यवहार होता रहा।

शिरोबस्ति— शिरोरोग में इस प्रकार की बस्ति का विधान शमन के लिये किया गया है। बारह अङ्गुल विस्तार की टोपी जैसे

---

१. मृदुपट्टान्तके शान्तो जानुस्थापितकूर्परः। (अ. हृ. १, २७)

छिद्र वाली बनाई जाती थी, शिर में बांध कर सन्धिस्थलों को माष के ल्क से बन्द करके तैल से वस्ति को भर कर तब तक रखते रहे, जब तक नासा, मुख और नेत्र से स्राव न होने लगे और वेदना की शान्ति न जावे।[1]

चक्रदत्त ने भी शिरोरोग–चिकित्सा में ऐसी शिरोवस्ति बनाने की विधि हैं। योगरत्नाकर ने सोलह अंगुल ऊँचाई की वस्तिनिर्माण की विधि ताई है। वाग्भट ने गाय अथवा भैंस के चर्म के उपयोग का विधान किया है।

चर्म-पट्ट—शिरावेध करते समय, शिरा को स्पष्ट करने के लिये व्यधथान के ऊपर एक बन्धन बांधना पड़ता था। यह बन्धन अधिकतर चर्म का ही ता था। चर्म के अतिरिक्त यह कर्म वस्त्र–पट्ट, लता सन की बनी रज्जु थवा वृक्ष के अन्तर्वल्कल के द्वारा भी हो सकता था। यह बन्धन नाधिक गाढ ौर नाधिक शिथिल रहता था।

ग्रीक सर्जन्स भी इसी प्रकार का बन्ध शिरावेध करते हुए प्रयोग में लाते। उनके बन्ध की चौड़ाई दो अंगुल की होती रही, बाहु से रक्तविस्रावण करना हो तो उसका कूर्परसन्धि पर, पाद से अथवा गुल्फ से विस्रावण करते समय जानुसन्धि पर करना होता था।

चर्म के बने बोतल, जार और मसक—बोतल और जार के निर्माण भी चमड़े का व्यवहार होता रहा। मधु, सोमरस और दधि रखने के लिये चमड़े के बने मसक का वर्णन ऋग्वेद में भी मिलता है, ऐसे पात्र की ति संज्ञा थी[2]। मनुस्मृति में अन्य विषयों की चर्चा के प्रसङ्ग में कई बार दृति शब्द मिलता है, यदि सभी इन्द्रियों के संयम के रहवे एक इन्द्रिय भी क्षरित

---

[1] शिरोबस्तिश्चमर्णः स्याद् द्विमुखो द्वादशाङ्गुलः।
शिरःप्रमाणं तं बद्ध्वा मस्तके माषपिष्टकैः
सन्धिरोधं विधायाद्यौ स्नेहैः कोष्णैः प्रपूरयेत्।
तावद्धार्यस्तु यावत्स्यान्नासानेत्रमुखस्रुति ॥
वेदनोपशनो वापि मात्राणां वा सहस्रकम्। (शा० ३–११)

[2] यो ह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्मणे, ततः पिबतमश्विना ।(ऋ० मं० ८ सू० ५)
उच्छिष्टं चम्बोर्भरं सोमं पवित्र आसृज। निधेहि गोरधि त्वचि। (१ मं० २८ सू०)

या भ्रष्ट हो जायँ तो आत्मज्ञान या प्रज्ञा का क्षरण संभव है, जिस प्रकार
भरी हुई दृति का एक छेद भी पूरे पात्र को रिक्त कर देता है[1]।'

डा० मित्र ने लिखा कि 'अन्यान्य स्मृतियों का चमड़े की बनी बोत
तैल अथवा तैलीय द्रव्य रखने का आदेश है और वह अपवित्र चर्म के सम्प
वजह से अपवित्र भी नहीं माना गया है। आज भी भारतवर्ष में कई प्रा
विशेषत: बंगाल और पश्चिमोत्तर प्रान्तों में ऐसी बोतलों का व्यवहार घी
तेलों के रखने में होता है। चमड़े के बने जलपात्रों (मोट) का कुएँ से
खींचने का व्यवहार बहुत पाया जाता है, शंख और लिखित के उल्ले
अनुसार पुराने चर्म के पात्र में रखा जलशुद्ध माना गया है[2]।

अपवित्र मानने के कारण यद्यपि चमड़े का वेशभूषा में पादत्राण के
रिक्त कोई भी उपयोग नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी बौद्धधर्म में श्रमणों के
आठ आवश्यक पवित्र वस्तुओं मे से एक चर्मनिर्मित 'बेल्ट' माना जाता
उसी प्रकार मनुसंहिता में ब्रह्मचारी के लिए अजिन या मृगचर्म का धारण प्र
माना गया है[3]।

अन्तर्वल्कल

कुशा—(Splints) वृक्षो के छाल का प्रयोग अस्थिभग्न की चिकित्स
कुशा बनाने में होता रहा। जंघा और पाद के भग्न में घृत से अभ्यङ्ग एवं
का यथास्थान स्थापन करके वृक्ष के अन्तर्वल्कल से कुशा जैसे लपेट कर
वस्त्र के द्वारा पट्टी बाँधने का निर्देश है।

ग्रीवासन्धि के विश्लेष में सुश्रुत ने वट के अंतर्वल्कल अथवा बाँ
खपची के द्वारा कुशा बना कर विश्लेष को यथास्थान रख कर ग्रीवा को
सप्ताह तक सीधी करके रखने की विधि बतलायी है। वर्त्तमान काल में
का ससपेन्सन एपैरैटस' अथवा 'जूरी मास्ट' इसी उद्देश्य का साधक है।

---

१. इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्। :
ततोऽस्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥ (मनु० २,९९)

२. आपो रूपवदगन्धवत्यपरिशुद्धजीर्णकरण्डकैरभ्युद्धृताः॥
चर्मकरण्डः चर्मपुटः। (शंखक एवं लिखित)

३. कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्म्माणि ब्रह्मचारिणः। वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमयाविकानि

कुशा के उपयोग में कई वृक्षों के वल्कल आते थे। जैसे—मधूक (महुआ), दुम्बर, अश्वत्थ, पलाश, ककुभ (अर्जुन), बाँस, सर्ज और वट। भावमिश्र इस सूची में कदम्ब और निचुल को जोड़ दिया है। कुशायें चौड़ी, पतली, वच्छ और श्लक्ष्ण बननी चाहिये। (वाग्भट)

लता[1]

सुश्रुत ने लता का प्रयोग अधिकतर बंधन कर्म में रज्जु के स्थान पर बतलाया है। सर्पविष में साध्यासाध्यता के परिज्ञान के लिये विष-युक्त रोगी पर ता से आघात करने को बतलाया है जिन रोगियों में लता की धारियाँ (राजि) हीं बनती अथवा शस्त्र से काटने और शीतल जल का परिषेक करने पर तिक्रिया नहीं होती उन्हें असाध्य समझना चाहिये।

वस्त्र

रज्जुवेणिका और चर्म का उपयोग जिन कर्मों में होता है, उन कर्मों के लिये स्त्र का भी उपयोग होता है।

अष्ठीलाश्म (Stone or Pebble)

एक विशेष प्रकार का लम्बा और गोल (दीर्घवर्त्तुलपाषाणः) पत्थर था, जसका अस्थि में प्रविष्ट हुए, अटके हुए बाणों को निकालने में उपयोग होता था। चरक ने अश्म संघटन की एक विधि मृत–प्रसूत शिशु के लिये बतलाई । उसके कान के समीप में पत्थर के टुकड़ों को बजाना चाहिये अथवा शीत और उष्ण जल से परिषेक करना चाहिये। ग्रीवा की शिराओं का वेध करते मय वाग्भट ने रोगी के दोनों हाथों में जोर से पत्थर पकड़ने की क्रिया तलाई है।[2] इस क्रिया से ग्रीवा की शिरायें शीघ्रता से व्यक्त हो जाती हैं।

पादतल या हस्ततल के भग्न में संधान हो जाने पर जब हाथ में कुछ बल ने लगे तो पाषाण धारण करना चाहिये।[3]

---

१. शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमस्ति राज्यो लताभिश्च न सम्भवन्ति।
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम्॥ (सु० ५)

२, पाषाणगर्भहस्तस्य जानुस्थे प्रसृते भुजे। कुक्षेरारभ्य मृदिते विध्येत॥ (अ. हृ.१,२७)

३. हस्ते जातबले चापि कुर्यात्पाषारणम्।

प्राचीन काल में मणियों का धारण प्रशस्त माना जाता था, राजा धारण करते रहे । इसका उद्देश्य सौन्दर्य के अलावे विषघ्न भी होता है। विषघ्न पत्थरों का प्रयोग चिकित्सा में पर्याप्त होता है ।

मुद्गर (Hammer)

इसका भी प्रयोग अष्ठीलाश्म की भाँति अस्थिविदष्ट बाणों के होता था । ठोक ठोक कर शल्य को ढीलाकर शल्य–निर्घातनी शलाका अन्य किसी संदंश से पकड़ कर खींच लिया जाता था ।

पाणि-पादतल

हाथ सर्वयन्त्रों में प्रधान है, यह पहले ही बतलाया जा चुका है। हस्त और पाद को उपयंत्रों में गिनाया जाने का अर्थ है—यंत्रों के व्यवहृत होने वाले अङ्ग । 'लाङ्ग मोर' नामक सर्जन ने लिखा है गोलो से बने जख्म अथवा भीतर प्रविष्ट विजातीय द्रव्य के अन्वेषण और में सर्जन की उंगली सबसे उत्तम साधन है जब कि व्रण का आयतन बड़ा हो कि उसमें अंगुली प्रवेश पा सके ।'

शल्य–चिकित्सा में हाथ और पैर के तलवे और अंगुलियों के अनेक आते हैं, जिसमें कुछ का परिगणन कराया जा रहा है—

१. विम्लापन के लिये—व्रणशोफ अथवा श्लैष्मिक ग्रन्थि की अंगुष्ठ के द्वारा, हस्ततल या पादतल के जरिये अथवा बाँस की के सहारे मर्दन करना चाहिये । इस कर्म में हस्ततल की प्रशस्तता है।

२. ग्रास–शल्य में —कंठ में अटकने पर रोगी के कंधे पर मुट्ठी निःशङ्क होकर अभिघात करना चाहिये। तत्पश्चात् स्नेह, मद्य अथवा को देना चाहिये ।

३. अधो हन्वस्थि के विश्लेष की चिकित्सा में–हस्ततल का प्रयोग गया है । चरक ने ठीक उसी विधि का प्रतिपादन किया है, जिसका सर्जन्स व्यवहार में लाते हैं ।

'हनुसंधिविश्लेष में यदि मुख खुल गया हो तो स्वेदन के पश्चात् अंगूठों के सहारे हनु को नीचे दबाकर प्रदेशिनी अंगुली के द्वारा हनु देना चाहिये ।'

४. नवजात शिशु में ओष्ठ, तालु, कण्ठ और जिह्वा के प्रमार्जन के लिये व अच्छी तरह कटे हुए नखवाली अंगुलि का ही निर्देश पाया जाता है। इसमें धिकतर प्रदेशिनी अंगुलि का इस्तेमाल होता है, साफ करने के लिये कार्पास-चु का भी योग साथ में करना पड़ता है।

५. सुश्रुत ने रोगी के निदान के लिये षद् प्रकार के साधनों को बतलाया । पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा और प्रश्न के द्वारा ! इसमें स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा शैल्य ा उष्णत्व, श्लक्ष्णता या कर्कशता, मृदुता या कठिनता, ज्वर और शोफ आदि ोगों का ज्ञान होता है। स्पर्शनेन्द्रियों में हस्ततल और पादतल का ही प्रयोग ोता है।

६. पादतल का एक अन्य उपयोग हड्डी में प्रविष्ट हुए शल्य को निकालते समय अस्थि पर दबाव देने में होता था। (अवगृह्य पादाभ्याम् ।)

जिह्वा

इसका उपयोग रोगी की परीक्षा में होता है। प्रमेहादि रोगों में रसनेन्द्रिय (जिह्वा) से जाना जाने लायक विशेष रस है (सु०) परन्तु जिह्वा का प्रयोग प्रत्यक्ष नहीं करना होता, बल्कि अनुमान में द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। नेत्र-गत शल्य को जीभ से निकाला जा सकता है।

दन्त (हस्तिदन्त)

इसका उपयोग अर्शो यंत्र और अंगुलित्राणकादि यंत्रों के बनाने में होता था। इसके अतरिक्त व्रण वस्तु (Scar) पर रोम उत्पन्न करने में होता था।[1]

नख

इसका समावेश अनुशस्त्रों में भी किया गया है। अदृष्ट शल्यों के आहरण में नख का उपयोग सर्वदा होता है, इसी लिए उपयंत्रों में भी इसकी परिगणना की गई है। आधुनिक युग में शल्यक्रिया के समय त्वचा के भिन्न भिन्न पर्तों को स्वतंत्र करने में इसका उपयोग होता है।

---

१. हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसाञ्जनम् । लोमान्येतेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि । (सु. चि. १.)

मुख

मुख का उपयोग मुख्यतया आचूषण में होता है। आरा अथवा पाषि द्वारा मज्जागत विद्रधि में अस्थि में छेद करके नाडी को प्रवेश कराके वा चूषण मुख द्वारा करने का विधान है। शृङ्ग के द्वारा रक्त के आचूषण की पहले लिखी गई है, उसमें भी मुख की आवश्यकता पड़ती है। सर्प- चूषण का विशिष्ट विधान वतलाया गया है। आज कल चूषणकार्य के लि के स्थान पर चूषक गेंद (Suction Ball) का उपयोग होता है।

बाल

घोड़े अथवा मनुष्यों के केश। घोड़े के बाल का प्रयोग अर्श के बंधन और व्रण सीने के लिये (Ligature and sutures) व्यवहृत था। अर्म को ऊपर उठाने में भी केश का प्रयोग होता रहा।

शिर के शल्य की चिकित्सा में घोड़े के बालों की व्रणों के लिये वर्ति जाती थी। कपाल देश से विद्ध बाणों को निकाल कर जो व्रण बन जा उनके द्वारा मस्तिष्क में से किसी भाग का बहिर्निर्गमन न हो जावे, अस्तु की एक वर्ति व्रणों में भर दी जाती थी। फिर जैसे-जैसे व्रण भरता जाता वैसे-वैसे एक-एक करके बालों को साफ कर दिया जाता था।[1]

कंठस्थ अस्थि शल्य अथवा मछली की अस्थि को निकालने में केशो का प्रयोग देख चुके हैं।

आज भी सीवन द्रव्यों में वाहर के सीवनों में घोड़े के केशों का प्रयोग है और कण्ठासक्त शल्यों के निकालने में विशेषत: छोटी और तेज वि द्रव्यों के निकालने में (मछली की हड्डीं अथवा पिन्स) केशों के बने यंत्र के (Probang) का उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त सद्य: प्रसूता स्त्रियों में के पातन में केशवेष्टित अंगुलि के द्वारा कंठ-प्रमार्जन का भी विधान है।[2]

---

[1] कार्या शल्याहिते विद्धे भङ्गाद्विदलिते क्रिया। शिरसोऽपहृते शल्ये वालवर्त्तिं प्रवेश
मस्तुलुङ्गस्रुते क्रुद्धे हन्यादेतं चलोऽन्यथा। व्रणे रोहति चैकैकं शनैरपनयेत् कच
मस्तुलुङ्गस्रुतौ खादेन्मस्तिष्कानन्यजीवशाम्। (अ० हृ० ६, २६)

[2] केशवेष्टितया अङ्गुल्या प्रमृजेत्।
सुबद्धं वक्रकटके बध्नीयात् सुसमाहितः। (यो. र.)

अश्वकटक

अश्वकटक का अर्थ घोड़े के लगाम की अंगूठी। अस्थि में प्रविष्ट हुए णों के निर्हरण में इसका उपयोग होता रहा। अंगूठी से बाण के सिर का दृढ़ न करके, घोड़े को पंचाङ्गीबंद में संयत करके रखा जाता था पुनः घोड़े को ड़े से प्रहार करने पर झटके से वह सिर को ऊपर उठाता था और वेग के रण शल्य बाहर निकल जाता था।

शाखा

शाखा का भी उपयोग उपर्युक्त कार्य में ही होता था। किसी वृक्ष की जबूत शाखा को बलपूर्वक नीचे झुका कर शल्याग्र भाग उससे भली भाँति धकर सहसा शाखा को छोड़ देने से शाखा के ऊपर उठने के साथ-साथ शल्य भी निर्हरण हो जाता था।[1]

ष्ठीवन

मुखश्लेष्मा और लाला आदि के निरसन के द्वारा मुख, गले, मसूड़े आदि ों के शल्य सुविधापूर्वक निकल जाते हैं।

प्रवाहण

वात, मूत्र, पुरीष और गर्भ के अवरोध में प्रवाहण क्रिया नामक उपयंत्र का ोग होता है। प्रवाहण का अर्थ है कुंथन। वमन, विरेचन और अश्रुप्रवर्त्तदि के द्वारा आमाशय, आंत्र और नेत्र के विजातीय पदार्थों का निर्हरण भी ाहण के ही अन्तर्निविष्ट हैं। छींक, डकार, खाँसी, मूत्र और मल के स्वाविक वेग के द्वारा शल्य का निर्गमन संभव है।'

हर्षण

सुश्रुत ने अनेक कारणोत्पन्न शोक को हृदयवस्थित शल्य माना है, जिसका र्हरण हर्षण के द्वारा होता है। फलतः हर्षण भी एक उपयन्त्र है। रोगी की

---

१. सुसंयतस्य पञ्चाङ्ग्या वाजिनः कशयाऽथ तम् ॥
ताडयेदिति मूर्धानं वेगेनोन्नमयन् यथा ।
उद्धरेच्छल्यमेवं वा शाखायां कल्पयेत्तरोः ॥ (अ० हृ० १, २८)

चित्तवृत्ति प्रसन्न और हर्षित होने से शस्त्रक्रिया में सुविधा होती है तथा क्रिया के हो जाने के पश्चात् व्रण का रोपण जल्दी हो जाता है, रोगी भी से आरोग्य लाभ करता है। वाग्भट ने हर्ष के साथ २ भय का भी किया है। 'भय और हर्ष सहसा भाषान्तर उत्पादन करने से उपयन्त्र क करते हैं[1]।' भीति से पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं। जिससे शस्त्रकर्म क शल्य निकालने अथवा संधि-विश्लेष और भग्न की चिकित्सा में सुविध है। इन कार्यों में भीति तथा हर्षण का प्रयोग आज भी एक उत्तम साध और हिक्का में तो त्रास देना चिकित्सा का सूत्र है।

अयस्कान्त

अयस्कान्तका अर्थ है—चुम्बक (Magnet)। अंग्रेजी में इसे लोह (Load Stone) कहते है। इसमें लोहे के आकर्षक की शक्ति हों इसलिए इसका उपयोग लौह–शल्य निकालने में होता है।

अति प्राचीन काल से चुम्बक का ज्ञान भारतीयों को रहा[2] इसका उपयोग नेत्र या दाँत में पड़े हुए छोटे २ लौहशल्यों को निका करते रहे। 'सुश्रुत ने 'चौड़े मुख के व्रण में प्रविष्ट, हुए अनवबद्ध एवं वि वाले बाणों को अनुलोम मार्ग से' निकालने का भी विधान दिया है।[3]

आज कल भी के लौह के बने बिजातीय पदार्थों के शरीर में प्र जाने पर उनके निर्हरण के लिए कृत्रिम अयस्कान्त अथवा विद्युत (Electromegnet) का व्यवहार होता है।

क्षार और अग्नि

इनका ग्रहण अनुशस्त्रों में किया गया है। स्वतन्त्र अध्यायों में इनका आगे किया जावेगा। क्षार एवं अग्नि के द्वारा मासाङ्कुरों का आहरण जाता है। अस्तु उपयंत्रों में इन द्रव्यों का ग्रहण किया गया है।

---

[1] भयहर्षौ सहसा भावान्तरमुत्पादयन्तौ यन्त्रकार्यं कुरुतः।
(वाग्भटार्थकौमुदी १, २

[2] अनुलोमनमनवबद्धकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन। (सु. सू. २७)

[3] मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणकम्। (वैशेषिक दर्शन ५. आ. १२)
सूचीशब्देन लौहमात्रं तृणञ्चोपलभ्यते। तथा चायस्कान्ताभिमुखम्।

भेषज

भेषज शब्द से इस वर्ग के भीतर ऐसी ओषधियों का समावेश होता है, नका प्रयोग शल्य–सम्बन्धी रोगों में होता है और विना यंत्र एवं शस्त्र की हायता लिये ये कार्य वही करती है, जो शस्त्र के द्वारा होवा है। उदाहरणार्थ वद्रधि में क्षरण का कार्य शस्त्र के द्वारा होना चाहिये; परन्तु कुछ ऐसी क्षारक ौषधियाँ हैं, जिनका बाह्य प्रयोग यदि विद्रधि पर किया जावे तो विदारण का ार्य हो जाता है।

व्रण शोफ की अवस्था से आरम्भ करके व्रण की अवस्था तक बहु विध षज के प्रयोग है। उन सबों का ग्रहण उपयन्त्र रूप में हो जाता है।

१. शामक—शोफ की अवस्था में पीड़ा और भाराधिक्य के शमन के लिये शोफशामक।

२. पाचक—उष्णोपनाह पूयोत्पादक। (Poultice)

३. दारक—विद्रधि को विदारित करने के लिये औषधि का उपयोग।

४. पीडन—पिच्छिल द्रव्यों की त्वचा और मूल का प्रयोग करने से व्रण का पीडन हो पूयादि का स्राव भली भाँति हो जाता है।

५. शोधक कषाय—औषधियों का क्वाथ प्रक्षालन और व्रण के शोधन के लिये (Antiseptic)

६. वर्त्ती कल्क—विभिन्न औषधियों का कल्क बनाकर व्रण के गर्त में वर्ती रूप में दे कर शोधन की विधि। (Antiseptic)

७ शोधन तैल
८. शोधन घृत
९. रसक्रिया
१० अवचूर्णन

संशोधन के लिये पूर्वोक्त निर्दिष्ट क्वाथ और कल्क में तैल का प्रयोग करके व्रण की दशा सुधारी जाती है।

११. व्रणधूपन—भेषज योग से व्रणों का धूपन निर्जीवाणु–करण के लिये अथवा कृमियोंको नष्ट करने के लिये होता है। (pastilz)

१२. रोपण—लेप, आलेप, चूर्ण, द्रव, घृत, तैल, रूप में कई औषधियों का प्रयोग व्रणाङ्कुरों की दशा स्वस्थ (Granulation) करने के लिये होता है।

१३. लेखन—अथवा उत्सादन द्रव्य—यदि व्रण में मांसाङ्कुर निक अथवा कर्णिकायुक्त व्रण हो जावे तो कई औषधियों के योग से लेखन कड़ हो जाता है। कर्णिका क्रमशः कट कर नष्ट हो जाती है। इस कार्य में क होने वाले औषधियाँ उत्सादन द्रव्य के नाम से अभिहित है।

इन औषधियों को सूची निम्न लिखित विधि से ग्रन्थों में दी गई है।

१. व्रणशोफ शामक— बिजौरा, अरणी, देवदारु, सोंठ, हिंस्रा, र इनका लेप वातिक शोफ में। दूर्वा, नरसल की जड़, मुलेठी, रक्त चंदन शीतल गण की (काकोल्यादि और उत्पलादि) औषधियां पैत्तिक शो आगन्तुज और रक्तज व्रणशोफ में पित्तवत्, विषजन्य शोफ में विषघ्न पित्तघ्न विधि हितकर होती है।

वन अजवायन, असगन्ध, मंजिष्ठा, अरुणा, त्रिवृत्, श्वेत त्रिवृत्, कर्क का लेप श्लैष्मिक शोफ में। इन तीन (वातघ्न, पित्तघ्न और कफघ्न) व तथा सौंफ हरड़, मैनफल, सारिवा इनका लेप सान्निपातिक शोफ का होता है।

वातिक शोफ में किञ्चित् स्नेह, अम्ल और लवण का संयोग करें करना चाहिये, पैत्तिक शोफ में दूध के साथ मिश्रण बनाकर और श्लैष्मिक में क्षार और गो-मूत्र मिलाकर लेप करना चाहिये।

२. सन, मूली और सहिजन के बीज, तिल, सरसों, सत्तू, सुराबीज, तथा अन्य उष्ण द्रव्यों का कोष्णोपनाह पाचक होता है।

३. बड़ा करञ्ज, भल्लातक, चित्रक, दन्ती, कनेर तथा कपोत, गृध्र कंक की विष्ठा व्रणशोथ का क्षरण करती है। अथवा क्षार द्रव्यों (कुटज-पला का प्रयोग भी क्षरण में समर्थ होता है।

ग्रन्थि और विद्रधि (फोड़े) के दारण (फाड़ने) के लिये चरक ने चिकित्सा में कई भेषज बतलाये हैं। जैसे—दन्ती, चित्रकमूल, सेंहुड़ का मदार का दूध, गुड़, भल्लातक की गुठली और कासीस का लेप शिला (पत्थ को भी फाड़ सकता है।[1] तो फिर कफ से उत्पन्न त्वचा पर स्थित गरीब फाड़ने में क्या रक्खा है।

---

[1] दन्ती चित्रकमूलत्वक् सुधार्करसो गुडः।
भल्लातकास्थिकासीसलेपो भिन्द्याच्छिलामपि।

४. पिच्छिल द्रव्यों की छाल या जड़ तथा जौ, गेहूँ, और उड़द इनके चूर्ण डन करने वाले होते हैं। व्रणशोफ के फटने के पश्चात् अन्तर्गत पूय को बाहर कलने के लिए इन द्रव्यों को पीस कर मुख के अतिरिक्त पूरे शोफस्थान पर किया जाता है। लेप के सूखने के पश्चात् जो खिचाव उत्पन्न होता है, उससे निकल आती है।

५. शंखिनी, अंकोठ, मालती, कनेर, सूर्यमुखी, और आरग्वधादिगण की षधियां, इनके कषाय व्रणशोधक होते हैं।

६. धोने के पश्चात् इन निम्नलिखित औषधियों की तर्ति (Gawze) व्रणो भीतर में डाली जाती है। अजगन्धा 'कर्कटश्रृङ्गी इन्द्रवारुणी, लाङ्गली बड़ा वज, चित्रक, पाठा, विडङ्ग, बड़ी इलायची, रेणुका, त्रिकटु, यवक्षार, सैन्धवादि चलवण, मैनसिल, कासीस, त्रिवृत्, दन्ती।

७. हरताल फिटकिरी

उपर्युक्त औषधियों के कल्क के द्वारा भी शोधन करने की विधि है।

८. ९. शोधक तैल और घृत

(१) कासीस, कुटकी, चमेली की जड़ और हल्दी इनके क्वाथ या कल्क में अथवा तैल का पाक करके शोधन में व्यवहार करना चाहिये।

(२) संशोधन के लिये पूर्वोक्त और निर्दिष्ट कल्क और क्वाथ में 'कल्क से तुर्गुण स्नेह और स्नेह से चतुर्गुण ,क्वाथ की' विधि से स्नेह बनाकर प्रयोग रना चाहिये।[1]

(३) आक की जड़, त्रिफला, स्नुही क्षीर, मुष्क, पलाश,-अश्वकर्णादि का क्षार ती-मूल, हल्दी, दारुहल्दी, कासीस, कुटकी आदि से सिद्ध घृत का प्रयोग ों में शोधन के लिये है।

(४) अपामार्ग, कोषातकी, निम्बतिल, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, हड़ताल र मैनसिल आदि से सिद्ध घृत का भी प्रयोग शोधक है।

बहिर्मार्गस्थितं ग्रन्थिं किं पुनः कफसंभवम्।
दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिं भिन्द्याद्वा भेषजैरिमैः॥ (च. चि. २३)

[1] कल्काच्चतुर्गुणः स्नेहः स्नेहात् क्वाथश्चतुर्गुणः।

१०. कासीस, सैन्धव, सुराबीज, वच, हल्दी दारुहल्दी तथा अन्य द्रव्यों का चूर्ण, अवधूलन के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

११. सालसारादिगण के द्रव्य, पटोल, त्रिफला आदि द्रव्यों का या षोडशगुण जल डालकर उसका अष्टमांश अथवा षोडशांश क्वाथ बनाया है। तत्पश्चात् फिर उसे चाशनी की भाँति गाढ़ा बनाया जाता है। इसे कहते हैं। इन का प्रयोग भी व्रणों के शोधन में होता है।

१२. श्रीवेष्टक, राल सरल पेड़ की त्वचा, देवदारु और साल-सारादि से व्रणों में धूपन का कार्य होता है।

१३. अनुष्णवीर्य और कषायवृक्षों की छाल से साधित क्वाथ व्रणों के के लिये प्रशस्त है। सोम, गिलोय और काकोल्यादि गण के द्रव्य और वृक्षों के अंकुर इनके कल्क से लिप्तवर्ति व्रणों के रोपण में प्रशस्त है। कार्य में कल्क रूप में लज्जालु सोमलता, सरल, श्वेत खदिर, रक्त चन्द काकोल्यादि गण के द्रव्य व्यवहृत होते हैं।

इसी प्रकार रोपण घृत बनाने में पृश्निपर्णी, केंवाछ बीज, हल्दी और हल्दी, जाती, मिश्री और काकोल्यादि गण के द्रव्य व्यवहृत होते हैं। अगरु, हल्दी, दारुहल्दी देवदारु और प्रियंगु तथा लोध्र का उपयोग तैल सिद्ध करने में होता है।

कङ्गुधान्य, त्रिफला, लोध्र कासीस, गोरखमुण्डी, धव, राल, इन रोपण के लिये प्रयुक्त होता है। प्रियंगु, राल, पुष्प-कासीश तथा धव छाल का चूर्ण भी इसी कार्य में व्यवहृत होता है।

न्यग्रोधादिवर्ग के द्रव्यों की छाल और त्रिफला से रसक्रिया करके में व्यवहृत होता है।

अपामार्ग, असगन्ध तालपत्री, सुवर्चला तथा काकोल्यादि औषधियां मांसाङ्कुरों के वर्धन के लिये (व्रण में) प्रशस्त हैं।

१४. अतिवृद्ध मांसाङ्कुरों के लेखन के लिये उत्सादन द्रव्यों का प्रयो है। इस कार्य के लिये कासीस, सेंधानमक, सुराबीज, पद्मराग, मैनशि के अण्डे के छिलके चमेली की कोंढ़ी (मुकुल); शिरीष और करंज तथा हरितालादि अन्य धातुओं के चूर्ण अवसादन करने के लिये प्रयुक्त

भेषज के वर्ग में विभिन्न कार्यों में प्रयुक्त होने वाली औषधियों की सूची प में ऊपर लिखी औषधियों का परिगणन किया है। परन्तु सर्वदा सर्वत्र ये व्य सुलभ नहीं होते इस लिये ग्रन्थों में मर्यादा दी गई है कि 'प्रकरणोक्त म्पूर्ण द्रव्यों का अथवा आधे वर्ग का अथवा यथालाभ (उनमें से जो मिल सके) न द्रव्यों का उपयोग यथाविधि से करे'[1] ।'

* * *

तृतीय प्रकरण

शस्त्रानुशस्त्राध्याय (Sharp Instruments)

सुश्रुत में कुल बीस प्रकार के शस्त्रों की संख्या पाई जाती है।

१. मण्डलाग्र
२. करपत्र
३. वृद्धिपत्र
४. नखशस्त्र
५. मुद्रिका
६. उत्पलपत्र
७. अर्धधार
८. सूची
९. कुशपत्र
१०. आटीमुख
११. शरारिमुख
१२. अन्तर्मुख
१३. त्रिकूर्चक
१४. कुठारिका
१५ व्रीहिमुख
१६. आरा
१७. वेतसपत्र
१८. बडिश
१९. दंतशंकु
२०. एषणी

वाग्भट ने इन बीस शस्त्रों के अतिरिक्त कुछ और शस्त्रों के भी नाम गिनाये -इससे शस्त्रों की संख्या इनके मत से छब्बीस हो जाती है।

२१. सर्पास्य
२२. लिङ्गनाशवेधनी शलाका
२३. कूर्च
२४ खज
२५. कर्त्तरी
२६. कर्णवेधन शस्त्र

शस्त्र सामान्यतया तेज धातु वाले हथियारों को कहा जाता है। शस्त्र कर्म रते हुए छेदन, भेदन प्रभृति अष्ट कर्मों के साधन यही होते हैं। इनका निर्माण तम लोह और लौहकार (निर्माणकर्त्ता) से होना आवश्यक होता है। सुश्रुत बीस और वाग्भट ने छब्बीस प्रकार के शस्त्रों के नाम दिये हैं। ये शस्त्र

---

[1] समस्त वर्गमर्धं वा यथालाभमथापि वा ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु ॥ (सु. सू. ३७)

सामान्यतया छः अंगुल लम्बे होते हैं। इनका फलक अपने परिमाण से का होना चाहिये। ये शस्त्र देखने में सुन्दर, अच्छी धार वाले, केश को वाले, देखने में कराल न दिखाई पड़ने वाले, बढ़िया नोक वाले के अनुरूप रूप वाले, नील कमल की प्रभावाले तथा अति तीक्ष्ण बने होने चाहिए।[1]

मण्डलाग्र

यह छः अंगुल लम्बा शस्त्र होता है, जिसका अग्रभाग गोल होता है लिये इसे मण्डलाग्र कहते हैं। इसके दो प्रकार होते हैं—१. एक का गोल और २. दूसरे का क्षुराकार-उस्तरे के समान। वाग्भट ने इसका तर्जनी के अन्तर्नख के सदृश आकृति का बतलाया है।[2]

इस शस्त्र का प्रधान कार्य छेदन और लेखन बतलाया गया है। उसका उपयोग गलशुण्डिका (Tonsil)[3] में, मूढगर्भ में शिरोविदारण आहारण के लिए, गर्भशिरोविदारण में सुश्रुत ने इसी शस्त्र का प्रयोग अन्य तीक्ष्ण शस्त्रों वृद्धिपत्र आदि का निषेध किया है।[4]

सुश्रुत तथा चक्रदत्त ने इसका उपयोग अर्म, पोथकी तथा सिराजाल कई नेत्र रोगों के शस्त्रकर्म में बतलाया है।

---

१. षड्विंशतिः सुकर्मारैर्घटितानि यथाविधि।
शस्त्राणि रोमवाहीनि बाहुल्येनाङ्गुलानि षट्।
सुरूपाणि सुधाराणि सुग्रहाणि च कारयेत्।
अकरालानि सुध्मात-सुतीक्ष्णावततेऽयसि।
समाहित-मुखाग्राणि नीलाम्भोजच्छवीनि च।
नामानुगतरूपाणि सदा सन्निहितानि च।
स्वमानार्द्धचतुर्थांश-फलान्येकैकशोऽपि च।
प्रायो द्वित्राणि युञ्जीत तानि स्थानविशेषतः।

२. मण्डलाग्रफले तेषां तर्जन्यन्तर्नखाकृति। लेखने छेदने योज्यं पोथकी-शु
(वा.

३. अङ्गुष्ठाङ्गुलिसंदंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम्। छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु
नोत्कृष्टञ्चैव हीनञ्च त्रिभागं छेदयेद् भिषक्।

४. मण्डलाग्रेण कर्त्तव्यं छेदमन्तर्विजानता। वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारी
कदाचन। (सु.)

चक्रदत्त ने जिह्वाकंटक नामक रोग में, जिसमें जिह्वा से अजस्र रक्तस्राव होता कंटकों के लेखन में इस शस्त्र का प्रयोग बतलाया है ।[1]

इस विविध कार्यों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मण्ड-ग्र शस्त्र कई प्रकार की लम्बाई और मोटाई वाला रहा होगा; क्योंकि जो त्र गर्भशिरःकपाल के भेदन में प्रयुक्त होता था, वह नेत्रगोलक जैसे कोमल अङ्ग र लेखन करने में व्यहृत नहीं हो सकता ।

फलतः इसकी आधुनिक शस्त्रों से समानता में भिन्नता होगी । जैसे—Cir-ular Knife, Razor like Round headed knife. Decapita-on hook, Sharp curette. आदि ।

करपत्र

शाब्दिक अर्थ है करवत् पत्र । ऐसा शस्त्र जिसका आकार हाथ के सदृश और जिसमें अंगुलियों के समान दन्तुरित रचना की गई हो । अन्य टीका-रों ने इसका सादृश्य बढ़ई के आरे से बतलाया है । करपत्र कई लम्बाई के ने रहते थे । सुश्रुत ने इसकी लम्बाई षडङ्गुल, वाग्भट ने दशाङ्गुल, भोज ने दशांगुल की बतलाई है । धार इसकी खर (खुरदरी) और दाँत वाली चना की होती रही । यही एक मात्र शस्त्र है जिसकी धार को अधिक तीक्ष्ण ना आवश्यक नहीं होता । शस्त्र की चौड़ाई दो अंगुल की बतलाई गई है ।[2]

शस्त्र का प्रधान कार्य छेदन और लेखन है । इसका उपयोग अस्थि के दन में होता है । अंग्रेजी में करपत्र को 'बोन सा' (Bone Saw) कहते हैं ।

प्राचीन शल्य-ग्रन्थों में अस्थियों में छेद करनेवाले आधुनिक शस्त्र अस्थि-धक (Trephine) का कहीं वर्णन नहीं मिलता; यद्यपि जीवक नामक

---

१. कंटकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये ।
पिपल्यादिमधुयुतः कार्यन्तु प्रतिसारणम् । (चक्र. जिह्वारोग.)

२. छेदेऽस्थ्नां करपत्रन्तु खरधारं दशाङ्गुलम् ।
विस्तारे द्वयङ्गुलं सूक्ष्मदन्तं सुत्सरुबन्धनम् ॥ (अ० हृ० सू० २६)
द्वादशाङ्गुलदीर्घं स्यात्तु चाचितकंटकम् ।
करपत्रं विजानीयाद्भिषगाकृतिमानतः । (भोज)

चिकित्सक (५०० ई० पू०) का नामोल्लेख आता है, जो सफलतापूर्व कपाल पर शल्यकर्म करता रहा। बल्लाल पण्डित ने अपने भोजप्रबंध मे राजा के सम्बन्ध में हुए शस्त्र कर्म का उल्लेख किया है।

राजा को भयंकर शिरःशूल रहा, अनेक भेषज के उपचार के होने पीडा शान्त नहीं हो सकी, निदान शल्य कर्म की शरण लेनी पड़ी। उस दो शल्यविद् भ्राता दैवात् प्राप्त हो गये, जो भ्रमण करते हुए धारा पहुंचे थे।

उल्लेख है कि उन्होंने राजा को संमोहनी औषध देकर निःसं 'ट्रीफाइन' के द्वारा कपालास्थियों का भेदन किया, और रोग के कारणभू को बहिष्कृत करके व्रण का सीवन द्वारा संधान कर दिया। तत्पश्चात् संजीवनी औषध प्रयोग कर चेतना में ला दिया।

ग्रीक और रोमन सर्जनों में 'ट्रिफाइन' का ज्ञान और प्रयोग प्राचीन चला आ रहा है। संभवतः प्राच्य शल्यविद् भी इस शस्त्र के ज्ञाता और विद् रहे हों।

वृद्धिपत्र

जिस शस्त्र का पत्रक वृद्धि नामक वनौषधि के पत्र के सदृश होता है में इसके दो प्रकार बतलाये गये हैं, एक जिसका अग्र भाग सीधा हो– दूसरा जिसका अग्र बक्र मुड़ा हुआ हो–अंचिताग्र। पुनः दूसरे प्रकार दो उपभेद मिलते हैं। दीर्घवक्त्र—लम्बा मुख वाला अंचिताग्र शस्त्र, योग गहराई में स्थित विद्रधि में छेदन, भेदन और पाटन कर्म में होता उपभेद ह्रस्ववक्त्र-छोटे मुख वाले शस्त्र का उपयोग–ऊपरी सतह पर शोफ और विद्रधि में होता है।[1]

साधारणतया वृद्धिपत्र शस्त्रों की पूरी लम्बाई सात अंगुल की है- जिसमें वृन्त (Handle) साढ़े पांच अङ्गुल और फलक का होता है।

---

[1] वृद्धिपत्रं क्षुराकारं छेदभेदनपाटने। ऋज्वग्रमुन्नते शोफे गम्भीरे तु तदन्य नताग्रं पृष्ठ । दीर्घं ह्रस्ववक्त्रं यथाश्रयम्। (वा. सू. २६)

वृद्धिपत्र शस्त्र का सामान्य नाम क्षुर है। कुछ प्रयताग्र को क्षुर मानते हैं वक्र)¹, अन्य शास्त्रकारों ने अञ्चिताग्र की क्षुर संज्ञा दी है। (डल्हण)²

वृद्धिपत्र का उपयोग विभिन्न स्थानों के शोफ विद्रधि के भेदन, पाटन तथा ङ्गों के आंशिक अथवा पूर्णतया छेदन के अतिरिक्त, विद्रधि स्थान के बालों के टने में भी होता रहा! ऐसी दशा में उसकी आकृति आधुनिक युग के नापितों व्यवहार में आनेवाले देशी उस्तरे से मिलती-जुलती रही होगी।

सुश्रुत ने स्पष्टतया रोमाकीर्ण व्रण स्थान का लोम-निर्हरण के लिये प्रयताग्र द्धपत्र का व्यवहार वतलाया है। अन्यत्र मेदोज वृद्धि (Elephatiasis of e Scrotum) में मेद के पाटन तथा लूतादंश में त्वचा के विदारण के ये प्रयोग किया है।

फलतः वृद्धिपत्र की समानता निम्नलिखित आधुनिक शस्त्रों से की जा कती है।

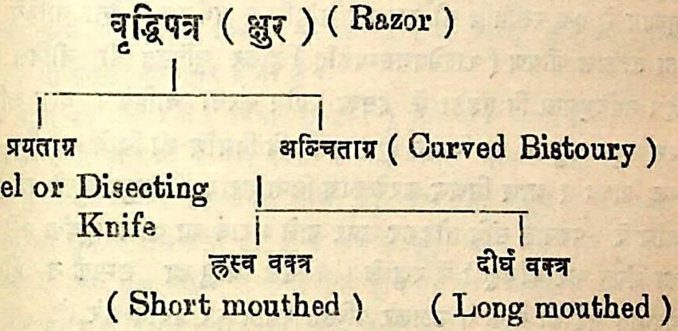
वृद्धिपत्र (क्षुर) (Razor)
प्रयताग्र
Scalpel or Disecting Knife
अञ्चिताग्र (Curved Bistoury)
ह्रस्व वक्त्र
(Short mouthed)
दीर्घ वक्त्र
(Long mouthed)

प्राचीन काल के पशु-चिकित्सकों के वर्णनों से इस शस्त्र की स्पष्टता और धक हो जाती है। जयदत्त सूरि ने अपने अश्ववैद्यक ग्रन्थ में लिखा है—'वृद्धि· संज्ञा के शस्त्र का आकार क्षुर अथवा उस्तरे का होता है। इसकी लम्बाई न अङ्गुल की होती है और पक्व शोफ (विद्रधि) में चीरा लगाने के कार्य ाटन) में व्यवहृत होता है।'

पालकाप्य ने इस शस्त्र की लम्बाई दस अंगुल की, जिसमें छः अङ्गुल का

---

[१] आयताग्रं वृद्धिपत्रं क्षुरमाहुः (सु० चि० १, और चक्र०)

[२] अनयोर्मध्ये अंचिताग्रं वृद्धिपत्रं क्षुरमाहुः (वाग्भट)

वृन्त, चार अङ्गुल का फलक और तीन अङ्गुल की चौड़ाई वतलाई है। छेदन अथवा भेदन करने में इसका प्रयोग होता रहा है।[१]

त्वक् द्वारा औषधि का अंतःक्षेप—(Hypodermic Me tion)—आधुनिक युग में प्रचलित सीरिञ्ज के द्वारा अन्तस्त्वक् की प्रणाली प्राचीन काल के चिकित्सकों को अज्ञात रही, फिर भी निजी प्रक्रिया द्वारा इस कार्य को करने में दक्ष रहे। शाङ्गंधर ने कई रोगों में वेदनाधिक्य की अवस्था में उन अङ्गों पर क्षुर या वृद्धिपत्र प्रच्छान करके या चीरे लगाकर गुञ्जाफल के कल्क का लेप वतलाया है। त्वचा द्वारा औषधि का रस शोषित होकर तत्काल अवबाहुक, गृध्रसी की तीव्र पीड़ा को शान्त करता है।[२]

सन्निपात की अवस्था में अचेत पड़े रोगियों में अग्र शिरःप्रदेश (या (Ant. frontanelle) पर वृद्धिपत्र या क्षुर से कई चीरे लगाकर सूच्यग्र से एक रसौषधि को रख कर अंगुलि से घर्षण कर देना चाहिये। का तत्काल शोषण (रक्तभेषजसम्पर्कात्) होकर मूर्च्छित भी जीवित है। सर्पदष्टजन्य निःसंज्ञता में इसका प्रयोग करना चाहिये। दाह पर मधुर अनुपान का विधान है। रसौषधि निर्माण की विधि यह है— पल, पारद १ शाण मिश्रण करके कांच-लिप्त शराव में सम्पुट करके छः आँच दे। पश्चात् संधि तोड़कर ऊपर वाले शराव का शीघ्रतापूर्वक लगे का संग्रह कर काँचकूपी में रख ले। जिससे वायु का सम्पर्क न पश्चात् सूई की नोक से उठाकर प्रच्छित स्थान पर प्रयोग करे।[३]

---

[१] त्र्यंगुलं वृद्धिपत्रञ्च क्षुराकारं प्रकीर्त्तितम्। पक्वशोफादिषु प्राज्ञः पाटनं तेन
(अश्ववैद्यक

शस्त्रेण वृद्धिपत्रेण चाशितेन शितेन वा। शस्त्रकर्मणि निष्णातः पाटनं तेन
(पालकाप्य

[२] प्रच्छयित्वा क्षुरेणाङ्गं केवलानिलपीडितम्। तत्र प्रदेहं दद्याच्च पिष्टंगुञ्जाफलैः
तेनावबाहुजा पीडा विश्वाची गृध्रसी तथा। अन्यापि वातजाः पीडाः प्रशमं
(शा.

[३] रसःसूचीमुखे लग्नः कूप्या निर्याति भेषजम्। तावन्मात्रो रसो देयो मूर्च्छिते
क्षुरेण प्रच्छिते मूर्ध्नि तदङ्गुल्या च घर्षयेत्। रक्तभेषजसम्पर्कान्मूर्च्छितोऽपि

चरक और सुश्रुत ने भी सर्पदंश की चिकित्सा में अथवा स्थावर विषों में :संज्ञ पड़े रोगियों के मूर्धा पर काकपद के आकार का वृद्धिपत्र से चीरा लगा र औषध प्रयोग की व्यवस्था की है।[१]

नख–शस्त्र (Nail parer)

नखों के काटने के लिए आठ अङ्गुल लम्बा शस्त्र होना चाहिये, उसकी धार क्ष्ण और आधी अंगुल चौड़ी होनी चाहिये (भोज)। डल्हण के अनुसार सका फलक दो अङ्गुल लम्बा और एक अङ्गुल चौड़ा होता है। वाग्भट ने सकी लम्बाई नौ अङ्गुलों की बतलाई है, और शस्त्र को द्विमुख बतलाया है र्थात् एक सिरा वत्सदन्त के सदृश मुड़ा हुआ और दूसरा अश्वकर्ण सदृश ीधा (ऋजु) होता है। कुछ लोग इसे स्वतन्त्र दो प्रकार के ऋजुमुख और क्रमुख भी बतलाते हैं।[२]

इस शस्त्र का प्रधान कार्य छेदन, भेदन और लेखन या प्रच्छान है। कंटक, ई अथवा अन्य विजातीय द्रव्यों के कोमल भाग में प्रविष्ट होने पर उनके ाहरण में भी इसका व्यवहार होता है।

इस शस्त्र को अंग्रेजी में (Nail parer) 'नेल पेरर' कहते हैं।

पालकाप्य ने हाथियों के नख काटने के लिये रम्पक नामक शस्त्र का प्रयोग बतलाया है जिसका वृन्त दश अंगुल लम्बा और फल तीन अंगुल का होता था।

आधुनिक युग में शस्त्रकर्त्ता भी शस्त्र कर्म के पूर्व अपने नखों को काटकर ाफ करने के लिए एक प्रकार के कैंची जैसे हथियार का व्यवहार करते हैं। इसको नेल कटर (Nail cutter) कहा जाता है।

तथैव सर्पदष्टस्तु मृतावस्थोऽपि जीवति। यदातपो भवेत्तस्य मधुरं तत्र दीयते॥
(शा. २, १२)

१ पल = ४ तोले, १ शाण = ४ माशे।

१. मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा सासृग्वा पिशितं क्षिपेत्। (सु. क. २)

२. वक्रर्जुधारं द्विमुखं नखशस्त्रं नवाङ्गुलम्। सूक्ष्मशल्योद्धृतिच्छेदभेदप्रच्छानलेखने।
(वाग्भट)

रम्पकस्त्र्यङ्गुलमुखो दशाङ्गुलवृन्तपादशोधनार्थं नखच्छेदनार्थञ्चेति।
(पालकाप्य ३, ३०)

मुद्रिका[1] या अङ्गुलि शस्त्र

तर्जनी अंगुली के अगले पोरवे में प्रवेश पाने लायक इस शस्त्र का वलय (अंगूठी) होता है और उसी के अधोभाग पर वृद्धिपत्र के सदृ फलक जुड़ा रहता है। शस्त्र कर्म करते समय इसे अङ्गूठी-जैसे पहना जा अतः इसे मुद्रिका शस्त्र तथा अंगुलि में लगा रहता है इसलिए इसका नाम अंगुलिशस्त्र भी बतलाया गया है। वाग्भट ने इसका मुख मुद्रिका खुला रखने को बतलाया है। इसके ऊपर लगे फलक की लम्बाई आधे अं होनी चाहिये। फलक का आकार वृद्धिपत्र अथवा मण्डलाग्र के सदृश चाहिये। वैद्य को तर्जनी के अग्र पर्व में प्रवेश होने लायक आयाम चाहिये। प्रयोग करते समय इसको सूत्र से कसकर मणिबन्ध में बांध चाहिये। यह गलस्रोतों में उत्पन्न हुए रोगों के छेदन और भेदन में होता[2] है।

गल रोग के अतिरिक्त इसका उपयोग मूढगर्भ के दारण में भी होता था

'सेण्ट एण्ड्रयूज' के डाक्टर सिम्पसन (ई० १७४४) एक शस्त्र के आवि माने गये हैं, जिसका नाम मुद्रिका शस्त्र (Ring scalpel), इसमें इस बनी मुद्रिका रहती थी और उसी से सम्बन्धित एक इन्च लम्बा फलक था। इसका प्रयोग गर्भस्थ शिशु के शिरःकपाल के वेधन में होता था। ऐ शस्त्र सौश्रुतीय मुद्रिका शस्त्र रहा होगा। इस कार्य में पूर्ववर्ती ग्रीक सर्ज प्रकार के चाकू का व्यवहार करते रहे, जिस की संज्ञा (Ring Knife) पशुचिकित्सकों में आजकल भी ऐसे शस्त्र व्यवहार में आते हैं।

अंग्रेजी में अंगुलि शस्त्र को 'फिंगर नाइफ' (Finger K कहना चाहिये।

---

१. प्रदेशिन्यग्रप्रमाणा मुद्रिका।

२. कुर्यादङ्गुलिशस्त्रकम्।
मुद्रिकानिर्गतमुखं फले त्वर्धाङ्गुलायतम्। योगतो वृद्धिपत्रेण मण्डलाग्रेण वा त
तत्प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रमाणार्पणमुद्रिकम्। सूत्रबद्धं गलस्रोतोरोगच्छेदनभेदने॥
(अ० हृ० सू

उत्पलपत्र

इस शस्त्र के फल का आकार नील-कमल-पत्र के सदृश होता रहा। इसका ग्र लम्बा तीक्ष्ण और नुकीला होता रहा। उत्पलपत्र शस्त्र दीर्घवक्त्र और धार ह्रस्व वक्त्र (Short bladed) होता रहा। इसका प्रयोग छेदन ौर भेदन में होता रहा[1]।

इस शस्त्र की पूरी लम्बाई छः अङ्गुल की होती रही। फलक तीन अङ्गुल म्बा और एक अङ्गुल एक चौड़ा होता रहा।

अश्ववैद्यक में उत्पलपत्र और व्रीहिमुख शस्त्रों का शिरावेध में प्रयोग बतलाया है। बनावट के विचार से व्रीहिमुख और उत्पल शस्त्र दोनों का सादृश्य तलाया गया है। 'षडङ्गुल लम्बा और दो अंगुल चौड़ा बनाने का विधान है।' दरवेध में भी इसका उपयोग है[2]।

हस्ति चिकित्सक पालकाप्य ने उत्पलपत्र को 'अष्टांगुल दीर्घ, डेढ़ अङ्गुल ौड़ा और द्विधार शस्त्र' बतलाया है। इसका उपयोग भी शिरावेध में तलाया है।

इन बातों को विचार करते हुए इस शस्त्र को अंग्रेजी के 'लेन्सेट' (Lencet) की कोटि में रख सकते हैं।

अर्धधार

इस शस्त्र का ठीक परिज्ञान शास्त्रीय वर्णनों से नहीं होता। यह एक प्रकार ी छुरिका है। जिसके एक तरफ धार हो। वाग्भट ने इसको अर्धधार की ंज्ञा दी है। उसके अनुसार धारा आधे से अधिक फलक में होती है[3]। कुछ ोग इस शस्त्र को चक्रधार भी कहते हैं।

---

[1] तुल्यमुत्पलपत्रेण तीक्ष्णधारं समाहितम्। षडङ्गुलप्रमाणेन शस्त्रमुत्पलपत्रकम्॥
तत्पत्रं त्र्यङ्गुलायामं कार्यमङ्गुलिविस्तृतम्।

[2] शस्त्रेणोत्पलपत्रेण व्रीहिपत्रेण वा भिषक्। शिरोवेधविधिं सम्यग् दुष्टकर्मा प्रयोजयेत्॥
(अ० वै० १४, २३)

[3] अधिकमर्धे धारा यस्य तदर्धधारम्। (वाग्भट)

इस शस्त्र की पूरी लम्बाई आठ अङ्गुल की होती है। जिसमें फल अङ्गुल लम्बा और एक अङ्गुल चौड़ा और वृन्त छः अङ्गुल लंबा होता छेदन और भेदन प्रधान कार्य है।

सूची (Needles)

सीवन कर्म में व्यवहृत होने वाली सूचियों के तीन प्रकार ग्रन्थ में ब गये हैं :—

१. दो अङ्गुल लम्बी और गोल—इसका उपयोग अल्पमांसयुक्त अथवा सन्धियों के सीवन में होता है।

२. तीन अङ्गुल लम्बी, तिधारी—इसका व्यवहार मांसयुक्त अथवा प्रदेश के सीवन में होता है।

३. ढाई अङ्गुल लम्बी धनुष के सदृश टेढ़ी आकार वाली—इसका इस् मर्म अथवा फलकोष के ऊपर सीवन करने में होता है।

इन सूचियों के अग्र तीक्ष्ण होते हैं, दूसरे अग्र पर चपटी, गर्त और सूत्रण के लिये छिद्रयुक्त होती हैं। धनुर्वक्रा सूची का तीक्ष्णाग्र व्रीहि धान आकृति का होता है। पक्वाशय और आमाशय के व्रणों के सीवन में भी होती है। (वा.)[2]

इन सूचियों की मोटाई मालती-पुष्प के वृन्ताग्र के समान होनी चाहि

वर्त्तमान युग के सर्जन्स भी आकार के अनुसार तीन प्रकार की सूचि का व्यवहार करते हैं। सरल सूची (Straight), वक्रमुख सूची (H curved) तथा धनुर्वक्रा सूचों (Fully curved Needles).

इनके सिवाय सुश्रुत में यवमुखी नामक एक स्वतन्त्र सूची का वर्णन किया

---

[1] अर्धधारं तु कर्त्तव्यं शस्त्रमष्टाङ्गुलायतम्। उरस्यङ्गुलविस्तारं फले तद् द्व्यङ्गुलं म
(म

[2] तिस्रः सूच्योऽत्र सीवने।
मांसलानां प्रदेशानां त्र्यस्रा त्र्यङ्गुलमायता। अल्पमांसास्थिसन्धिस्थव्रणानां द्व्य
यता। व्रीहिवक्त्रा धनुर्वक्रा पक्वामाशयमर्मसु। (अ. हृ. १, २६)

इसका निर्देश, अर्बुद के मूल में सूत्र डालकर चारों तरफ से बाँध कर अर्बुद के निर्हरण में किया मिलता है।[1]

पालकाप्य ने सीवन कर्म में आठ अंगुल लम्बी, हाथी के सूंड के सदृश सूची का प्रयोग बतलाया है। सूइयां मुलायम और मजबूत होती थीं। इनके तीन भेद पाये जाते हैं त्रिधार (तीन धार वाली), चतुर्धार अथवा वृत्ताकार। वक्राकार त्र्यस्त्र सूचियों का उपयोग मांसल भाग के व्रणों में तथा वृत्ताकार सूचियों का त्वक्, शिरा, नाड़ी और धमनी के व्रणों में होता है।[2]

चरक ने अर्श के मस्से में तथा कुष्ठ मण्डलों में रक्त–विस्रावण करने के लिये क्षुरिका और जलौका के साथ-साथ सूई का भी प्रयोग बतलाया है। (च चि.)

कुशपत्र

दर्भपत्र के सदृश इसका फलक होता है। लम्बाई छः अंगुल की (सुश्रुत), दो अंगुल की (वाग्भट) और वृन्त चार अङ्गुल और भोज के अनुसार दो अंगुल का होता है। इसका प्रयोग विद्रधि से पूय का निर्हरण करने में होता है।

आभूषण रूप में इसके वृन्त पर एक अंगुल व्यास का एक वलय लगा होता है।

चक्रदत्त और योगरत्नाकर में गलगण्ड की चिकित्सा जिह्वाधोभाग की शिराओं का वेधन कुशयन्त्र के द्वारा ही बतलाया है।

पालकाप्य ने भी अपने ग्रन्थ में कुशपत्र शस्त्र का वर्णन किया है। इसकी पूरी लम्बाई नौ अंगुल की होती है, जिसमें वृन्त पाँच या छः अंगुल का और फलक चार अंगुल का होता हैं। इस शस्त्र के दोनों तरफ धार होती है और गहरे विद्रधियों के भेदन में व्यवहृत होता है। अंग्रेजी शस्त्रों में इसका सादृश्य पेजेट नाइफ (Paget's Knife) के साथ है।

---

१. अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूत्रं निधापयेत। सूचीभिर्यववक्त्राभिराचितं वा समन्ततः॥ मूले सूत्रेण बध्नीयाच्छिन्ने चोपचरेद् व्रणम्। (चि. १७)

२. सूचीसीवनार्थमष्टाङ्गुलं नागदन्ताकृति। त्र्यस्रा चतुरस्रा वृत्ता वा समाहिता यथा शलाका नेत्रवर्त्मविधृत्यर्थम्॥ (पा. ३. ३०)
नवाङ्गुलं कुशपत्रं पञ्चाङ्गुलं वृन्तं चतुरङ्गुलं पत्रम्। अध्यर्धाङ्गुल विस्तृतम्। उभयतो धारं। कुशपत्राकृति षडङ्गुलं वृन्तमध्यार्धाङ्गुलं पत्रम्। (पा. ३, ३०)

आटीमुख

आटी नामक एक विशेष पक्षी के सदृश मुख वाला (फलक वाला) शस्त्र इसका वृन्त चार अंगुल लम्बा और फल दो अंगुल लम्बा होता है। उपयोग रक्त-विस्रावण में होता है। वाग्भट ने इसका वृन्त सात अंगुल फलक एक अंगुल का कहा है। यह भी एक प्रकार का लेन्सेट (Lan है—रचना कुशपत्र सदृश होती है[1]।

शरारिमुख

शरारि नामक एक पक्षी है। इसकी दो जातियाँ पाई जाती हैं, धवल और रक्तशीर्ष। इनमें धवलस्कन्ध शरारि पक्षी के मुख सदृश इस शस्त्र का होता है। सुश्रुत ने शरारिमुख और कर्त्तरी को पर्यायी बतलाया है। अंगुल की लम्बाई वाला शरारिमुखी शस्त्र होता है उसी को कर्त्तरी भी कहे जब व्रणस्थान रोमाकीर्ण हो, और व्रण का पूरण शीघ्रता से न होता हो, और कर्तरी की सहायता से तत्रस्थ रोम का निर्हरण करना चाहिये।' वा शरारिमुख और कर्त्तरी को दो स्वतन्त्र शस्त्र बतलाया है, उनके कर्म भी दिये हैं। शरारिमुख का उपयोग रक्त-विस्रावण में और कर्त्तरी का उपयोग काटने (छेदन) के लिये कहा है। ऐसी दशा में वाग्भट की शरारिमु फलक का 'लेन्सेट' होगा। परन्तु कर्त्तरी दो फलक वाली कैंची होगी। में इसे 'पेयर आफ सीजर्स' (A Pair of Scissors) कहते हैं।[2] शब्द का ही प्रयोग कैंची के लिये अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है।

अंतर्मुख

अर्द्ध चन्द्राकार डेढ़ अंगुल लम्बे फल का यह एक शस्त्र है इसकी धार भाग में होती है। इसका प्रयोग विद्रधि में चीरा लगाने में होता है।

---

१. वृत्तं सप्ताङ्गुलं विद्यात् तस्याग्रे फलमिष्यते। आटीमुखप्रकारे हि फलमङ्गुष्ठमात्र
(नि. सं.
तद्दन्तर्मुखं तस्य फलमध्यर्धमङ्गुलम्। अर्धचन्द्राननं चैतत् ॥ (वाग्भट)

२. स्नायुसूत्रकचच्छेदे कर्त्तरी कर्त्तरीनिभा। (अ० हृ० सू० २६)

वाग्भट के अनुसार यह एक प्रकार की 'कर्वड् विस्चूरी' (Curved Bistoury) हो सकता है।[1] परन्तु कई अन्य व्याख्याकारों ने इसे कैंची का भी एक प्रकार माना है।

हारीत संहिता में भी एक अर्द्धचंद्रानन शस्त्र का वर्णन आता है[2]। इसका प्रयोग मृतगर्भ में निकले हुए बाहू को काटकर निकालने में होता रहा। इससे ज्ञात होता है, कि यह शस्त्र एक प्रकार का चाकू रहा क्योंकि कैंची के द्वारा बाहु का काटा जाना कठिन है। इसके अतिरिक्त अन्तर्मुख शस्त्र का उपयोग छेदन कर्म में न होकर भेदन में हुआ है। फलतः एक प्रकार के चाकू का ही स्वरूप ज्ञात होता है।

त्रिकूर्चक

जैसा नाम से ही स्पष्ट है तीन तीक्ष्णाग्र शलाकाओं को लकड़ी के बने एक गोला के पीठ पर बैठाकर बनाया जाता है। सुश्रुत ने इसकी लम्बाई छ अङ्गुल बतलाई है, परन्तु वाग्भट ने पूरे शस्त्र को आठ अङ्गुल लम्बा बतलाया है जिसमें पाँच अङ्गुल का वृन्त और तीन अङ्गुल का फल होता है। तीनों कूर्चों का सादृश्य अन्तर्मुख शस्त्र के साथ होता है। कूर्चों के बीच की दूरी व्रीहिधान्य के बराबर होती है। अर्थात् इतने ही इतने अन्तर पर तीनों कूर्च पीठ पर बैठाये रहते हैं। वृन्त में आभूषण के लिये एक वलय लगा रहता है।

इसका प्रयोग विद्रधि के पूय के निर्हरण तथा नासार्श में रक्त का विस्रावण कराने में होता है।

वाग्भट ने इसी शस्त्र के सिद्धान्त के आधार पर दो और शस्त्रों के बनाने का निर्देश किया है। कूर्च और खज[3] का निर्माण-विधि उपदेश करते हुए लिखा है 'एक गोल लकड़ी के बने पीठ के ऊपर सात या आठ वृत्ताकार सूचियों को

---

१. तद्वदन्तर्मुखं तस्य फलमध्यर्धमङ्गुलम्। अर्द्धचन्द्राननं चैतत् ॥ (तत्रैव)

२. अङ्गुलानि तथाष्टौ च शस्त्रं कचित कूर्चितम्। फलैरन्तर्मुखाकारैरमलैरन्वितस्त्रिभिः ॥
एकैकस्य फलस्यैषामन्तरं व्रीहिसम्मतम्। वृन्तं पञ्चाङ्गुलायामं कार्यं रुचकभूषितम् ॥
(हा० सं० १, ८)

३. सर्ववृत्तास्ताश्चतुरङ्गुलाः। कूर्चा वृत्तैकपीठस्थाः सप्ताष्टौ वा सुबन्धनाः।
अर्धाङ्गुलैर्मुखैर्वृत्तैरष्टाभिः कण्टकैः खजः।

बैठाना चाहिये, प्रत्येक सूची की लम्बाई चार अङ्गुल की होनी चाहिये।
भाग में सभी सूचियों को बांधने वाला एक बन्धन भी होना चाहिये।
शस्त्र का उपयोग नीलिका और व्यङ्ग (झाईं) में तथा खालित्य में
विस्रावण करने में होता है।

खज भी इसी प्रकार के आठ सूचिकाओं से बनता है, परन्तु इसके
आधे अङ्गुल की लम्बाई के होते हैं। इन सूचिकाओं को कांटे या
संज्ञा दी गई है। खज का नासार्शगत रक्त-विस्रावण में प्रयुक्त होता है।

ग्रीक और रोमन सर्जन भी विस्रावण में समान शस्त्रों का व्यवहार
थे। वर्तमान युग में ऐसे शस्त्रों में लोहे के बने कूर्च (Brush) का
हो सकता है।

कुठारिका[1]

कुठार (कुल्हाड़ी) के आकार का एक छोटा सा शस्त्र। कुठारिका
एक सिरा (मूल) स्थूल होता है, दूसरा सिरा तीक्ष्ण गोदन्त सदृश
अंगुल चौड़ा और वृन्त साढ़े सात अंगुल लम्बा होता है।

इसका उपयोग शिरावेध करने में निम्नलिखित ढंग से होता रहा।
रिका मूल को बायें हाथ से पकड़ कर अस्थि पर पड़ी हुई सिरा पर
वेध करे। वृन्त को कुछ ऊपर की ओर उठाकर दाहिने हाथ की
एवं तर्जनी अंगुली के द्वारा पकड़कर अस्थि के ऊपर स्थिर की हुई स्थित
पर आघात करके रक्त विस्रावण कराने का विधान है। नीचे की
आघात होने पर शिरा का वेध हो जाता है।' (वा० और चक्र०) इस
का अस्थि के ऊपर स्थित, उत्तान, शिरा के वेधन में उपयोग होता रहा।
ने मांसल भाग की शिराओं के वेध में व्रीहिमुख शस्त्र का प्रयोग बतला
तात्पर्य यह है कि उत्तान शिरा (Superficial vein) का वेध कुठारि

---

[1] पृथुः कुठारो गोदन्त-संदंशार्द्धाङ्गुलानना।
कुठारिकाया वृन्तं स्यात् सार्द्धसप्ताङ्गुलायतम्॥
फलमर्द्धाङ्गुलायामं गोदन्तसदृशं समम्॥
पृथुः कुठारी गोदन्तसदृशार्धाङ्गुलानना।
तयोर्ध्वदण्डया विध्येदुपर्यस्थ्नां स्थितां शिराम्॥ (वा० सू० २६)

ौर मांसल भाग की यानी गहराई में स्थित (Deeper veins) शिरा का ध व्रीहिमुख शस्त्र से करे ।

पालकाप्य ने भी कुठाराकृति शस्त्र कुठारी का वर्णन किया है । इसका प्रयोग दन, प्रच्छान और लेखन कर्मों में बतलाया है । छेदन कार्य में एक अन्य शस्त्र त्सदन्त का भी वर्णन प्राप्त होता है । इस वत्सदन्त शस्त्र की पूरी लम्बाई शाङ्गुल परिमाण की थी, जिसमें फलक का भाग डेढ़ अंगुल चौड़ा होता रहा ।[1]

अंग्रेजी में कुठारिका को 'एक्स सेप्ड नाइफ' (Axe shaped knife or ancet) कह सकते हैं ।

व्रीहिमुख शस्त्र

व्रीहि (धान्य) सदृश मुख या फलक वाला शस्त्र । इसकी कुल लम्बाई छः अंगुल होती है । दो अङ्गुल का वृन्त और चार अङ्गुल का फल (भोज) । वाग्भट ने इसके फलक की लम्बाई महज डेढ़ अङ्गुलों की बतलाई है ।[2]

इसका उपयोग मूत्रवृद्धि और जलोदर में जल निकालते समय वेध करने में होता है ।

अश्ववैद्यक में अश्वों के उदर से जलविस्रावण में दो प्रकार के शस्त्रों का विधान है—उत्पलपत्र और व्रीहिमुख ।

वाग्भट ने उदर-वेधन के अतिरिक्त जैसा कि ऊपर देख चुके हैं व्रीहिमुख शस्त्र का मांसल भाग के शिराओं के वेध में निर्देश किया है ।

वर्त्तमान युग में इन कार्यों में अर्थात् उदर अथवा फलकोष-जलविस्रावण कर्म (Paracentesis) में विशेष प्रकार के बने हुए शस्त्र-जिन्हें अंग्रेजी में 'ट्रोकार' और 'कन्युला' कहते हैं, व्यवहृत होते हैं । फलतः व्रीहिमुख शस्त्र का प्रतिनिधि आधुनिक 'ट्रोकार' (Trocar) हो सकता है । इस का विशेष वर्णन चिकित्सा के सम्बन्ध में किया जावेगा ।

---

१. कुठाराकृतिं कुर्यात् । कुठारी शस्त्रप्रच्छेदनार्थम् । वत्सदन्ताकृति वत्सदन्तं दशाङ्गुलम् । एकैकमध्यार्द्धाङ्गुलमुखम् । एवमेतानि त्रीण्यपि प्रच्छानार्थम् । (पालकाप्य ३, ३.)

२. शस्त्रं व्रीहिमुखं कार्यमङ्गुलानि षडायतम् ।
द्वयङ्गुलं तस्य वृन्तं स्यात्तत्फलं चतुरङ्गुलम् ॥
तन्मुखं व्रीहिविस्तारं तनु संमूढकंटकम् ॥ (भोज)

तथाध्यर्द्धमङ्गुलं फलम् (पा०)

आरा[1]

सीते समय चर्म के छेदन में मोची एक प्रकार की मोटी सूई का करते हैं। इस सूई की संज्ञा आरा है। यह वैद्यकीय शस्त्र भी उसी आ होता है।

'आरा की लम्बाई आठ अंगुल की होती है। फल तिल के समान और पतला होता है। वृन्त का भाग गोपुच्छ सदृश नीचे की ओर क्रमश होता है। इसका परिणाह दूर्वाङ्कुर के समान होता है।'

निबंधसंग्रह की इस व्याख्या में कुछ पाठभेद से अर्थभेद हो गया है। टीकाकारों ने 'आरा ह्यष्टाङ्गुलायामा' के अनुसार शस्त्र की लम्बाई आठ और कइयों ने 'आरा द्वयष्टाङ्गुलायामा' के अनुसार लम्बाई सोलह बतलाई है। परन्तु प्रथमोक्त अधिक सम्मत ज्ञात होता है। क्योंकि सुश्रुत ने लम्बाई षडङ्गुल की और वाग्भट ने एक अङ्गुल की बतलाई है। वा (आधे अङ्गुल तक) आधार की तरफ शस्त्र को गोल और अग्रार्ध को चतुरस्र और तीक्ष्ण नोक का बनाने का विधान दिया है। इसके अग्र के भाग को शोफ के पक्व और आमावस्था में सन्देह होने से प्रविष्ट करने को है। इसके द्वारा पूयोत्पत्ति का निश्चय हो जाता है।

वहला या मांसला कर्णपाली के वेधन में भी इस शस्त्र का प्रयोग होता यद्यपि इस कार्य के लिये वाग्भट ने एक स्वतन्त्र शस्त्र कर्णवेधनी सूची का निर्देश किया है। इस सूची की लम्बाई तीन अंगुल की होती है और इसके चौथाई भाग में सूत्र पिरोने के लिये छिद्र होता रहा आज के युग में कर्ण ऐसी सूची का व्यवहार देखा जाता है। कर्णपाली के वेधन में एक और श उल्लेख मिलता है—'यूथिका' इसका अग्र यूथिका के मुकुल के सदृश होता

---

[1] आरवे आरा असिः चर्मकाराणां शस्त्रम्।

आरा ह्यष्टाङ्गुलायामा कर्त्तव्या तु विशाम्पते ॥
तिलप्रमाणं तु फलं तस्य कार्यं समन्ततः।
दूर्वाङ्कुरपरीणाहं वृन्तं गोपुच्छसन्निभम् ॥ सु० टी०।

आराऽर्धाङ्गुलवृत्तास्या तत्प्रवेशा तथोर्ध्वतः। चतुरस्रा तया विध्येच्छोफं पक्वाम कर्णपालीश्च वलहाम्। वा० सू० २६।

सुश्रुत ने आरा अथवा पाणिमन्थ का प्रयोग अस्थिगतनलिका के दारण में ा है और नाड़ी के द्वारा चूषण करके अवरुद्ध वायु को निकालने का विधान ा है ।[1]

पालकाप्य में हाथियों के कर्णवेधन में प्रयुक्त होने वाले समान शस्त्र का पाठ ता है। इसे कर्मार या नाली कहते हैं । अंग्रेजी में आरा को (Awl) कहते हैं।

वेतस पत्र

यह एक लम्बा, पतला और तीक्ष्णाग्र का बना हुआ काटने का शस्त्र होता इसकी आकृति वेंत के पत्ते के सदृश होती है। निदान ने इसे वेतस पत्र शस्त्र संज्ञा दी है ।[2] इसकी धारा दन्तुरित होती है । वृन्त और फल दोनों चार अंगुल के होते हैं । फल की चौड़ाई एक अंगुल की होती है (भोज) । इसका प्रधान योग व्यधन में होता है । यह एक प्रकार का संकीर्ण फलक का चाकू Scalpel) होता है ।

बडिश

मछली पकड़ने वाले लोहे के कांटे के तुल्य-शस्त्र । बडिश दो प्रकार के होते -स्वानत (अधिक वक्र) और नात्यानत (कम वक्र अर्द्धचन्द्राकार) । इन त्रों की कुल लम्बाई छः अंगुल की होती है, जिसमें वृन्त का भाग साढ़े पाँच ुल और फलक का आधा अङ्गुल होता है । इसका प्रधान उपयोग ग्रहण में ा रहा । सुश्रुत ने मूत्रमार्ग में पड़े शल्य अथवा अश्मरी को निकालने में का प्रयोग बतलाया है । नेत्र रोग चिकित्सा में अर्म का शस्त्र कर्म करते

---

[1] निरुद्धेऽस्थिनि वा वायौ पाणिमन्थेन दारिते ।
नाड़ीं दत्त्वायसीं भिषक् चूषयेत् पवनं बली (सु०)
व्यधनं कर्णपालीनां यूथिका मुकुलानना ।
आरार्द्धाङ्गुलवृत्तास्या तत्प्रवेशस्तथोर्ध्वतः ॥
चतुरस्रा तथा विध्येच्छोफं पक्वामसंशये ।
कर्णपालीञ्च बहलां बहलायाञ्चशस्यते ॥
सूची त्रिभागसुषिरा त्र्यङ्गुला कर्णवेधनी । (अ० हृ० १, २६)

[2] तीक्ष्णमंगुलविस्तारं चतुरंगुलमायतम् । अंगुलानि तु चत्वारि वृन्तं कार्यं विजानता
(नि० सं०)

हुए अथवा गले के भीतर शस्त्र कर्म करते हुए गलशुण्डिका, अथवा के ऊपर लगी श्लैष्मिक कला को इससे पकड़ कर स्थिर करने क दिया है।

चक्रदत्त ने अर्बुद के छेदन में बडिश के द्वारा अर्बुद को ग्रहण कर स्थिर करने की विधि बतलाई है।

इससे स्पष्ट है कि बडिश का उपयोग वही रहा जो आजकल फार्सेप (Dissecting Forceps) का है इस फार्सेप का व्यवहार समय उस भाग को स्थिर करने में होता है।

अश्व-वैद्यक में अश्वों के अर्म निकालते समय इसका प्रयोग गया है। पालकाप्य में भी आठ अङ्गुल चक्राकार तीक्ष्ण वडिश नेत्रगोलक की श्लैष्मिक कला के ग्रहण में किया है।

ग्रीक और रोमन सर्जन भी ऐसे कार्यों में ऐसे कांटों का प्रयोग जिसे (Sharp hook) की संज्ञा प्राप्त थी।

दन्तशंकु

यह छः अङ्गुल लम्बा एक शस्त्र होता है—जिसके मुख की बना (चातुरस्र), अग्र तीक्ष्ण शंकु की भांति तनिक मुड़ा हुआ यवपत्र सदृ होता है। इसके मुख की लम्बाई आधे अङ्गुल की होती है।[1]

वाग्भट ने इस शस्त्र की संज्ञा दन्त लेखन दी है[2]। इसका भी मु बतलाया है और एक तरफ में धार वाला (एक धार) बनाने को बत

इसका उपयोग दन्त के लेखन में शर्करा, कपालिका इत्यादि के होता है। अंग्रेजी में[3] दन्त शंकु को टूथ स्केलर (Tooth scaler)

---

१. वडिशे चापि कर्त्तव्ये प्रमाणेन षडङ्गुले। स्वानतं तु तयोरेकमेकं नात्या
अर्द्धं पञ्चाङ्गुलं वृन्तं शेषं कार्यं मुखं तयोः (भोज)
ग्रहणे शुण्डिकामर्दिर्वडिशं सुनताननम् (वा. सू. २६)

२. एकधारं चतुष्कोणं प्रवद्धाकृति चैकतः।
दन्तलेखनकं तेन शोधयेद्दन्तशर्कराम्।। (वा० सू० २६)

३. कार्यः षडङ्गुलायामो दन्तशङ्कुर्विजानता। शंकुवच्च मुखं तस्य कार्यमर्द्धा
चतुरस्रं समञ्चैव तीक्ष्णधारं समाहितम्। वृन्ताग्रं तस्य कर्त्तव्यं शस्त्रं व्रीहि
कपालिकां शर्कराञ्च दन्तस्थां तेन शोधयेत्। (नि० सं०)

दन्तोत्पाटन (दाँत निकालने) की विधि का कहीं भी विस्तार के साथ न वैद्यक ग्रन्थों में नहीं, परन्तु इस क्रिया का ज्ञान प्राच्यों को पूर्णरूपेण रहा ा कि कई प्रासङ्गिक वर्णनों से स्पष्ट है ।

१—विद्यार्थियों को शल्य का क्रियाभ्यास कराते समय दन्तोद्धरण की क्रिया ब्लाने में पनस, विम्बी और विल्व-फलों से बीजों का आहरण करना वा मृत पशुओं के दांतों को पकड़ कर निकालना सिखलाना चाहिये । ० योग्याध्याय)

२—अधिदन्त का उद्धरण करके अग्निकर्म का विधान पाया जाता है ।

३—चल (हिलते हुए) दांतो का उद्धरण करना ।

४—दन्तगत नाड़ी की चिकित्सा—दांत को निकाल कर अग्नि अथवा क्षार करना । (सु० चि० २६)

पालकाप्य में हाथियों के दांतों के उद्धरण में एणीपाद नामक लौहनिर्मित का वर्णन मिलता है । इसकी लम्बाई बत्तीस अङ्गुल की परिणाह गजदन्त- होता है ।

प्राच्य लोगों में कृत्रिम दांत बनाने की भी कला प्रतिष्ठित रही । यदि रोग- अथवा आकस्मिक घटना से दांत टूट जाते रहे तो उसकी जगह पर नये दांत ड दिये जाते थे । सन् ११९४ ई० में जब शहाबुद्दीन ने जयचन्द को हराया युद्ध में राजा का मृत शरीर उनके कृत्रिम दांतो द्वारा ही पहचाना गया'— प्रसंग अपने पक्ष में सहायक होता है । फलतः प्राच्य शल्यविदों में यह विद्या रिचित रही ।[1]

एषणी

गण्डूपदाकारमुखी एषणी का वर्णन यन्त्राध्याय में हो चुका है । यहां पर दो र की एषणी अभिप्रेत है । एषणी तीन प्रकार के कामों में आती है— -अन्वेषण, भेदन और अनुलोमन । अन्वेषण कार्य में गण्डूपदाकारमुखी ी आती है । इसका वर्णन यन्त्रों के अध्याय में शलाका के प्रसंग में है । पर तीक्ष्णमुखी एषणी अभिप्रेत है । जिसका उपयोग भेदन अथवा भेदनपूर्वक पण में होता है । इसका समावेश इसीलिये शस्त्रों में हैं ।

---

[1] सर्जिकल इन्स्ट्रूमेण्ट आफ हिन्दूज पृष्ठ २६९ ।

इस प्रकार की तेज मुख वाली एषणी को अंग्रेजी में शार्प प्रोब (Probe) कहते हैं। सुश्रुत ने इस एषणी की लम्बाई आठ अंगुल की है। इसके बीच में सूत्र का परिवेष्टन होता है, इस परिवेष्टन की मोटाई पर्व जितनी मोटी बनाई जाती है, जिससे अच्छे प्रकार से शल्यकर्ता पकड़ में आ सके। इसका अग्र मुकुल सदृश होता है। इसका निर्मा लौह अथवा सुवर्ण से होता है। वाग्भट ने भी स्वतन्त्र रूप से इस ए वर्णन किया है । 'भेदन के लिये एक अन्य प्रकार की सूई के मुख सदृ बननी चाहिये, जिसके मूल में छिद्र हो।' ऐसी शलाका को अंग्रेजी में प्रोब्ड नीडल' (Sharp probed needle) कहते हैं।[1]

पालकाप्य ने भी गज-चिकित्सा में तीक्ष्णमुखी व्रणैषणी का व्यव लाया है। यह सुवर्ण, चांदी, ताम्र, लौह, शृङ्ग, दन्त, अस्थि, बांस अथवा में अन्यतम पदार्थ की बनती थी। इसकी लम्बाई तीस अङ्गुल मुख गण्डू और आकार गोल होता रहा।[2]

एषणी का तीसरा कार्य अनुलोमन है। इसमें व्यवहृत होनेवाली ए आनुलोमन एषणी (Probe Director) कहते हैं। इसका प्रयोग व्रणा के अनुसार भेदन करने में होता है। शरीर के अन्य अङ्गों पर आघात भय नहीं होता। भगन्दर की शस्त्रक्रिया में ऐसी ही एषणी का 'एषणी को डालकर शस्त्र क्रिया करनी चाहिये।' (एषणीं दत्त्वा येत्)। आजकल के शस्त्रों में 'हर्निया डायरेक्टर' तथा 'एन्यूरिज्म प्रयोग इसी कार्य में अर्थात् अनुलोमन-पूर्वक भेदन में होता है।

---

१. अष्टाङ्गुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिता।
वृत्ता गण्डूपदमुखी प्रमाणे त्रिंशदङ्गुली॥
सुवर्णरूप्यताम्राणामायसी शृङ्गजापि वा।
दन्तास्थिवेणुदारूणामेषणी दारुणा भवेत्॥ (सु०)

२. भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिविष्टखा।
स्थिरा मृद्वी च कर्त्तव्या व्रणानामेषणी भवेत्। वृत्ता गण्डूपदमुखी प्रमाणे त्रिं
सुवर्णरूप्यताम्राणामायसी शृङ्गजापि वा। दन्तास्थिवेणुदारूणामेषणी दारु
(

गतेरन्वेषणे श्लक्ष्णाड्डू गण्पदमुखैषणी। (वा० सू० २६)

वाग्भट ने सुश्रुतोक्त इन बीस शस्त्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य शस्त्रों का भी र्णन किया है—

१. सर्पास्य । ४. खज ।
२. लिङ्गनाशवेधनी शलाका । ५. कर्त्तरी ।
३. कूर्च । ६. कर्णवेधन शस्त्र ।

इनमें कूर्च और खज का वर्णन त्रिकूर्चक शस्त्र के प्रसङ्ग में हो चुका है र कर्त्तरी का शरारिमुख के साथ । अंग्रेजी में इसको सीजर्स (Scissors) हते हैं ।

लिंगनाशवेधनी शलाका

तीक्ष्ण एषणी (Sharp probes) के सम्बन्ध में सुश्रुतोक्त लिंगनाश की चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले शस्त्र का वर्णन हो चुका है । यह एक आठ ङ्गुल लम्बाई का बीच में सूत्र से लिपटा हुआ शलाकाकार शस्त्र होता रहा सका अग्र मुकुल सदृश होता रहा । अष्टांगहृदय का लिंगनाश-वेधनी लाका भी इसी कोटि का शस्त्र है । यह ताम्र धातु का बनता है, इसके दोनों ग्र नुकीले होते हैं दोनों मुकुलाकार बनते हैं । व्यवहार में लिङ्गनाश की चिकित्सा में इसका इस्तेमाल होता है ।[1] अंग्रेजी में ऐसे शस्त्र को 'कैटेरेक्ट नीडल Cataract needle) कहते हैं ।

कर्णवेधन शस्त्र

आरा के प्रसङ्ग में इस शस्त्र का वर्णन हो चुका है । अष्टाङ्ग हृदय में इसके ो प्रकार बतलाये गये हैं—पतली कर्णपाली के लिये एक और मोटी कर्णपाली के लिए दूसरा । कर्णवेधन में तीन प्रकार के शस्त्रों का उल्लेख अष्टाङ्ग हृदय में ाता है । भिन्न-भिन्न मोटाई के ये वेधन शस्त्र कर्णपाली की स्थूलता के नुरूप थे ।[2]

---

[1] ताम्री शलाका द्विमुखामुखे कुरबकाकृतिः । लिङ्गनाशं तथा विध्येत् ।
(अ० हृ० सू० २६)

[2] यूथिकाशस्त्र —व्यधनं कर्णपालीनां यूथिकामुकुलाननम् ।
आरा— इसका वर्णन हो चुका है ।
कर्णवेधनी सूची—बहलायाश्च शस्यते । सूची त्रिभागसुषिरा त्र्यङ्गुला कर्णवेधनी ।
(वा० सू० २६)

सर्पास्य

इस शस्त्र की आकृति नहीं निश्चित है। इतना जरूर है–इसकी चौड़ाई अधिक नहीं होती, क्योंकि नासारन्ध्र के भीतर में प्रविष्ट कर अर्बुद अथवा अर्श का छेदन इसके द्वारा होता रहा।

ग्रन्थ में इसके फलक की लम्बाई आधी अङ्गुल की और अग्र को सदृश बनाने का आदेश हैं। कर्णगत अर्श और अर्बुदों के शस्त्रकर्म में भी व्यवहार रहा।[1]

शस्त्रों के हाथ से पकड़ने की विधि[2]

बृद्धिपत्रशस्त्र को वृन्त और फल के संयोग-स्थान में पकड़ना चाहि अन्य वेधन भेदन-शस्त्रों को भी इसी प्रकार पकड़ना चाहिये। वृद्धिप मण्डलाग्र को लेखन कर्म के समय किंचित् ऊँचा करके कई वार चलाना च सूची, कुशपत्रादि विस्रावण के शस्त्रों को दस्ते के अग्रभाग से पकड़ना च विशेषतः बालक, बृद्ध, सुकुमार प्रकृति, डरपोक, स्त्री, राजा तथा राज इनका रक्त त्रिकूर्चक से निकालना चाहिये। व्रीहिमुख शस्त्र को अङ्गुष्ठ और से ऐसे पकड़ना चाहिये कि उसका वृन्त भाग हथेली से ढक जाय। कु शस्त्र को उसके दण्ड में बायें हाथ से पकड़ कर दाहिने हाथ की बीच की से अङ्गुष्ठ से सहारा देकर उसके मस्तक पर ताडन करना चाहिये।

आरा, करपत्र और एषणी को जड़ से पकड़ना चाहिये। इसके अ शेष शस्त्रों को जैसा उनका कार्य ठीक होवे, उसी भांति पकड़ना चाहिये।

नोट—सामान्यतया विभिन्न शस्त्रों की लम्बाई उनके विशिष्ट व बतलाई गई है। परन्तु जहाँ पर अनुक्त हो उस स्थान पर साधारण लम्बा अङ्गुलों की मानी जाती है। (शेषाणि तु षडङ्गुलानि)।

---

[1] सर्पवक्त्रं वक्रमर्धाङ्गुलं घ्राणकर्णार्शोऽर्बुदच्छेदनार्थम्। (अ० संग्रह)

[2] छेदनभेदनलेख्यार्थं शस्त्रं वृन्तफलान्तरे। तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैर्गृह्णीयात्सुसमाहित विस्रावणानि वृन्ताग्रे तर्जन्यङ्गुष्ठकेन च। तलप्रच्छन्नवृन्ताग्र ग्राह्यं व्रीहिमुखं कु मूलेष्वाहरणार्थानि क्रियासौकर्यतोऽपरम्। (वा० सू० २६)

इन शस्त्रों में वृन्त और फल का प्रमाण कैसा होना चाहिये। इस बात का ण वाग्भट के अनुसार 'अपनी लम्बाई से आधा या चतुर्थांश फलक होना ये।[1] अर्द्ध चतुर्थांश का कुछ लोग १/८ भी अर्थ लगाते हैं। इस हिसाब से शस्त्र की पूरी लंबाई आठवें भाग का निर्मित होना चाहिये।

अनुशस्त्र

स्वयं शस्त्र न होते हुए भी जो शस्त्र का कार्य कर सकते हैं वे अनुशस्त्र ाते हैं। दूसरा अर्थ सादृश्य है। शस्त्र का सादृश्य रखने वाला शस्त्र अनुशस्त्र ाता है। इन शस्त्रों का व्यवहार काटने वाले हथियारों की जगह पर ा है।

इनका इस्तेमाल शिशुओं, शस्त्र से डरने वाले व्यक्तियों और हथियार के ाव में होता है।

'बाँस, स्फ़टिक, काच कुरविन्द, जोंक, अग्नि, क्षार, नख, गोजी, शेफालिका, कपत्र, करीर, बाल और अंगुलियाँ; ये अनुशस्त्र[2] हैं।

बाँस (त्वक्सार)—इसका अनुशस्त्र के रूप में प्रयोग त्वचा के छेदन र भेदन में होता है।

स्फटिक काच और कुरविन्द (पाषाण विशेष कोरण्डम)–इनका ोग छेदन और भेदन कार्यों में निर्दिष्ट है। काच की बनी कूपियों का व्यवहार ों के निर्माण में बहुशः होता है।

जोंक (जलौका)—सुकुमार व्यक्तियों में रक्त के आचूषण में काम आता इनका वर्णन एक स्वतन्त्र अध्याय में आगे किया जावेगा।

अग्नि और क्षार—इनका वर्णन अनुयंत्रों में भी आता है। इसका रण यह है कि क्षार का बाह्य और आभ्यंतरीय प्रयोग कई रोगों में (चर्मकील, कालक, अश्मरी आदि में) होता है। इनके द्वारा इन शल्यों का आहरण ा है, अग्नि के द्वारा कण्ठासक्त जातुष शल्य का आहरण होता है। यहाँ कार्य की दृष्टि से यंत्र का कार्य इनके द्वारा सम्पन्न होता है। अस्तु उपयंत्रों क्षार एवं अग्नि की गणना की गई है।

---

[1] स्वोन्मानार्धचतुर्थांशफलानि।

[2] अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुरविन्दजलौकोग्निक्षारनखगोजीशेफालिका-कपत्रकरीरवालाङ्गुल्य इति। (सु० सू० ८)।

पुनः अनुशस्त्रों के भीतर समाविष्ट होने का कारण है इनका छेदन और लेखन कार्यों में व्यवहार है ।

नख और अंगुली—आहरण, छेदन, भेदन, एषण आदि शस्त्र व्यवहृत होने के कारण इनका अनुशस्त्रों में भी समावेश है ।

गोजी (गोजिह्वा), शेफालिका (पारिजात), शाक (सागौन) वृक्षों के पत्ते शस्त्र कर्मों के काम में लाये जाते हैं ।

खुरदरे पत्तों के द्वारा लेखन कार्य सरलता से किया जा सकता है । कई स्थलों पर ऐसे व्रणों में—जिनमें अनेक बार चाकू का व्यवहार होने रोपण का कार्य न हो रहा हो, इन पत्रों के द्वारा रगड़ने का विधान है रक्त-विस्रावण के पश्चात् ऐसे व्रण शीघ्रता से भर जाते हैं ।

चिकने पत्रों का उपयोग विभिन्न व्रणों में ढकने के लिये होता है । णार्थ (सु० चि० १):—

वातिक व्रणों में—एरण्ड, भूर्जपत्र, पूतीक और हरिद्रा के पत्ते होते हैं ।

रक्तज और पैत्तिक व्रणों में—क्षीरी वृक्ष और जल वनस्पतियों अथवा आश्वबल और गाम्भारी के पत्ते आच्छादन के लिये रखे जाते हैं ।

श्लैष्मिक व्रणों में—पाठा, मूर्वा, गुडूची, काकमाची, हरिद्रा नास के पत्तों का उपयोग आता है ।

इन्हीं कार्यों में चरक ने भी कई पत्तों का निर्देश किया है—कदम्ब अर्जुन, पाटली, पीपल, अर्क के पत्तों के द्वारा व्रण का प्रच्छादन विधि है ।

सुश्रुत ने नेत्रगोलक अथवा आंत्रगत अभिघात की चिकित्सा में के द्वारा इन कोमल अङ्गों को पकड़ कर यथास्थान रख कर सीवन आदि का निर्देश किया है ।

चरक ने कदली, पद्म और नील कमल के पत्तों के द्वारा रक्तार्श में दन का निर्देश किया है ।

चक्रदत्त ने अर्श की चिकित्सा में गोजी और शेफालिका पत्रों मस्सों को रगड कर (लेखन) क्षारों के लगाने की विधि बतलाई है अर्बुदों में भी लेप लगाने के पूर्व लेखन विधान इन पत्रों से किया है ।

नेत्र के वर्त्मगत रोगों में जैसे पोथकी, पिल्लवादि में लेखन करने की विधि त्रों के द्वारा दी गई है।[1]

करीर और बाल

केश का व्यवहार बंधन द्वारा काटने में होता है। विशेष कर यह पद्धति र्शं, चर्मकील और मशकों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होती हैं।

करीर (अङ्कुर) वनस्पतियों के नये नाल या अङ्कुरों का उपयोग एषण कार्य एषणी के अभाव में होता है। चरक ने स्पष्टतया दो प्रकार की एषणी बतलाई —कठिना, धातु विशेषतः लौह की बनी और दूसरी मृद्वी, "उद्भिदों के मृदु नाल ती। (औद्भिदैर्मृदुभिर्नालैः) बाहरी अगम्भीर नाड़ी व्रणों में एषण करने की रिपाटी थी। अङ्कुरों के द्वारा ऐसे व्रणों में तथा गम्भीर धातुओं में पाये जाने ाले नाड़ियों में लौहनिर्मित एषणी के द्वारा कार्य होता रहा।[2]

युवकों में किसी अभिघात के कारण दाँतों के हिलने की अवस्था में दाँतों ो आराम देने के लिये उत्पलनाल के द्वारा दूध पिलाने का विधान है।

वामक प्रयोगों के सेवन के अनन्तर वमन क्रिया को उत्तेजित करने के लिये रण्ड नाल के द्वारा गले में अन्दर की तरफ से स्पर्श का विधान है।

चतुर्थ प्रकरण

शस्त्रकर्माध्याय

शस्त्रकर्म आठ प्रकार का होता है—यथा—छेदन, भेदन, लेखन, एषण, आहरण, वेधन, विस्रावण और सीवन। (सुश्रुत)

चरक ने एषण और आहरण की क्रिया को शस्त्रकर्म न मानकर केवल छः ही प्रकार के शस्त्रकर्म की इयत्ता दी है। वाग्भट ने सुश्रुतोक्त आठ कर्म के अतिरिक्त भी पाँच और शस्त्र की क्रिया दी है। उत्पादन, कुट्टन, मन्थन, ग्रहण और दहन; इस भाँति इनके शस्त्रकर्म तेरह प्रकार के होते हैं।

---

[1] भिन्नं नेत्रकर्णमभिन्नं लम्बे तु यत्। तन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धशिरं शनैः॥
पीडयेत्पाणिना सम्यक् पद्मपत्रान्तरेण वा। कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत्॥

[2] नाडीव्रणान् शल्यगर्भानुन्मार्ग्युत्सङ्गिनः शनैः। करीरवालाङ्गुलिभिरेषण्याऽन्वेषयेद्भिषक्॥

वास्तव में इन विभिन्न मतों में कोई बड़ा फर्क नहीं पड़ता। चरको विधकर्म निश्चित रूप से केवल शस्त्रों के ही द्वारा संभव है। एषण और ये दो अधिक कर्म यन्त्रों की श्रेणी के हैं, विशुद्ध शस्त्रकर्म नहीं। परन्तु बार छेदन, भेदन करके शस्त्रकर्म किये जाते हैं— इसी लिये शस्त्र कर्मों में इनका समावेश किया गया है। वाग्भट ने तो कुछ कर्मों का स्वतन्त्र निर्देश किया है, अस्तु। उनके कर्मों की संख्या अधिक (तेरह) हो जैसा कि नीचे की दी गई सूची से स्पष्ट है।

सुश्रुत	चरक	वाग्भट
छेदन	षढ्विध	—
भेदन		पाँच अधिक
लेखन		
एषण		उत्पाटन
आहरण		कुट्टन
वेधन		मंथन
विस्रावण		ग्रहण
सीवन		दहन

छेदन—काटकर अंग से पृथक् करना—अर्श और चर्मकील में यह प्रयुक्त होती है। (Excision)

भेदन—फाड़ना या चीरा लगाना। जैसे विद्रधि का खोलना या करने के लिये चीरा लगाना (Incision)

लेखन—खुरचना। जैसे मांसकन्द और पोथकी आदि रोगों में। (Scraping or Scarification)

वेधन—नोकदार शस्त्र से छेद करना। जैसे सिरावेध, मूत्रवृद्धि जलोदर आदि रोगों को चिकित्सा में। (Puncturing)

एषण—शलाका द्वारा नाड़ी व्रणों में शल्यों का अन्वेषण। (Prob or exploration)

नेत्रवर्त्मगुदाभ्यासनाड्यो वक्राः सशोणिताः। चञ्चूपोदकजैः श्लक्ष्णैः करीरैरेषय
(सु० नि

आहरण—खींचकर बाहार निकालना । (Extraction)
विस्रावण—रक्त पूयादि का निकालना (Draining)
सीवन—सीना या टांके लगाना (Suturing or Stitching)
उत्पाटन—उद्धरण–(Extraction)
कुट्टन—सूई के द्वारा त्वचा में छेद करना–(Pricking or tatooing)
मन्थन—मथते हुए छेद करना—(Drilling)
ग्रहण—पकड़ना (Catching)

दहन—यन्त्र अथवा शस्त्र की सहायता से दाह करना । यहाँ पर केवल त्र के द्वारा दाह का अर्थ समझना चाहिये । आज कल इस प्रकार के शस्त्र-या की प्रथा बहुत बढ़ गई है । इसके लिए विशिष्ट प्रकार के चाकू व्यवहार आते हैं जिन्हें अंग्रेजी में काटरी नाइफ (Cautery knife) कहते हैं ।

विविध शस्त्रकर्म के योग्य रोगों की सूची

विभिन्न रोगों में शस्त्रों के द्वारा चिकित्सा करते हुए छेदन भेदनादि कर्म ने पड़ते हैं । अधिकतर एक ही प्रकार की शस्त्र क्रिया के द्वारा एक विशिष्ट ग को दूर किया जा सकता है । परन्तु कई स्थलों पर विकार तथा रोगी की थति के अनुसार दो, तीन या अधिक शस्त्रकर्मों का उपयोग उस विकार की कित्सा के लिये करना पड़ता है[1] ।

छेद्यरोग—भगन्दर, श्लैष्मिक ग्रन्थि, तिलकालक, नाड़ीव्रण, अर्श, अर्बुद, ंकील, अस्थि और मांसगत शल्य, जतुमणि, मांससंघात, गलशुण्डिका, शिरा, ायु और मांस का सड़ा हुआ भाग, वल्मीकि, शतपोनक, भगन्दर, अध्रुष, उप-, मांसकंद और अधिमांस रोगों में छेदन कर्म के द्वारा चिकित्सा होती है ।

भेद्यरोग—सान्निपातिक के अतिरिक्त सभी विद्रधियाँ (वातिक, पैत्तिक र श्लैष्मिक त्रिविध), विसर्प, वृद्धिरोग, विदारिका, प्रमेहपिडिका, व्रणशोथ, नविद्रधि, अवमन्थक (शूकरोग), कुम्भीका, अनुशयी (क्षुद्ररोग), नाड़ीव्रण, नों प्रकार के वृन्द रोग (कण्ठरोग), पुष्करिका, अलजी, प्रायः सभी क्षुद्ररोग,

---

[1] कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित्त्रिभिस्तथा । विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः ॥

तालुपुप्पुट, तुण्डकेरी (तालुरोग), गिलायु (मुखरोग), अन्य पकने अश्मरी-आहरण, बस्ति और कई मेदोरोग; इनकी चिकित्सा में आवश्यकता होती है।

लेख्यरोग—वातिक, पैत्तिक कफज तथा सान्निपातिक रोहिणी, उपजिह्विका (Ranula), मेदोजदन्तवैदर्भ, ग्रंथिवर्त्म रोग, अर्श, मण्डल (कुष्ठभेद), मांसकन्द, मांसोन्नति (दुष्ट मांसातिवृद्धि) ये लेखन करने के योग्य हैं।

वेध्यरोग—बहुत प्रकार की शिरायें, मूत्रवृद्धि और जलोदर ये के योग्य हैं।

एष्यरोग—नाड़ीव्रण, सशल्य व्रण और तिर्यक् गतियुक्त व्रणों का कार्य होता है।

आहार्य-रोग—तीनों प्रकार की शर्करायें, दन्तशर्करा (Tartar शर्करा, मूत्रशर्करा (Graval) दांत और कान का मैल, अश्मरी, के शल्य, गूढगर्भ और गुदा में जमा हुआ कड़ा मल, इनमें आहारण श्यकता होती है।

विस्राव्यरोग—सान्निपातिक के अतिरिक्त पांचो विद्रधि, कुष्ठ, वायु एक देश में उत्पन्न हुआ शोथ, कर्णपाली के रोग, श्लीपद, अर्बुद, विसर्प प्रारम्भिक तीन ग्रन्थि और तीन उपदंश, स्तनरोग (क्षुद्ररोग), सौषिर (दन्तरोग), कण्टक (पादरोग) गलशालूक; दन्तवेष्ट, उपकुश, शीताद दन्तपुप्पुट, पित्तरक्त और कफजन्य ओष्ठ बहुत से क्षुद्ररोग रक्तविस्रावण करने के योग्य होते हैं।

सीव्यरोग—मेदोभवरोग जिनका भेदन और लेखन ठीक हो। भेदन या लेखन के द्वारा परिशुद्ध व्रणों का जो धूलों बिजातीय और पूय आदि से दूषित न हों, उनमें सीवन कार्य श्रेष्ठ हैं। जैसे छोटी पाली, शिर, अक्षिगोलक, नासिका ओष्ठ गला, कपोल, ऊरु, मस्तक, अण्डकोष, स्फिक् , लिङ्ग, गुदा और उदर आदि स्थानों के रोग अतिरिक्त तात्कालिक व्रण जो अभिघात से सम्बन्धित हों, जैसे-वृक्षादि के कारण अथवा शस्त्रादि के द्वारा हुए व्रण का सीवन आवश्यक है।

सल प्रदेश के व्रणों का तथा चलायमान सन्धियों के ऊपर आश्रित व्रणों का सीवन करना चाहिये ।[1]

न सीने योग्य या असीव्य व्रण[2]—कुछ ऐसे भी व्रण हैं, जिनमें सीवन आवश्यकता नहीं है[3]। जैसे क्षार, अग्नि तथा विष से उत्पन्न हुए, पवनवाही नके भीतर रक्त और पूय आदि शल्य हों; ऐसे व्रणों का सीवन नहीं होना ाहिये। इनके बारे में प्रथम शोधन की आवश्यकता है। एवं वंक्षण, कक्षा, ल्पमांस युक्त स्थान तथा चलायमान व्रणों में भी सीवन की आवश्यकता नहीं ोती।

सामान्य सीवन-विधि—व्रण को सर्वप्रथम सीवन के पूर्व निरीक्षण करके र्णतया शोधन की आवश्यकता पड़ती है। उसके भीतर पड़े हुए धूलि, बाल, ाखून, इत्यादि वस्तु तथा हड्डी के चलायमान टुकड़ों को निकाल देना चाहिये। हड्डी के छोटे-छोटे टुकड़ों को जो हड्डी से पृथक् हो गये हैं, निकाल देना चाहिये। बड़े-बड़े टुकड़ों को जो हड्डी के साथ जुड़े हों, नहीं निकालना चाहिये। क्योंकि आवश्यकता से अधिक भाग निकालने पर हड्डी कमजोर हो जाती है। त्वचा और मांस जो फटकर इतस्ततः हो गया हो उसे यथास्थान स्थापित कर के व्रणशोधक द्रव्यों से शोधन करके निकालना चाहिये। त्वचा और मांस जो कोथयुक्त हों जिनके स्वस्थ होने की कोई उम्मीद न हो, काटकर निकाल देना चाहिये।[4]

सीवन द्रव्य—स्थान के अनुसार यथायोग्य सूची को ग्रहण करके, शुद्ध हुए व्रणों के ओष्ठों को किंचित् उठाकर ठीक स्थान पर स्थापित करके महीन

---

१. सीव्या मेदःसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिताः गदाः ।
सद्योव्रणाश्च ये चैव चलसंधिव्यपाश्रिता ॥

२. न क्षाराग्निविषैर्जुष्टा न च मारुतवाहिनः । नान्तर्लोहितशल्याश्च । (सु० सू० २५)
न तु वंक्षणकक्षाक्षावल्पमांसचलव्रणान् ।
वायुनिर्वाहिणः शल्यगर्भान् क्षारविषाग्निजान् ॥

३. कुछ ऐसे भी व्रण होते हैं, जिनमें वायुजनक जीवाणुओं (Anaerobes) का प्रवेश होकर वायु पैदा होती रहती है, ऐसे व्रणों को मारुतवाही की संज्ञा दी गई है। ऐसे व्रण 'वेसिलस वेल्ची' और 'विब्रियो सेप्टिक' के उपसर्ग से होते हैं।

४. शुष्कास्रतृणरोमानपनीय तु । प्रलम्बि मांसं विच्छिन्नं निवेश्य सन्निवेशने । (अ. हृ)

सूत्र, अश्मन्तक वल्कल, सनसूत्र, क्षौमसूत्र (रेशम), स्नायु— तान (तन्तु के बाल, मूर्वा एवं गिलोय के तन्तु आदि में से यथालाभ किसी एक चाहिए ।[1]

आधुनिक युग में शल्य क्रिया में स्नायु (Tendons) का व्यवह होता है । काँगरू नामक प्राणी के स्नायु का उपयोग होता है। इसके आंतरिक अंगों में टाँके लगाने के लिये 'कैट गट' (Cat gut-तांत), वर्मगट (Silk worm gut रेशम के कीड़े का बना तागा), काँग रेशम, सूत, घोड़े के बाल चाँदी का तार इत्यादि वस्तुओं का भी उपयो है । इनमें कैट गट का व्यवहार अधिक है । सीवन द्रव्यों का इस्तेमाल पूर्व पूर्ण विशोधन आवश्यक होता है ।

टाँकों के लगाने का स्थान— सीवन करते समय टाँके किनारे दूर अथवा अत्यंत निकट नहीं लगाने चाहिये । (नाति दूरे निकटे वा), अतिदूर टाँके लगाने से तनाव के कारण व्रणों के किनारों में पीड़ा और अतिसमीप लगाने से किनारों के कटने का भय रहता है ।

सीवन के प्रकार—सुश्रुत ने स्थान के अनुसार चार प्रकार की विधि का उल्लेख किया है[2] ।

१. वेल्लितक—वृक्ष के तने के ऊपर चढ़ी हुई लता की आकृति ओर से देखने पर जैसी दीखती है, ऐसी ही आकृति इस सीवन की पड़ती है । इसका सादृश्य आधुनिक युग में 'ग्लोवस कण्टीनुअस स्यूचर' है ।[3] इसमें व्रण के एक ओर से दूसरी ओर तक अविच्छेद टाँके लगाये हैं । इस प्रकार की सीवन विधि का उपयोग ताजे और निर्दोष व्रणों के में (Asceptic) ही होता है ।

---

[1] ततो व्रण समुन्नम्य स्थापयित्वा यथास्थितम् । सीव्येत्सूक्ष्मेण सूत्रेण वल्के कस्य वा । शणजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्वा बालेन वा पुनः । मूर्वागुडूचीतानैर्वा ।
(सु. सू

[2] सीव्येद्वेल्लितकं शनैः ।

सीव्येद्गोफणिकां वापि सीव्येद्वा तुन्नसेवनीम् ।
ऋजुग्रंथिमथो वापि यथायोगमथापि वा ॥ (सु० सू० २५)

[3] अल्पान्तरन्तु कुटिलं संसीव्येद् बहुवेष्टनम् । यत्तद् वेल्लितकं नाम शास्त्रादौ युज्यते

२. गोफणिका—यह भी 'कंटीनुअस' (अविच्छेद सीवन) का ही एक प्रकार है। परन्तु इसकी रचना भिन्न होती है। इसका आकार गोफण के समान होता है। आधुनिक युग में 'ब्लैंकेट स्यूचर', नामक सीवन से इसका सादृश्य है।[1]

इसमें शस्त्रकर्ता चिमटी के सहारे व्रणोष्ठों को पकड़ कर सूई को अपनी ओर से दूसरी ओर को निकाल कर वहीं पर प्रथम टाँका लगता है। उसके बाद सूई को सूत के साथ अपनी तरफ ले आकर पूर्ववत् अपनी ओर से दूसरी ओर सूई को निकालता है। परन्तु 'इस समय सूई सहायक के द्वारा पकड़े हुए सूत्र के ऊपर निकल आती है, जिससे एक प्रकार का फंदा बन जाता हैं। इस विधि से सम्पूर्ण व्रणभाग को सी दिया जाता है। इस विधि का व्यवहार विस्तृत व्रणों के बंद करने में होता है।

३. तुन्नसेवनी—यह भी एक प्रकार अविच्छेद सीवन है। आजकल इसका प्रतीक 'हालस्टेड्स सब क्युटिकुलर स्टिच्' नामक सीवन से मिलता है। प्रकोष्ठ, जंघा और ऊरु के गम्भीर व्रणों में ऐसी सीवन की आवश्यकता होती है। इसमें व्रणोष्ठ पूर्णतया मिल जाते हैं, जिससे व्रण-वस्तु नहीं के बराबर बनती है। चीरे लगे हुए कपड़े को मिलाने में इसी प्रकार की सीवन दी जाती है।[2]

४. ऋजु ग्रंथि—इस सीवनविधि में प्रत्येक टांके पृथक्-पृथक् रहते हैं, फलतः यह एक प्रकार का सविच्छेद सीवन है, जिसे अंग्रेजी में 'इण्टरप्टेड स्यूचर'[2] कहा जाता है।[3]

इसमें व्रणोष्ठों को सूई के द्वारा पकड़ कर दोनों किनारों में से होकर सूई के द्वारा सूत्र प्रविष्ट किया जाता है। फिर सूई को सूत से अलग अलग कर गाँठ दी जाती है। गाँठ बाँध चुकने पर ग्रन्थि के साथ आधा इञ्च के लगभग सूत्र छोड़

---

१. पाटितं योनिगुदयोरन्तरं च तथा विधम्। देशं स्यूतं यथायोगं पुनस्तच्छेदशंकया ॥
नातिस्थूले नातिसूक्ष्मे शलाके द्वे निपात्य च। तदा सिक्तेन सूत्रेण संवेष्ट्य सेवनी कृता।
नाम्ना गोफणिकाबंधो दुष्करा मन्दबुद्धिभिः ॥

२. पृथक्-पृथक् तु सच्छिन्नं ससीव्येत्तुन्नसेवनीम्। या योज्या पक्ष्मकोपादौ।

३. पार्श्वात् पार्श्वान्तरं यावदृजुसूचीं निपात्य च। संवेष्टया कृष्णसूत्रेण ग्रन्थिर्या सन्धिहेतवे। क्रियते स ऋजुग्रन्थिः।

कर शेष काट लिया जाता है। इस प्रकार थोड़े-थोड़े अन्तर पर कई टाँके गाँठ बाँध कर पूरे व्रणोष्ठ को भर देते हैं।

ऋजु ग्रन्थि सीवन का उपयोग बाह्य त्वचा के व्रणों में अधिक हो क्योंकि व्रणोष्ठ विषम होते हैं, उनके मिलाने में तनाव अधिक होता है विधि में एक लाभ और है—यदि व्रण में पूयोत्पत्ति हो जाय तो सीवन के टांके काट कर पूय को निकालने में सुविधा होती है। और समस्त व्रण का ढीला नहीं होने पाता।

पञ्चम प्रकरण

व्रणितोपासनीय[1] या रक्षाकर्म (Sterlization etc)

प्राचीन युग में रक्षा कर्म नामक एक विशाल संभार का प्रयोग रोगियों में अथवा जिनका शस्त्र कर्म किया गया हो, ऐसे रोगियों में पड़ता था। इस कर्म में बहुत प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक और त्मिक उपचार करने पड़ते थे। कई प्रकार के पथ्यों का निर्देश किया जा जिनका पूर्व, कर्म, और पश्चात् कर्म तीनो अवस्थाओं में अनुपालन क होता था।

पूर्ण विश्राम— उठने, बैठने, हिलने, डुलने, करवट बदलने, टहल जोर से बोलने (उत्थानसंवेशपरिवर्त्तनचङ्क्रमणोच्चैर्भाषणादिसु) अप्रमत्त व्रण की रक्षा करना होता था। व्रणित रोगियों को शक्तिमान होते हुए कार्यों को नहीं करना चाहिये अन्यथा वायु की वृद्धि होकर व्रण में पी लगती है और व्रण का रोपण शीघ्रता से नहीं हो पाता।’

ग्राम धर्म्यं का निषेध—गम्य स्त्री का संदर्शन, संभाषण एवं स्पर्श रखना चाहिये। अन्यथा शुक्रादिक प्रधान धातुओं के स्खलन से शरीर भाविक संरक्षण शक्ति का ह्रास हो जाता है, जिससे व्रण के रोपण हो जाता है।[2]

---

१. अधिक सेवन पर 'ताश्च मृत्युश्च मैथुनात्'।

२. एवं वृत्तसमाचारो व्रणी संपद्यते सुखी। आयुश्च दीर्घमाप्नोति धन्वन्तरिव

प्रशस्त आहार—पुराने चावल का भात जो स्निग्ध तथा अल्प उष्ण हो, र जाङ्गल पशुओं का मांस–रस, इनके सेवन से व्रण–स्थान शीघ्र स्वस्थ हो ता है। कई प्रकार के शाक—चौलाई, जीवन्ती, सुनिषण्णक, बथुआ, छोटी ठी. वार्त्ताकु, पटोल, करैला; फलों में घृत-भृष्ट सैन्धव युक्त आमलकी अथवा नार; दालों में मुद्ग–यूष तथा जौ का सत्तू और विलेपी का उपयोग श्रेष्ठ है। ने के लिये शृतशीत जल देना चाहिये।

अप्रशस्त आहार—नया धान्य-उड़द, तिल, कलाय, कुल्थी, निष्पाव, हस्ति-क, अम्ल, लवण एवं कटु पदार्थ, गुड एवं पिष्ट के बने सामान, शुष्क शाक, क मांस, भेंड़ और बकरी का मांस, आनूप देशज जीवों का मांस एवं वसा, ीत जल, दूध का बना पायस, दधि, तक्र, दूध प्रभृति द्रव्यों का परित्याग व्रणित ो करना चाहिये। इनके द्वारा व्रणों में दोष की वृद्धि या पूयोत्पत्ति होती है।

मद्य का परिहार—यदि रोगी मद्य पीने का अभ्यासी हो तब भी उसको रेय, अरिष्ट, आसव, सीधु अथवा सुरा प्रभृति सभी द्रव्यों का सेवन नहीं करना ाहिये। इसका कारण यह है कि सभी मद्य अम्ल, उष्ण, रूक्ष और तीक्ष्ण होते साथ ही आशुकारी होने से व्रण को विकृत कर देते हैं। फलतः व्रण के भरने अधिक देर होने लगती है।

मानसिक प्रसन्नता—इसके अतिरिक्त अधिक देर तक तेज हवा, तेज प, धुंवादार स्थान, ओसवाले स्थानों में रहना अथवा अतिभोजन करना भी हितकर है। व्रणित के सम्मुख अनिष्ट वस्तुओं को नहीं रखना चाहिये, इससे सके मन में अनेक प्रकार के ईर्ष्या, अमर्ष, भय, क्रोध और शोक आदि का भाव ागरित हो सकता है, जिससे अनिष्ट की आशंका रहती है। इसी प्रकार रात्रि-ागरण, दिवास्वाप, अनशन, विषमाशन और अध्यशन भी रोग के अच्छे होने बाधक होते हैं। क्योंकि व्रणितों में रक्त एवं मांस आदि का अधिक नाश हो ाने की वजह से अग्नि मंद हो गई रहती है और खाये हुए अन्न का ठीक कार से पाक नहीं होने पाता। अजीर्ण होने की पद-पद पर सम्भावना रहती । अजीर्ण यदि हो जावे तो वायु के विगुण हो जाने के कारण व्रण में शोफ, ड़ा, दाह, अधिक स्राव पूयोत्पादन होने लगता है। दिवास्वाप अथवा रात्रि-ागरण से भी यही दुष्परिणाम होते हैं।

इतने प्रकार के विविध उपायों के द्वारा व्रणित की हिफाजत करने जूद भी बढ़ने वाले रोग बढ़ जाया करते हैं। वैसी दशा में दैहिक अथवा उपचारों के अधिक करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। आधिदैविक आध्यात्मिक विधानों का अनुसरण श्रेयस्कर होता है। इसके लिये अपने तंत्रों में कई उपाय बतलाये हैं :—

रोगी को देवता, ब्राह्मण, एवं गुरु की उपासना में लगा रहना चाहि छोटे-छोटे केश वाले, कटे हुऐ नाखून वाले, पवित्र वस्त्र धारण करने वा वस्त्र पहिनने वाले पवित्र आदमियों का ही प्रवेश होना चाहिये। वहां और पूज्य पुरुषों के द्वारा शान्ति एवं मंगल-पाठ होना आवश्यक है।

इस प्रकार के स्वस्त्ययन एवं मंगल-पाठ का उद्देश्य यह है कि शंकर, कुवेर और कार्तिकेय के बहुत से गण और अनुचर हैं, जो महावे राक्षसों के सदृश हिंसक होने की वजह से स्वयं राक्षस हैं, मांस और र प्रिय खाद्य है, उसी के लोभ से क्षत (व्रण) मार्ग से व्रणी में उपसर्गित हैं और उसको भयंकर कष्ट देते हैं, कई बार प्राणघातक भी हो जाते हैं।

इनका दूरीकरण कई प्रकार के पूजावों के द्वारा एवं धूप, वलि, नैवे उपहारों के द्वारा हो सकता है। इन राक्षसों का यदि भलीभाँति सं जावे तो ये घातक नहीं होते। इसलिये अतन्द्रित होकर व्रणित रोगी के नित्य कुछ स्वजनों को सदैव रखना चाहिये तथा दीपक, जल, शस्त्र, मा पुष्प, धान्य का लावा आदि द्रव्यों के द्वारा कमरे को सजाये रखना रोगी को मनोनुकूल कथा अथवा संवाद भी सुनाते रहना चाहिये।

प्रातः एवं सायं दोनों संध्याकालों में ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्ववे अपर आशीर्वचनों के द्वारा उपाध्याय और वैद्य को रोगी के रक्षा का करना चाहिये।

दस दिनों तक नित्य सर्षप, अरिष्ट-पत्र (नीम की पत्ती), घी, एवं द्वारा धूप करना चाहिये। रोगी के सिर पर छत्रा, अतिच्छत्रा, लाङ्गली, ब्रह्मचारिणी, लक्ष्मी, गुहा, अतिगुहा, शतवीर्या, सहस्रवीर्या, सिद्धार्थक आ औषधों का धारण कराना चाहिये।

कई विद्वानों ने इस वर्णन को रूपकालंकार के रूप में मानकर इसक

भौतिकता की कल्पना की है। 'हिंसाविहारी महावीर्यवान् धनपति कुवेर के राक्षसों को जो नित्य व्रणों में उपसर्ग पहुचाते रहते हैं' विविध प्रकार के विकारी जीवाणु समूह माना है। ये जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण चर्मचक्षु से अदृश्य होवे हैं, परन्तु किसी ऐसे यंत्र की सहायता से (सूक्ष्मदर्शक) जिससे चक्षु की शक्ति कई सौ गुनी बढ़ जाती है, दिखलाई पड़ते हैं। प्राचीन काल में इस प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख नहीं मिलता, निदान ये चर्मचक्षु से अदृश्य रहे होंगे—परन्तु विकृति के द्वारा अनुमान से ही इनका ज्ञान किया जा सकता था। व्रण में उपसर्गित होकर व्रण की अवस्था और रोगी की दशा को ये भयंकर बना देते थे। इसीलिये इनकी संज्ञा राक्षसों की थी।

'इन निशाचरों से व्रणित रोगियों की निश्य विविध प्रकारों के उपायों से रक्षा करने की आवश्यकता रहती है'[1]। व्रण को विविध प्रकार के जीवाणुओं से रक्षा करने के कारण ही इस कार्य को रक्षाकर्म कहा जाता है। इन रक्षा-विधियों में से अमूर्त भावनाओं को छोड़कर केवल भौतिक विधियों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जावे तो इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये विविध प्रकार के धूम्र आदि का प्रयोग आधुनिक युग की विशोधन (Sterlization) की क्रिया से सम्बन्धित है।

वर्त्तमान युग में विशोधन की प्रक्रिया शल्य तंत्र में बहुत बड़ा स्थान रखती है। जीवाणुनिरोधी (Antiseptic) और जीवाणु-राहित्य (Aseptic) कर्मों का व्यवहार भी शल्य शास्त्र की उन्नति में अन्यतम कारण है। इस क्रिया के तीन प्रकार हैं—

१. जीवित, परन्तु उपसर्गित तन्तुओं का विशोधन रासायनिक पदार्थों के द्वारा। (Disinfectant)

२. जीवाणुओं को नष्ट कर देना (Antiseptic)

३. जीवाणुओं की वृद्धि अथवा उनकी क्रियाशक्ति को रोक देना। (Aseptic)

शल्य-चिकित्सा में इस प्रकार विविध विशोधन की प्रक्रिया आधुनिक विज्ञान का एक बहुत बड़ा दान है। जब से इनका व्यवहार चिकित्सा के जगत् में होने

---

[1] निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः। रक्षाविधानैर्विविधैर्यमैः सनियमैस्तथा॥

लगा है, शल्यकर्म बहुत निरापद हो गया है। शल्य कर्म की कला मे भी अधिक हुई है।

शल्य कर्म करते हुए जीवाणु-नाशक और जीवाणु-राहित्य दोनों क आवश्यकता होती है। ये दोनों क्रियाएँ पृथक्-पृथक् रूप से असफल हो सक परन्तु यदि दोनों क्रियाओं का सम्मिलित रूप में व्यवहार किया जावे तो पहुँचाने वाले जन्तुओं का पूर्णतया नाश होकर, उनको निष्क्रिय कि सकता है।

इन विकारी जीवाणुओं का अवस्थान प्रत्येक स्थल पर है, रोगी की चिकित्सक के हाथ, यन्त्र, शस्त्र, पिचु, सूत्र, प्लोत, वस्त्रपट्ट, व्रण, वायु श्वास आदि में रह कर शल्य क्रिया के समय आक्रमण करते हैं, अतः आक्रमण से रोगी को बचाने की आवश्यकता होती है। जीवाणु-राहित्य प्र के द्वारा इन से रक्षा हो सकती है। अस्तु यावतीय पदार्थ, जिन का उ शस्त्र कर्म में किया जावे, विशुद्ध होना चाहिये।

विशोधन के लिये आजकल कई प्रकार के साधन सुलभ हैं—१. वि प्रकार के रासायनिक जीवाणुनाशक घोल (विभिन्न शक्ति के परक्लोराइड मर्करी, विनायोडायड आफ मर्करी एनीलीन डाई, यूपेड, यूजोल, डेटाल आ आयडोफार्म एवं टङ्कण आदि के चूर्ण तथा लेप। २. विविध प्रकार तीव्र (विशेषतः सत्तर प्रतिशत मद्य)। ३. विभिन्न शक्ति के अम्ल (जैसे कार्ब एसिड $\frac{१}{२०}$ से $\frac{१}{६०}$ तक)। ४. क्वथित शुद्ध जल (Sterlized water ५. उबलता हुआ जल (Boiling water)। ६. समबल एवं अतिबल विलयन आदि। ७. बाष्प ८. धूम।

प्राचीन शस्त्रों में भी इन विधियों का उल्लेख मिलता है—

१. शल्यकर्त्ता की पवित्रता—चिकित्सक को नख और रोम कटाकर करके रखना चाहिये। कर्म के पूर्व हाथों को साफ करने के लिये अधि अधिक गर्म पानी को जितना सह्य हो, व्यवहार में लाना चाहिये। धोते नखों को कूर्च के द्वारा साफ कर लेना चाहिये। अंगुलियों एवं हस्तरेखाओं दरारों में मैल हो तो उसे भी साफ कर लेना चाहिये। स्वच्छ और श्वेत धारण करना चाहिये।[१]

---

१. सदा नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा त्वया भवितव्यम्। (सुश्रुत)

आधुनिक ग्रन्थों में हाथों की सफाई के लिये पहले साबुन एवं गर्म पानी से ाथ को धोकर, कुछ देर तक सत्तर प्रतिशतक अलकोहल में भीगे वस्त्र से वल-वंक रगड़ना चाहिये, इस में मद्य के स्थान पर कार्बोलिक लोशन ($\frac{१}{४०}$) तथा ारद विलय ($\frac{१}{१०००}$) का भी व्यवहार होता है।

२. विशोधित जल (Stelized water)– शुद्ध पात्र में पानी को उबाल र रख लिया जाता है, यह जल खौलने की वजह से जीवाणु-हीन रहता है। सके द्वारा शस्त्रों एवं हाथों की सफाई की जा सकती है। प्राचीन काल में इस कार के जल से भरा घट होता था, जिससे आवश्यकतानुसार जल निकाल कर क्षालन में व्यवहार करके रक्षा करने का विधान है।[1]

इसी भाँति खौलते हुए जल में शोधन की परिपाटी प्रचलित रही।

३. जीवाणुनाशक चूर्ण –(अवधूलन कर्म)[2]

(१) पञ्चवल्कल का चूर्ण, शुक्तिचूर्ण के साथ मिलाकर अथवा धाय और लोध्र का चूर्ण व्रण को ठीक करता है।

(२) नीम की पत्ती, वच, हिंगु, घी, सैंधव आदि का धूपन और चूर्णन, कृमिघ्न, रक्षोघ्न व्रणगत कण्डू एवं पीड़ा को दूर करता है।[3]

(३) न्यग्रोधादि गण की औषधियों का अवधूलन ग्राही एवं भग्नसाधक होता है।[4] रोध्रादि गण की औषधियाँ विषघ्न भी होती हैं।

(४) मुग्ध रस (Hydragcum Creta) का अवधूलन रक्षोघ्न (विशेषतः फिरङ्गजोपसर्ग में) होता है।

(५) शंखभस्म, दुग्धपाषाण तथा टङ्कण चूर्ण भी अवचूर्णन में कई कार्यों में व्यवहृत होता है। इनमें प्रथम दो का मिश्रण युवानपिडिका में तथा शुद्ध टङ्कण का उपयोग स्राव को रोकने में अथवा पूय को नियमित करने में होता है। मधु और शुद्ध टङ्कण का लेप मुखपाक में प्रशस्त है।

४. जीवाणुनाशक लेप, वर्ति, एवं कल्कः—

प्रलेपों के लिये कई योग व्यवहार में आते हैं। घृत और मधु में प्रायः औषधियों के चूर्ण मिश्रित करके लगाये जाते हैं।

---

[1] उदककुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षयन् रक्षाकर्म कुर्यात्।

[2] पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा शुक्तिचूर्णसमायुतैः। धातकीलोध्रचूर्णैर्वा निःसारा हन्ति ये व्रणाः॥

[3] निम्बपत्रवचाहिंगुसर्पिर्लवणसैन्धवैः। धूपनं कृमिरक्षोघ्नं व्रणकण्डूरुजापहम्॥

[4] न्यग्रोधादिगणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः।

(१) तिल, सैन्धव, मधुयष्टि, निम्बपत्र, हल्दी का प्रलेप अथवा चूर्णों का मधु के साथ पीसा हुआ प्रलेप व्रणों का विशोधन करता है।

(२) तिलकल्क, नमक, हल्दी, आमाहल्दी, त्रिवृत्, निम्बपत्र एवं मधु से बना हुआ प्रलेप व्रणशोधक होता है।

(३) तिल कल्क, मधु, सर्पि इत्यादि द्रव्यों को मिला कर औषधयु का प्रणिधान करना चाहिये।

(४) किसी अङ्ग पर शस्त्र के लग जाने के कारण जो सद्यः व्रण हो है, उस पर तत्काल घी, मुलेठी और मधु का कोष्ण लेप लगाना चाहिये। योग का शास्त्र में बहुत व्यवहार हुआ है। सद्योव्रण की चिकित्सा में जिस आधुनिक युग में टिक्चर आयोडीन अथवा मर्क्यूरोक्रोम का उपयोग है सुश्रुत ने भी वैसे ही स्थलों पर प्रयोग बतलाया है।[1]

(५) सद्योव्रणों में सर्वत्र कोष्ण घृत और सर्पि का प्रयोग बतलाया है–इसके द्वारा व्रणित स्थान की ऊष्मा निकलने नहीं पाती एवं व्रणों का भी शीघ्रता से हो जाता है। घृत और मधु का मिश्रण विषहर, (Antiseptic), जन्तुघ्न एवं कृमिघ्न (Disinfectant), मधुर रस कारण सन्धान करने वाला होता है।

(६) लशुन का कल्क भी व्रण के ऊपर लेप करने से कृमिघ्न हो जा

(७) सद्योव्रणों में विशेषतः चाकू, ब्लेड, तलवार आदि व्रणों पर नामक वनस्पति के पत्रों को तोड़कर उसके ताजे स्वरस का लेप उत्तम करता है। यह रक्त स्तंभक तथा व्रण का सद्यः रोहण करता है।

५. इसके अतिरिक्त कई प्रकार के जीवाणुनाशक तैल, घृत और आदि का प्रयोग भी व्रण के विशोधन में होता है—

प्राचीन युग में लेपों के बनाने के लिये चूर्णों को घृत और मधु में पड़ता था। कई एक योग मधूच्छिष्ट में भी बनाये जाते थे। आधुनिक मल्हम वेसलीन (पीला या श्वेत) अथवा लेनोलीन में बनाये जाते हैं। या सिक्थतेल में बने कई यौगिक आज भी व्यवहार में आते हैं।

---

[1] या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन॥ (सु. सू.)

उदाहरण के लिये:—(१) सिक्थतैल या मधूच्छिष्टादिलेप-तिल तैल ५ भाग, देशी मोम एक भाग को वङ्ग-लिप्त कड़ाही में खौलावे। द्रव ने पर छान कर गाढ़ा बनने तक गाढ़ा करते रहना चाहिये। यह पदार्थ सभी यों के निर्माण में सामान्यतया व्यवहृत होता है।

(२) **कज्जलिकाद्यमलहर**–सिक्थ तैल ४८ तोला, कज्जली २ तोला, शुद्ध द्दारशृङ्ग २ तोला, काम्पिल्लक ८ तोला, तुत्थ ३ माशा। समस्त द्रव्यों का चूर्ण क्थ तैल में मिलाकर रख लेते हैं। इसका प्रयोग व्रणों के शोधन एवं रोपण हितकर है।

(३) **गन्धकादि मलहर**—सिक्थ तैल ६ तोले में शुद्ध गन्धक ½ तोला, रिसिन्दूर ½ तोला, शुद्ध टङ्कण २ माशा, कर्पूर १ माशा मिलाकर बनाया ाता है। पामा एवं छोटी पिडिकाओं में प्रयुक्त होता है।

(४) **गैरिकादि मलहर**-सिक्थ तैल ६ तो०, स्वर्ण गैरिक १ तो०, हरिद्रा तो०, ताल १ माशा के मिश्रण से बनाया जाता है। उपयोग एवं गुण पूर्ववत् है।

(५) **टङ्कणाम्ल मलहर**—टङ्कणाम्ल एवं सिक्थ तैल के एक और आठ के नुपात से क्रमशः मिश्रण करके तैयार किया जाता है। दग्ध व्रण के शोधन एवं रोपण में व्यवहृत होता है।

(६) **टङ्कणामृत मलहर**—शुद्ध टङ्कण २ तो०, शु० स्वर्जिका ६ माशा, शु० कासीस ६ मा०, अश्वत्थक्षार २ माशा—इन द्रव्यों के चूर्णों को सिक्थ तैल १२ तोले में मिला कर रखना चाहिये। गुण-धर्म पूर्ववत् ही है।

(७) **मृद्दारश्रृङ्गादि मलहर**-आठ तोले सिक्थ तैल में मृद्दारशृङ्ग एक तोला डालकर मिलाने से बनता है। यह व्रणशोधक एवं त्वच्य है।

(८) **तालकोद्य मलहर**–सिक्थ तैल ३० तो०, शु० ताल २ तो०, कज्जली, हरिद्रा, खदिर, गैरिक एवं गिरिसिन्दूर में से प्रत्येक १ तो०, शु० मनःशिला ६ माशा। यह लेप भी जीवाणुनाशक होकर पामा, विचर्चिका, कुष्ठ, कण्डू नए चर्मविकारों में लाभप्रद है।

(९) **तुत्थामृत मलहर**-सिक्थ तैल १० तोले में निर्मल तुत्थ दस रत्ती भली भाँति मिलाने से यह लेप बनता है।

(१०) **तुत्थकादि मलहर**—कलछुल में २ तोले घृत को गर्म करके उसमें ६ माशा राल छोड़ देना चाहिये। जब राल मिल जावे तो खरल में छोड़कर

साफ किया हुआ तुत्थ ३ माशा, खड़िया १ तो०, वराट भस्म १ तो०, शु १ तोला मिला कर थोड़ा-थोड़ा जल डाल कर घोंटना। जब नीला पानी लगे तब जल मिलाना और घोंटना बन्द कर देना चाहिये। यह लेप होता है। विशेषतः व्रणशोधक (Disinfectant) है।

(११) **यशदामृत मलहर**—सिक्थ तैल ६ तोला, पुष्पाञ्जन (यशद भस्म) को मिलाकर बनता है। विशेषतः रोपण कार्यों में व्यवहृत है

(१२) **रसपुष्पादि मलहर**—एक तोले सिक्थ तैल में चार रत्ती को मिलाने से बनता है। सिक्थ तैल के स्थान पर चार तोले शतधौत नव योग से भी मल्हम को बना सकते हैं। दोनों प्रकार के लेप फिरङ्ग-जीवा लिये घातक होते हैं।

(१३) **सर्जरसादि लेप**—राल ५ तोला, पारद ३ माशा, तुत्थ १ सर्षपतैल १५ तोला, गंधक द्रव १ सेर। राल और तुत्थ को बारीक चू कर पारद और तेल के साथ खरल करना चाहिये। अच्छी तरह से मि पर गन्धक का पानी थोड़ा-थोड़ा मिलाकर घोंटने से मल्हम बन जावेगा लेप को धातु के बर्त्तनों में नहीं रखना चाहिये। यह भी रोपण का कार्य है। त्वचा के विकारों में भी हितकर है।

(१४) **सिन्दूर मलहर**—सिक्थ तैल ६ तो०, शु० टंकण ६ माशा, ६ माशा। यह योग प्रशस्त रक्षोघ्न (Antiseptic) तथा शोधन (infectant) है।

(१५) **हिंगुलामृत मलहर**—सिक्थतैल १२ तो०, हिंगुल ६ माशा, शृङ्ग, टंकण, कपूर, रसपुष्प, फिटकिरी तथा गिरिसिन्दूर प्रत्येक २ माशा।

(१६) **हिंगुलादि मलहर**—इसके निर्माण में सिक्थतैल के साथ सिन्दूर और हिंगुल ही ६ माशे के अनुपात से मिलते हैं। तैल की १२ तोले ही रहती है। गुण धर्म पूर्ववत् ही है।

(१७) **मदनादि लेप**—कुछ लेप केवल मधु में ही मिलाकर तैयार जाते हैं। जैसे मदनफल ५ भाग, कपूर २ भाग, मधु १० भाग। यह कण्डू में लाभप्रद होता है।

(१८) कुछ ऐसे भी लेप हैं, जो केवल घृत में मिलाकर ही बना लिये हैं—जैसे-पारद, जीरा श्वेत, जीरा कृष्ण, मरिच, हरिद्रा, दारुहरिद्रा,

न्धक, मैनशिल सभी के समान भाग चूर्ण को यथावश्यक घृत में डाल कर नाया हुआ रसादि लेप। इस लेप का उपयोग पामा (खुजली) में उत्तम कार्य रता है।

(१९) मनःशिलादि लेप—चरक में मनःशिला, हरताल, कालीमिर्च, ठ और मदार का दूध मिलाकर बनाया लेप सभी प्रकार के कुष्ठ विकारों र्थात् त्वक् रोगों में लाभप्रद बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त भी बहुत से द्ध लेपों का वर्णन आता है। विस्तार भय से उनका उल्लेख नहीं किया ा रहा है।[1]

६. आधुनिक युग में कई प्रकार के रासायनिक द्रव्यों के विभिन्न शक्ति के ोल व्रणों के प्रक्षालन अथवा जीवाणुनाशक होकर यन्त्रोपयन्त्र एवं शस्त्र आदि के विशोधन में प्रचलित हैं। प्राचीन युग में इनके स्थान पर कई प्रकार के ाष्ठौषधियों के क्वाथ इन कार्यों में लाये जाते थे। इनके मृदु रक्षोघ्न होने के कारण त्वचा, उपत्वचादि जीवित तन्तुओं को नुकसान नहीं पहुंचता साथ ही रोपण का भी गुण होता है।

(१) व्रण में कृमियों का उपसर्ग पहुंचने से पुनः दारुण शोथ होने की संभावना रहती है, पीड़ा बढ़ जाती है, विविध प्रकार के स्राव होने लगते तथा अधिक रक्तस्राव होने लगता है। ऐसी दशा में सुरसादि गण की ओषधियों से सिद्ध स्वच्छ क्वाथ के द्वारा रक्षा का विधान करना चाहिये।"[2]

(२) ऐसी ही सुरसा और आरग्वधादि क्वाथों के द्वारा भी प्रक्षालन की विधि है।

(३) अर्कादि गण में उक्त ओषधियाँ कफ, मेद, एवं विष से दूषित व्रणों में विणेषतः व्रणों के शोधन में व्यवहृत होती हैं।

(४) यदि बहुत दूषित स्थान हो तो विशोधन में पटोल और नीम की

---

[1] आरग्वधीयाध्याय चरक सूत्रस्थान में—
मनःशिलाले मरिचानि कुष्ठमार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः।

[2] मक्षिका व्रणजातस्य निःक्षिपन्ति यदा कृमीन्।
श्वयथुर्भक्षिते तैस्तु जायते भृशदारुणः॥
तीव्रा रुजो विचित्राश्च रक्तास्रावश्च जायते।
सुरसादिर्हितस्तत्र .... ॥ (सु० चि० १)

पत्ती के काढ़े से प्रक्षालन करना चाहिये। क्योंकि प्रथमोक्त तीव्र जीवा
तथा पश्चादुक्त मृदु होता है।

(५) साधारणतया वातिक व्रणों में पञ्चमूल अथवा दशमूल क्वाथ का
व्रणों में न्यग्रोधादि गण की औषधियां तथा कफज व्रणों में आरग्वधादि
वनस्पतियों के क्वाथ का प्रयोग होता है।[1]

(६) करञ्ज, नीम एवं निर्गुण्डी का बना क्वाथ तीव्र जीवाणुना
कृमिघ्न है।[2]

(७) निम्ब, सम्पाक, जाती, अर्क, सप्तपर्ण, कनेर का प्रयोग गोमूत्र से
संयुक्त करके होता है। इसके द्वारा व्रणों का परिषेक, आलेप एवं धावन
जाता है।[3]

(८) गूलर की पत्तियों का क्वाथ बनाकर पुनः उसको रसक्रिया की
से गाढ़ी करके उदुम्बरसार बनाया जाता है। इसमें थोड़ी मात्रा में कपूर भी
रहता है। इस सार को कोष्ण जल में घोलकर विभिन्न रोगों में प्रक्षाल
कार्य किया जाता है। यह द्रव व्रणों का शोधन एवं रोपण करता है।[4]

७. इसके अतिरिक्त कुछ रासायनिक पदार्थों के बने घोलों का भी जी
नाशक एवं शोधन की प्रक्रिया में व्यवहार दिखलाई पड़ता है।

(१) गंधकद्रव—नैनियागंधक १ भाग, चूना १ भाग, जल १६
गन्धक को कूट कर चूरा कर लें, फिर चूना और जल को मिला कर प
जब द्रव का रंग नारंगी के वर्ण का हो जाय तो छान के रख लेना चाहिये

इस का प्रयोग पामा, विचर्चिकादि यावतीय क्षुद्र कुष्ठों एवं चर्मविका
होता है।

(२) तुत्थद्रव—तुत्थ २ गुंजा, परिस्रुत जल ५ तोला, तुत्थ का जल
में बनाकर छान लेना चाहिये। यह दुष्ट तथा जीर्ण व्रणों का शोधन और
करता है।

---

[1] पंचमूलीद्वयं वाते न्यग्रोधादिश्च पैत्तिके। आरग्वधादिको योज्यः कफजे सर्वकर्म

[2] करञ्जारिष्टनिर्गुण्डीरसो हन्याद् व्रणं क्रिमीन्। (यो० र०)

[3] निम्बसम्पाकजात्यर्कसप्तपर्णाश्वमारकाः।
क्रिमिघ्ना मूत्रसंयुक्ताः सेकालेपनधावनैः॥ (च० द०)

[4] 'गूलरगुणविकास' नामक पुस्तक में विशेष गुण, धर्म, एवं निर्माणविधि को देखें

(३) रसकपूर द्रव-एक भूतघ्न चक्रिका का ६० तोले जल में घोल ाना चाहिये। भूतघ्न चक्रिका के योग में रसकपूर ७३ भाग, निम्बुकाम्ल, भाग मिलाना चाहिये। प्रतिगोली को ६ रत्ती परिमाण का बनाना चाहिये। तीव्र जीवाणुनाशक एवं शोधक है।

औषध तैलों के कई प्रयोग ग्रन्थ में बतलाये गये हैं, जिनका वर्णन चिकित्सा प्रसङ्ग में अन्यत्र होगा, यहाँ पर एक अधिक प्रचलित तैल का ही वर्णन प्रासंगिक नहीं होगा।

(१) पञ्चगुण तैल—तिल तैल ३२ भाग, गुग्गुल १ भाग, शिलारस भाग, श्रीवेष्टक १ भाग, सिक्थ १ भाग, राल १ भाग, त्रिफला ३ भाग, गुंडीपत्र ३ भाग, निम्बपत्र ३ भाग, जल १२८ भाग, कपूर १ भाग। तैल-क की विधि से पाक कर के तैल की सिद्धि होती है।

यह तैल व्रणशोफशामक, व्रणशोधक तथा रोपक है। तत्काल कटे अंगों र लगाने से घाव में पूयोत्पत्ति की भी सम्भावना कम हो जाती है। पुराने णों में इसका प्रयोग बहुत ही हितकर है। वायुशामक होने के कारण हर एक कार के वातिक शूल अथवा अभिघातज पीड़ा में लाभदायक है। इस तैल के द्वारा व्रणोपचार (Dressing of the Wound) बड़ा ही लाभप्रद पाया या है—क्योंकि इसमें शोधन एवं रोपण के दोनों ही गुण विद्यमान हैं।

७—८. **वाष्प एवं धूपन के द्वारा शोधन**—गृह तथा वस्त्र की शुद्धि (Disinfection of Rooms cloth Etc) चरक में लिखा है कि मयूरपुच्छ, बक की हड्डी, सरसों, चन्दन आदि को घृत में मिलाकर जलाने से धुएँ के द्वारा घर, शयन करने के आसन तथा वस्त्र आदि का विष विनष्ट हो जाता है। वे शुद्ध हो जाते हैं, उनसे किसी प्रकार के रोग फैलने की सम्भावना नहीं रहती।[1]

शार्ङ्गधर संहिता में भी ऐसा ही उल्लेख आता है—मयूरपिच्छ, निम्बपत्र, बृहती का फल, मरिच, हिंगु, जटामांसी, कपास का बीज, बकरी का रोम, सर्प का निर्मोक, विडाल की विष्ठा, गजदन्त का चूर्ण आदि का कुछ घी में मिलाकर

---

१. शिखिबर्हबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च घृतयुक्तः।
धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषनुत्॥ (च० सं०)

घर में धूपन करने से गृह की शुद्धि होती है। बालग्रहों की बाधा शा
है। पिशाचों एवं राक्षसों (भौतिक दृष्टि से विविध जीवाणु) का नाश हो
है। रोगी ज्वर मुक्त हो जाता है।

इसी भांति सुश्रुत तथा अन्य ग्रन्थकारों ने भी सरसों, नीम की
एवं लवणादि का धूपन घरों में करने का विधान किया है।

व्रणों का धूपन—(Fumigation)— दूषित व्रणों के धूपन
भी कई प्रकार नाड़ी-यन्त्रों का प्रयोग यंत्र-प्रकरण में देख चुके हैं। क्षौ
घी और मधु का धूपन में प्रयोग मिलता है। ये द्रव्य व्रणगत रा
नाश करते हैं।

व्रण में नीम और वचादि का धूपन प्रशस्त है (शार्ङ्गधर)। यों
गर्भाशय के धूपन में विशेषत: मूढगर्भ की अवस्था में कृष्णसर्प के नि
धूपन बतलाया गया है।

९ अग्नि के द्वारा विशोधन—'अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्' अ
शस्त्रों से ही छेदन करना चाहिये। इसका अर्थ विशोधन के अतिरिक्त औ
भी नहीं है।¹

१० पायना-विधियाँ—कुछ विद्वानों की सम्मति में पायना-विधि
वर्णन विशोधन अथवा स्टरलाइजेशन का ही वर्णन है। यन्त्र और शस्त्रों
करके पुन: उनको त्रिविध द्रवों में (तैल, उदक अथवा क्षार में) रखना
धारा को तीक्ष्ण नहीं करता वरन् उन्हें जीवाणु-रहित और निर्दोष कर दे

इस प्रकार रक्षाविधान के विविध प्रसङ्गों का उल्लेख हुआ। उसके
अङ्गों का पथ्य एवं विशोधन के त्रिविध उपचारों का भी वर्णन किया गया
वर्णन के आधार पर यह नि:शङ्क कहा जा सकता है कि प्रत्न शल्य-वि
को (एसेप्टिक और एण्टीसेप्टिक या डिसइन्फैक्टैण्ट सर्जरी का) जीवा
एवं राहित्य का विशेष ज्ञान था और वे सदैव राक्षसों के उपद्रवों से ब
लिये व्रणित को पूर्ण रक्षा-विधानों (Sterliz-tion) से सुसज्ज रखते

यद्यपि मूलत: प्राच्य एवं प्रतीच्य चिन्तन धारा में बहुत भेद है। प्र
प्रधान चिकित्सक होने के नाते शरीर की क्षमता को महत्त्व देता है—क्ष

---

१. अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यादन्यथा पाकभयं स्यात्। (निबन्धसंग्रह)

कर रसायन की विधियों के द्वारा रोग की अनुत्पत्ति का प्रयास करता है, ी धारा में विचार बीज-प्रधान चिकित्सकों का है, वे कारणभूत जीवाणु का प्रथम कर्तव्य समझते हैं। प्रथम का जो कारण है वह द्वितीय का कार्य। द्वितीय का जो कारण है वह प्रथम का कार्य।

इसी लिये कारण कार्य के भेद से चिकित्सा-सूत्रों में जहाँ-तहाँ विभेद हो ा है। अपने लक्ष्य को पहुंचते हैं दोनों ही।

विशोधन के लिये प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का विचार किया जाय तो अत्यन्त ीन काल से लेकर आधुनिक युग तक तीन प्रकार के पदार्थों का व्यवहार ज्ञात ा है। अति प्राचीन काल में काष्ठौषधियों के कषाय का व्यवहार, मध्य युग में य तथा मृदुवीर्य रासायनिक घोलों का प्रयोग, तथा आधुनिक काल में तीव्र ायनिक द्रव्यों के द्रवों का इस्तेमाल। इस तरह क्रमशः मृदु से तीव्र, तीव्रतर र तीव्रतम जीवणुनाशक घोलों का व्यवहार होता आया है। आज के युग में फा तथा एण्टीबायटिक का प्रयोग बहुलता से होने लगा है। यद्यपि ये द्रव्य व्रतम जीवाणुनाशक होते हैं; परन्तु इनके प्रयोग से शरीर की सहज आत्म- क्षण शक्ति या जीवनी शक्ति (Body resistance against Bacte- al Infections or Natural Immunity or Vitality) नों-दिन क्षीण होती चली जाती है।

तीव्रतम जीवाणु और तृणाणुनाशक घोलों का जहाँ गृह, वस्त्र, यन्त्र, शस्त्र, स्तर और कमरे आदि के विशोधन से सम्बन्ध है, उनकी अधिक तीक्ष्णता कर होगी तथा शोधन शीघ्र और उत्तम होगा। परन्तु व्रणों में (आघात या त्र कर्म के द्वारा) इनसे प्रयोग के उतने उत्तम लाभ की आशा नहीं की जा ती, क्योंकि इनके घोलों के द्वारा जीवाणुओं के नाश के साथ ही साथ ानिक धातुओं का भी कुछ न कुछ नाश होने लगता है, जिससे व्रण के रोपण देर हो जाया करती है। इस दृष्टि से मध्य युग में व्यवहृत होने वाले योग वा प्राचीनयुग में प्रयुक्त होने वाले वानस्पतिक कषाय-प्रभृति योग अधिक भप्रद होंगे। उनके द्वारा व्रण के शोधन अर्थात् जीवाणु-नाशन के अतिरिक्त पण भी होता चलेगा। ऐसे योगों का संकलन द्रव्य-संग्रहणीयाध्याय में आगे या जावेगा।

* * *

षष्ठ प्रकरण

त्रिविध कर्मीयाध्याय

शस्त्र कर्म के सम्बन्ध में तीन विभाग किये जाते हैं[1]। लङ्घन, विरेच आदि सार्वदैहिक एवं स्थानिक विशोधन (Sterlization) आदि पूर्व कर्म कहलाते है। इसके लिये आधुनिक युग में पारिभाषिक शब्द की तैयारी' (Preparation of the patient)। २. प्रधान मुख्य शस्त्र क्रिया का ग्रहण होता है, उसे प्रधान शस्त्र कर्म (Main tion) कहते हैं। ३. पश्चात् कर्म में व्रणितोपचारादि उपाय तथा व्रण- का समावेश है, अस्तु, इस कर्म को पश्चात् चिकित्सा (After treat कहा जाता है।

पूर्व कर्म—प्राचीन काल में आधुनिक संज्ञाहर द्रव्यों का अभा जिससे रोगी पूर्ण निःसंज्ञ नहीं होता था। रोगी के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्व धानुसार शस्त्रकर्म भी सम्भव नहीं था, इसलिये शस्त्रकर्म के समय यन्त्रण करना आवश्यक होता था। रोगी यंत्रशाकट से कस कर ब जाता था एवं मजबूत परिचारक उसको कसकर पकड़े रहते थे। दूसरी आस्तिकता की रही। शस्त्रकर्म के पूर्व अथवा पश्चात् काल में शुभ विचार करते हुए दैवाधीन सफलता को मानते हुए ईश्वराराधन की आ होती थी। वैद्य केवल निमित्त मात्र होकर चिकित्सा प्रारम्भ करता कि नीचे के उद्धरणों से स्पष्ट होगा।

'शास्त्रकर्म करने के पूर्व जो-जो चीजें आवश्यक हों, उनको इकट्ठा अपने समीप में शल्यविद् को रखना चाहिये। प्रत्येक शस्त्रकर्म में वस्तु भिन्न हो सकती हैं, परन्तु कुछ ऐसे द्रव्य भी हैं, जिनका सामान्यतया प्रकार के शस्त्रकर्मों में प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए विविध प्रकार शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, शृङ्ग, जलौका, अलाबू, जाम्बवौष्ठ, (एवं क्षारकर्म का एक साधन) विशोधित पिचु प्लोत (Gauze), सु

---

[1] लङ्घनादि विरेकान्तं पूर्वकर्म व्रणस्य च। पाटनं रोपणं यच्च प्रधानं कर्म तत्
बलवर्णाग्निकार्यं तु पश्चात्कर्म समादिशेत्। (सु०)

Bandage), मधु. घृत, वासा, दूध, तेल, तर्पण (ग्लानि, निवारक द्रव्य), षाय, आलेप, कल्क, व्यजन (पंखा), उष्णोदक, एवं कड़ाही आदि। सके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी परिचारक हों जो बलवान् हों रोगी का यन्त्रण र सकें, रोगी को पकड़कर रख सकें, साथ ही उन्हें दयालु, दृढ़ एवं रोगी पर म का वर्त्ताव करने वाला भी होना चाहिये। ये ही द्रव्य अग्रोपहरणीय कहलाते । इनका संग्रह कर्म के अग्र में प्रथम से कर रखना होता है।[1]

अग्रोपहरणीय द्रव्यों के संग्रह के पश्चात्, शुभ तिथि, करण, मुहूर्त्त एवं नक्षत्र र दही, अक्षत, अन्न-पान तथा रत्नादि से ब्राह्मण और वैद्यों का पूजन करके लि, दान, मङ्गलाचरण और स्वस्तिवाचन कराके शस्त्रकर्म का आरम्भ करना चाहिये। शस्त्रकर्म-जनित ग्लानि के निवारण के लिए तथा शस्त्रजन्य घाव से रक्तस्राव थोड़ा कम करने के लिए लघु भोजन ही करना चाहिये। कुछ ऐसे भी रोग हैं विशेषतः मूढगर्भ, अर्श, अश्मरी और उदर रोग, जिनमें विना भोजन कराये ही क्रिया की जाती है। क्योंकि इन रोगियों में प्रत्यावर्त्तन-क्रिया के द्वारा वमन होने लगता है। यदि रोगी मद्यप हो तो उसे तीक्ष्ण, मद्य पिला देना चाहिये, इस से शस्त्रकर्म की पीड़ा को सहन करने की शक्ति आ जाती है और मत्त होने की वजह से शस्त्रकर्म का अनुभव भी नहीं हो पाता।’

रोगी के शस्त्रकर्म का स्थान भी विशोधित होना चाहिये। रोगी को शल्य-कर्म किये जाने के पूर्व ही व्रणितागार में प्रविष्ट करना चाहिये। आजकल यह समय कम से कम दो या तीन दिन पूर्व का होना माना जाता है। इस काल में शल्यकर्म के अड़तालीस घण्टे पूर्व जिस स्थान पर शल्यकर्म करना होता है, उस स्थान की सफाई आवश्यक होती है—यदि वह स्थान रोमाकीर्ण हो तो क्षुर, कर्त्तरी तथा संदंश की सहायता से बालों को काटकर साफ कर देना, क्योंकि रोमों के

---

१. लघुभुक्तवन्तम् । अल्पान्न द्रवप्रायं स्निग्धमुष्णं भुक्तवन्तम् ।

प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक् ।
मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनाऽसहः ॥
न मूर्च्छेत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुद्धयति ।
तस्मादवश्यं भोक्तव्यं रोगेषूक्तेषु कर्मणि ॥

मूढगर्भोदरार्शोऽश्मरीभगन्दरमुखरोगेषु अभुक्तवतः कर्म कुर्वीत ।

रहते उस स्थान का व्रण शीघ्रता से नहीं भर पाता।[1] इस स्थान को शा गर्म पानी से धोकर जीवाणुनाशक घोलों (जैसे ईथर, लाइकर, अथवा तारपीन के तैल) का प्रयोग कर स्थान को शुद्ध करके कार्बोलि की भींगी कवलिका (१% शक्ति का घोल) से ढककर स्वच्छ पट्टी जाती है। पुनः शस्त्रकर्म करते समय खोलकर कार्य शुरू किया जाता है।

रोगी के शस्त्रकर्म का स्थान सुप्रकाश में रखने के लिए सूर्याभिमुख पूर्वाभिमुख रखना चाहिये। एवं वैद्य रोगी के विपरीत दिशा में मुख कर करता है। रोगी को यंत्रण से स्थिर कर देना चाहिये।

प्रधान कर्म—रोगों के अनुसार शस्त्र क्रिया विविध प्रकार की होती है मामूली कर्म, एक विद्रधि में चीरा लगाने की विधि का यहां उल्लेख प्र होगा। चिकित्सक को मर्मस्थलों का अर्थात् सन्धि, सिरा, स्नायु सन्निपात को बचाते हुए शस्त्र अनुलोम (रोग की दिशा में) प्रवेश चाहिये। पाक-स्थान में शस्त्र प्रवेश करने की विधि है—लोम की अनुसार ऊपर से नीचे की तरफ यथायोग्य। इस से पूय का स्राव ठीक जाता है। जहाँ तक पूय दिखाई दे उतनी गहराई तक शस्त्र का प्रवेश चाहिये। यदि पाक का स्थान विस्तृत हो तो कम चौड़ाई वाला व्रण पूय का निर्गमन ठीक रीति से नहीं हो पाता; इसलिये व्रण को दो-तीन तक चौड़ा रखा जा सकता है। कभी कभी इससे अधिक चौड़े आवश्यकता पड़ती है। जब पाक स्थान वड़ी दूर में फैला हो तो द्व्यङ्गु माण व्रण से काम नहीं चलता, उस समय द्व्यङ्गुल अथवा त्र्यङ्गुल परि अनेक व्रणों की आवश्यकता पड़ती है। ये व्रण एक दूसरे से दो या तीन की दूरी पर होने चाहिये।[2]

---

१. रोमकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति। क्षुरकर्त्तरिसंदंशैः तस्य रोमाणि नि

२. ततः प्रशस्तेषु तिथिकरणमूहूर्त्तनक्षत्रेषु दध्यक्षतान्नपानरत्नैरग्नि विप्रान् श्चार्पयित्वा, कृतवलिमंगलस्वस्तिवाचनं, लघुभुक्तवन्तं, प्राङ्मुखमातुरमुपवेश्य, प्रत्यङ्मुखो वैद्यो मर्मसिरास्नायुसंध्यस्थिधमनीः परिहरन्, अनुलोम शस्त्रं निद दर्शनात्, सकृदेवापहरेच्छस्त्रमाशु च महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलान्तरं त्र्यङ्गु शस्त्रपदमुक्तम्। एकेन वा व्रणेनाशुध्यमाने नान्तरा बुद्धयाऽवेक्ष्यापरान् व्रणान्

(सु०

व्रण करते समय शस्त्र का चालन इस प्रकार का होना चाहिये कि एक बार ही काम हो जावे, साथ ही 'आशु' तेजी के साथ भी क्रिया होनी चाहिये। तः ऐसी क्रिया करने वाले शल्यविद् को शौर्यवान्, आशुक्रियावान्, म्मोह, अस्वेद एवं अकम्प (कम्प न होना) का भी गुण होना चाहिये। त्र की धारा भी तीक्ष्ण होनी चाहिये।[1]

(अ) प्रशस्त व्रण[2]—

१. **आयताकार और विशाल**—शोथ की विस्तृति के अनुसार होना हिये, जिससे पूय का निर्हरण भली-भाँति हो जावे।

२. **सुविभक्त**—शस्त्र के तीक्ष्ण नहीं होने की वजह से प्रशस्त व्रण बनाने लिये कई बार काटने की आवश्यकता होती है, जिससे त्वचा एवं मांसादिक तुओं का अधिक नाश हो जाता है। व्रण का सन्धान भी ठीक नहीं हो पाता। जाने पर व्रणवस्तु (निशान) भी बहुत बड़ा बनता है, इस लिये व्रण को वभक्त होना चाहिये।

३. **निराश्रय**—अङ्गुली के मर्दन से पूरे पूय का निर्हरण हो जाना चाहिये ससे कहीं पर पूय का कोई आश्रय (Pocket) नहीं रह जावे।

४ **प्राप्तकालकृत**—आमावस्था में चीरा लगाने से पूय का निर्हरण अच्छी ह से नहीं हो पाता, स्थानिक त्वचादि धातुओं का नाश एवं वेदना अधिक ती है। इसके विपरीत पक जाने पर उसकी उपेक्षा करने से, पूय के द्वारा तरी या गहराई के धातुओं में प्रविष्ट होकर नाड़ी बनकर अधिक धातुओं का श भी संभव रहता है। .इसी लिये ठीक पक्वावस्था में शस्त्रावचारण होना हिये।

(ब) यदि एक व्रण के करने से पाक-स्थान की शुद्धि न हो पावे तो वैद्य नी बुद्धि के अनुसार कई और घाव भी कर सकता है[3]। इस प्रकार जहाँ हाँ पूय (दोष) की गति मालूम हो, उभार प्रतीत हो; वहाँ वहाँ पर व्रण ना चाहिये, जिससे दोष भीतर में अवशिष्ट न रह सके।

---

[1] शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथु। असंमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते॥

[2] आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः। प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते॥

[3] यतो यतो गतिं विद्यादुत्संगो यत्र यत्र च। तत्र तत्र व्रणं कुर्याद्यथा दोषो न तिष्ठति॥

(ख) इस प्रकार स्थान भेद से भी छेदविधियों में अन्तर है । जैसे—

(क) भ्रू, कपोल, शंख प्रदेश, ललाट, अक्षिपुट, ओष्ठ, (मसूड़े), कक्षा, कुक्षि, वंक्षण प्रदेश में तिर्यक् (तिरछे) भेदन (Inc देना चाहिये ।

(ख) हाथों एवं पैरों में चन्द्रमण्डलवत् गोल छेद करना चाहिये ।

(ग) गुदा तथा लिङ्ग में अर्द्ध चन्द्राकार छेदन होना चाहिये ।

क्योंकि उपर्युक्त स्थानों में अन्यथा छेद करने से सिरा एवं स्नायु हैं, वेदना अधिक होती है । व्रण के भरने में अधिक समय लगता है । त कन्द (मांस की गाँठ) निकल आती है ।

व्रण का बन्धन—तदन्तर शस्त्रकर्म होने के पश्चात् रोगी की और वेहोशी दूर करने के लिये ठंडा पानी पिलाना अथवा ठंडे पानी से करना चाहिये । व्रण के चारों तरफ से भीतर एवं बाहर से पीड़न कर द्रव्य-कृत क्काथ से प्रक्षालन करना चाहिये । फिर व्रण के भीतर बचे हुए जल को कपड़े से सुखा कर (Soak) तिल कल्क, मधु और घी में वर्ति (Gauze) को व्रण के भीतर रखे । वर्ति नातिस्निग्ध-रूक्ष होनी क्योंकि अतिस्निग्धता के कारण क्लिन्नता बढ़ती है । पूय का निर्हरण पाता । इसके विपरीत रूक्षता की वजह से व्रणों के ओष्ठों के छिल जाने रहता है, जिस से व्रण का रोपण अच्छा नहीं हो पाता ।[1] व्रण की अनुसार वर्ति की भी लम्बाई रहती है । ज्यों ज्यों घाव भरता जाता है लम्बाई छोटी होती जाती है । कभी कभी वर्ति के स्थान पर व्रण के अधिक होने पर छेद कर के रबर की नली (Drainge tube) पड़ती है । फिर व्रण के ऊपर लुग्दी से ढककर ऊपर से मोटी गद्दी (क रूई की अथवा कपड़े की (Lint pad) होनी चाहियें—तत्पश्चात् कपड़े से व्रण का बन्धन करना चाहिये । ये वस्त्रपट्ट (Band

---

[1] तिलसर्पिर्मधुप्रगाढामौषधयुक्तामोषधि प्रणिदध्यात् । विकेशिकामौषधञ्च नातिस्निग्धं समाचरेत् ।। प्रक्लेदयेदतिस्निग्धा तथा रूक्षा युक्तस्नेहा रोपयति दुर्न्यस्ता वर्त्म घर्षति । विषमं च व्रणं कुर्यात्स्तम्भयेत्सा

वालिका (Pad) और विकेशिका या वर्ति (Gauze) जीवाणु-विरहित Sterile) होने चाहिये ।

पश्चात्कर्म—शस्त्र कर्म हो जाने के पश्चात् रोगी को उसके पूर्ण आराम का ान रखते हुए व्रणितागार (Surgical Ward) में रखना चाहिये । रोगी का स्तरअसम्बाध स्वास्तीर्ण, मनोज्ञ एवं प्राक्शिरस्क होना चाहिये । पुनः रक्षोघ्न र वेदनाशामक औषधियों से व्रण का धूपन तथा राक्षस-नाशक मन्त्रों से रक्षा रनी चाहिये। दुर्गन्ध को नष्ट करने के लिये, रोगवाहक कृमिकीटों को दूर करने के ये अथवा विकारी जीवाणुओं को मारने के लिये गृह का भी धूपन आवश्यक । इसके लिये गुग्गुल, अगुरु, राल, वच और पीले सरसों के चूर्ण से एवं लवण र नीम की पत्ती को घृत के साथ मिला कर कमरे में जला कर धुवाँ करना ाहिये ।

रक्षाकर्म—कलश में से हाथ में जल लेकर व्रणित के ऊपर मन्त्रों के द्वारा क्षण करते हुए रक्षा कर्म का विधान करना चाहिये ।[1] इस विधि से रक्षा किये ये रोगी को उसके रहने के आगार में ले जाकर आहार-विहार सम्बन्धी चरण का निमम बना देना चाहिये । इसका विशेष वर्णन रक्षाकर्म अथवा णितोपासनीयाध्याय में किया जा चुका है ।

---

१. कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च । रक्षाकर्म करिष्यमि ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥
गाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसः । अभिद्रवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा॥
्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निशाचराः । दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः ॥
तु त्वां मुनयो ब्रह्मा देव्यो राजर्षयस्तथा । पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्वाः सर्वेऽपि सागराः ॥
नी रक्षतु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च । सोमो व्यानमपानं ते पर्जन्यः परिरक्षतु ॥
ानं विद्युतः पान्तु समानं स्तनयित्नवः । बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥
मांस्ते पान्तु गन्धर्वाः सत्यमिन्द्रोऽधिरक्षतु । प्रज्ञां ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥
ुः सूर्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पातु ते मनः । नक्षत्राणि सदा रूपं छायां पान्तु निशास्तव ॥
स्त्वाप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा । आकाशं खानि ते पातु देहं तव वसुन्धरा ॥
ानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम् । पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्मात्मानं ध्रुवो भ्रुवौ ॥
देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः । एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥
स्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति देवाश्च कुर्वताम् । स्वस्ति ते चन्द्रसूर्यौ च स्वस्ति नारदपर्वतौ ॥
स्त्यग्निश्चैव वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः । पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्वर्द्धतां तव ॥
ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः ॥ इति स्वाहा । (सु. सू. ५)

पट्टी खोलने के सम्बन्ध में नियम—रोगी के व्रण पर बँधी को प्रति तीसरे दिन खोलना चाहिये, शीघ्रता में दूसरे ही दिन नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से व्रण में गाँठें पड़ जाती हैं, वेदना अधिक एवं व्रण के भरने में देर हो जाती है। फलतः तीसरे दिन के पश्चात् तथा रोगी का बल देख कर, योग्य कषाय, बन्ध, लेप, आहार और आ उपयोग व्रण के पूर्ण रोपण होने के समय तक करना चाहिये। यदि सब सावधानी रखते हुए भी व्रण का मुख भीतर के पूय के पूर्ण निर्हरण के बन्द हो जावे तो व्रण के मुख को थोड़ा चीर कर चौड़ा कर देना क्योंकि ऐसा व्रण जो 'सशेष दोष' है, थोड़े से अपथ्य के द्वारा भी उत्सङ्ग करके थैली (पाकेट) बनाकर पुनः विकार को पैदा कर देता है

सम्यक् रूढ व्रण-स्थान में कोमल धातु, केशिकायें तथा धातु 'पिच्छिया रहते हैं, इस अवस्था में वहाँ के रोहाणाङ्कुर (Granulation ti बहुत ही मृदु एवं भङ्गुर होते हैं। जब तक व्रण में तान्तव धातु (Fibro trical tissues) नहीं बन जाते, [2]तब तक व्रण स्थान में मजबूती नही आता, इसलिये इस अवस्था में रोगी को अजीर्ण, व्यायाम, व्यवाय, एवं भय आदि मानसिक विकारों का परित्याग करके पूर्व अध्याय में आचारों का अनुसरण करना चाहिये।

---

१. न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषं रोपयेत्, स हि अल्पेनाप्यपचारेणाभ्य कृत्वा भूयोपि विकरोति।

२. तस्मादन्तर्बहिश्चैव सुशुद्धं रोपयेद् व्रणम्।
रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्।
हर्षं क्रोधं भयञ्चापि यावत्स्थैर्योपसम्भवात्॥

३. शीतल जल के द्वारा मूर्छित रोगी पर छिड़काव करना चाहिये।
(क) शीतलेन जलेनैनं मूर्च्छन्तमवसेचयेत्।
संरक्षेदस्य मर्माणि मुहुराश्वासयेच्च तम्॥
(ख) ततः शस्त्रमवचार्य शीताभिरद्भिरातुरमाश्वास्य।

वेदना एवं पीड़ा से शमन के लिये औषधियों के साथ कुछ प्रिय मित्रों का होना चाहिये, जिनके अनुकूल वचनों के द्वारा रोगी का मन-बहलाव हो।

सुहृदो विक्षिपन्त्याशु कथाभिर्व्रणवेदनाः। आश्वासयन्तो बहुशस्त्वनुकूलाः प्रियं

ऋतु के अनुसार पट्टियों का खोलना—हेमन्त, वसन्त एवं शिशिर
तुओं में प्रति तीसरे दिन, शरद्, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में प्रति दूसरे दिन
ले। परन्तु यदि व्रण में पाक तीव्र हो, पैत्तिक व्रण एवं शरद् ऋतु भी हो तो
न में दो बार व्रण को खोल कर सफाई करके बाँधना चाहिये। वातिक और
ष्मिक विकारों में हेमन्त और वसन्त में प्रति तीसरे दिन शोधन और बंधन
रना चाहिये।[1]

नोट—परन्तु आशुकारी और आत्ययिक रोग में वैद्य को इन उपर्युक्त
धियों का पालन न करते हुए जलते हुए घर के समान समझ कर तुरन्त
कित्सा करनी चाहिये।[2] यह एक सामान्य नियम का अपवाद है। यह नियम
त्ययिक (Emergency) अवस्था के लिये है। सामान्य अवस्था में
थाविधि सम्पूर्ण त्रिविध कर्मों का अनुपालन करते हुए क्रिया में प्रवृत्त होना
हिये।

इसके अतिरिक्त विभिन्न उपद्रवों के शमन की भी व्यवस्था होनी चाहिये।
से—मूर्छा, वेदना, पीडा, अङ्गमर्द, निद्रानाश, तृषा, मूत्रावरोध, विबन्ध, छर्दि,
क्का, ज्वर, प्रलाप आदि लक्षण हो सकते हैं, इनकी शान्ति के लिये उपचारों की
वश्यकता होती है। कई बार पट्टियों के ठीक से न बँधे होने की वजह से रोगी
ष्ट का अनुभव करता है। अधिक कसी होने पर पीड़ा, शिथिल होने ग्रर असु-
धा होती है, इसलिये आवश्यकता होने पर शस्त्रकर्म के पश्चात् पुनः उसको
क से बाँध देना चाहिये। समान बन्ध—जो न गाढ़ा हो न शिथिल; ऐसा ही
शस्त माना जाता है।[3]

* * *

---

[1] हेमन्ते शिशिरे चैव वसन्ते चापि मोक्षयेत्।
त्र्यहाद् द्व्यहाच्छरद्ग्रीष्मवर्षास्वपि च बुद्धिमान्। (सु० सू० ५)

[2] अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमं भिषक्।
प्रदीप्तागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्यात्प्रतिक्रियाम्॥

[3] गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक्पाक एव च।
अविपरीतवन्धे वेदनोपशान्तिरसकृत्प्रसादो मार्दवं च।

सप्तम प्रकरण

रक्तावसेचनाध्याय

अष्टविध शस्त्रकर्मों के वर्णन के सम्बन्ध में रक्तमोक्षण के योग्य रोगों
हो चुका है। सामान्यतया जिन रोगों में महान् शोथ, संरम्भ, वेदना अथव
मयता हो, उनमें रक्त का निर्हरण प्रशस्त है[1] अनेक रोग शोथ के कार
होते हैं, शोथ के स्थान में हमेशा रक्ताधिक्य हो जाता है; फलतः रक्त के
देने से विकृति का निराकरण हो जाता है, इसीलिये रक्तावसेचन को
ही करने का विधान है।[2] शोथ के दो ही परिणाम होते हैं-१. उपशम, २.
जब पाक होकर पूयोत्पत्ति हो जाती है, तब इस कर्म से कोई भी
होता, परन्तु आमावस्था में रक्तमोक्षण हो जाने से उपशम कर्य को
मिलती है। इसीलिये 'वेदना के उपशम तथा पाकोत्पत्ति को रोकने
अचिरकालीन शोथ में शोणितमोक्षण करना चाहिये।' रक्ताधिक्य युक्त
वर्ण का वेदनावान् संरब्ध से युक्त व्रण में भी विस्रावण का कर्म हितकर होत
रक्तमोक्षण से उपशम में सहायता होती है तथा वेदना कम होती है
विद्वानों का मत है कि ऐसी दशा में रक्त का विस्रावण करने से सं
स्थानिक प्रतिक्रिया नष्ट हो जाती है, इसी दृष्टि से आधुनिक युग के चि
इस क्रिया से उदासीन दिखलाई पड़ते हैं। फिर भी यह विधान चिकित्सा
एक उत्कृष्ट साधन है। प्राचीन चिकित्सा के ग्रन्थों में इस कर्म की
प्रशंसा है। ग्रन्थों में विस्तृत, विशद एवं व्यावहारिक वर्णन है, जिन्हें
आगे देखेंगे।

---

[1] 'रक्तावसेचनं कार्यमादावेव विचक्षणैः।
शोथे महति संरब्धे वेदनावति च व्रणे ॥'

[2] शोणितावसेकसाध्या ये व्याधयः प्रागभिहितास्तेषु चापक्वेषु चान्येषु चानु
श्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत्।

[3] वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च।
अचिरोत्पतिते शोफे कुर्याच्छोणितमोक्षणम् ॥
सशोफे कठिने श्यामे सरक्ते वेदनावति।
संरब्धे विषमे वापि व्रणे विस्रावणं हितम् ॥

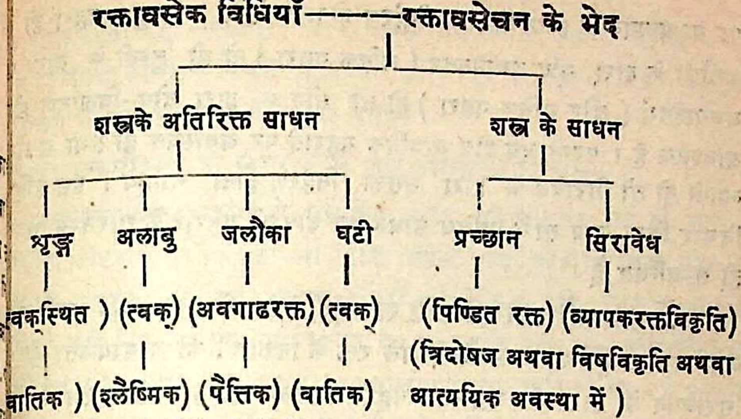
रक्तावसेक विधियाँ———रक्तावसेचन के भेद
शस्त्रके अतिरिक्त साधन
शस्त्र के साधन
शृङ्ग
अलाबु
जलौका
घटी
प्रच्छान
सिरावेध
वक्स्थित)
(त्वक्)
(अवगाढरक्त)
(त्वक्)
(पिण्डित रक्त)
(व्यापकरक्तविकृति)
(त्रिदोषज अथवा विषविकृति अथवा आत्ययिक अवस्था में)
वातिक)
(श्लैष्मिक)
(पैत्तिक)
(वातिक)

रक्तमोक्षण के लिये दो ही विधान हैं-पहला तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा शिरा के न अथवा प्रच्छान करके, एवं दूसरा शस्त्र के अतिरिक्त साधनों के द्वारा । इन धनों को उपयोग में लाने के पूर्व कई बातों का विचार आवश्यक है ।

१. दोष भेद से—गाय का सींग उष्ण, मधुर और, स्निग्ध होता है, इस ये वातदूषित रक्त को शृङ्ग से निकालना अच्छा है । जलौका (जोंक) जल में त्पन्न होती एवं शीतल स्थलों में रहती है, इससे पित्तदूषित रक्त का जोंक के रा निकालना अच्छा है । तुम्बी (अलाबु) कड़वी, रूखी और तीक्ष्ण होती है, स लिये कफदूषित रक्त का तुम्बी से ही निकालना श्रेष्ठ है । अथवा यथालाभ वों का सब कर्मों में व्यवहार किया जा सकता है ।

२. दोष के अवस्थान एवं विस्तार—केवल दोषानुसार ही नहीं, दूषित क्त की स्थिति तथा व्यापक स्थान के अनुसार भी शृङ्ग, जलौका और अलाबु ा भिन्न-भिन्न उपयोग हुआ करता है । १. प्रच्छान के द्वारा (तीक्ष्ण शस्त्र से घात करके), एकदेशस्थ और पिण्डित (बाहर निकलने के लिये मार्ग न लने से एक स्थान पर इकट्ठा हुआ) दोष को निकालना चाहिये । २. ग्रथित वं अवगाढ (गहराई में स्थित) रक्त को जलौका के द्वारा । ३. यदि दोष त्वचा र ही अवस्थित हो अथवा सुप्त स्थान हो तो शृङ्ग, अलाबु अथवा घटी के द्वारा था ४. पूरे शरीर का रक्त दुष्ट हो तो सिरावेध के द्वारा उसका निर्हरण होना ाहिये । डल्हणाचार्य ने लिखा है—यदि रोग उत्तान (ऊपरी की सतह पर) हो तो

पद या प्रच्छान के द्वारा दोष का निर्हरण होना चाहिये, यदि कुछ गहरा जलौका के द्वारा, यदि अवगाढतर (अधिक गहरा) हो तो तुम्बी के अवगाढतम (और अधिक गहरा) हो तो सींग के द्वारा दोष–विस्राव आवश्यक है। परन्तु जब दोष अत्यधिक गहराई पर अवस्थित हो तथा व्यापी हो तो सिरावेध के द्वारा उसका निर्हरण होना चाहिये। इस विचार किया जाय तो ये विविध साधन-भेद दोष की गहराई के तारतम्य ही सम्बन्धित हैं।[1]

३. व्यावहारिकता की दृष्टि से—(१) संक्षेप में जब दोष सर्वांग व्यापी हो, सम्पूर्ण शरीर में फैलने वाले रक्त के निकालने की आवश्यकता सिरावेधन के द्वारा ही रक्त का निर्हरण करना चाहिये। उदाहरण रक्तभाराधिक्य, मर्माङ्गों में रक्तनाश, पक्षाघात, मूत्रविषमयता, जीर्ण हृद सर्पविष की अवस्था। इसी प्रकार अत्यन्त गहराई में स्थित अङ्गों में फुफ्फुस, यकृत, प्लीहा तथा मस्तिष्क में रक्त दुष्ट हो तो सिरावेध के द्वारा विस्रावण सम्भव है।

(२) दूसरी ऐसी अवस्था हो सकती है—जिसमें त्वचा में कोई विकृति हो, परन्तु किसी प्रत्यङ्ग में दोष का अवस्थान हो। ऐसी हालत कई विकृ होती है। उदाहरण के लिये—अर्श, नेत्ररोग, फुफ़्फुस–शोथ, कर्णरो मस्तिष्कावरण शोफ आदि। इसमें त्वचा को कम से कम नुकसान है और ईषद् गम्भीर स्थानों में अवस्थित विकृत रक्त भी निकल जाता है

(३) एक ऐसी अवस्था भी हो सकती है—विकृति स्थानिक त्वचा उपत्वचा तक ही सीमित होवे; ऐसी परिस्थिति में तुम्बी, घटी अथवा शृ प्रयोग हितकर होगा। परन्तु यदि स्थान सुप्त हो अथवा दोष बँधा हुआ हो न आ सकता हो या अल्प आता (पिण्डित) हो तो प्रच्छान कार्य के द्वारा निर्हरण किया जा सकता है। उदाहरण के लिये फोडे, फुसियाँ, विद्रधि, उपत्वच इनमें यदि त्वचा गल गई हो या टूट-फूट गई हो तो उसका निर्हरण घटी

---

[1] प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकसा। त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गं सिरैव व्यापके
प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः। हरेच्छृङ्गादिभिः सुप्तमसृग्व्यापि सि
वातादि धाम वा शृङ्गजलौकोलाबुभिः क्रमात्। (वा. सू. २६)

वं शृङ्ग के द्वारा हो सकता है। फिर जब ऐसी अवस्था हो, जिसमें विकृति त्वचा कम, परन्तु त्वचा के निचले स्तर में अधिक हो तो ऐसे पिण्डित दोष के स्रावण में प्रच्छान का प्रयोग होना चाहिये !

१. रक्तमोक्षण के सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियम—

जब मेघाच्छन्न आकाश हो, अत्यधिक शीत या वायु का वेग हो, अथवा गी का स्वेदन किया गया हो या रोगी खाली पेट हो एवं शस्त्र ठीक से हीं लग पाया हो तो उन अवस्थाओं में रक्त के कुछ जमे रहने के कारण ोणित नहीं निकलता या कम निकलता है। इसी भांति मद, मूर्छा तथा परिश्रम पीड़ित मनुष्यों का अधोवात तथा मलावरोध से युक्त व्यक्तियों का एवं नींद से ाप्त तथा भययुक्त मनुष्यों का रुधिर ठीक से नहीं निकलता। जिसके परिणाम वरूप कण्डू, शोफ, राग, दाह तथा पाकादि लक्षण होने लगते हैं।

इसके विपरीत अत्युष्ण ऋतु में, अतिस्वेद से, अधिक सेवन करने से और त्र के द्वारा विस्रावित होने पर रुधिर की अतिप्रवृत्ति होने लगती है। जिसके रिणाम स्वरूप कई शारीरिक विकृतियाँ होने लगती हैं।

शिरावेध का काल

अस्तु, न अधिक शीतकाल में, न अधिक उष्णकाल में, न अधिक स्वेद लाकर न अधिक तपा कर रक्त का विस्रावण करना चाहिये। और रुधिर कालने के पूर्व रोगी को यवागू मात्रानुसार पिला देना चाहिये।

२. सिरावेध के द्वारा रक्त-विस्रावण की निषिद्ध अवस्थायें—

बालक, वृद्ध, रूक्ष, क्षतक्षीण, भीरु, परिश्रान्त, स्त्रीप्रसङ्ग, मद्य सेवन तथा वास से थका हुआ, जिसको वमन कराया गता है, जिसे विरेचन कराया गया , जिसे निरूह अथवा अनुवासन बस्ति दी गई हो, जिसने रात में जागरण किया , नपुंसक, कृश, गर्भिणी, कास, श्वास, तीव्रज्वर, शोष, आक्षेपक, पक्षाघात, नशन, तृषा, मूर्छा इनसे पीड़ित रोगियों का सिरावेध नहीं करना चाहिये। न व्यक्तियों के शिरावेध का निषेध कई दृष्टियों से है—अपूर्ण धातु-क्षीण धातु ने के कारण इन व्यक्तियों की शारीरिक संरक्षण-शक्ति कम होती है—रक्त के ष्ट हो जाने पर वह और अधिक क्षीण हो जाती है जिससे रोग में असाध्यता

बढ़ने का भय रहता है। दूसरा कारण सुकुमारता या भीरुता का है जि रोगी प्रत्यक्ष सिरावेध का शस्त्रकर्म अथवा रक्त-दर्शन सहन नहीं कर अस्तु. इनके लिये 'प्रच्छान' विधि से या जलौका आदि के द्वारा रक्त का उपदेश है।

इसी प्रकार अङ्ग-प्रत्यङ्ग की जो अवेध्य सिरायें बतलाई हैं, उन वेध नहीं करना चाहिये। जो सिरायें अदृष्ट हों-न दिखलाई पड़ती हों, उन वेध नहीं करना चाहिये। सिराओं के स्पष्ट न दिखलाई पड़ने की कई का हो सकती हैं—

(क) गम्भीर धातुओं में अवस्थान। सामान्यतया सिरायें उत्तान हैं परन्तु कभी-कभी वे गहराई में कुछ व्यक्तियों में हो सकती हैं। फलतः वेधन कठिन हो जाता है।

(ख) अस्थूलता—साधारणतया वेध्य शिरायें स्थूल एवं मोटी होती दीख पड़ती हैं, दबाव देने पर स्पष्ट होकर उठ जाती हैं, आवश्यक उनका यन्त्रण भी किया जा सकता है। ऐसी शिराओं का वेधन होना च परन्तु किन्हीं कारणवश यदि किसी शिरा में ये सभी लक्षण (दर्शन, और यन्त्रण) संभव न हों तो उसका वेध नहीं हो सकता। इसी लि शिराओं का वेधन निषिद्ध है।

(ग) अभाव या स्थानान्तर—एक तीसरी अवस्था ऐसी हो सक जिसमें शिरा अपने निश्चित स्थान पर न रह कर इधर-उधर मिलती है उसका अभाव रहता है। जिससे यथोक्त शिरा नहीं मिल पाती। तब स दूसरी शिरा का ग्रहण करने के लिये वाग्भटाचार्य ने बतलाया है कि- यथोक्त शिरायें न दिखलाई पड़ें, तो उनके समीप की किसी शिरा का बचाते हुए वेधन करना चाहिये।'

३. आत्ययिक अवस्था में

उपर्युक्त निषिद्ध रोगियों में भी सांघातिक अवस्था होने पर या सर्ग की अवस्था में सिरावेध किया जा सकता है—जैसे बच्चों के (Broncho pneumonia) में या तीव्र ज्वर और श्वासकृच्छ्र के साथ

शोथ हो तो गले की शिराओं का वेध किया जाता है। गर्भिणियों में जब पतानक (Ecclampsia) हो तो विषमयता को कम करने के लिये सिरा-करते हैं उससे लाभ भी होता है। इसी प्रकार पक्षाघात में जब रक्त का पीडन (Blood pressure) अधिक होता है तो रक्तभार को कम करने विधान है। अन्य कारणों से उत्पन्न (अन्तःशल्यता या रक्त जमने के कारण) ाघात में इस विधि का निषेध है। सर्पविष के उपसर्ग में किसी भी अवस्था रक्तगत विष का उत्सर्ग कराने के लिये दंशस्थान की सिरा का वेध किया ता है उससे लाभ भी होता है। विषजन्य कामला में भी रक्तगत विषोपसर्ग कम करने के लिये वेध किया जा सकता है। कार्बन मनोक्साइड विष-सचार अवस्था रक्तगत (Co) विष को निकालने की क्रिया प्रसिद्ध है।

४. परम सुकुमार विधि

राजा, धनाढ्य, बालक वृद्ध, भीरु, दुर्बल, स्त्री तथा अन्य कोमल प्रकृति ले, मनुष्यों के अनुग्रह के लिये जोक के द्वारा रक्त निकालने का उपाय सबसे धिक मृदु और प्रशस्त है।

जलौका

जलौका का अर्थ है जोंक। ग्रन्थकारों ने दो प्रकार की शब्द की निरुक्ति है—जल ही है आयु जिनकी (जलमासामायुः) जलायुका अथवा जल ही है न जिनका (जलमासामोक इति) इस निष्पत्ति से जलौकस् शब्द बनता है।

जाति—इनकी दो जातियाँ प्रधानतया उपलब्ध होती हैं। स्थलवासी, ं जलवासी। रक्तावसेक कर्म में जल-सम्भव जलौका का ही ग्रहण होता है। ी तरह सविष एवं निर्विष भेद से भी इनकी कई जातियाँ हैं, जिनमें बारह शेष उल्लेखनीय हैं। विषयुक्त जलौका छः प्रकार की होती है—कृष्णा, र्बुरा, अलगर्दा, सामुद्रिका, इन्द्रायुधा और गोचन्दना। इनका जलौका-कर्म क लगाने) में व्यवहार नहीं करना चाहिये। निर्विष जोंक भी छः प्रकार की ती है—कपिला, पिंगला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी और सावरिका। क्तावसेचन कर्म में इनका व्यवहार करना चाहिये।

सविष — मत्स्यकीट दर्दुरमूत्रपुरीष-कोथजात । कलुषजलसंभव

निर्विष पद्मोत्पलनलिनकुमुदपुण्डरीकशैवलकोथविमलजलजात

जलौका { स्थलवासी (Terrestrial) / जलवासी (Aquatie) }

निर्विष	सावरिका	चिकनी पद्म-पत्र-सदृश अठारह लम्बी
	पुंडरीकमुखी	मूत्र के रङ्ग-सदृश हरिद्वर्ण विस्तीर्ण मुखवाली
	मूषिका	मूषिक पूंछ-सदृश दुर्गन्धयुक्त
	शङ्कुमुखी	यकृतसदृश काले वर्णवाली, शीघ्र पीनेवाली बड़ी और तीक्ष्ण मुखवा
	पिङ्गला	रक्तवर्ण या पिङ्गलवर्ण, शीघ्र चलने
	कपिला	मनःशिलावर्ण के पार्श्ववाली, चिकनी पीठ वाली
सविष	गोचंदना	वैलके अण्डकोष की भाँति नीचे से वाली छोटे मुख वाली
	सामुद्रिका	किंचित्काली तथा पीली कई रङ्ग युक्त फलवाली
	इन्द्रायुधा	इन्द्रधनुष सदृश चित्र-विचित्र धारि
	अलगर्दा	लोमयुक्त, बड़ी पांशुवाली, काले
	कर्बुरा	बर्मिमत्स्यसदृश लम्बी कुक्षि धारियोंवाली
	कृष्णा	कज्जल के चूर्ण सदृश वर्णकी, बड़े

इसके अतिरिक्त जो जोंक विषैले कीड़े मत्स्य और मेंढक के सड़े-गले मल-त्र तथा गंदे जल में पैदा होती हैं, वे विषयुक्त होती हैं। इसके विपरीत जो म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगंधिक, कुवलय, पुण्डरीक और शैवाल आदि के थ से उत्पन्न होती अथवा जो स्वच्छ जल में रहती या उत्पन्न होती हैं, वे षरहित होती हैं। ये निर्विष और सुखकारक जलौकायें जहाँ निर्मल जल तथा न्धित पदार्थों की भरमार रहती है, ऐसे क्षेत्रों में विचरती हैं, विषैले पदार्थों सेवन नहीं करतीं तथा कीचड़ में वास नहीं करतीं।

महाशना जलौका—सामान्यतया जोंक एक समय में आधा से पौन तोला १–ड्राम) तक रक्त चूसती हैं, जो अधिक से अधिक रक्त प्रत्येक समय चूसती अथवा चूसने को तत्पर रहती है उसे महाशना कहते हैं। ऐसी महाशना जोंक धिकतर यवन देश (तुर्किस्तान), पाण्ड्य (मद्रास), सह्य (नर्मदातीर-समीस्थ), पौतन देश (मथुरा) आदि देशों के स्वच्छ जलाशयों में विचरती हैं, आकार में बड़ी, शीघ्र रक्त चूसने वाली, अधिक रक्त पीने वाली तथा विशेषया निर्विष होती हैं। जो जोंक बीच में मोटी, देखने में भद्दी, अधिक लम्बी, न्द चलने वाली, न चिपटने वाली, अल्परक्त पीने वाली एवं विषयुक्त होती हैं; रक्त निकालने के काम में अप्रशस्त हैं।[1]

जोंकों के रखने एवं पकड़ने के तरीके—जोंकों को शरदृतु में वशेष कर के पकड़ते हैं। इनका ग्रहण गीले चमड़े के द्वारा अथवा मक्खन, घी ध जैसे चिकनी चीजों के द्वारा अङ्ग को गीला करके पकड़ना चाहिये। फिर नको नवीन बड़े घड़े में सरोवर या तालाब का जल और कीचड़ भर कर उसमें ख लेना चाहिये। खाने के लिये शैवाल, सूखा मांस और जलकन्द का चूर्ण रके देना चाहिये। सोने के लिये तृण, कमल आदि जलसम्भव औषधियों के त्ते रखने चाहिये। प्रत्येक पांचवें या सातवें दिन मल, मूत्र, लालादिक के कोथ से ोंकों की रक्षा करने के लिये उन्हें नये-नये घड़े में रखना चाहिये। प्रत्येक दूसरे ा तीसरे दिन जल और खाद्य नवीन डालना चाहिये।

---

[1] तासां यवन–सह्य-पाण्ड्य पौतनादीनि क्षेत्राणि, तेषु महाशरीरा बलवत्यः शीघ्रपायिन्यो महासना निर्विषाश्च विशेषेण भवन्ति।

(सु. सू. १३)

जलौकावचारण कर्म

पूर्वकर्म—जोंक लगाने के लिये सबसे उत्तम काल सवेरे का है संध्या या रात्रि के समय उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि समय में रक्तप्रवाह की मात्रा का ठीक ज्ञान नहीं होता। बालकों में अपेक्षा अधिक रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है, इसलिये इनमें सावधानी जोंक उसी स्थान पर लगनी चाहिए, जहाँ पर पीडन के द्वारा रक्तप्र किया जा सके। जैसे हड्डी के ऊपर का भाग। कई ऐसे मृदुस्थान हैं, जोंक के प्रयोग से सिरा से भयानक रक्तस्राव होने का भय रहता है स्थानों में शोफ उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतएव जोंकों सिरा, आंख के पलक, स्तन, शिश्न, वृषण आदि मृदु अङ्गों में नहीं करना बाल्यावस्था में दो साल के आयुवाले बच्चों के लिए एक जोंक पर्याप्त होत प्रत्येक दो साल की वृद्धि पर एक अधिक जोंक से काम चल सकता है अवस्था में साधारणतया छः जोंकों से लेकर दस जोंकों तक की आवश्यक है। जब जोंक आवश्यक संख्या में नहीं मिल पातीं, उस समय थोड़ी जों अधिक जोकों का कार्य हो सकता है। इसका तरीका यह है कि जों के बाद जब वह रक्त से करीब परिपूर्ण हो जाय, उस समय उसके पूंछ सूई द्वारा छेद करना चाहिए। इससे रक्त का प्रवाह होने लगता है। ए जोंक रस चूसती रहती है और दूसरी तरफ रक्त का प्रवाह होता रहता उपाय से जोंक को हटाने की तथा उसे निचोड़कर फिर लगाने की आव नहीं रहती। जहां पर जोंक लगाना हो वहाँ पर स्वेद करने से रक्ताव सहूलियत होती है, इसलिये जोंक लगाने के पूर्व उस स्थान को गर्म जल चाहिये या उपनाह करना चाहिये। जहां तक हो सके नई (कोरी) ज जलौका का ही उपयोग करना प्रशस्त है, क्योंकि दूषित स्थान पर जलौका पुनः उपयोग के समय अन्य स्थान पर दोष का संक्रमण कर सक

---

१. अथ जलौकोऽवसेकसाध्यव्याधितमुपवेश्य संवेश्य वा विरूक्ष्य चास्य मृद्गोमयचूर्णैर्यद्यरुजः स्यात्। गृहीताश्च ताः सषपरजनीकल्कोदकप्रदिग्धगात्रीः सरकमध्ये मुहूर्त्तस्थितां विगतक्लमा ज्ञात्वा ताभी रोगं ग्राहयेत्। श्लक्ष्णशुक्ल प्रोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात्। अगृह्णन्त्यै क्षीरबिन्दुं शोणितबिन्दुं वा शस्त्रपदानि वा कुर्वीत यद्येवमपि न गृह्णीयात्तदान्यां ग्राहयेत्। (सु. सू. १३)

जलौका से रक्त निकालने योग्य रोगी को बैठा कर उसके रक्त निकालने का थान यदि व्रणयुक्त न हो तो मिट्टी और गोबर के चूर्ण से रूखा करे, फिर पकड़ी र पाली हुई जोंकों को सरस और हल्दी के कल्क से प्रदिग्ध करके जलयुक्त त्र में थोड़ी देर तक रख छोड़े। जब उनकी ग्लानि दूर हो जाय तो रोग के थान पर लगावें। लगाते समय जलौका का शरीर बारीक सफेद गीले कपड़े से पेटना चाहिये, केवल मुख को खुला रखना चाहिये। जिस समय रोगाधिष्ठान एक विशिष्ट विन्दु पर जोंकें लगानी होती हैं। उस समय उस स्थान पर छेद-क कागज ऐसा रख दे कि कागज का छेद अभीप्सित स्थान पर आजाय। तथा ोंक का मुख ठीक उस स्थान पर लगावे। जब गला, गर्भाशय मुख, गुद दि संकट स्थानों में जोंक लगानी होती है, तब जोंक को कांच को नलिका में र कर लगाते हैं, नलिका के एक छिद्र के द्वारा केवल जोक का मुख भीतर प्रवेश सकता है। जोंकों का भीतर में प्रवेश भी सम्भव नहीं होता।

यदि रोगस्थान को जोंक नहीं पकड़ती, तो वहां दूध या रक्त का एक बूंद ड़ना चाहिये, यदि ऐसे न पकड़े तो वहां पर शस्त्र के द्वारा लेखन कर देना ाहिये, यदि इतना करने पर भी नहीं पकड़ती हो तो उसे असमर्थ समझ कर टाकर दूसरी नई जोंक लगावे।

जब घोडे के खुर के समान अपना मुँह एवं स्कन्ध ऊंचा करके जोंक त्वचा प्रवेश करना चाहे तो जान ले कि लग गई और जब लग जावे तो उसके पर गीला कपड़ा रखे एवं जल टककाता रहे।[1]

ऐसा मानते हैं कि जोंक केवल दुष्ट रक्त का ही चूषण करती है जिस प्रकार हंस दूध और जल के मिश्रण में से केवल दूध का ही ग्रहण करता है सी प्रकार जोंकें केवल अशुद्ध या दुष्ट रक्त का ही चूषण करती हैं। (वा.) रन्तु जब शुद्ध रक्त को चूसने लगे तो तत्काल हटा देना चाहिये। जब तक चा में जोंक चिपकी रहती है, तब तक किञ्चित् स्थानिक कण्डू और वेदना ती है; किन्तु जब तक दूषित रक्त का पान करती है तब तक इसका अनुभव गी को उतना नहीं होता। जब दंशस्थान में दर्द एवं खुजली अपेक्षाकृत बहुत

---

१. यदा च निविशतेऽश्वखुरवदाननं कृत्वोन्नम्य च स्कन्धं तदा जानीयाद् हातीति। गृह्णन्तीं चार्द्रवस्त्रावच्छन्नां कृत्वा धारयेत्। (सु० सू० १३)

होने लगे तो जान लेना चाहिये कि शुद्ध रक्त का चूषण आरम्भ हो फिर तत्काल उसको हटा देना चाहिये। जोंक को खींच कर दंशस्थान निकालना चाहिये किन्तु उसके मुख पर थोड़ा सा लवणचूर्ण का छिड़क देना चाहिये। उससे रक्त पीने का लालच छोड़कर जोंक स्वयं अलग है। जोंक वैसे भी भरपूर रक्त पी लेने के बाद गिर जाती हैं।[1]

जोंक के छूट जाने के पश्चात् उसका शरीर चावल के कण्डन (कनं मुख को तैल और लवण से मले। फिर बायें हाथ की अङ्गुली और पूँछ पकड़ कर दाहिने हाथ के अंगूठे और अङ्गुली से धीरे-धीरे नीचे मुख को निचोड़ डालें। इससे पिये हुए रक्त का वमन हो जाता है। अच्छी तरह से वमन हो जाने के चिह्न न प्रकट होने लगे, तब तक निचोड़ना चाहिये। पूर्ण वमित हुई जोंक जलपात्र में छोड़ने पर खाने इधर-उधर चलती है। इस प्रकार की सम्यग् वान्त जोंक को पहले की में रखना चाहिये। तत्पश्चात् कम से कम सात रोज के बीच में उस उपयोग रक्त निकालने में नहीं करना चाहिये।[2] क्योंकि इस बीच में उपयोग होने पर नये शुद्ध स्थान पर अशुद्ध स्थान का उपसर्ग पहुँचने रहता है। यदि किसी तीव्र विकारी जीवाणुओं से उपसर्गित स्थान पर जोंक का उपयोग किया गया हो तो दूसरे समय इनका उपयोग रक्त नि लिये न करना ही अधिक प्रशस्त है, अन्यथा पूर्व रोग का संक्रमण दूसरे पर होने की सम्भावना रहती है।

---

[1] सम्पृक्ताद् दुष्टशुद्धास्राज्जलौका दुष्टशोणितम्।
आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव॥
गुल्मार्शोविद्रधीन् कुष्ठ वातरक्त-गलामयान्।
नेत्ररुग्विसवीसर्पान् शमयन्ति जलकौसः॥
दंशस्य तोदे कण्ड्वां वा मोक्षयेद् वामयेच्च ताम्।
पटुतैलाक्तवदनां श्लक्ष्णकण्डनरूषिताम्॥ (अ० हृद० २६)
शुद्धमाददानामपनयेत् अमूं शोणितगन्धेन न मुञ्चेन्मुखमस्याः सैन्धवचूर्णेना
(सु०

[2] ता अप्यसम्यग्वममात् प्रततं च निपातनात् सीदन्तीः सलिलं प्राप्य इति त्यजेत् रक्षन् रक्तमदाद् भूयः सप्ताहं ता न पातयेत्। पूर्ववत् पटुता दार्ढ्य जलौकसाम्।

जो जोंक रक्त पीने एवं वमन कराने के अनन्तर जल में डालने पर इधर-र विचरे नहीं, प्रत्युत तली में क्लान्त सी बैठ जावे तो उसको दुर्वान्त समझ फिर उसे अच्छी तरह से निचोड़ कर वमन करावे। सशेषरक्त जोंक को द्रमद' नामक रोग हो जाता है। वाग्भट ने इस रोग का नाम 'रक्तमद' दिया —यह जलौकाओं का रोग है, जो बार-बार रक्त निकालने के लिये प्रयोग करने तथा प्रत्येक समय दूषित रक्त का ठीक वमन न कराने से हो जाता है। इस ा के हो जाने पर जल में जाने पर जोंक क्लान्त होकर तली में बैठ जाती हैं।

जलौकावसेचन कर्म का योगायोग (पश्चात् कर्म)

सम्यक् योग—रक्तस्राव ठीक हुआ है, इस बात का ज्ञान कई दृष्टियों को ान में रख कर करना चाहिये। रोगी का बल, रक्तस्राव को राशि, रक्तदुष्टि तीव्रता या अल्पता तथा स्थान-भिन्नता के अनुसार जब सम्यक् योग हुआ तो व्रण के ऊपर शतधौत घृत का लेप अथवा इससे संपृक्त रुई का उपयोग । दंशस्थान पर मधु से घर्षण करना चाहिये। शीतजल का परिषेक करना हिये उसके ऊपर कषाय, मधुर, शीत और स्निग्ध पदार्थों का लेप करके ऊपर पट्टी के द्वारा बन्धन करना चाहिये।[1]

हीन योग—यदि ठीक प्रकार से रक्तावसेक न हो पाया हो तो हल्दी, गुड़ र माक्षिक के द्वारा व्रण को घर्षित करना चाहिये।[2]

जलौका-व्रणों पर निर्गुण्डी या नीम की पत्ती के क्वाथ से सेंक करने पर भी क विस्रावण हो जाता है।

अतियोग—जलौका के प्रयोग में रक्त का अतियोग होने की भी भावना रहती है, इसका कारण यह है कि जोंकों के सिर में कई छोटी-छोटी थियाँ होती हैं जिनका रस व्रणों में पहुंचता रहता है, इस रस में 'हिरुडिन' नामक क द्रव्य होता है, जिसके प्रभाव से रक्त नहीं जमता। जब तक रक्त को जोंक सती रहती है, उसके लाला के द्वारा यह द्रव्य दंशस्थान के रक्त के साथ मिल

---

[1] दुष्टरक्तापगमनात्सद्यो राग-रुजाशमः। शतधौताज्यपिचवस्ततो लेपाश्च शीतलाः।

[2] अशुद्धं चलितं स्थानात्स्थितं रक्तं व्रणाशये। व्यम्लीभवेत्पर्युषितं तस्मात्तत्स्राव-पुनः। (वा. सू. २६)

जाता है, जिससे रक्त शीघ्रता के साथ नहीं जम पाता। इस गुण के को यह लाभ होता है कि उसके शरीर में प्रचूषित रक्त नहीं जम पाता है करा देने से सब रक्त निकल जाता है, परन्तु रोगी के पक्ष में कई बार है। रोगी के दंशस्थान का रक्त नहीं जमता और देर तक रक्त गिरता

ऐसी दशा में रक्त का बहाव कम करने के लिये शीत जल का परि व्रणबंधन का उपयोग शास्त्रकारों ने बतलाया है। इन उपायों के अति अन्य आधुनिक द्रव्यों का भी प्रयोग हो सकता है। जैसे—कोलोडियन, हरिद (आयरन पर क्लोरायीड) का फाया, फिटकरी और क्षार का अग्नितप्त-शलाका का प्रयोग।

जलौका साध्यव्याधियाँ— अष्टाङ्गहृदय में कुछ रोगों की सूची जिनमें केवल जलौका कर्म से ही लाभ होता है। उदाहरणार्थ— विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, गले के रोग, नेत्र रोग, विषोपसर्ग तथा विसर्प।

आधुनिक काल में जलौका का कई रोगों में व्यवहार देखा जलौका के दो विशिष्ट गुण हैं, शोथ का हरण एवं रक्तसंचय को कम फलतः स्थानिक रक्ताधिक्य अथवा शोथ के दूर करने के लिये फुप्फुसशोथ (Pneumoina), फुप्फुसावरण शोथ (Pleurisy) शोथ, हृदयावरणशोथ, कर्णमूल-ग्रंथिशोथ, कर्णशोथ, यकृच्छोथ, शोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, संधिशोथ, कंठशालूक, विद्रधि, मोच घातज शोथ में जहाँ पर रक्ताधिक्य हो; उसका उपयोग किया जाता है।

इन रोगों के सिवाय असाध्य छर्दि में वमन को कम करने के प्रदेश पर जोंक लगाने से लाभ होता है। गुल्म रोग में छाती एवं उदर होने पर भी जोंक लगाने से फायदा होता है। हृच्छूल में भी जोंक विधान है। कई प्रकार के नेत्र के रोगों में—नेत्राभिष्यन्द, श्वेतम दृष्टि-यवनिका शोथ (Iritis) में अपाङ्गों के समीप जोंक लाभ होता है।

शृङ्गयन्त्र कर्म—सुप्त स्थान पर रक्त निकालने के लिये तेज प्रच्छान लगाना चाहिये। ये प्रच्छान संख्या में कई भी हो सकते हैं परिधि शृङ्ग की परिधि के समान होनी चाहिये। फिर सींग लगाकर

र बारीक कपड़ा सूत्र से बाँध कर ऊपर वाले छेद से मुख द्वारा चूस कर क्त निकालना चाहिये । सींग के ऊपर कपड़े के लगाने से दो लाभ होते हैं—एक ो कुछ निर्वात स्थिति सींग के भीतर पैदा हो जाती है, दूसरा यह कि विकृत क्त मुख के भीतर नहीं जाने पाता । चूषण के द्वारा शृङ्ग के भीतर निर्वात थति का पैदा करना ही लक्ष्य होता है, यह स्थिति मुख के द्वारा वायु के ऊपर ींचने से होती है ।

अलाबु कर्म—अलाबु में सींग के सदृश दोनों तरफ मुख नहीं होने से ख का उपयोग निर्वात स्थिति पैदा करने में नहीं हो सकता । अलाबु एकमुख ोता है, इस लिये वहाँ पर प्रदीप जलाकर यह स्थिति पैदा की जाती है । जिस थान पर तुम्बी लगानी होती है, स्नेहन और स्वेदन करके उस स्थान पर दीपक ला दिया जाता है, फिर उसको तुम्बी से ढक देते हैं । दीपक कुछ देर तक लता रहता है और बाद में बुझ जाता है । तुम्बी के भीतर को प्राणवायु का ाँचवा भाग ज्वलन कर्म में जलता है । जब केवल नाइट्रोजन $\frac{४}{५}$ भाग अवशिष्ट ह जाता है तब दीपक बुझ जाता है । प्राणवायु के $\frac{१}{५}$ भाग के जल जाने से निर्वात स्थिति अर्थात् अवकाश पैदा होता है, जो बलपूर्वक स्थानिक दोष का निर्हरण करता है । दीपक के स्थान पर कपूर का भी प्रयोग हो सकता है ।

घटी कर्म—अलाबु (तुम्बी) के स्थान में घड़े या हण्डिका का प्रयोग कर के यह कार्य सिद्ध होता है । शेष उपक्रम में अलाबुवत् ही प्रक्रिया की जाती है ।

च्छान–(पांछना)–वाग्भट ने प्रच्छान कर्म की स्पष्ट व्याख्या दी है—जिस थान पर प्रच्छान लगाना हो उससे ऊपर उसी अङ्ग को रस्सी या पट्टी से कसकर ांधना चाहिये । फिर स्नायु सन्धि–अस्थि एवं मर्मों को बचाते हुए पांछना ारम्भ करना चाहिये । पांछने में नुकीले शस्त्र से बनाई गई रेखायें नीचे से ऊपर की ओर जाती हुई होनी चाहिये । जो न बहुत गहरी हों न पास पास ौर न तिरछी हों । एक निशान के ऊपर दूसरा निशान भी नहीं करना ाहिये । एकदेश में स्थित दोष को प्रच्छान से बाहर निकाले, गाढ़े एवं जमे क्त को जलौका से, सुप्त रक्त को सींग या अलाबु से निकाले तथा सम्पूर्ण शरीर याप्त रक्तदुष्टि को शिरावेध के द्वारा ठीक करे ।[1]

---

[1] गाढम् बद्ध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम् ।

सिरावेध का कर्म

रक्त-विस्रावण के संबन्ध में सामान्य नियमों का उल्लेख हो विशेषतः सिरावेधन करते हुये कई बातों का विशेष ध्यान रखना कर्म के पूर्व-शस्त्र, अविस्राव्य रोगी का परिज्ञान (जैसे—क्षीण रोगी, अम्ल निमित्त सर्वाङ्ग-शोफ, पाण्डु, अर्श, उदररोग, राजयक्ष्मा तथा गर्भकालीन इस कर्म का निषेध है), काल, आसन तथा यन्त्रण का विचार आवश्यक है

पूर्वकर्म

स्नेहन एवं स्वेदन— सबसे प्रथम रोगी का स्नेहन और स्वेदन है, इसके द्वारा शरीरगत दोष रक्तवाहिनियों में आ जाते हैं और द्वारा उनका उत्सर्ग हो जाता है।

यथादोष प्रत्यनीक द्रवप्राय अन्न—ऋतु, काल तथा दोषज विपरीत गुण वाले तरल पदार्थों का सेवन कराना चाहिये। यवागू अथवा द्रवभूयिष्ठ आहार का सेवन कराने से रक्तनाश के द्वारा जो कमी की सम्भावना रहती है, वह दूर हो जाती है। यवागू के पीने के में डल्हण का मत है, वह प्रक्लेदक, स्वेदल, द्रव और उष्ण होकर पिघला देती है, फलतः मात्रा में, उसका पान कराना चाहिये।

यथाकाल उपस्थापन और आसन—सामान्यतः नातिशीत, उष्ण, नातितीव्र वायुवेग, नातिदुर्दिन (बादल और पानी वाले दिन शिरावेध के लिये प्रशस्त काल है; परन्तु विषोपसर्ग एवं आत्ययिक रोगों में रोगियों का भी सिरावेध निषिद्ध नहीं है। उपस्थापन, बलि, मङ्गल और वाचन अन्य शस्त्रकर्मों की भाँति कराना चाहिये। देवतार्चन की परिपाटी शस्त्रकर्म के पूर्व निभायी जाती है। स्वस्थ या निरोग व्यक्तियों में की आवश्यकता नहीं पड़ती या कभी-कभी पड़ती है। सामान्यतया तथा वमनादिक पञ्चकर्मों के लिये हमेशा प्रावृट्, शरद् और वसन्त साधारण लक्षण ऋतु विहित हैं। वर्षा, ग्रीष्म और हेमन्त अतिशय लक्षणों होने के कारण निषिद्ध माने गये हैं। परन्तु आत्ययिक अवस्था में सभी

स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत्।
अधोदेशे प्रविसृतैः पदमुपरिगामिभिः।
न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरन्। (वा. सू. २६)

चिकित्सा करनी पड़ती है, उस समय किस दिन कहाँ पर और कैसे क्रिया करे इसका विचार अनावश्यक होता है। परन्तु सामान्य स्थिति में इन सभी विचारों के अनुसार ही कर्म करना पड़ता है। जैसे—वर्षा ऋतु में जब बादल न हों, ग्रीष्म ऋतु में शीतकाल पूर्वाह्ण में और हेमन्त ऋतु में मध्याह्न में वेधन करना चाहिये। इन अनुचित ऋतुओं में ये ही काल प्रशस्त हैं।

शिरावेध खड़े हुए रोगियों में नहीं करना चाहिये, रोगी को खड़ा करने से मूर्च्छा जल्दी उत्पन्न होने का डर रहता है। परन्तु रोगी के बैठ कर रहने से या विस्तर पर लेटे रहने से शरीर से अधिक रक्त-स्राव होने पर भी मूर्च्छा या चक्कर नहीं आता।

यन्त्रण—यन्त्र-शाकट से बाँध कर रोगी को स्थिर कर लेना चाहिये। शिरावेध करते समय दो प्रकार का बन्धन आवश्यक होता है। एक सार्वदैहिक और दूसरा स्थानिक। सिराओं को उत्थित करने के लिये स्थानिक यन्त्रण की आवश्यकता सर्वदा होती है, परन्तु सार्वदैहिक की नहीं होती। सिरा के ऊपर बन्धन लगाने के लिये शरीर के प्रदेश को रोग के अनुसार ठीक कर के उसमें वस्त्रपट्ट (कपड़े की पट्टी), अन्तर्वल्कल, रस्सी अथवा लता के द्वारा न अधिक कस कर न अधिक ढीला बाँध देना होता है। बहुत कस कर बाँध लगाने पर धमनीगत रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न हो सकती है तथा शिथिल होने से शिरागत रक्तप्रवाह जारी रहता है। बन्धन इस प्रकार का रहना चाहिये जिससे धमनी के रक्तप्रवाह में बाधा न हो, परन्तु शिरा के रक्तप्रवाह में बाधा हो। इससे सिरा स्पष्ट हो जाती है और सरलता से रक्त विस्रवित होता रहता है।

शस्त्र—सिरावेध के लिये तीक्ष्ण धार वाले चार शस्त्रों की आवश्यकता रहती है—कुठारिका, व्रीहिमुख, आरा एवं वेतसपत्र। इनमें किसी एक के द्वारा सिरा का वेधन होता है। यदि सिरा मांसल प्रदेश में हो तो व्रीहिमुख शस्त्र के द्वारा और यदि अस्थि के ऊपर दिखाई पड़ती है तो कुठारिका के द्वारा उसका वेधन सम्भव है।

वेधकर्म (प्रधान)

अङ्ग तथा विकृति के अनुसार आसन एवं यन्त्रण में विभिन्न हो जाती है। फलतः शस्त्र कर्म एक नियमित ढङ्ग से करना होता है। उसका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित वाक्यों में किया जावेगा।

(क) यदि उत्तमाङ्ग (मुख को छोड़ कर सिर) का करना हो तो रोगी को अरत्निमात्र[1] ऊचे आसन पर बैठना चाहिये आसन करीब-करीब एक हाथ ऊंचा होता है। हाराणचन्द्र ने इतना बैठाकर क्रिया करने को बेकार बतलाया है, उन्होंने बतलाया है कि भी बैठा करके क्रिया हो सकती है। एवं सफलता मे किसी प्रकार की पाई जाती है।

रोगी का मुख सूर्याभिमुख होना चाहिये, स्थान सुप्रकाश में होना इससे वेधन में सरलता होती है। रोगी को दोनों पैर सिकोड़ कर बैठना जानु सन्धि के ऊपर अपने कोहनियों को रखे, जिसमें अंगूठा अन्दर को पड़े, दोनों हाथ की मुट्ठियाँ वधी रहें। वैद्य इन मुट्ठियों को मन्या पर पश्चात् नियन्त्रण का पट्ट ग्रीवा और मुट्ठियों के ऊपर फेंक दे तदुपरान्त पीछे की ओर खड़ा हुआ दूसरा पुरुष बाँया हाथ ऊँचा कर के यन्त्र शाकट सिरों को पकड़ ले और वैद्य की आज्ञा पाकर दाहिने हाथ से यह सहायक उस शाकट को लपेटता रहे। पीठ के मध्य में भी पीड़न की आवश्यकता है। अतः मुख का द्वार बन्द कर के रोगी वायु से गालों को फुलाता वाग्भट ने दन्तपीडन तथा 'उत्कासन' जबर्दस्ती खासने को भी विधि है। उद्देश्य केवल सिराओं का उत्थापन ही होता है। पुनः वैद्य यथायुक्त का वेधन करे।

(ख) पादसिरावेध-यन्त्रण विधि—जिसके पैर की सिरा का करना हो उसके पाँव को समान स्थान पर स्थिर करके यन्त्रशाकट (करना चाहिये। इस अवस्था में दूसरा पैर जो स्वस्थ होता है, संकुचित है यन्त्रशाकट के दो स्थान बतलाये गये हैं—एक जानु के नीचे और व्यध्य स्थान से चार अङ्गुल ऊपर।

(ग) हस्तशिरावेध-यन्त्रण विधि—सुखासन पर बैठे हुए जिस हाथ की सिरा का वेधन आवश्यक हो, उससे अंगूठे को भीतर की के मुटठी बाँध लेना चाहिये। कुछ लोग 'पाषाण-गर्भ हस्त' पत्थर का

---

[1] माध्याङ्गुलिकूर्परयोर्मध्ये प्रामाणिकः करः। बद्धमुष्टिः करो रत्निररत्निः सकनिष्ठि
(इ

रत्निः—कूर्परसन्धि से लेकर कनिष्ठिका पर्यन्त।

थ में रखने और रोगी को कस कर पकड़ने का भी विधान बतलाते हैं। इन नों विधियों से कार्य एक ही होता है। अंगूठे को भीतर रखने से मुट्ठी के धने में जोर मिलता है, इसके अलावे हाथ के तलवे के ऊपर पीड़न भी होता ता है—जिससे वहाँ का रक्त ऊपरी सिराओं में चला आता है। सभी उत्तान रायें उत्थित हो जाती हैं। पाषाण के गोलक को कसकर पकड़ने पर भी यही रिणाम गोचर होता है।

यहाँ पर भी पैर के सदृश यन्त्रशाकट कूर्पर के ठीक नीचे अथवा व्यध- ान से चार अङ्गुल ऊपर लगाना होता है। तदनन्तर वेधन किया जाता है। धुनिक युग में हाथ की सिराओं में कूर्पर के सामने की सिरा (Median ubital Vein) इस काम में लाई जाती है। यह एक बड़ी सिरा है, ससे काफी रक्त निकल सकता है। दूसरा कारण यह है कि अन्य सिराओं दृश यह अधिक चंचल नहीं, क्योंकि स्नायु पट्ट से बंधी रहती है, जिससे को सरलता से स्थिर करके बन्धन का कार्य सम्भव है।

(घ) गृध्रसी और विश्वाची में शिरावेध-विधि—गृध्रसी में रोगी जानु को संकुचित कर के शिरा का वेधन होना चाहिये। विश्वची के रोगियों कूर्पर संकुचित करके वेधन का विधान है।

(ङ) पृष्ठाद्गित सिरावेध—पीठ को ऊंचा और सिर को नीचे रख र जिसमें पीठ तनी हुई रहे—इस स्थिति में बैठे हुए मनुष्य की श्रोणी और न्धे में वेधन का विधान है।

(च) उदरवक्षका सिरावेध—छाती को फैलाये हुए सिर को ऊँचा ये हुए, और पूरे शरीर को प्रसारित की हुई स्थिति में मनुष्य की उदर र छाती की शिराओं का वेधन करना चाहिये।

(छ) पार्श्व सिरावेध—बाहुओं से लटकते हुए पुरुष के शरीर की र्श्व की सिरा का वेधन करना चाहिये।

(ज) शिश्न सिरावेध—शिश्न को नीचे की तरफ झुका कर सिरावेधन तरीका है। वाग्भट ने शिश्न के शिरा वेधन के लिये उसका प्रहर्षण अथवा कपूर्ण होना आवश्यक बतलाया है। अष्टङ्ग-संग्रहकार ने भी उन्नत मेढ़्र में वेधका विधान किया है। उन्नत अथवा हर्षित रहने पर सिरायें स्पष्ट हो ती हैं—कर्म में सरलता आ जाती है।

(झ) **जिह्वा सिरावेध**—जीभ को ऊपर और गले के अन्दर मोड़ कर रखने से जिह्वा-तल की रक्तवाहिनियां 'स्पष्ट हो जाती हैं, उसका वेध करना चाहिये ।

(ञ) **तालु एवं दन्तमूल सिरावेध**—मुख अधिक से अधिक करके तालु एवं दन्तमूल को सुस्पष्ट कर यथावश्यक, यथास्थान एवं करना चाहिये ।

ऊपर लिखे विविध सिद्धान्तों में शस्त्रकर्म करते समय सिरा को के अनेक प्रकार के यन्त्रण बतलाये गये हैं । इनकी सीमा नहीं निर्धारित है—यह निर्देश मात्र है । शस्त्रकर्म करते समय चिकित्सकों को कि वे अन्य यन्त्रणोपायों की भी सहायता ले और अन्य उपायों की करके शरीर और व्याधि के अनुसार अपने कार्यक्षेत्र मे बरते । समय अङ्ग को सिकोड़ना, फैलाना, टेढ़ा करना, बांधना इत्यादि यन्त्रण जो शिराओं के उत्थापन में आवश्यक होते हैं—अन्यान्य सुलभ विधियों भी किये जा सकते हैं ।

सिरावे कर्म में शस्त्रपातन का परिमाण— सिरावेधन करते ध्यान में रखना चाहिये कि वेधन से सिरा में आरपार छेद न हो, केवल की दीवाल में हो, अन्यथा सिरा-समीपवर्त्ती धमनी नाड़ी आदि में चोट का डर रहता है । (दुष्टव्यध)

आम तौर से उत्तान शिरायें बड़ी चञ्चल होती हैं । इसलिए प्रत्येक वेदन के समय यत्नपूर्वक सिरा को स्थिर कर लेना चाहिये । यदि तरह से स्थिर नहीं हुई और पकड़ में नहीं आई हो तो शस्त्र के द्वारा करते समय फिसल जावेगी। सुश्रुत ने उसके फिसलने की उपमा चञ्चल से दी है । वैद्य शिरावेधन कर्म में कितना भी चिराभ्यासी और क्यों न हो, उसको प्रत्येक समय समय नये सीखे हुए के सदृश सतर्क रह करना होता है ।[1]

इसलिये सामान्य नियम का ज्ञान जो शस्त्रपातन के माप के

---

[1] १. सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः ।
मत्स्यवत् परिवर्त्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत् ॥

आवश्यक हो, सभी को होना चाहिये। साधारणतया मांसल प्रदेशों में एक यव गहराई तक शस्त्र घुसाना चाहिये, अन्यत्र जहां मांस अधिक न हो, आधे यव की गहराई तक अथवा व्रीहिमुख शस्त्र से व्रीहि के बराबर वेधन करना चाहिये। हड्डियों के ऊपर कुठारिका से आधे यव के बराबर गहरा वेधन करे।

सुविद्ध सिरा या सम्यक् व्यध के लक्षण—१. वेध से रक्त का सम्यक् प्रवर्तन करने पश्चात् जब रक्त अपने आप बन्द हो जाय, तब विस्रावण की क्रिया शुद्ध और यथाशास्त्र हो गई, ऐसा समझना चाहिये।[1]

२. अथवा शस्त्र के सम्यक् प्रयोग से सिद्ध हुई सिरा से धारा रूप में कुछ काल तक रक्तस्राव होता रहता है, क्षणभर के लिये भी रोकने पर बन्द हो जाता है, तब उसको सुविद्ध समझना चाहिये।[2]

३ सम्पूर्ण अङ्ग में व्यापक दुष्टि को दूर करने के लिये सिरावेध की आवश्यकता होती है। उस अवस्था में विस्रावण करने पर पहले विकृत रक्त आता है, पश्चात् शुद्ध रक्त आने लगता है। उस समय उसको बन्द करना चाहिये। जिस प्रकार कुसुम्भ के फूलों को तोड़ने से पहले पीला स्राव आता है, ठीक उसी प्रकार सिरावेध होने पर प्रथम दुष्ट रक्त बहता है। यह अनुभवों के आधार पर की गई आचार्यों की कल्पना है।[3]

४. यदि विस्रावण का कार्य ठीक हुआ है और दुष्ट रक्त निकल गया है तो शरीर में हल्कापन, पीडा की शान्ति, रोग के वेग का क्षय और मन की प्रसन्नता आदि चिह्न रोगी में दिखलाई पड़ते हैं।

५. शिरावेध होने पर भी रक्त का न निकलना—सिरावेधन करते समय कई कार्यों का ध्यान रखना चाहिये। कई अवस्थाओं में रोगी की शिरा से

---

१. सम्यग्गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते।
शुद्धं तदा विजानीयात् सम्यग्विस्रावितं च तत्॥ (सु०)

२. सम्यग्विद्धे स्रवेद्धारा यन्त्रे मुक्ते तु न स्रवेत्।
अल्पकालं वहत्यल्पं दुर्विद्धा तैलचूर्णनैः॥
सशब्दमतिविद्धा तु स्रवेद् दुःखेन धार्यते। (वा० सू० २६)

३. अग्रे स्रवति दुष्टास्रं कुसुम्भादिव पीतिका।
सम्यक् स्रुत्वा स्वयं तिष्ठेच्छुद्धं तदिति नाहरेत्॥ (तत्रैव)

रक्त का निर्हरण नहीं हो पाता। उदहरण के लिये मूर्च्छा की अवस्था के कारणों का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है। विशेषकर रक्तवाहिनियों के नियन्त्रण केन्द्र (Vasomotor Centre) तथा वाहिनी नियन्त्रण (Vasomotor nerves of Antonomous N. System) जिससे आवश्यकतानुसार रक्त या तो मस्तिष्क के अन्तस्तर की केशिका इकट्ठा हो जाता है अथवा मस्तिष्केतर भागों में, जैसे—उदर विभाग की केशिकाओं के भीतर स्पञ्ज की भांति शोषित कर लिया जाता है। इसका यह होता है कि-शरीर की बड़ी उत्तान शिरायें एक प्रकार से रक्त से जाती हैं। ऐसी दशा में जब सिरावेध के पूर्व ही रोगी मूर्च्छित हो जा सिरावेध से रक्त नहीं निकलता, क्योंकि अधिकांश रक्त अन्यान्य केशिकाओं में फँस जाता है। जिन केशिकाओं का रक्त, वेधी हुई सिरा से है, वे केशिकायें स्वयं विस्फारित होकर रक्त को अपने भीतर रख लेती डल्हणाचार्य ने इस की व्यख्या 'सिरामुखनिरोधात्' शब्द से की है।[1]

अतिभीतावस्था— में भी यही हालत होती है। भीती का प मस्तिष्कगत वाहिनी नियन्त्रण केन्द्र पर होकर केशिकाओं का विस्फार हो और सिरा को रक्त न मिलना ही होता है।

अतिश्रान्तावस्था— में रोगी के थके रहने के कारण अधिकांश पेशियों में रहता है, फलतः सुचारु रूप से उत्तम शिराओं से रक्त का नि नहीं हो पाता।

अतितृषितावस्था—रक्त में जलांश या तरलांश की कमी की द्योतक फलतः सिराओं का उत्थान ठीक नहीं होता रक्त का निर्हरण भी नहीं हो पा अतितर्ष का अर्थ होता है अत्यधिक तृषा या प्यास। कुछ लोगों ने पाठान्त अतितृप्तयः या अतिसौहित्य परिपूर्ण भोजन (तृप्तकर भोजन) का भी रूप माना है। इस अवस्था में शाखागत रक्त की कमी एवं कोष्ठगत में रक्ताधिक्य हो जाता है। इस कारण से भी सिरा से वेध के अनन्तर स्राव पूरा नहीं हो पाता है।

---

[1] भीमूर्च्छायन्त्रशैथिल्य-कुण्ठशस्त्रातितृप्तयः ।
क्षामत्ववेगितास्वेदा रक्तस्यास्रुतिहेतवः ॥ (वा० सू० २७)

६. अस्तु क्षीण मनुष्यों में जिनमें अधिक रक्त का निर्हरण घातक होता हैं, हुत दोषयुक्त रोगियों में जिनमें एक बार के या कम रक्त निकालने से लाभ की म्भावना नहीं रहती, रक्त के गन्ध से ही मूर्छा-प्राप्त रोगियों में उपर्युक्त कारणों में सिरा को फिर से आवश्यकतानुसार अपराह्ण में दूसरे दिन या तीसरे दिन धन करना चाहिये। अष्टाङ्गहृदयकार ने इस समय को और लम्बा बढ़ाकर एक खवारे के बाद रक्त निकालने की विधि बतलाई है। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने एक मास तक अन्तर का विधान किया है। इस अवधि में खूब स्नेहन और तर्पण का विधान किया है।

७. **सशेष दोष विस्रावण**—सिरावेध के द्वारा अथवा किसी भी शस्त्रकर्म के द्वारा दोष का विस्रावण बहुत शीघ्रता से किया जा सकता है। इसी लिये शस्त्रकर्म की प्रशंसा, आशुक्रिया करने वाली विद्या शब्द के द्वारा की जाती है। शरीर में इकट्ठे हुए दोषों का निःशेष करना, यही चिकित्सा का उद्देश्य भी होता है। जब तक दोष शरीर में शेष रहते हैं, तब तक रोग का पूर्ण निर्मूलन नहीं होता, रोगी भी पूर्णतया रोग से मुक्त नहीं कहा जा सकता, परन्तु रक्त-विस्रावण के सम्बन्ध में दोषनिर्हरण करते समय इस बात का ध्यान रखना होता है कि मात्रा से अधिक न रक्त निकल जावे, क्योंकि 'शरीर का मूल रुधिर है और उसी के द्वारा देह का धारण होता है।' इस लिये यदि दोषों की निःशेषता उत्पन्न करने के लिये रक्त को अति अधिक राशि में निकाला जाय, तब दोष तो निःशेष हो जायंगे, पर उनके साथ ही शरीर भी निष्प्राण हो जावेगा। 'अति-स्रवण से मृत्यु हो जाती है, अथवा दारुण उपद्रव हो जाता है' (वा०)। अस्तु, रक्तविस्रावण के समय में रक्त को कुछ दोषयुक्त (सशेषदोष) रखना ही पड़ता है। सिरावेध के पश्चात् अधिकांश दोषों के निकल जाने पर जो अंश शरीर में शेष रहता है, उस से रोग के फिर उत्पन्न होने का भय कम रहता है। दूसरी बात यह है कि ये दोष कमजोर हो जाते हैं और उनका नाश संशामक औषधियों के द्वारा किया जा सकता है। 'जब रक्त का दोष किंचिन्मात्र रह जाता है तब उससे रोग का अतिवर्त्तन सम्भव नहीं, इस लिये कुछ दोषयुक्त रक्त के रहते ही उसको बन्द कर देना चाहिये, अतिस्राव होने से बचाना चाहिये' (वा०)। फिर शेष रहे दोष का 'उपवास, शीत, सेक, प्रदेह, विरेचन स्निग्ध एवं मधुर अन्न-पान से' प्रसादन करना चाहिये। इन्हीं उपचारों के द्वारा जो सशेष दोष गर्भिणी, बाल,

वृद्ध इत्यादि रोगियों में बतलाये गये हैं, उनमें विस्रावण नहीं किया जा किन्तु चिकित्सा की जाती है।[1]

सिरावेध में रक्त निकालने का अधिकतम परिणाम— बलवान्, दोष युक्त युवा मनुष्य के रक्तमोक्षण में आचार्य ने परम प्रमाण (अधिक) मात्रा एक प्रस्थ की[2] बतलाई है। वास्तव में प्रस्थ सोलह प होता है, परन्तु वमन, विरेचन तथा शोणि-मोक्षण कर्मों में सा पलों का ही प्रस्थ माना जाता है इसके अनुसार रक्तमोक्षण की परम चौवन तोले की होती है अर्थात् आवश्कता पड़ने पर बलवान एवं मनुष्य की सिरा से चौवन तोले तक रक्त निकाल सकते हैं। प्रत्येक प्रत्येक कर्म में इतना रक्त निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कि में दो तोले से, कहीं पर चार तोले से, अन्यत्र आठ तोले से काम जाता है। रक्त की निकालने की राशि रोगी का बलाबल देखकर नि जाती है। आधुनिक युग में कई रोगों में सिरावेध के द्वारा चिकित्सा पड़ती है, चिरकालीन हृद्रोग में आवश्यकतानुसार बीस से तीस (५०–७५ तोले) तक रक्त निकालने का विधान है।

पश्चात् कर्म

सिरावेध के समय रक्त को इकट्ठा करने के लिये एक पात्र होना च जिससे निकले हुए रक्त की राशि का ज्ञान सुविधापूर्वक होता रहता है। राशि में रक्त के निकल जाने पर शिरा के मुख को अर्थात् व्यधस्थान को से दबा कर रखना चाहिये, बंधन को खोल देना चाहिये। तदनन्तर तैल किये हुए कपड़े की पट्टी को वेधन के स्थान पर रखकर बांध देना चाहिये। दिनों तक रोगी को तथा सिरावेध के अंग को आराम देना चाहिये। रो आश्वासन करना चाहिये। जब तक कि यन्त्रनिपीडन से उन्मार्ग में गई स्वस्थ न हो जावे। प्रदुष्ट हुए दोष रक्त में मिले रहते हैं, इसलिये हि विहार पर रोगी को रखना चाहिये। इस अवस्था में पाचन-शक्ति की

---

[1] किञ्चिद्धि शेषे दुष्टास्रे नैव रोगोऽतिवर्त्तते।
सशेषमप्यतो धार्यं न चातिस्रुतिमाचरेत्।

[2] वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषि

रना परमावश्यक होता है। अस्तु। नाधिक शीत, नाधिक उष्ण, लघु, अग्नि-पक, आहार तथा पथ्यकर आहार सेवन करना चाहिये।

(अष्टाङ्गसंग्रह २६ सू०)

शिरावेधकर्म में योगायोग और उनके प्रतिकार—

अयोग—यदि वेध करने पर भी रक्त का स्राव न हो तो एला, कपूर, ट, तगर, पाठा, देवदारु, विडङ्ग, चित्रक, त्रिकटु, गृहधूम, हरिद्रा, अर्क कोंपल, रञ्ज के फल, इनमें जो सुलभ हों; तीन-चार या सब को पीस कर तेल और वण में मिलाकर व्रण के मुख पर घर्षण करे। इससे ठीक से रक्त निकल ाता है।

अतियोग—जब रक्त निकलना बन्द न हो तो लोध, प्रियङ्गु, पतङ्ग, लेठी, गेरु, राल, रसोंत, शाल्मलीपुष्प, शंखशुक्ति, उड़द, जौ और गेहूं इन व्यों का चूर्ण व्यधस्थान पर छिड़क कर अङ्गुली से दबा देना चाहिये, अथवा ाल, राल का वृक्ष, अर्जुन, विट्खदिर, मेषशृङ्गी, धव और धामन इनकी छाल ीस कर व्रणमुख पर लगावे। अथवा रेशमी वस्त्र जला कर उसकी राख से थवा समुद्रफेन या लाख के चूर्ण से अवचूर्णन करे। तत्पश्चात् यथोक्त व्रण ांधने योग्य द्रव्यों से व्रण का बन्धन करे, शीतल वस्तुओं से आच्छादन रना, ठंडा भोजन करना, शीत स्थान में रहना, शीत क्वाथादि से छिड़कना, ीत लेप आदि शीतोपचार करना चाहिये। अथवा क्षार या अग्नि से दहन रे। अथवा जिस सिरा का रक्त बन्द हो तो पहले वेध स्थान को छोड़ कर सरे स्थान पर वेध करना चाहिये।

मिथ्यायोग या दुष्टव्यध—यदि कर्म के समय यथाविधि सिरा का वेध हो तो उस अवस्था को दुर्विद्ध या दुष्टव्यध कहते हैं। इस प्रकार वेधन कई ारणों से हो सकता है, जिनमें मुख्यतया पांच कारण हैं, साथ ही दुर्विद्ध के भी ीस प्रकार बतलाये गये हैं।

क) **शस्त्र दोष**—शिरावेध में शस्त्र न बहुत सूक्ष्ममुख, न बहुत स्थूलमुख, न बहुत तीक्ष्ण या अन्य दोषों से युक्त होना चाहिये। इन दोषों से शस्त्र के युक्त होने के कारण सिरा कई प्रकार से दुर्विद्ध हो जाती है, उनके छः प्रकार हैं।

१. **दुर्विद्धा**—पीड़ा, शोफ से युक्त अल्प रक्तस्राव होना।

२. **अतिविद्धा**—रक्त की अतिप्रवृत्ति होना।

३. **पिच्चिता**—कुण्ठित शस्त्र से कुचली या चपटी हुई होना।

४. **अत्युदीर्णा**—तेज और बड़े मुख वाले शस्त्र से विद्ध होना।

५. **अपविद्धा**—दोष युक्त शस्त्र के अनेक प्रहारों से विद्ध हुई सिरा

६. **पुनःपुनर्विद्धा**—सिरा का व्यधस्थान बड़ा करने के लिये विद्ध होना।

(ख) **रोगी दोष**—वेध्य रोगी यदि शीत, भय, मूर्छा से अथवा पा युक्त हो तो शिरा वेध में दो दोष उत्पन्न होते हैं:—

१. **अप्रस्रुता**—जिस सिरा से रक्त न स्रवित हो ऐसा शीत, भय के कारण होता है।

२. **परिशुष्का**—रक्तक्षययुक्त रोगियों में वायुपूर्ण सिरा का होना।

(ग) **यन्त्रण दोष**—यथोचित स्थान पर यथोपयुक्त बन्धन नहीं सिरा का उत्थान ठीक नहीं होता, जिससे उसे स्थिर करने में उत्पन्न होकर वेध के द्वारा सिरा में तीन दोष उत्पन्न होते हैं।

१. **वेपिता**—कम्पायमान सिरा, जिससे रुक रुक कर स्राव हो।

२. **अनुत्थितविद्धा**—बिना उठी हुई अवस्था में विद्ध हुई।

३. **विद्रुता**—चञ्चल स्थिति में विद्ध हुई।

(घ) **सिरादोष**—वेधन के लिये रक्तवाहिनी निश्चित रूप से सिरा (होनी चाहिये। सिरा ऐसी चुनी हुई होनी चाहिये, जो न अधि हो, न पतली और न उसके आकार में कोई विकृति हो। इस ध्यान न देने से सिरा में दोष आते हैं।

१. **कुञ्चिता**—सिरा-कुटिलता वायु के कारण आती है, अति लक्षण मिलते हैं।

२. **अवेध्या**—जिसके ऊपर शस्त्र कर्म नहीं किया जा सके।

(ङ) **वैद्यदोष**—उत्तम शस्त्र, योग्य रोगी, उचित यंत्रण, एवं यथो का संगम हो, फिर भी वैद्य क्रियाभ्यास का ज्ञानी न हो तो उस वेध में सभी व्यापद हो सकते हैं क्योंकि सिरावेधन का कर्म

और अनुभवों पर मुनहस्सिर है कई बार वैद्य के दोष से सिरावेध करते समय सात दोष उत्पन्न होते हैं।

१. अन्तेऽभिहता—एक किनारे पर विद्ध, अल्प रक्त स्रवने वाली।

२. कूणिता—चौथाई हिस्से में कटी हुई, अल्प रक्त स्रवने वाली।

३. (शस्त्रहता) छिन्ना—पूर्णतया दो विभागों में कट जाना। अधिक रक्त स्रवने वाली।

४. तिर्यक विद्धा—शस्त्र के तिर्यक् प्रहार से विद्ध, जिसका अधिकांश कट गया हो और जरासा भाग शेष हो।

५. धेनुका—अनेक ताड़न से-एक के ऊपर अनेक वेध से बार-बार रक्त स्रवने वाली।

६. कुट्टिता—अनुत्थित सिरा पर बार-बार शस्त्रों से पार्श्व पर प्रहारित।

७. मांस-सिरा-स्नायु-अस्थि-सन्धि-मर्मविद्धा—मर्माङ्ग विद्ध होने से पीड़ा, शोफ, वैकल्य और मरण युक्त होना।

रोगानुसार सिरावेध के स्थान

ाददाह, पादहर्ष वबाहुक, चिप्प, वषर्प, वातरक्त, ातकंटक, विचर्चिका, (ाददारी,	क्षिप्र मर्म के दो अङ्गुल ऊपर सिरावेध करना चाहिये। संक्षेप में शाखाओं में होने वाली वातिक वेदनाओं (Neuralgias & Neuritis) में क्षिप्र मर्म (Dorsal venous arch) जो अङ्गुष्ठ और अङ्गुली के बीच में होता है, वहाँ वेधन करना चाहिये।

लीपद

ोष्टु-शीर्ष ञ्ज ङ्गु	इन वातिक रोगों में गुल्फ के चार अङ्गुल ऊपर की सिरा का वेध करना चाहिये। यहाँ पर सम्भवतः Small Saphenous vein का ग्रहण है। जङ्घा में इस स्थान का निर्देश है।

अपची में—इन्द्रवस्तिमर्म के दो अङ्गुल नीचे। यह भी उपर्युक्त सिरा का ी द्योतक है।

गृध्रसी में—जानुसन्धि के दो अङ्गुल ऊपर या नीचे की शिरा का वेधन होता है।

गलगण्ड में—ऊरुमूल में संश्रित सिरा का वेधन करना चाहिये।

प्लीहावृद्धि या प्लीहोदर में–सिरावेध के लिये दो शिरायें वतलाई वाम बाहु के मध्य में कूर्पर-सन्धि के भीतर कूर्पर के सामने वाली (Median cubital vein) और दूसरी कनिष्ठिका और अनामिका के मध्य में (First meta carpal vein), शिरा वेधन होना चाहि

यकृद्दाल्युदर—दाहिने हाथ की इन्हीं सिराओं में वेध करना चाहिये

कास श्वास—हृद्रोग अथवा वृक्करोगज य कास-श्वास में सिरावेध देखा गया है। आधुनिक युग में जब सिरावेध की आवश्यकता होती उसी सिरा (Median cubital vein) का ही वेध होता है।

अन्तर्विद्रधि—कास-श्वास के अतिरिक्त अन्तर्विद्रधी में भी उपर्युक्त का ही वेधन कुछ आचार्य प्रशस्त मानते हैं।

गृध्रसी, विश्वाची, विषमज्वर—में भी कूर्परमध्य शिरा का उल्लेख है

शूलयुक्त प्रवाहिका—में श्रोणि के आस-पास दो अङ्गुल पर की वेधन करना चाहिये।

परिवर्तिका उपदंश शूकदोष शुक्रव्यापद	मेढ्र के मध्य में (Superficial darsal का वेधन करना चाहिये।
अंतर्विद्रधी पार्श्व शूल	वाम पार्श्व में कक्षा और स्तन में बीच में पाइ वाली योग्य सिरा का वेधन करना चाहिये। पार्श्व रोगों में पाया जाता है। जैसे—शुष्क फुफ्फुसाव फुफ्फुस शोथ, हृच्छूल, हृद्रोग आदि में, इनमें भी का निर्देश है।
वाहुशोष अवबाहुक	शोणितावृत वातजनित बाहुशोष और अवबा ही सिरावेध से लाभ होता है। यदि केवल वातिक वि तो फायदा नहीं होता। यदि इन रोगों में शिरावेध हो तो कूर्पर और अंससन्धि के मध्य में किसी उत्तान सिरा का वेधन करना चाहिये।

तीयक तुर्थिक न्माद स्मार	तृतीयक विषम ज्वर में त्रिक सन्धि के मध्य की सिरा। चातुर्थिक में स्कन्ध-सन्धि के नीचे स्थित किसी भी पार्श्व की सिरा का वेधन किया जा सकता है। चरक ने उन्माद, अपस्मार एवं विषमज्वर में शंख प्रदेश और केशान्त की सन्धिस्थल पर मिलने वाली सिरा (Superficial temporal Vein) के वेधन का विधान किया है।[1]

सुश्रुत ने अपस्मार में हनुसन्धि के मध्य की हनुसन्धि पर पड़ी हुई (अरुण-) सिरा का वेध करने को कहा है (Sup. mandibular)। उन्माद की स्था में कई स्थानों पर पाई जाने वाली शिराओं का वेध निर्दिष्ट है—जैसे —शंख या केशान्त, २—भ्रूमध्य, ३—छाती, ४—अपाङ्ग और ५—ललाट की स्थित किसी भी सिरा का। इसका अर्थ है कि अपस्मार तथा उन्माद में ध्य सिरा (Frontal or Supra orbital vein), शंख-केशान्त-संधि-रा (Superior Temporal vein) और स्तनान्तरालीय (Inter-stal vein) सिरा का वेधन करता है।

ह्वारोग तरोग	जिह्वा के नीचेवाली सिरा का।
ण्ठ्यरोग	तालु की सिरा का।
रोग शूल	कान के ऊपर पाई जाने वाली सिरा का।
ारोग	नासाग्र की सिरा का।
मर... पाक	प्रभृति नेत्ररोगों में नासासमीपवर्त्ती, ललाट में स्थित या अपाङ्ग की सिरा का वेधन करना चाहिए।
रोग मन्थ	प्रभृति शिरोरोगों में भी ललाट स्थित अथवा अपाङ्ग की सिराओं का ही वेधन किया जाता है।

---

[1] शंखकेशान्तसंधौ वा मोक्षयेद्धि भिषक् सिराम्।
उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च॥
(चरक. चि. ३)

शरीर की अवेध्य सिरायें

सिरावेध के योग्य रोगों की सूची दी गई, साथ ही अङ्गानुसार व्यध का स्थान-निर्देश भी हो गया। परन्तु विभिन्न अङ्गों में कुछ ऐसी जिनका वेधन निषिद्ध है। शल्यकर्त्ता को उसको ज्ञान परमावश्यक है। उनके वेध से कई उपद्रव होते हैं। कई बार यहाँ तक कि घातक और परिणाम होकर मृत्यु तक हो जाती है। इनमें शाखाओं में इनकी संख्या कोष्ठ में बत्तीस और जत्रु के ऊपर पचास होती हैं। इसके कट जाने से रक्तस्राव होता है। अतः इन्हें बचाना चाहिये।

अधः शाखा—जालधरा—Great Saphenous vein.
उर्वी—Femoral artery & vein.
लोहिताक्ष—
ऊर्ध्वशाखा—जालधरा—Cephalic vein.
उर्वी—Brachial vessels.
लोहिताक्ष—Axillary veins.
श्रोणी—विटप—Spermatic vessels.
कटीकतरुण—Gluteal vessels.
पृष्ठ—बृहती—Subscapular.
मेढ्रोपरि—Inferior epigastric vessels.
वक्ष—स्तनमूलादि—Internal mammary and thoracic vessels.
ग्रीवा—मातृका—Carotid artery and jugular vein
कृकाटिका—Occipital veins.
विधुर—Post auricular vessels.
हनु—हनुसन्धिगत—Internal maxillary vessels.
जिह्वा—रसवहे, वाग्वहे—Deep Lingual vessels.
नासा—औपनासिकी—Angular vessels.
नेत्र—अपाङ्ग—Zygomatic temporal vessels.

कर्ण—शब्दवाहिनी—Anterior Tympanic vessels.
ललाट—केशान्तानुगा—Supra orbital & temporal vessels.
आवर्त—Frontal branch of the Superficial temporal.
स्थपनी—Nasal branch of the frontal vein.
शंखसन्धिगत—Superficial temporal vessels.
उत्क्षेप—Parietal branch of Superfical temporal.
सीमन्त
अधिपति } Branches of Occipital vessels ।[1]

शिरावेध कर्म पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण—प्राचीन युग में सिरावेध कर्म बड़े महत्व का माना जाता रहा, विशद वर्णन ऊपर के लेखों में या जा चुका है। इसकी महानता के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि स प्रकार यथाविधि दी हुई वस्ति कायचिकित्सा के क्षेत्र में आधी चिकित्सा बराबर मानी जाती है, उसी प्रकार शल्यशास्त्र में यथाविधि किया हुआ रावेधन का कर्म है, उसके द्वारा शस्त्रचिकित्सा का आधा प्रक्रम समाप्त हो ता है।' वस्ति प्रयोग से सम्पूर्ण शरीरगत रोग, विशेषकर त्रिदोषों में ान दोष जो वायु, उससे होने वाले रोग ठीक हो जाते हैं। काय-चिकित्सा में यु का जो प्राधान्य है, वही स्थान शल्य चिकित्सा में रक्त को मिला है, ोंकि उसी व्रण की दुष्टि. पूयभवन, सन्धान एवं रोपण इत्यादि कर्म होते हैं ी लिये दोषों में ही रक्त का शल्यतन्त्र में समावेश किया गया है। इस रक्त शुद्धि सिरावेध से जैसी होती है अन्य उपायों से नहीं हो सकती। 'मांस , अस्थि, मज्जा, तथा धमनियों की और दूषित रक्तयुक्त त्वचा की शुद्धि णितावसेचन के द्वारा होती है, अन्य उपायों से सम्पूर्णतः शुद्धि नहीं होती।' कित्सार्ध' शब्द का मतलब यह है कि अनुरूप रोगियों में कायचिकित्सा में स्त के द्वारा और शल्य-चिकित्सा में सिरावेधन से चिकित्सा का अधिकांश म निकल जाता है। इसलिये कायचिकित्सा में वस्ति का जो स्थान है, वही ान शल्यचिकित्सा में सिरावेध का है[2]। परन्तु कालक्रम से ये दोनों ही कर्म

---

[1] १. नोट—ऊपर पर्याय अंग्रेजी नामों की सूची डा० मा० गो० घाणेकर साहब की ी सुश्रुत-टीका से उद्धृत है।

[2] २. सिराव्यधश्चिकित्सार्द्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितम्।

धीरे-धीरे कम होते हुए नष्ट हो गये और आज के युग में यह परम्प
हो गई है—फिर भी रक्त के रोगों में इसका महत्त्व है।

मध्ययुगीन यूरोप के चिकित्सा-ग्रन्थों में उसकी प्रशंसा मिलती है।
(Phlebotomy) का प्रचार रहा और सफलता के साथ प्रयोग
ऐसा ज्ञात होता है। वह प्रथा किसी न किसी रूप में चलती आरही है,
मर्यादित एवं कम होती गई, परन्तु पूर्णतया लुप्त नहीं हुई।

आधुनिक युग में आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में भी कई रोगों में एक
श्यक और महत्त्व का कर्म माना जाता है। नित्य के व्यवहार में वह
लाई जाती है। उदाहरण के लिये—

१. जिन विकारों में रक्त—भाराधिक्य होता है और उसके कारण
दर्द, चक्कर, पक्षाघात आदि मस्तिष्कगत लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं, जै
विकार अथवा वृक्क-विकार।

२. रक्तगत विषमयता को निकालने के लिये—ऐसी विषमयता कई
में हो सकती है, जैसे-मूत्रविषमयता गर्भकालीन विषमयता, विषजन्य का
सर्पविष आदि रोगों में विष को कम करने के लिये शिरावेध के द्वारा
निर्हरण सहायक होता है।

३. जब फुफ्फुस अपनी विकृति या हृदयादि अन्य अङ्गों की वि
कारण रक्त का शोधन करने में असमर्थ रहता है। फुफ्फुस के द्वारा
ठीक शुद्धि नहीं होने की वजह से त्वचा में नीलिमा तथा सिरा-विस्तृ
लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। यह लक्षण फुफ्फुस शोथ, फुफ्फुसगत र
महाधमनी विस्तार, वातोरस और हृदय के दक्षिणार्द्ध के कपाटों के पुराने
आदि रोगों में मिलते हैं, उनमें सिरावेध करके रक्त निकालने का विधान

४. कुछ शोथजन्य विकारों में—फुफ्फुसशोथ, फुफ्फुसनालि
(न्यूमोनिया और ब्रांको न्यूमोनिया), स्वरयन्त्र-शोथ, मस्तिष्कावरण-शो

यथा प्रणिहितः सम्यग् बस्तिः कायचिकित्सते ॥ (सु०)
मांसमेदोऽस्थिमज्जातः शोणितस्यावसेचनात् ।
धमन्यश्च विशुद्धयन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः ॥
रसस्वेदाभिनिष्यन्दाद् विशुद्धयन्ति न पुष्कलम् ॥ (डल्हण.)

गों में श्वास-प्रलापादि लक्षण उत्पन्न होने पर कभी-कभी सिरावेधन किया ता है ।

प्राचीन काल के सिरावेधन में रोगों की भिन्नता के अनुसार उनके वेध्य राओं की भिन्नता बतलाई गई है । प्राय: ये सिरायें विकृत अङ्ग के समीपवर्त्ती लाई गई हैं, परन्तु कई स्थानों पर दूरवर्त्ती सिरा का भी वेधन करने के लिये देश है । जैसे-यकृद्दाल्युदर एवं प्लीहोदर में बाहु-मध्य-सिरा का वेधन, ची में जङ्घा-मध्य सिरा का । रोगसमीपवर्त्ती सिरा-वेध सम्भवतः स्थानिक ष प्रबल होने पर किया गया हो और दूरवर्त्ती सिरा का अपेक्षाकृत सार्वदैहिक प्रबल होने पर किया जाता है । वैसे सिरावेध तो पूर्ण शरीर में जब दोष प्त रहता है तभी किया जाता है फिर भी उसमें तर–तम भेद से अन्तर आ ता है । कभी स्थानिक दोष प्रबलतम और सार्वदैहिक प्रबलतर होता है—रे रोगों में सार्वदैहिक दोष प्रबलतम एवं स्थानिक प्रबलतर हो सकता है । ो दृष्टि से क्रमानुसार समीपवर्त्ती तथा दूरवर्त्ती सिराओं का निर्देश किया लता है । क्योंकि दूषित रक्त प्रथम निकलता है ।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति में आजकल स्थानिक रक्तदोष का निर्हरण करने लिये सिरावेध का उपयोग प्राय: नहीं होता । रक्तदोष या रक्तराशि को कम ने के लिये किया जाता है । अस्तु, कोई भी रोग हो, रोगनिरपेक्ष, जब णितावसेचन की आवश्यकता होती है, हमेशा कूर्पर सन्धिमध्य-सिरा का वेधन स्त मना जाता है । क्योंकि इस क्रिया में सुविधा और सरलता दोनों गुण हैं । कभी-कभी मातृका सिरा (Ext-jugular vein) भी वेधन के म में लाई जाती है ।

प्राचीन युग में केवल रोग की अवस्था में ही यह कर्म नहीं किया जाता था. क रोगों से बचने के लिये (अनागत बाधा-प्रतिषेध—Profilaxis) भी वकर्मों के सदृश व्यवहार में आता रहा ।[1]

रक्तस्तम्भन

शिरावेध या अन्य शस्त्रकर्म करते हुए अथवा किसी प्रकार के आकस्मिक घात के द्वारा रक्त का स्राव अत्यधिक होने लगता है । इस अवस्था में उसको

वग्दोषा ग्रन्थयः शोफा रोगा शोणितजाश्च ये । रक्तमोक्षणशीलानां न भवन्ति कदाचन ॥

तत्काल बन्द करना परमावश्यक होता है। रक्तस्राव की अवस्था में प्रका
उपाय बरते जाते हैं। प्रथम स्थानिक उपचार तथा दूसरा सार्वदैहिक।
स्थानिक उपचारों में सामान्यतया निम्नलिखित प्रयोग किये

१. शीत प्रयोग
२. उष्ण प्रयोग (पाचन)
३. दहन
४. शोणितस्थापक प्रयोग (स्कन्दन)
५. अवपीडन
६. बन्धन (सन्धान)
७. अङ्ग को ऊपर उठाकर

यदि परिभाषिक शब्दों में कहना हो तो उसी को चार कर्मों के भी
विष्ट माना जावेगा।[1]

१ सन्धान—शस्त्र द्वारा त्वचा, धमनी अथवा सिरा इत्यादि
छेद होता है, उसका संयोजन करना अथवा व्रण के किनारों को
सन्धान कर्म में ही अवपीडन (Forci pressure) या पीडन (Pr
on points) क्रिया का ग्रहण हो जाता है। आज कल पीडन का
प्रकार के धमनी-पीडक स्वस्तिक यन्त्र या धमनी स्वस्तिक यन्त्र (
forcep) के द्वारा किया जाता है। इससे सिरा या धमनी को पकड़
देकर छोड़ देते हैं; रक्त अपने आप बन्द हो जाता है। गहरे स्थानों के
में विशेषतः शस्त्रकर्म के समय अनेक ऐसे संदंशों की आवश्यकता पड़ती
स्थानों में अन्य उपायों का अवलम्बन करना ठीक नहीं होता है। पीड़
विभिन्न सिराओं या धमनियों के रक्तस्राव बन्द करने के लिये स्थिर
निर्दिष्ट बिन्दुओं से है। इन बिन्दुओं पर दवाव देने से रक्त का निक
बन्द हो जाता है। कई बार छोटी वाहिनियों में यदि रक्त नहीं बन्द
धमनी-संदंश से पकड़कर दो-तीन बार पीडन करने पर (Torsio
बन्द हो जाता है।

---

[1] चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्। सन्धानं स्कन्दनञ्चैव पाचनं दहनं
व्रणं कषायः सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्। तथा सम्पाचयेद्भस्म दाहः स
अस्कन्दमाने रुधिरे सन्धानानि प्रयोजयेत्। सन्धाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः
कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि। असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम
(

यदि रक्तावाहिनी बड़ी हुई और उपर्युक्त पीडनों के बावजूद भी खून का रना नहीं बन्द हुआ तो उस अवस्था में टाँका लगाकर (Ligaturing) क को बन्द किया जाता है। टाँका लगाने के लिये भिन्न-भिन्न सीवन द्रव्य वहार में आते हैं, इस काम में अधिकतर आंत को बनाई तांत (Cat ut) का उपयोग होता है। रक्तवाहिनी को संदंश से पकड़कर पश्चात् तांत से कर बाँध देते हैं।

२. स्कन्दन—का अर्थ रक्त को गाढ़ा करना या जमाना है। स्राव के बन्द ने में मुख्यतया दो कार्य होवे हैं। रक्त-वाहिनियों के बाहर आते ही रक्त ढ़ा होने लगता है और उसका थक्का बनकर वाहिनी के बाहर या भीतर में टक कर मुख को बन्द कर लेता है। जिससे रक्त बाहर निकलने में कठिनाई ने लगती है, और वह धीरे-धीरे बन्द हो जाता है। दूसरा कार्य रक्तवाहिनियों दीवाल में होता है, वाहिनी संकुचित होकर वाहिनी का मुख छोटा हो जाता , इससे स्राव बन्द होने में मदद मिलती है। बहुधा मामूली रक्तस्राव इस विधि बन्द हो जाता है। परन्तु जिस समय वह अपने आप बन्द नहीं होता तब कृति को सहायता करने की आवश्यकता होती है। इसमें कषाय रस द्रव्य Astringents) रक्तगत तथा व्रण-स्रावगत एल्ब्युमिन आदि प्रोटीनों को माकर रुधिर के निवारण में सहायक होते हैं। शीतल द्रव्यों का भी यही प्रभाव ता है—रक्तवाहिनियों की दीवाल को संकुचित करके रक्त-निरोध में मदद देता । आजकल बहुत से रासायनिक द्रव्य-जो गुण में संग्राही (Styptics) होते यवहृत होते हैं। जैसे फिटकिरी, आयरन पर क्लोराइड, कोलीडियन इत्यादि।

३. पाचन—एक पारिभाषिक शब्द है इसका व्यवहार शोफ से पूयोत्पादन की क्रिया से होता है; परन्तु यहाँ पर एक विशिष्ट अर्थ में व्यवहृत हुआ है। ख आदि डालकर व्रणस्थान को सूखा करना। इससे थक्का बनने में सहायता कर रक्तवाहिनी का मुख भर जाता है, स्राव अपेक्षाकृत शीघ्र बन्द जाता है।

४. दहन—दहन कर्म को रक्तस्राव बन्द करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय माना या है। जब रक्त किसी भी उपचार से बन्द न होता हो तो इस उपचार से वश्य बन्द हो जाता है। दाह को रक्तस्राव बन्द करने का अचूक उपाय इसलिये तलाया जाता है कि उसके प्रयोग से रक्तगत अल्ब्युमिन आदि प्रोटीन जम

जाते हैं, साथ ही साथ रक्तवाहिनियों का भी तत्काल संकोच हो रक्तप्रवाह को बन्द करने में प्रकृति के द्वारा दो ही कार्य होते हैं—रक्त संकोच तथा रक्तगत प्रोटीनों का जम जाना। ये दोनों कार्य शीघ्रता क्रिया के द्वारा सम्पादित हो जाते हैं, इसी आशय से इसकी श्रेष्ठमत्ता की गई है।[1]

यदि सिरा, धमनी जैसे विशिष्ट स्थान से रक्त का स्राव होता हो, शलाका का उपयोग करना चाहिये। यदि रक्तस्राव का स्थान विस्तृत केशिकाओं से रक्तस्राव होता हो तो तप्त जल का उपयोग करना चाहिये लिये जल की उष्णता १३२–१६०° फे० ही० तक होनी चाहिये।

सार्वदैहिक या आभ्यन्तरिक उपचार—रक्त का अधिक के पश्चात् रक्त की कमी हो जाती है उसकी पूर्ति के लिए तथा शीतवी के सेवन से रक्त-स्तम्भन में सहायता मिलती है। इन विचारों को दृ कर कई उपाय बतलाये जाते हैं।[2] इन उपायों के द्वारा किसी भी प्रकार अति स्राव को रोकना चाहिये। क्योंकि 'शरीर का मूल रक्त है, रक्त ही देह का धारण होता है—रक्त ही जीवन है ऐसा समझ रक्त स्तम्भ के द्वारा जीव की रक्षा करनी चाहिये।

१. काकोल्यादि गण की औषधियों का क्वाथ शर्करा और मधु मधुर बनाकर पिलाना चाहिये।

२. पित्त प्राकृति किंवा पित्तदुष्ट रक्तस्राव में या दीप्त जठराग्नि में क्षी देना चाहिये।

३ श्लेष्म प्रकृति रोगी किंवा श्लेष्मदुष्ट रक्तस्राव में या मध्यम वालों में सुस्निग्ध यूष देना चाहिये।

---

[1] अस्कन्दमाने रुधिरं साधनानि प्रयोजयेत्।
संधाने अशयमाने तु पाचनैः समुपाचरेत्॥
कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि।
असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम इष्यते॥

[2] देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः॥ (सु० सू० १५)

४. वात प्रकृति के रोगी में किंवा वातदुष्ट रक्तातिप्रवृत्ति या मन्द जठराग्नि मांसरस देना चाहिये ।

५. कृष्ण हरिण, मेढा, खरगोश, भैंस और शूकर का रुधिर पिलाना । मान अपने समान का वर्द्धक होता है[1] इस सिद्धान्त के अनुसार रक्तस्रावजन्य, मी की पूर्ति के लिये रक्तवर्द्धन की आवश्यकता होती है, इसीलिये साक्षात् पान का विधान किया गया है । आधुनिक युग में रक्तानुरूप हीमोग्लोबिन के यौगिक रक्ताल्पत्व या पाण्डु के रोगियों की रक्त की कमी को दूर करने के ये व्यवहृत होते हैं । इसके अतिरिक्त आत्ययिक अवस्था में एक मनुष्य का रक्त रे मनुष्य के रक्त में प्रत्यक्ष सिरा द्वारा प्रविष्ट किया जाता है । इस विधि को ड ट्रान्सफ्युशन' कहते हैं ।

रक्त का अन्तःक्षेप करने के पूर्व दाता मनुष्य के रक्त की परीक्षा करनी होती यदि वह रक्त ठीक समान हो और अविरुद्ध मालूम पड़ता (Compatible) तभी प्रयोग करना चाहिये । इस प्रयोग से अद्भुत लाभ होता है । यदि ठीक मय से योग्य रोगी में अन्तःक्षेप किया जावे तो सहसा मृत्यु होने वाले रोगी भी उसकी मृत्यु की संभावना कम हो जाती है । कई बार रोगी के प्राण वच ते हैं । ताजे रक्त के सेवन या अन्तःक्षेप से रक्तस्राव वन्द होने में भी मदद लती है । क्योंकि रक्त में रक्त जमाने वाले पदार्थं विद्यमान रहते हैं ।

रक्तस्राव के वन्द करने के लिये कई प्रकार रक्त के स्थान पर कई प्रकार लसीकायें (रक्तरस Serum) व्यवहृत होती हैं । इसका भी कार्य रक्तस्तम्भन होता है । घोड़े की लसीका (Horse Serum, Coaguline Ciba) प्रचलन बहुत है ।

रक्तस्तंभक योग—सिद्धामृत योग (दन्ती + प्रवाल + गैरिक + शुद्ध टिका) १ से २ माशा की मात्रा मे कदली-कंदस्वरस के साथ, या उदुम्बर

---

[1] सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ।
सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।
तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः । (च० सू० १)
वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः । (वा० सू० १)

कषाय के साथ या दूर्वास्वरसके साथ देना लाभप्रद होता है। फिटकरी १ माशे से २ माशे की मात्रा में उदुम्बर कषाय के साथ मु सद्यः लाभप्रद होता है।

शुद्ध स्फटिका (फिटकरी) का स्थानिक उपयोग भी लाभप्रद विशेषतः दाँतों के निकालने से उत्पन्न हुए गर्त से होनेवाले रक्तस्राव स्फटिका-चूर्ण का भरना चामत्कारिक रूप से रक्तस्राव बंद करता है।

आजकल विटामीन सी०, के, कैल्शियम् तथा आयापान के कई रक्तस्तंभन में व्यवहृत हो रहे हैं, जैसे—'स्टीप्टोसिड' मात्रा १–२ गोली तीन बार। कई प्रकार औषधि योग आधुनिक चिकित्सा में रक्तस्तंभक होते हैं। जैसे—क्लाडेन स्टिप्टो बियान, कैल्शियम् एवं विटामीन सी०, 'के' तथा अयापान आदि के योग।

उपद्रवों की चिकित्सा—रक्तस्राव हुए रोगी की स्थिति ऐसी जिसमें अग्नि की मन्दता, वात का प्रकोप और रक्त की कमी हो इस स्थिति का विचार करते हुए उसे वात-शमन के लिए बृंहण औ खाद्य पदार्थ, मन्दाग्नि के लिये हल्का और दीपनीय पदार्थ और रक्त के लिये नातिशीत उष्ण तथा मधुर पदार्थ देना चाहिये। भोजन में कि के (अनम्ल) या थोड़ी खटाई युक्त (ईषदम्ल) भोजन देना चाहिये। वर्द्धक योगों ((Haematiser or Haematinics) में लौह ए का पदार्थ है; क्योंकि रक्त का रञ्जक द्रव्य लौह से युक्त होता है मण्डूर, लौह के विभिन्न योग प्राचीन काल में चलते रहे एवं अर्वाची भी चलते हैं। लोहयुक्त खाद्य पदार्थ अण्डा, टमाटर, हरे शाक-सब्जी बादाम आदि देना चाहिये।[1]

लौह के अतिरिक्त संखिया और ताम्र के योग भी रक्ताल्पत्व की शोणित-वर्धन के लिए बरते जाते हैं। आधुनिक युग में हीमो

---

[1] धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति तस्मात्प्रयत्नतः॥
तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्॥
स्रुतरक्तस्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले।
शोफं सतोदं कोष्णेन सर्पिषा परिषेचयेत्॥ (सु० सू० १४)

गिक भी व्यवहृत होते हैं। धातुक्षय आदि चिरकालीन उपद्रवों में इन यौगिकों लाभ होता है। बहुधा यकृत्सत्त्व (Liver extract) तथा विटामीन बी १२ लाभ देखा जाता है।

कई बार मस्तिष्कगत रक्त की कमी के कारण मूर्च्छा, संन्यास आदि के द्रव हो जाते हैं। इस अवस्था में रोगी के पैर ऊंचा करके रखना चाहिये सेसे रक्त का अधिकांश भाग मस्तिष्क में चला जावे। अन्य भी शीतल उपर यथावश्यक करके रोगी को होश में लाने का प्रयत्न करना चाहिये।

उष्ण और उत्तेजक औषधियाँ, जैसे — मकरध्वज, कस्तूरी, कपूंर आदि का ोग तब तक नहीं करना चाहिये जब तक स्थानिक रक्तस्राव पूर्णतया बन्द न जावे। क्योंकि उत्तेजक औषधियों के प्रयोग से रक्तप्रवाह बढ़ने का भय ता है। यदि रक्तस्राव बन्द हो गया हो तब कोई आपत्ति नहीं, हृदयोत्तेजक षधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

अष्टम प्रकरण

क्षाराग्निकर्मीयाध्याय

क्षार में दो कर्म प्रधानतया होते हैं एक क्षरण (अर्थात् स्यन्दन करनेवाला), रा क्षणन (काटनेवाला), स्यन्दन शब्द से तात्पर्य यह है कि क्षार दोषों को ा देता है। काटने का तात्पर्य त्वचा, मांसादि धातुओं का नाश या शातन र करता है। इन कार्यों के ही आधार पर क्षार की निष्पत्ति होती है।

क्षारों में कई गुण होते हैं—[1]

१. **त्रिदोषघ्नता**—नाना प्रकार की ओषधियों से उत्पन्न होने के कारण धों की न्यूनाधिक मात्रा के प्रभाव से तीनों दोषों पर संशामक प्रभाव होता है।

---

[1] तत्र क्षरणात क्षणनाद्वा क्षारः।
शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः। छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्त्रिदोषघ्नत्वाद्विशेषक्रियारणाच्च। (सू० सू० ११)
वंशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठो बहूनि यत। छेद्यभेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि॥
स्त्रावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयात्सु च। अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते॥
(अ० हृ० सू० ३०)

२. **सौम्यता**—श्वेत वर्ण के होने से सौम्य होता है। श्वेत वर्ण का माना जाता है, वह सौम्यगुण-भूयिष्ठ होता है इसी दृष्टि से उसको भी सिद्ध है।

३. **दहन, ४. पचन, दारणादि की अप्रतिहतशक्ति**—क्षा सौम्य होता है फिर भी उसके द्वारा दाह, पाक एवं दारण आदि के आ सिद्ध किये जाते हैं। बाह्य प्रयोग करने पर व्रण शोफ में उसके द्वारा प और आन्तरिक प्रयोग करने पर यानी पीने से अजीर्णादि का नाश प्र है। इस अविरोध का कारण यह बताया जाता है कि क्षार का निर्मा कि आगे देखेंगे आग्नेय गुण-भूयिष्ठ औषधियों के योग से होता है; जो शुक्ल एवं सौम्य गुण होने पर भी दहनादि शक्ति का विरोध नहीं कर है। संक्षेप में सौम्यगुण, दहनादि कार्य का विरोधी नहीं होता।

६. **शोधन ७. रोपण, ८. शोषण, ९. स्तम्भन, १०. लेखन**-सम्बन्ध में क्षार के द्वारा ये कार्य सम्पन्न होते हैं। कटु, उष्ण और औषधियों के योग से बने होने के कारण व्रणादि के पूय का संशोधन कर दुष्ट व्रणों में अप्रत्यक्षतया रोपण करने वाला, पूयादि का शोषण करने धमनी और सिरास्रोतसों के मुख को संकुचित करके रक्तस्राव (Styptic) करने वाला और उत्तुण्डित व्रण मुखों को काटकर देने वाला होता है।

११. **विलयन**—कृमि, आम, कुष्ठ कफ और विष का नाशक तथा रोगों का विलयन करने वाला होता है। ये गुण क्षार के आभ्यन्तर प्र मिलते हैं इसका भी मूलभूत कारण उष्ण, तीक्ष्ण और कटु औषधियों से बना हुआ होना ही है।

अधिक काल तक अधिक मात्रा में सेवन करने से क्षार के द्वारा शुक्र का नाश हो जाता है।

क्षार के भेद

क्षार के उपर्युक्त गुणों और कर्मों को ध्यान में रखते हुए दो प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है। १. बाह्य २ आभ्यन्तर। इनमें बाह्य प्रयो

ले क्षार प्रतिसारणीय क्षार, एवं आभ्यन्तर प्रयोग में आने वाले पानीय क्षार लाते हैं।

पानीय क्षार का सम्बन्ध कायचिकित्सा (Medicine) से है और उसका ग गरविष, गुल्म, उदररोग, अग्निसंग, अजीर्ण, अरोचक, आनाह, शर्करा, री, आभ्यन्तर विद्रधि, कृम्युदर तथा अर्श होता है। प्रस्तुत विषय शल्य urgery) से सम्बन्धित है इसलिये बाह्य प्रयोग में आने वाले प्रतिसार- क्षार का ही विस्तृत वर्णन समीचीन है। प्रतिसारणीय क्षार तीन प्रकार के ये जाते हैं, मृदु, मध्य और तीक्ष्ण, उन का उपयोग रोग-बल एवं काल के ार होता है।

क्षार

प्रतीसारणीय क्षार — पानीय क्षार

(द्रव) (बाह्य) (Caustic) (आभ्यन्तर) (Alkali) (चूर्ण)

(संव्यूहिम) — मध्य — तीक्ष्ण (पाक्य)

क्षार के निर्माण की एक सामान्य विधि—शरद् ऋतु में उत्तम दिन कर शुचि और उपोषित होकर, पर्वत के ऊपर प्रशस्त भूमि में उत्पन्न हुए, , कृमि, विष, अग्नि आदिसे अनष्टवीर्य, मध्यम आयु के परिपूर्ण वीर्य, बडे, मुष्कक (कालमुष्कक[1]) पौधे को अधिवासित करके, दूसरे दिन उसको ड़ ले। उसे खण्डित करके छोटे-छोटे टुकड़े काट ले फिर निर्वात स्थान में ठा कर चूने के छोटे-छोटे टुकड़े डालकर तिल की लकड़ियों से उसको जला चाहिये। अग्नि के शान्त हो जाने पर भस्म को अलग और चूने के टुकड़ों अलग-अलग करके उठाकर रख लेना चाहिये।

कृष्णमुष्कक की भांति प्रशस्त दिन-देशादि का विचार करके अधिवासन- कुटज, पलाश, शाल, नीम, विभीतक, अमलतास, लोध, अर्क, स्नुही,

---

[1] पलाश सदृश वृक्ष।

अपामार्ग, पाटला, करञ्ज, अड़ूसा, केला, चीता, पूतीक, अर्जुन, कनेर, छतिवन, अरणी, मुञ्जा, चारों प्रकार की कोशातकी, इनको मूल, और शाखा के साथ जलाकर भस्म बनाकर उनका स्वतन्त्र या मिश्र भी क्षार बनाये जा सकते हैं।

मृदुक्षार— इस प्रकार से बने हुए भस्म को एक बड़े वर्तन में छै गुना पानी या गोमूत्र डालकर खूब मिलाकर इक्कीस बार कपड़े से चाहिये। आमतौर से मात्रा में एक द्रोण भस्म और छ द्रोण पानी पर्याप्त है। पुनः निथारे हुए जल को बड़ी कड़ाही में डालकर आग पर धीरे धीरे पाक करे। इस द्रव को पकाते समय कलछी से चलाते रहना जब उसका रङ्ग स्वच्छ, लालवर्ण, तीक्ष्ण और चिकना हो जाय तब घने कपड़े से छानकर अविस्रुत किट्ट को अलग करके विस्रुत द्रव को पर चढ़ाना चाहिये। उस विस्रुत द्रव में से एक या डेढ़ कुड़व द्रव दूसरे वर्त्तन में रख लेना चाहिये। तब इस द्रव का स्वतन्त्र पाक करे इस प्रकार पच जाने से जो क्षार बनेगा वह मृदु होगा इसी की संव्यूहिम है।

रब दूसरे वर्त्तन में पड़े हुए विस्रुत क्षार द्रव में कुछ अधिक तेज़ लिए कुछ अवानस्पतिक क्षार पदार्थों का प्रतीवाप डालना चाहिये।

कटशर्करा—एक प्रकार के चूने का पदार्थ या शुक्ति (वाग्भट) या नटालता (डल्हण)।

भस्म शर्करा— भस्म बनाते समय अवशिष्ट जले हुए चूने के टु

क्षीर पाक—(खड़िया)।

शंखनाभि—

आदि पदार्थों में प्रत्येक को अग्नितप्त करके जब लाल वर्ण के हो क्षार में डालकर बुझाना चाहिये। मात्रानुसार विधि यह है कि क्षारोद की मात्रा में लेते हैं, लौहपात्र में रखकर पाक आरम्भ करते हैं, रखने का दो अर्थ है, एक तो लौह क्षार के लिए अभेद्य होता है दूसरे क्षार की शक्ति बढ़ जाती है। दो द्रोण क्षार जल में कटशर्करा की मात्रा आठ-आठ पल की होती है, कुल मिलाकर बत्तीस पल कड़ाही में सावधानी से डालकर के बुझाना चाहिये और जल को

हिये। और ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिससे न क्षार बहुत गाढा हो और बहुत पतला हो, जब पाक ठीक हो जाय, तब अग्नि से उतार कर लोहे के रे मुख वाले कुंभ में रखकर मुख बन्द करके रख देना चाहिये। यह क्षार यम शक्ति का होगा। वर्त्तन का मुख खुला रखने से हाइड्रोक्साइड का परि-न धीरे-धीरे कार्बोनेट में होकर क्षार की शक्ति कम हो जायगी।

तीक्ष्ण क्षार—उपर्युक्त प्रतीवाप द्रव्यों के अतिरिक्त यदि उसी क्षारोदक में और कटु, उष्ण और तीक्ष्ण वनस्पतियों का चूर्ण मिला दें, तो उस क्षार की क्ति और बढ़ जाती है और वह पाक्य अथवा तीक्ष्ण क्षार कहलाता है। ाहरण के लिए दन्ती, द्रवन्ती, चित्रक, लाङ्गली, करञ्ज, प्रवाल, तालपत्र, इलवण, सज्जीखार, कनकक्षीरी, हिंगु, वच और अतीस इनमें जो मिले प्रत्येक का ीन चूर्ण एक एक शुक्ति की मात्रा में डाल देना चाहिये। इन द्रव्यों के समेत क्षार बनता है उसे पाक्यक्षार कहते हैं।

क्षारपाक की विधि के पश्चात् क्षारकर्म का विधान बतलाया जायगा। र का उपयोग करने की पद्धति बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। क्षार अंग्रेजी में रासायनिक दृष्टि से अल्कली कहते हैं—और उसका प्रयोग कई कृति की अवस्थाओं में पानीय रूप में व्यवहार करते हैं जैसे—

१. भोजन के पूर्व आमाशयिक स्राव को कम करने के लिये।

२. भोजन के पश्चात् अम्लाधिक्य को कम करने के लिए।

३. आमाशयिक कला पर संशामक प्रभाव डालने के लिए।

४. रक्तसंस्थान की क्षारीय प्रतिक्रिया बढ़ाने के लिए।

५. मूत्रस्रावण क्रिया बढ़ाने के लिये तथा मूत्र को क्षारीय बनाने के लिए।

लिए सभी क्षार मूत्रल होते हैं।

आधुनिक युग में पाश्चात्य वैद्यक में आभ्यन्तर प्रयोग के लिए कई एक क्षार वहार में आते हैं, पोटैशियम् के सायट्रेट, एसिटेट, बायकार्बोनेट, कार्बोनेट ट्रेट इसी प्रकार सोडियम् के बायकार्बोनेट, और कार्बोनेट, लिथियम् के ट्रेट और कार्बोनेट, आदि। प्राचीनों ने यवक्षार, टङ्कणक्षार, तिल, अपामार्ग, ली, पलाश, शिग्रु, मूली, अदरक, इमली और पीपल आदि पेड़ों की भस्म से क्षार का पीने के लिये प्रयोग बतलाया है।

बाह्य प्रयोग की दृष्टि से विचार करने पर पर अंग्रेजी में उस क्रिया को कह सकते हैं और सुश्रुतोक्त क्षार कर्म को 'पोटेंशियल काटरी' कह पाकविधि से स्पष्ट है कि क्षार (Caustic) इस प्रकार के जो वाह्य आये हैं। उनके लिये वनस्पतियों की भस्म, खटिक (Calcium) और प्राणिज पदार्थ उपयोग में आते हैं। वनस्पतियों की भस्म में सोडियम् कार्बोनेट, पोटैशियम् कार्बोनेट, कैल्शियम् आक्साइड, आक्साइड सिलिका आदि आदि रासायनिक द्रव्य होते हैं।

मृदुक्षार में कार्बोनेट्स की ही मात्रा रहती है, हाइड्रोक्साइड अत्यल्प रहती है। हाइड्रोक्साइड की ही अधिकता पर क्षार के द्वारा कार्य अधिकता से हो सकता है। इसी से मध्यावस्था में मृदु क्षारोदक (Lime), पाषाण (Marble). क्षीरपाक (Chalk), शंख (shell), शुक्ति आदि चूने के पदार्थ जलाकर डाल दिये जाते हैं, क्षारोदक के अधिकांश कार्बोनेट्स, हाइड्रोक्साइड में परिवर्तित हो जाते कैल्शियम आक्साइड (भस्म) का फिर कार्बोनेट बनता है जो तली में है। क्योंकि यह घुलनशील नहीं होता। इस प्रकार मध्यम क्षार में हाइ की अधिकता होने की वजह से उसकी क्षणन शक्ति बहुत तीव्र मध्यम और तीक्ष्ण क्षार में हाइड्रोक्साइड की मात्रा में कोई विशेष फर्क क्योंकि मध्यमक्षार को अधिक तीव्र करने के लिये वनस्पतियों अधिक प्रयुक्त होता है। इसलिये वनस्पतियों की कुछ तीक्ष्णता उसमें आ जाती है।

पानीय क्षार मृदु होते हैं, उनमें हाइड्रोक्साइड की आवश्यकता इसलिये वे बिना चूने के उपयोग किये ही बनते हैं। पानीय क्षार चू व्यवहृत होते हैं; परन्तु प्रतिसारणीय क्षार सर्वदा द्रव रूप में व्यवहृत

प्रतिसारणीय क्षार के कार्य का तरीका—इन क्षारों में विशे प्रकार की शक्ति होती है।

१. जल का शोषण करना।

२. शुक्ली (Albumin) को घोल लेना।

३. मेद के साथ मिलकर साबुन बनना (Saponification)

इस त्रिगुणात्मक शक्ति के कारण शरीर के जिन सेलों के साथ क्षार संयुक्त ा है। वे सेल एल्ब्युमिन आदि पोषक द्रव्यों के अभाव होने से मर जाते हैं। र में जल अनुपयोगी भाग, तिलकालक, मशक, चर्मकील, अर्बुद आदि अथवा विकृतियाँ, जैसे—दुष्टव्रण, नाडी, भगन्दर, अर्श आदि हो जाते हैं तो उनका करने के लिये क्षार का उपयोग करते हैं। कृमिदंश में क्षार के लेप करने ाभ होता है क्योंकि कृमिविष अधिकतर अम्ल होते हैं, क्षार के विपरीत ग से वे निष्क्रिय हो जाते हैं। आधुनिक युग में पाश्चात्य वैद्यक में लायकर श, लायकर सोडा, लायकर अमोनिया, सिल्वर नाइट्रेट, जिंक क्लोरायड् कोलागॅल आदि द्रव्य क्षारकर्म (Castic) को दृष्टि से व्यवहार में लाये हैं।

प्रतिसारणीय क्षार-साध्य व्याधियाँ—कुष्ठ, किटिभ, दद्रुमण्डल, किलास, दर, अर्बुद, अर्श, दुष्ट व्रण, नाडी, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, मशक विद्रधि, कृमिदंश का विष, उपजिह्वा, अधिजिह्वा, उपकुश, दन्तवैदर्भ और रोहिणी आदि सात मुखरोगों में भी लगाया जाता है।[1]

क्षारकर्म की श्रेष्ठता—शस्त्र और अनुशस्त्रों के कर्म से क्षारकर्म को क प्रधान बतलाया गया है। इसके तीन कारण हैं—[2]

१. छेद्य-भेद्य-लेख्यकरणात्—क्षार के द्वारा छेदन, भेदन और लेखन कार्य ऐसे संकीर्ण और सङ्कट-स्थानों में भी हो जाता हैं जहाँ पर शस्त्रों का ग करना कठिन होता है। इसके अतिरिक्त शस्त्र का प्रयोग करने पर भी स्थान में सिद्धि नहीं मिल सकती वहाँ पर क्षार फलदायी होता है। उदा- के लिये—

छेदन (नाडी में) 'कृश दुर्बल और भीरु मनुष्यों में अथवा मर्माश्रित नाडी ार और सूत्र के द्वारा छेदन किया जाता है, शस्त्र के द्वारा नहीं।' (सु०)

---

[1] स पेयोऽर्शोऽग्निसादाश्मगुल्मोदरादिषु।
योज्यः साक्षान्मषश्वित्रबाह्यार्शःकुष्ठसुप्तिषु।
भगन्दरार्बुदग्रन्थिदुष्टनाडीव्रणादिषु। (वा. सू. ३०)

[2] सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठो बहूनि यत्। छेद्यभेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि॥
दुःखावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयात्सु च।
अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते॥ (वाग्भट)

भेदन (ममंज व्रणशोथ में) 'मर्मोपरिजात–दारणयोग्य व्याधियों में दारण ओषधियों के द्वारा अथवा क्षार के द्वारा क्षरण करना चाहिये।'

लेखन (कठिनोत्सन्न मांस तथा कुष्ठ में) 'जिन में शस्त्र के द्वारा क्रि को जा सकती अथवा जहाँ पर स्पर्शनेन्द्रियाँ नष्ट हो गई हों—वहाँ पर निपात होना चाहिये।' (च.)

२. त्रिदोषघ्नत्वात्—नाना प्रकार की ओषधियों से बनने के कार त्रिदोषघ्न हो जाता है।

३. विशेषक्रियावच्चारणात्—त्रिदोषघ्न और सौम्य होते हुए भी पचन और दारण का कर्म कर सकता है। आग्नेयगुणभूयिष्ठ होते रक्तपित्त एवं अर्श में उपयोगी है। क्षरण तथा क्षणन का गुण होते हुए के काम में आता है।

कर्म के योग्य क्षार की पहचान—

प्रशस्त—जो न बहुत तीक्ष्ण और न बहुत मृदु हो, श्वेतवर्ण पिच्छिल हो, स्पर्श स्थान से जो अधिक न फैलता (अभिष्यन्दी) हो प्रभाव करने वाला और गुणकारी हो, ऐसा क्षार, कर्म में प्रशस्त है। ने इन दो गुणों के अतिरिक्त दो गुण शिखरी और सुखनिर्वाप्य भी गिनाया

अप्रशस्त—अति मृदु, अति तीक्ष्ण, अति शुक्ल, अति पिच्छि फैलनेवाला, बहुत गाढ़ा, कच्चा और हीन द्रव्यों से बना हुआ दोष फलतः कर्म में निषिद्ध है। वाग्भट ने अत्यन्त पतला होना भी बतलाया है।

क्षारकर्म की विधि (Potential Cautery)

पूर्व कर्म—अग्रोपहरणीयाध्यायोक्त विधान के अनुसार क्षारकर्म के सब सामग्री पास रखना चाहिये। फिर क्षार से साध्य होने योग्य पीडित रोगी को निवातातप स्थान (जो स्थान हवा के झोंके और सुरक्षित अथ च अन्धकाररहित और खुली हवायुक्त हो) में बैठना तत्पश्चात् चिकित्सक को क्षार-प्रयोग होने वाले स्थान का खूब करना चाहिये।

कर्म—फिर वातदुष्ट स्थान के लिये लेखन, पित्तदुष्ट स्थान के लिये घर्षण, र कफदुष्ट स्थान के लिये प्रच्छान देकर शलाका के द्वारा क्षार लगाना चाहिये र लगाकर सौ अक्षर के उच्चारणमात्र काल तक देखता रहे। सौ गिनने क का समय 'वाक्शतम्' अथवा 'मात्राशतम्' शब्द से द्योतित किया गया है। घु अक्षर उच्चारण तक का जो समय होता है उसे मात्रा अथवा अक्षिनिमेष हते हैं। कुछ लोग मात्रा से उस समय का परिमाण लेते हैं जितना समय नु के चारों तरफ हाथ को घुमा कर चुटकी बजाने में लगता है[1]। यह समय था से एक मिनट के आस-पास का होगा। वाग्भट ने क्षार पातन करते समय लाका में वस्त्र या रूई लपेट कर शलाका से क्षार लगाने की विधि बतलाई है[2]।

पश्चात् कर्म—नियत काल के बाद क्षार को वस्त्र के फाया से पोंछ कर ग्धस्थल को क्षार से अच्छी तरह से दग्ध हुआ जानकर उस पर घी और शहद मालिश करे। फिर दूध, दही का तोड़ (मस्तु) और कांजी इन द्रव वस्तुओं द्वारा बुझाना (निर्वापण करना) चाहिये। इसके अनन्तर मधुररस वाली, तवीर्य ओषधियों को पीसकर घी मिलाकर लेप करना चाहिये।

पथ्य में श्लेष्मल आहार जैसे उड़द, दही आदि खिलाना चाहिये। अभिष्यन्दी हार के कारण क्षार से जला स्थान क्लेदयुक्त हो जाता है। जला हुआ हिस्सा त्र विशीर्ण हो जाता है।

सम्यग्दग्ध—ठीक से दाह होने पर उस स्थान में कृष्णता आ जाती है सकी उपमा जम्बू फल सदृश नीलिमा से दी जाती है। इसके सिवाय दग्ध-ान किञ्चित् अवसन्न हो जाता है। विकार की शान्ति हो जाती है, शरीर हल्कापन आ जाता है और स्राव बन्द हो जाता है।

हीनदग्ध—यदि क्षार-दग्धभाग अधिक मोटा या दृढमूल हो और अभि-दी भोजन के बावजूद भी न गले, अथवा दाह के स्थान पर तोद, कण्डु, ीर में भारीपन और व्याधि-वृद्धि हो तो उसका पुनर्दाह करना चाहिये और द क्षार-दग्ध भाग विशीर्ण न होता हो तो धान्याम्ल का तलछट, तिल और ठी समान भाग में पीस कर स्थानिक लेप करे। इस प्रकार क्षारदग्ध

---

[1] ानुमण्डलमावेष्ट्य कुर्याच्छोटिकया युतम्। एका मात्रा भवेदेषां सर्वत्रैष विनिश्चयः॥

[2] क्षारं शलाकया दत्त्वा प्लोतप्रावृतदेहया।

भाग झर जाने के बाद जो व्रण बन जाता है उसको भरने के लिये मुं घृतयुक्त तिल की लुब्दी का प्रयोग करना चाहिये। अष्टांगसंग्रह में द के लिये एक क्वाथ प्रक्षालन के हेतु और उसी से सिद्ध घृत या तैल रोपण के लिये बतलाया गया है। उस क्वाथ में मालती, वृष, अंकोल, आस्फोता, पटोल और करवीरपत्र का योग है। इसी प्रकार नागपुष्प, तिल आदि से सिद्ध औषधियाँ भी लाभप्रद होती हैं।

क्षारदग्धव्रण या अतिदग्ध—अधिक जल जाने पर जलन, पा स्राव, शरीर में पीड़ा, थकावट, प्यास, मूर्च्छा और मृत्यु भी हो जाती है से अतिदग्ध हो जाने पर अम्ल कांजी आदि से सिंचन करना चाहिये। पश्चात् शहद, घी, तैल, मधुयष्टि और तिल आदि का लेप करना चा सामान्यतया वातपित्त शामक एवं शीतल उपचार होना चाहिये।[1]

कथं क्षारः प्रशाम्यति—प्रसंगवश अम्ल के द्वारा क्षार की शा सम्पन्न होती है? उसका शास्त्रीय विवेचन क्या है? देखना आवश्यक है है। सुश्रुत ने अपने गुरु धन्वन्तरि जी से यह प्रश्न किया कि 'महाराज और उष्णवीर्य अम्ल रस जो स्वयं अग्नि रूप है उससे दूसरे अग्नि के तु की शान्ति क्योंकर हो जाती है?' सुश्रुत के इस प्रश्न का भगवान् धन्व उत्तर दिया कि हे पुत्र, यदि तू यही समझता है तो मेरा वक्तव्य सुनले।

क्षार में अम्लरस के अतिरिक्त शेष सर्व रस उपस्थित रहते हैं। इ रस प्रधान तथा अधिक और लवण अनुरस या अप्रधान रूप से रहता है। लवण रस क्षार जब अम्लरस से मिलता है, तब तीक्ष्ण भाव को छोड़कर भाव को प्राप्त हो जाता है। मधुर हो जाने से शान्ति को प्राप्त हो जा जैसे कि जल के छिड़कने से अग्नि की शान्ति हो जाती है।[2]

डल्हणाचार्य का मत—उन्होंने श्लोकार्ध का अर्थ उलट कर इ व्याख्या की है। क्षारों में पांच रस होते हैं। उनमें कटु रस अल्प और

---

[1] वातपित्तहरा चैव सर्वैव शिशिरा क्रिया।

[2] कथं क्षारः प्रशाम्यति—

अम्लवर्जान रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत् कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरस
अम्लेन सह संयुक्तः सतीक्ष्णलवणो रसः। माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं वि
माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः।

प्रधान होता है। कुछ आचार्य कटु रस की ही अधिकता क्षार में मानते है, न्तु यह ठीक नहीं क्योंकि खटाई खाने के समय मधुरता लाने के लिये लवण का उपयोग किया जाता है। केवल व्यवहार ही नहीं, शास्त्रोय दृष्टि से भी चार करने पर लवण वर्ग में क्षार का पाठ मिलता है। इससे क्षार का णाधिक्य सिद्ध है।[1]

एवं कटु वर्ग में क्षार का पाठ नहीं मिलता। यदि ऐसा माना जाय तो त के मौलिक सूत्र में व्यापत्ति आती है जहां पर उन्होंने स्पष्ट कहा है ग्नेयौषधियों के संयोग से बने होने के कारण सभी क्षार कटु होवे हैं'। ऐसा हीं कहते। इसका समाधान यह है कि लवण वर्ण में पाठ मिलने से क्षार की णाधिक्यता स्वभावतः सिद्ध है। कटुक रस विधि के लिये ही कहा है।

आधुनिक रासायनिक मत—अम्ल और क्षार यद्यपि तीक्ष्ण और उष्णा र्य होते हैं तथापि रासायनिक दृष्टि से वे भिन्न प्रकार के पदार्थ होते हैं। क्षार सिक (Basic) पदार्थ होते हैं और अम्ल एसिड (Acid) पदार्थ होता है। सिक पदार्थों (क्षारों) में हाइड्रोक्सिल (OH) नामक ऋण भाग (Negeve radicle) होता है और अम्ल पदार्थों में हाइड्रोज (H) नामक धन ग होता है। दोनों के सयुक्त होने पर धन और ऋण का अदल-बदल होकर नी तथा लवण बन जाता है। ये दोनों पदार्थ क्षार और अम्ल दोनों से अत्यन्त त और बहुधा शीतवीर्य होते हैं। इन विधिको निर्वीर्यीकरण (Neutrali- tion) कहते हैं। इस प्रकार क्षार के स्थान पर अम्ल लगाने से उसका र्य नष्ट होकर क्षरण की शक्ति शान्त हो जाती है। और दोनों के संयुक्त होने पानी और लवण बन जाता है।

निर्वीर्यीकरण के लिये अम्ल और क्षार की राशि ठीक समान होनी चाहिये। दि अम्ल की राशि अधिक हुई तो क्षार को पूर्णतया निर्वीर्य करके अम्ल हानि चा सकता है। यदि अम्ल की राशि कम और क्षार की अधिक हुई तो क्षार वीर्य न हो पावेगा और क्षणन का कार्य चलता रहेगा।

इन दोषों को दूर करने के लिये प्राचीनों ने क्षार को धोने के लिये अति ल्प वानस्पतिक अम्ल (Weak vegetable Acids) का प्रयोग बत-

---

[1] वरं सौवर्चलं कृष्णं विडं सामुद्रमुद्भिदम् रोमकं पांसुजं शीतं क्षारश्च लवणो रसः॥

लाया है। जो क्षार को भलीभाँति निर्वीय करते हुए भी शरीर को कि
प्रकार की हानि नहीं पहुंचा सकते। परन्तु खनिज द्रव्यों के बने अम
क्षारों में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है।

क्षारकर्म के अयोग्य रोगी—दुर्बल, बाल, वृद्ध, भीरु, सर्वाङ्ग
जलोदरी, रक्तपित्ती, गर्भिणी, रजस्वला, तीव्रज्वर-पीडित, प्रमेही, उरःक्षती,
और मूर्छा से पीडित, नपुंसक (अल्पशुक्र या अशुक्र), स्त्री-जिसका गर्भाशय
या नीचे हो गया हो।

इसके अतिरिक्त मर्म (Vital parts), सिरा, स्नायु, सन्धि, तरु
सेवनी, धमनी, गला, नाभि, नख, शिश्न के भीतर स्रोतसों में, जहां मांस
हो वहाँ और पलकों के रोगों को छोड़ कर नेत्ररोगों में क्षार का उपयो
करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त वाग्भट ने अतिसारी, शिरोरोगी, पाण्डुरोगी, वामि
विरिक्त रोगियों में भी क्षारकर्म का निषेध किया है।[1]

क्षारसाध्य बाधितों में भी जिनके शरीर पर शोथ हो, हड्डियों में
अन्नद्वेष हो, हृदय और सन्धियों में पीड़ा हो, उनमें क्षारकर्म करने पर
लता नहीं मिलती।

क्षार-पातन का काल—जैसा रक्तावसेचन के सम्बन्ध में निर्दि
साधारण लक्षणयुक्त ऋतु प्रावृट्, शरद् और वसन्त ऋतुओं में दुर्दिन
क्षारकर्म करना चाहिये। क्षार का उपयोग अधिक तेज ऋतुओं में जैसे
ग्रीष्म और वर्षा में जब शैत्य, मेघ, वर्षा और प्रवातयुक्त दिन होते हैं नहीं
चाहिये। (अ० सं०)

क्षारकर्म का माहात्म्य—अल्पमति वैद्य से अयुक्तपूर्वक किया

---

[1] न तूभयोऽपि योक्तव्यः पित्ते रक्ते चलेऽबले।
ज्वरेऽतिसारे हृन्मूर्धरोगे पाण्ड्वामयेऽरुचौ॥
तिमिरे कृतसंशुद्धौ श्वयथौ सर्वगात्रगे। भीरुगर्भिण्युतुमती प्रोद्वृत्तफलयोनिषु
अजीर्णेऽन्ने शिशौ वृद्धे धमनीसन्धिमर्मसु। तरुणास्थि सिरा-स्नायु-सेवनी-गल
देशेऽल्पमांसे वृषण-मेढ्रस्रोतोनखान्तरे।
वर्त्मरोगादृतेऽक्ष्णोश्च शीतवर्षोष्णदुर्दिने॥ (वा० सू० ३०)

ार विष, अग्नि और वज्र के समान मृत्युकारक होता है वही बुद्धिमान् वैद्य से क-ठीक उपयुक्त होने पर शीघ्र ही दारुण रोगों का नाश कर देता है[1] ।

अग्निकर्म विधि

दहन कार्य में दो वस्तुओं का उपयोग होता है, क्षार और अग्नि । इनमें थम के द्वारा अप्रत्यक्ष एवं द्वितीय के द्वारा प्रत्यक्ष दाह होता है । क्षारकर्म में ाभाविक आग्नेय द्रव्यों का व्यवहार होता है । सीधे अग्नि-सम्पर्क की आवश्यकता नहीं होती । स्वभावतः आग्नेय गुणभूयिष्ठ द्रव्य (क्षार) के द्वारा दाह जाता है । अंग्रेजी में इस कर्म को 'पोटेन्शियल काटरी' कहते हैं ।

एक दूसरा भी विधान है जिसमें कृत्रिम उष्णता के द्वारा अथवा साक्षात् ग्निसम्पर्क से तप्त माध्यम के द्वारा अङ्गों पर दाह किया जाता है, उसे अग्निकर्म कहते हैं । इस विधि में औजार को तप्त करने के लिए प्रत्यक्ष अग्नि का उपयोग होता है, अंग्रेजी में इस प्रकार के दाह कर्म को 'ऐक्चुअल काटरी' कहते हैं ।

इस अध्याय में इस विशेष विधि का ही विशेष उल्लेख होगा । आजकल के ुग में दो प्रकार के अग्निकर्म विशेष प्रचलित हैं, यद्यपि ये प्राचीन काल के ग्निकर्म से पूर्णतया विभिन्न स्वरूप के हैं । केवल स्वरूप में ही अन्तर नहीं है, बल्कि उनके उद्देश्य, परिणाम, रोगानुसार व्यवस्था आदि सभी बातों में मौलिक विभेद हैं । उनका संक्षिप्त वर्णन फिर भी अप्रासङ्गिक नहीं है ।

१. पाकीलीन्स का दहन कर्म (Poquilins Thermo Cautery) इसमें औजार को अग्नि-ज्वाला पर तप्त करके तत्पश्चात् 'वेन्जोलिन' की भाप ौंकनी की सहायता से छोड़ते रहते हैं, जिससे वह औजार भाप के कारण तप्त रहता है । कार्य होता चलता है ।

२. विद्युद्दहनकर्म—इसमें उष्णता की उत्पत्ति विद्युत्प्रवाह द्वारा की जाती है । इस प्रकार के दहन कर्म (Galvano Cautery) का प्रयोग शस्त्रकर्म में बहुत हो रहा है ।

आधुनिक शल्य चिकित्सा में दहन का यह कर्म स्वतन्त्रतया किसी रोग की चिकित्सा के रूप व्यवहृत नहीं होता जैसा कि आगे चलकर देखेंगे । प्राचीन

---

[1] विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युकल्पः क्षारो भवत्यल्पमतिप्रयुक्तः ॥
स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान् ॥

वैद्यक में इसका भूरिशः प्रयोग विशिष्ट व्याधि की चिकित्सारूप में प्र होता रहा। इसका प्रयोग शस्त्र के द्वारा कर्म करते हुए गौण रूप से, जि में सरलता और सहायता की दृष्टि से किया जाता है।

शस्त्र के द्वारा कर्म करते समय इसकी सहायता बड़े महत्त्व की मानी है—इसके दो कारण पाश्चात्त्य शल्यतन्त्र में माने गये हैं। पहला कार है कि जहाँ-जहाँ अग्नि का संयोग होता है, वहाँ के सर्व विकारी जीवाणु होकर वह स्थान विशुद्ध हो जाता है (Sterile), जिससे आगे चल कर स्थान में पाक उत्पन्न होने (Septic) की भीति बहुत कम हो जाती आयुर्वेद में इस महत्वपूर्ण बात (Sterilization) का ज्ञान था। 'अ शस्त्र से काटना चाहिये' (सु०) 'अन्यथा अतप्त शस्त्र से छेदन क पाकोत्पत्ति का भय रहता है।' (ड०)

दूसरा कारण यह है कि अग्निदग्ध स्थान से रक्तस्राव नहीं होता। के कारण रक्तवाहिनियों का संकोच हो जाता है, रक्त का प्रोटिन जम जा दाह से सिराओं का संकोच हो जाता है इससे व्रण जल्दी भर जाता है।

अग्निकर्म की श्रेष्ठता—प्राचीन युग से अग्निकर्म का विभिन्न रो चिकित्सा में प्रचलन रहा। उसको श्रेष्ठतम कर्म बतलाकर प्रशंसा की ग विधानों में क्षार की अपेक्षा अग्नि को श्रेष्ठ कहा गया है। यही भर नहीं, रोग की चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले विविध साधनों से—जैसे भेषज, तथा क्षार से; भी अधिक सफल और श्रेष्ठ कहा गया है। इसका क्या कार देखना चाहिये।

१. अग्नि से दग्ध हुए रोग की फिर उत्पत्ति नहीं होती।

२. अग्नि मूल से रोगों का उन्मूलन कर देती है।

३. भेषज, क्षार और शस्त्र इनसे भी जो रोग अच्छे नहीं होते, अग्नि द्वारा अच्छे हो जाते हैं।

४. दाह के द्वारा सिराओं का संकोच होने से किसी भी कर्म में र नहीं होता। जिसका अन्य कर्मों से सम्भावना रहती है।

५. दग्ध स्थान पर या तप्त शस्त्र के द्वारा बने व्रण पर विकारी जीवा हो जाते हैं, फिर वहाँ पर पूयोत्पादन (Sepsis) का भय नहीं रहता।

उपर्युक्त कारणों से अग्नि की श्रेष्ठमत्ता प्रतिपादित होती है एवं यथार्थ भी है।[1]

दहन के उपकरण या माध्यम——दहन के लिये निम्न उपकरण काम में ये जाते हैं——

पली, अजाशकृत् दन्त, शर (बाण) ाका	इनका त्वचा में दहनकर्म के लिये उपयोग है। इनको अग्नितप्त करके त्वचा में दाह करने के लिये माध्यम रूप में व्यवहृत करते हैं।
बवौष्ठ, ह के उपकरण धातु के उपकरण -हेम, ताम्र, चाँदी, ला	इन माध्यमों का उपयोग मांसगत व्याधियों के दाह में होता है। स्वर्णशलाका का प्रयोग पक्ष्मरोग तथा अपानमार्ग-पिडिका के दाह में होता है। वाग्भट ने मांसदाह के लिये कुछ अन्य उपकरण भी बतलाया है। जैसे—सूर्यकान्त, पिचुवर्ती एवं मधूच्छिष्ट।
द्र ह ह	सिरा, स्नायु, सन्धि एवं अस्थिगत व्याधियों में शस्त्रकर्म के बाद जब रक्तस्राव अधिक होता है तो स्राव को रोकने के लिये प्रत्यक्ष दहन-प्रयोग करना होता है। अन्यथा मांस के दाह से ही सिरा, स्नायु एवं सन्धि, अस्थि के रोग शान्त हो जाते हैं।

अग्निकर्म के भेद——कश्यपादि कुछ आचार्यों का मत हैं कि सिरा, स्नायु, न्धि, अस्थि एवं मर्माङ्गों में दाहकर्म अग्नि के द्वारा नहीं करना चाहिये।[2] तः वे दो ही प्रकार अग्निकर्म के मानते हैं——त्वग्दग्ध और मांसदग्ध। न्तु आचार्य सुश्रुत उससे सहमत नहीं और स्पष्टतया तीन विभेदों को घोषित ते हैं——१. त्वग्दग्ध, २. मांसदग्ध, ३. सिरास्नायुसन्ध्यस्थिदग्ध।

रोगों के स्थानानुसार अथवा दग्ध की आकृति के अनुसार चार प्रकार लाये गये हैं:——

---

[1] क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः। तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भावाद् भेषजक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च। (सु० सू० ११)

[2] न सिरास्नायुसंध्यस्थिमर्मस्वपि कथञ्चन। दंशस्योत्कर्त्तनं कार्यं दाहो वा भिषजाऽग्निना

१. **वलय**--कंकण की भांति गोल।

२. **बिन्दु**—तप्त शलाक के नुकीले भाग से एक स्थान पर स्पर्श बिन्दु सदृश दाह।

३. **विलेखा**—रेखाकृति। नाना आकृति के तिर्यक्, ऋजु, वक्र तप्त शलाका के द्वारा बनाना।

४. **प्रतिसारण**—तप्त शलाका या अन्य वस्तु से रगड़ना।

अष्टाङ्गसंग्रह में इसके अतिरिक्त तीन प्रकार की और आकृतियां गिनाई गई हैं--

१. **अर्द्धचन्द्र**--
२. **स्वस्तिक**
३. **अष्टापद**--चौकोण या चतुरंग पीठ।

अग्निकर्म का काल--सामान्यतया शरद् और ग्रीष्म ऋतुओं कर सभी ऋतुओं में अग्निकर्म किया जाता है। परन्तु शरद् और ग्रीष्म में भी यदि अग्निकर्म साध्य प्राणहारक रोग हो तो ऋतुविपरीत आहार, नादिक विधि करके अग्निकर्म किया जा सकता है। यह एक सामान्य कि आत्ययिक अवस्था में शीत में शीत का प्रतीकार और उष्ण में निवारण करते हुए कर्म करना चाहिये। क्रिया-काल को नष्ट नहीं चाहिये।[1]

अग्निकर्म के योग्य रोगी एवं रोगानुसार स्थान विशेष—

शिरोरोग अधिमन्थ Acute Glaucoma	भौंह, ललाट तथा श (कनपटी) में दागना चाहिये।
वर्त्मगत रोग (आँख के पलक के रोगों में)	गीले वस्त्र से दृष्टि को वालों की जड़ों को दग्ध करना

---

[1] शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्।
कृत्वा कुर्यात्क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्।

चा, मांस, सिरा, स्नायु, संधि, स्थि आदि में वात-प्रकोप के रण यदि तीव्र वेदना हो।

अचेतन मांसयुक्त व्रण, ग्रंथि-
, अर्श, अर्बुद, भगंदर,
ीपद, चर्मकील, तिलकालक,
त्रवृद्धि, संधिरोग, सिराच्छेद—
क्तस्रावाधिक्य, नाडीव्रण।

इन सभी रोगों में अग्निकर्म का विधान है। इन रोगों के वर्णन के समय स्थान आदि का विशेष उल्लेख किया जावेगा।

अग्निकर्म विधि

(Actul cauterization)

पूर्वकर्म—दाहयोग्य रोगियों में, स्वस्त्ययन कराके, अग्रोपहरणीयाध्यायोक्त यावश्यक उपकरणों को जुटा कर, पूर्वाभिमुख सिर कराके, आप्त पुरुषों के रा रोगी को अवलम्बित करा लेना चाहिये। पुनः जब जले हुए स्थिर, बड़े २ दिर और बैर के अंगारे दीप्त होकर निर्धूम हो जावें तो स्थान पर कर्म करते मय मंगा कर रखना चाहिये। आग की अँगीठी में हवा देने के लिये भाथी पंखे का भी इन्तजाम होना चाहिये। जिससे आवश्यकतानुसार कोयले की ांच को तेज किया जा सके।

कर्म—रोग के स्थान का मोटाई की दृष्टि से निरीक्षण कर, मनुष्य मर्म ान[1] और बलाबल का विचार कर, व्याधि और ऋतु का अच्छी प्रकार ज्ञान रके चिकित्सक को अग्निकर्म करना चाहिये। अग्निकर्म के जाम्बवौष्ठ आदि जो करण बतलाये गये हैं उन्हें जलते अंगारे पर रक्त तप्त करके विभिन्न आकार यथायोग्य दग्ध करने चाहिये। अग्निकर्म करते समय पुनः पुनः हितोपहित नों के द्वारा रोगी को तसल्ली देते रहना चाहिये। शीत जल द्वारा रोगी को श्वासन देते रहना चाहिये। जब सम्यक् दाह के चिह्न मिल जाय तो कर्म

---

[1] रोगस्य संस्थानमवेक्ष्य सम्यङ्नरस्य मर्माणि वलाबलञ्च।
व्याधिं तिथर्त्तुं च समीक्ष्य सम्यक् ततो व्यवस्येद् भिषगग्निकर्म॥
तत्र सम्यग्दग्धे मधुसर्पिभ्यामभ्यङ्गः।
(सु० सू० १२)

बंद कर देना चाहिये। कई बार शोफयुक्त, सच्छिद्र एवं खण्डित नाडी अवस्था में या कृमियुक्त अथवा दुष्ट व्रणों में दाह करने के लिये स्नेह, मोम और गुग्गुलु आदि द्रव्यों को पिघला कर पूरण करके दागने का विधान है।

अग्निकर्म का व्यावहारिक स्वरूप काल क्रम से आज वैद्य समुदाय हो गया है। ग्रन्थों के आधार पर यह वर्णन प्रस्तुत किया गया है। उग्र कर्म है जिसमें विकृति युक्त स्थान के अतिरिक्त शेष अवयवों को नितान्त अपेक्षित है। अस्तु तीन चार तह मोटे गीले वस्त्र से उस आवृत करके पुनः उसके ऊपर एक टिन का टुकड़ा रखकर सावधा अग्निकर्म करना चाहिये। इसके लिये प्रत्यक्ष कर्माभ्यासी चिकित्सक के रह कर कर्म में दक्ष होने के अनन्तर ही करना चाहिये। अन्यथा लाभ के पर हानि की हो आशंका रहती है।

पश्चात् कर्म—अग्निकर्म के कारण जो आगन्तुक व्रण उत्पन्न हो उसमें रक्तपित का प्रसादन एवं वेदना की शान्ति के लिये, व्रणित संधान करने के लिये मधु और घृत का अभ्यङ्ग करना चाहिये। पश्चात् यष्टीमधु' शालिमूलादि का शीत प्रलेप करना चाहिये (अ० हृ०)

त्वग्दग्ध—में चिट २ शब्द होता है, दुर्गन्ध आती है, त्वचा जाती है।

मांसदग्ध—में दग्धस्थान कपोतवर्ण, किंचित् सूजन और वेदनायु है। एवं उत्पन्न व्रण सूखा और संकुचित रहता है।

सिरास्नायुदग्ध—में व्रण काला और उभरा हुआ होता है, बंद रहता है।

सन्धि और अस्थिदग्ध—में व्रण रूक्ष, लाल, खुरदरा और कठिन

अग्निकर्म के अयोग्य रोगी—पित्तप्रकृति, रक्तपित्ती, अतिसारी, शरीर में से शल्य न निकाला गया हो, दुर्बल, बालक, वृद्ध, भीरु, अनेक से पीड़ित तथा अस्वेद्य रोगियों में अग्निकर्म प्रशस्त नहीं है[1]।

---

[1] पाण्डुर्मेही रक्तपित्ती क्षयार्त्तः क्षामोऽजीर्णी चोदरार्त्तो विषार्त्तः।
तृट्छर्द्यार्त्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी॥
अथेमानग्निना परिहरेत् पित्तप्रकृतिमन्तःशोणितं भिन्नकोष्ठमनुद्धृतशल्यं
वृद्धं भीरुमनेकव्रणप्रपीडितमस्वेद्यांश्चेति॥ (सु० सू० १२)

इतरथादग्ध (Burns & Scalds)

अग्निकर्म के अतिरिक्त समय में आकस्मिक दाह (Accidental) द्रव रूक्ष पदार्थों के द्वारा हो जाता है, इस प्रकार के दाह की प्रमाददग्ध अथवा रथादग्ध की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार दाह द्रव्यों के अनुसार दो प्रकार हो सकता है। १–अग्नि-ज्वाला, तप्त लोह, पाषाणादि ठोस पदार्थों के द्वारा दाह अथवा २–तप्त जल, तैल, घी या तप्त बाष्परूप पदार्थों के जरिये ग्ध दाह। इसमें पहले (रूक्ष दग्ध) को अंग्रेजी में 'बर्न' (Burn) और रे (स्निग्ध दग्ध को) 'स्काल्ड' (Scald) ऐसी पारिभाषिक संज्ञायें दी ई हैं।

इस आकस्मिक या प्रमाददग्ध के चार प्रकार हैं, जो कि गहराई और स्तार के अनुसार विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं।

अवैद्यदग्ध या प्रमाददग्ध प्रकार	Stages of Accidental burn or Scald)
१. प्लुष्ट या तुच्छ—इसमें चा विवर्णं हो जाती है—त्वचा लस जाती है।	I इसकी समता आधुनिक प्रथमावस्था से है। इसमें लाल विवर्ण होकर त्वचा झुलसी रहती है, त्वचा का नाश नहीं होता।
२. दुर्दग्ध—त्वचा में दारुण फोले पड़ जाते हैं, चूसने की सी ड़ा होती है, जलन होती है, रक्त ल हो जाता है, पाक होकर चिर ल में शान्ति मिलती है।	II इस अवस्था का सादृश्य दुर्दग्धव्रण से है, उपत्वक् और त्वक् के बीच में जलने का असर रहता है, फलतः दोनों पर्तों के मध्य में लसीका का सञ्चय होकर स्फोट निकल जाते हैं। आजकल की यही द्वितीयावस्था का दग्ध है।
३. सम्यग् दग्ध—इसमें व्रण हुत गाढ़ नहीं होता, वर्णं ताड़ के ल-सदृश हो जाता है, सुसंस्थित ण बनता एवं पूर्वोक्त लक्षण भी हते हैं।	III इस दशा में उपत्वक् एवं त्वक् नष्ट हो जाता है; परन्तु स्पर्शाङ्कुर, स्वेदग्रन्थि और तैलग्रन्थियाँ नष्ट नहीं होतीं। इस प्रकार आधुनिक तृतीयावस्था से आंशिक समानता सम्यक् दग्धावस्था है।

४. अतिदग्ध—इस प्रकार के दग्ध में मांस नीचे की तरफ लटकता है, जला हुआ अवयव विकल हो जाता है। सिरा, स्नायु सन्धि एवं अस्थियों का अतिशय नाश हो जाता है। ज्वर दाह, तृषा, मूर्च्छा आदि उपद्रव हो जाते हैं। व्रण बहुत दिनों के पश्चात् भरता है। भरने पर भी शरीर के समान वर्ण नहीं होता है।

IV इसमें त्वचा, उप
नीचे तक Subcutaneous
ues) घाव बन जाता है।
स्वेद और तैल ग्रन्थियां पूर्णत
हो जाती हैं।

V इसमें त्वचा उपत्वचा
मांसपेशियों का भी नाश हो
साथ ही साथ सिरा, स्नायु आदि
ओं का भी नाश हो जाता है।

VI इसमें जला हुआ सम्पू
सिरा स्नायु, संध्यस्थि के सा
और विघटित (Disorgani
हो जाता है।

प्राचीन वर्णनों की अतिद
आधुनिक चतुर्थ, पञ्चम और
स्था का मिश्रित रूप है।

आधुनिक शल्य शस्त्र में अग्निकर्म का प्रयोग बहुलता के साथ उस
नहीं होता, जैसा कि सुश्रुत के विशद वर्णनों से ज्ञात होता है।[1] फलतः
गहराई के विभिन्न जो ६ अवस्थाओं का विचार होता है वह केवल आ
घटनाओं के प्रसङ्ग में ही किया जाता है। इस विषय का सम्बन्ध केवल
वैद्यक से ही रहता है।

---

[1] प्रमाददग्धवत्सर्वं दुर्दग्धात्यर्थदग्धयोः।
चतुर्धा तत्तु तुच्छेन सह तुच्छस्य लक्षणम् ॥
त्वग्विवर्णोष्यतेऽत्यर्थं न च स्फोटसमुद्भवः।
सस्फोटदाहतीव्रोषं दुर्दग्धयति दाहतः ॥
मांसलम्बनसङ्कोचदाहधूपनवेदनाः।
सिरादिनाशस्तृण्मूर्छाव्रणगाम्भीर्यमृत्यवः ॥
(वा० सू० ३०)

सुश्रुत के युग में जो अग्निदग्ध के लक्षण या प्रकार बतलाये गये हैं, उनका ल सम्बन्ध आकस्मिक घटनाओं से नहीं है, वल्कि प्रत्यक्ष अग्निकर्म करते इन बातों के पूर्ण परिचय की आवश्यकता से है चिकित्सा के रूप में अग्नि का उपयोग करते हुए भी वैद्य की गलती से इन विविध अवस्थाओं के हो सकते हैं। इसी लिये स्पष्ट कहा गया है कि 'ये चारों प्रकार के अग्नि-के लक्षण वैद्य को अपने कार्य में प्रसाधक होते हैं।'[1]

इतरथादग्ध के सार्वदेहिक लक्षण—स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त जलने पूरे शरीर पर भी भयानक परिणाम होता है। क्योंकि अग्निदग्ध मनुष्य का अत्यन्त विगुणित हो जाता है, फिर उस विगुणित रक्त से पित्त भी शीघ्र पित होता है। इस प्रकार पित्त तथा अग्निकोपित रक्त के वीर्य, रस तथा की दृष्टि से समान होने के कारण उस दग्ध मनुष्य को तीव्र वेदना, दाह, र और तृष्णाधिक्य आदि लक्षण होने लगते हैं। शरीर पर होने वाले इन णामों को तीन भागों में बाँट सकते है—

१ **विस्तृति के अनुसार**—दाह में गहराई की अपेक्षा विस्तार अधिक ानक होता है। बहुधा यह देखा गया है कि शरीर के पूरे चर्म का तिहाई जल जाने पर रोगी के बचने की बहुत कम आशा रहती है। परन्तु पूरे रीर का यदि दो तिहाई भाग प्लुष्ट (झुलस) हो जाय तो दो ही दिनों में गी की मृत्यु हो जाती है। यदि दाह की गहराई और विस्तृति अधिक हो तो गी को मर्माघात (Shock) उत्पन्न होता है। रोगी स्तब्ध और छत रहता है कई बार हृदय क्रिया का अवरोध होकर मृत्यु भी हो जाती है। धुनिक शल्यतन्त्रीय ग्रन्थोंमें विस्तार के अनुसार वर्गीकरण दग्ध का किया रहा है। छः अवस्थाओं का वर्गीकरण अब पुराना पड़ गया है। दग्ध का शत के हिसाब से वर्णन करना अपेक्षित रहता है। इस वर्गीकरण का धार दग्ध के द्वारा उत्पन्न मर्माघात, मर्माङ्गोंकी क्षति, विषमयता, जलनाश ा भावी उपसर्ग की आशंका एवं साध्यासाध्यता का सम्यक् परिज्ञान कराना ता है। इसी के ऊपर दग्ध की प्रतिशत मात्रा (Percentage of Burn) निर्धारित की जाती है। इसका विधान इस प्रकार का है। यदि सम्पूर्ण वक्ष

---

[1] तदेतच्चतुर्विधमग्निदग्धलक्षणमात्मकर्मप्रसाधकं भवति।

तथा उदर के सामने का भाग जल गया है तो वह १९% का दग्ध अगर आगे पीछे का सम्पूर्ण वक्ष एवं उदर जला हो तो दग्ध ३८% का अगर पैर एक सम्पूर्णतः जल गया हो तो दग्ध का १९% प्रतिशत प्रमाण यदि दोनों पैर जले हों तो ३८%। यदि एक हाथ तक जलना सीमित है दोनों जाले हों तो १८%। यदि केवल सिर और ग्रीवा का भाग जल तो दग्ध ६% का होगा।

२. **विषमयता के अनुसार**—त्वचा, रक्त तथा शरीर के अन्य भा जल जाने के कारण उत्पन्न हुए विष का संचार सर्व शरीर में होता है ज्वर, दाह, तृषा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। जलने के अंग यदि मर्माङ्ग जैसे सिर, उदर एवं छाती के अंग, तो मस्तिष्कावरण शोथ, उदराव तथा फुफ्फुसावरण शोथ आदि उपद्रव होते हैं। दग्ध स्थान में ऐसी जीवाणु के संक्रमण का भय भी रहता है।

३. **उपसर्ग के बलाबल के अनुसार**—यदि विकारी जीवाणु उपसर्ग दग्ध के स्थान पर न होने पावे तो व्रण का रोपण होने लगता है उपसर्ग पहूँचा तो विसर्प, धनुस्तम्भ, वृक्क तथा यकृत् के विविध उप लगते हैं।

४, **जलनाश (Dehydration)**—त्वचा एवं उप त्वचा के से न्यूनाधिक मात्रा में लसीका का नाश (जल, शर्करा एवं लवण धातु नाश) होता रहता है। यदि यह जल का नाश स्वल्प हो तो कोई विशेष नहीं होती; परन्तु अत्यधिक जलनाश सद्यःमृत्यु का कारण बन सक

उपर्युक्त चार बातों को ध्यान में रखते हुए शीघ्रता से चिकित्सा में होना चाहिये।

दग्ध की चिकित्सा

प्लुष्ट--दग्ध भाग को आग पर तपाना चाहिये।[1] बाह्य तथा आ उष्णोपचार ही करना चाहिये। उष्णोपचार से पसीना आता है, रक्त का होकर (रक्तसंचार के बढ़ जाने से) दग्ध स्थान की उष्णता कम हो जा

---

१. प्लुष्टस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं तथौषधम्।

ी को आराम मिलता है। जल स्वभाव से ठंडा है रक्त को ठिठुरा देता है। से प्लुष्ट दग्ध में गरम उपचार से आराम मिलता है; परन्तु शीत से हरगिज राम नहीं मिल सकता।

दुर्दग्ध-- में मिश्र क्रिया की आवश्यकता होती है।[1] दुर्दग्ध में जो गहरा ा हुआ भाग रहता है उस पर ठंडी क्रिया और प्लुष्ट सदृश अधिक गहरा है वहाँ पर उष्ण क्रिया करनी चाहिए। अथवा यदि दाह अधिक हो तो क्रिया और यदि दाह कम हो तो उष्ण क्रिया करनी चाहिये। अथवा म्भ में उष्ण क्रिया एवं पश्चात् शीत क्रिया करनी चाहिये। परन्तु घृत का , क्षाथादि से सेचन ठंडी अवस्था में ही करना चाहिए।

सम्यग्दग्ध—में वशंलोचन, अश्वत्थ की छाल, रक्तचन्दन, गेरु, गुडूची; घृत में मिलाकर लेप करना चाहिये। अथवा अश्वादिक ग्राम्य पशु, वराह, षादिक आनूप पशु तथा कच्छपादि जलचर प्राणी इन का मांस पीसकर करे। यदि सन्तत दाह होता रहे तो पित्तविद्रधि के अनुसार उपचार ना चाहिये।[2]

अतिदग्ध— में जलने के कारण लटके हुए मांस को निकाल कर ठंडे उप-र करना चाहिये और शालिचावलों का चूर्ण या तिन्दुकी का चूर्ण घृत में ा कर लेप करे। तत्पश्चात् व्रणों को गिलोय के पत्ते से या कमल के पत्ते से ादन करना चाहिये। अतिदग्ध में सम्पूर्ण क्रिया पित्तविसर्प के समान ी चाहिये।[3]

दग्ध की सामान्य चिकित्सा—दग्ध की अवस्था में यदि रोगी स्तब्ध मूर्च्छित हो तो उष्णोपचार से बहुत लाभ होता है। रोगी को गरम कमरे खना, गरम कपड़े से ढककर रखना, गर्म पानी के बोतलों का चारों ओर से ा। इन उष्णोपचारों के साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिये रोगी में अत्यधिक स्वेद न निकलने लगे। रोगी के सिरहाने को नीचा और ले भाग को उठाकर रखना चाहिये। रोगी को प्रचुर मात्रा में पीने के लिये

---

[1] शीतामुष्णां च दुर्दग्धे।

[2] पित्तविद्रधिवच्चैनं सन्ततोष्माणमाचरेत्।

[3] क्रियाञ्च निखिलां कुर्याद् भिषक् पित्तविसर्पवत्।

जल देना चाहिये। साथ ही आवश्यकतानुसार रोगी में शिरा अधस्त्वक्-मार्ग से भी द्रव (Fluid) पहुँचाने की व्यवस्था करनी गर्म उत्तेजक पेय पीने के लिये देना चाहिये।

जब रोगी की स्तब्धता नष्ट हो जावे या रोगी जब स्तब्ध न हुआ दाह की स्थानिक चिकित्सा पर ध्यान देना चाहिये। दाह से उत्पन्न रूई की कवलिका से आवृत करके रखना चाहिये। २·५% टेनिक एसि में कवलिका बनाकर दग्ध स्थान पर रखी जाती है। हरीतकी चूर्ण कषाय भी इस कार्य में व्यवहृत हो सकता है। केवल उबाला हुआ भी अच्छा कार्य करता है।

जब व्रण साफ हो, दग्ध से सड़ा-गला भाग अलग हो गया हो तो एसिड का बना हुआ मल्हम व्यवहार कर सकते हैं। टैनिक एसिड का दाह की एक उत्तम चिकित्सा है। इससे कई लाभ होते हैं वेदना होती है, बार बार व्रणोपचार को बदलना नहीं पड़ता, दग्ध स्थान शरीर में नहीं फैलने पाता।

दग्ध व्रण में रोपण के कार्य के लिये एक मल्हम का होता है—

मृदु पैराफीन ७%	बीटानेपथाल ३%
जैतून का तेल ५%	ठोस ६%
यूकैलिप्टस तेल २%	

ऐसे व्रणों में सुश्रुत ने एक प्रयोग रोपण के लिये बतलाया है—इसे ष्टादिलेप' की संज्ञा दी जाती है—

१. मोम
२. मंजीठ
३. मुलहटी
४ रोध्र
५. राल
६. चन्दन
७. मूर्वा

उपर्युक्त द्रव्यों को समभाग में लेकर पीसकर घृतपाक की विधि पकावे। यह घृत अग्निदग्ध व्रणों का शीघ्र रोपण करता है। (Rhagades) में भी इसका प्रयोग हितकर होता है।

इसी प्रकार 'अतस्यादि लेप' जिसका उल्लेख द्रव्यसंग्रहणीयाध्याय में होगा, ले व्रणों में बहुत लाभप्रद होता है। इसके सद्यः प्रयोग से दाह का भी शमन जाता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकार के अग्निदग्ध व्रणों की सामान्य चिकित्सा बतलाई । तैल-घृतादि स्निग्ध पदार्थों से जले रोगियों में रूक्षोपचार अधिक लाभ-होता है।

मादग्ध के अतिरिक्त दग्धकल्प अन्य रोग एवं उनकी चिकित्सा

१. धूमोपहत (Asphyxia or Co poisoning)

२. उष्णवातातपदग्ध (Heat Stroke, Sun Stroke or Ther-mio Fever)

३. शीतवर्षानिलदग्ध (Frost bite)

४. अतितेजोदग्ध या इन्द्रवज्रदग्ध (Lighteming)

धूमोपहत—[1]धूएं से पीडित मनुष्य के ये लक्षण मिलते हैं। धूएँ में अधि-श कार्बन डायोक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड, गन्धक का धूआँ, अमोनियां, ड्रोजेन सल्फाइड आदि के वायु मिले रहते हैं। इन से जब हवा भर जाती है रक्तशुद्धि के लिये प्राणवायु नहीं मिल पाती और रक्त की शुद्धि नहीं होती । इस अवस्था को अंग्रेजी में असफिक्सियेशन (Asphyxiation) ता है-जिसकी तीन अवस्थायें होती हैं।

१. श्वासकृच्छ्र की अवस्था—श्वास में कठिनाई, छींक आना, आध्मान, स, आंखों से जलन और सुर्खी आदि लक्षण होने लगते है। प्रश्वास में एँ का निकलना, अन्य गन्ध का ज्ञान नहीं होना, स्वाद का ज्ञान नष्ट हो जाना दि लक्षण होते हैं।

२. आक्षेप की अवस्था—अधिक उत्तेजना के फलस्वरूप रोगी के सर्वाङ्ग रीर की पेशियों में ऐंठन होने लगती है।

---

[1] श्वसिति क्षौति चात्यर्थमत्याधमति कासते । चक्षुषोः परिदाहश्च रागश्चैवोपजायते ॥
सधूमकं निश्वसिति घ्रेयमन्यं न वेत्ति च । तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चास्योपहन्यते ॥
तृष्णादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति । धूमोपहत इत्येवम् । (सु. सू. १२)

३. अवसाद की अवस्था—इस में दूषित रक्त से मस्तिष्कगत घात हो जाता है; जिसमें तृष्णा, दाह, ज्वर युक्त होकर रोगी संन्यस मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

सामान्य चिकित्सा—रोगी को धूम स्थान से उठाकर खुली रखना चाहिये। गले और छाती पर तङ्ग कपड़े हों तो उनको निका चाहिये या ढीला कर देना चाहिये। छाती और मुख पर ठण्डे पानी काव करना चाहिये। जीभ को पकड़ कर बीच-बीच में बाहर खींच चाहिये। हाथ-पैरों पर गर्म सेंक देना चाहिये।

विशेष-वमन—घृत, ईख का रस, द्राक्षारस, दूध, शर्बत या मधु अम्लरस का पान कराके वमन कराना चाहिये। अथवा आमाश प्रक्षालन (Stomach tube) के द्वारा करना चाहिये। वमन से शुद्धि हो जाती है, धूम का गन्ध भी नष्ट हो जाता है। रोगी की थकान, ज्वर, दाह, बेहोशी, तृषा, आध्मान, श्वासकृच्छ्र, खांसी आदि दारुण वि हो जाते हैं।

गण्डूष—यदि रोगी समर्थ हो तो मधुर, अम्ल, लवण और कटु कुल्ले करने को देना चाहिये। इससे ज्ञानेन्द्रिय का ज्ञान ठीक हो जाता है प्रसन्न हो जाता है।

शिरोविरेचन—रोगी के बलाबल का विचार करते हुए उसे नस्य देना चाहिये। तीव्र नस्यों में कट्फल चूर्ण अथवा त्रिकटुक चूर्ण है। आज कल 'अमोनिया (Ammonia) के गैस का प्रयोग होता द्वारा रोगी चेतना में आ जाता है, दृष्टि साफ हो जाती है, सिर साफ हो जाता है।

पथ्य—आहार शीतल, हल्का और स्निग्ध देना चाहिये।

उपर्युक्त उपायों के अवलम्बन से रोगी स्वस्थ हो जाता है। आधु में कुछ अन्य विधियाँ भी प्रयुक्त होती हैं, जो आत्ययिक अवस्था में होती हैं। उदाहरणार्थ—

१. कृत्रिम प्रश्वास (Artificial respiration)

२. शुद्ध प्राणवायु का प्रयोग (O_2 inhalation)

३. छाती की फ्रेनिक नाड़ी को बिजली की सहायता से उत्तेजित करना।

४. सिरावेध एवं लवणविलयन का अन्तःक्षेप—यदि रोगी की अवस्था साध्य मालूम हो तो सिरावेध करके ४० से ८० तोले तक खराब खून निकाल र उतनी ही मात्रा में सामान्य लवण विलयन को शिरा के मार्ग से प्रविष्ट र देते हैं।

५. कुपीलु सत्व, 'कोरामीन' जैसे हृदयोत्तेजक औषधियों को त्वचा या मांस द्वारा सूचीवेध करके तत्काल देना चाहिये।

इन विधियों से हृदय और श्वास के मस्तिष्कगत केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं, स्वरूप श्वासावरोध दूर होकर श्वास-क्रिया होने लगती है। कृत्रिम प्रश्वास क्रिया हृदय की गति वन्द होने के पश्चात् भी दो-तीन मिनट तक करते हना चाहिये। यह एक बड़े महत्त्व की प्रक्रिया है—इस का प्रयोग कई वस्थाओं में लाभप्रद होता है। बाहु, रज्जु, लता के बन्धनों के द्वारा गला के डन में, जलनिमज्जित व्यक्तियों में अथवा धूमोपहत रोगियों में लाभदायक द्ध हुआ है। अस्तु इसके विस्तृत विधि का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। त्रिम श्वासोच्छ्वास की तीन विधियाँ प्रचलित हैं, आविष्कारकों के नाम पर नकी संज्ञायें प्राप्त हैं—

शेफर की विधि—जलनिमज्जित व्यक्तियों में अधिक लाभप्रद है। इसमें गी की भूमि पर उसका मुख नीचे कर लेटा दिया जाता है, उसकी छाती के चे एक तकिया रखकर ऊंचा कर दिया जाता है। तत्पश्चात् कार्यकर्ता रोगी पीठ पर दोनों ओर जमीन में घुटने टेककर सवार हो जाता है, परन्तु वह गी की पीठ पर नहीं बैठता। तदनन्तर वह अपने दोनों हाथों को रोगी के ठ के नीचे दोनों ओर अन्तिम पसलियों पर रखते हुए आगे झुक कर अपने रीर के भार को धीरे-धीरे हाथों पर डाल कर रोगी के छाती को कसकर दबाता जिससे फुफ्फुस संकुचित हो जाता है। तत्पश्चात् वह अपने शरीर को फिर छे की ओर पूर्वस्थिति में लौटा लाता है, जिससे छाती पर दबाव हट जाता है र फुफ्फुस का विस्फार होता है। इस प्रकार कृत्रिम पद्धति से छाती को संकोच र विस्तार कराने से भीतर से वायु बाहर को जाती है और बाहर से वायु तर को खिच जाती है। इस प्रकार छाती का संकोच और विस्तार एक मिनट वारह से पन्द्रह बार करना चाहिये। इस विधि से फुफ्फुस में अधिक से अधिक

वायु प्रविष्ट होती है और फुप्फुस के भी विदीर्ण होने की भीति नहीं बीचो बीच रोगी को चित करके हृदयप्रदेश पर दबाव देने से हृदय उत्तेजना मिलती है।

सिलवेस्टर की विधि—प्रथम रोगी के मुख से जितना पानी जाता है, उतना निकल जाने के पश्चात् उसको भूमि पर पीठ के बल देते हैं। इसकी छाती का निचला हिस्सा एक छोटे तकिये पर रखा जाता उसकी जीभ को आगे की ओर सूत्र से, सन्दंश से या अन्य प्रकार से रखा जाता है। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता सिरहाने की ओर जमीन में घुटने कुहनी से रोगी के दोनों बाहुओं को पकड़कर धीरे-धीरे रोगी के सिर के ओर ले जाता है, वहाँ पर दो सेकण्ड रुक कर, पश्चात् बाहुओं को वहाँ की ओर ले आकर छाती के दोनों ओर रख कर पूरे बल से दबाता है। छाती दब जाती है, फुप्फुस का संकोच होता है और भीतर में प्रविष्ट बाहर की ओर निकल जाती है। बाहुओं को पुनः ऊपर की ओर ले छाती चौड़ी होती है, फुप्फुस फैलते हैं, वायु बाहर से भीतर प्रवेश कर यह क्रिया प्रतिमिनट पन्द्रह बार करनी चाहिये। यह विधि जलनिमज्जित में विशेष उपयोगी नहीं होती।

लेबोर्ड की विधि—इस विधि में रोगी की जिह्वा को रुमाल की से पकड़ कर आगे की ओर खींचते और छोड़ते हैं। यह क्रिया (पकड़कर पूर्णतया बाहर की ओर खींचना फिर ढीला करना) प्रतिमिनट बार करनी चाहिये। इस विधि का उपयोग स्वतन्त्र या अन्य विधियों कर सकते हैं।

उष्ण वातातप दग्ध[1]—यह रोग उष्ण प्रदेशों में ग्रीष्मकालीन सूर्य के ताप से अथवा उष्णवायु (लू) से होता है। कई बड़ी बड़ी भट्टि काम करने वालों में अग्निज्वाला के अति तीव्र ताप (Heat Apo or Thermic Fever) से उत्पन्न होता है। भाषा में इसे कहते हैं। जब तक वायुमण्डल का ताप ११०° फेरन हीट से अधिक न हो वायु में अत्यन्त स्तब्धता या आर्द्रता (Humidity) न हो तब त नहीं उत्पन्न होता। इस रोग के होने में कई अन्य कारण भी

---

[1] उष्णवातातपैर्दग्धे शीतः कार्यो विधिः सदा।

है। जैसे—श्रमाधिक्य, मलावरोध, मद्यातिसेवन, अधिक और भारी कपड़ों पहनना, ज्वरदौर्बल्य।

सिर और ग्रीवा के पश्चात् भाग पर सूर्य की किरणों का सीधे पड़ने तथा बाह्य उष्णता से मस्तिष्क-सुषुम्नागत उष्णतानियामक केन्द्र (Heat egulating mechanism) में विकृति उत्पन्न हो जाती है। निदान ीर की उष्णता बढ़ने लगती है।

लक्षण—रोगी बहुत बार अकस्मात् मूर्च्छित हो जाता है परन्तु यदि अवस्था नहीं हुई, अथवा क्वचित् रोग के प्रारम्भ में सिरदर्द, हल्लास, वमन, नी आदि लक्षण होते हैं। यदि रोग बढ़ा तो रोगी मूर्छित होकर गिर पड़ता। श्वास घर्घरयुक्त होने लगता है। नाड़ी क्षीण दुर्बल और तीव्र गति की हो ती है, त्वचा शुष्क और उष्ण हो जाती है। यदि शीघ्र प्रतिकार न किया य तो कुछ घण्टों तक रोगी संन्यस्त अवस्था में रह कर मर जाता है।

चिकित्सा—'सदैव शीतविधि करनी चाहिये'। रोगी को तत्काल किसी े स्थान पर ले जाकर कपड़े उतारकर रख देना चाहिये। ठण्डे जल से र्द्र वस्त्र के द्वारा उसका शरीर लपेटना चाहिये। शीत जल का परिषेक करना हिये। सिर को शीतल जल से कई बार धोना चाहिये। यदि बरफ की सुविधा े तो सिर पर बरफ की थैली रखनी चाहिये, शरीर पर बरफ के बड़े-बड़े ड़ों को रगड़ना चाहिये। इन उपायों से यदि शरीर की उष्णता कम न हो तो तल जल से वस्ति भी दी जानी चाहिये। जब शरीर की उष्णता १०२° तक जावे तो शीतोपचार बन्द करना चाहिये। जब पित्ताधिक्य कम हो जावे, गी होश में आ जावे तो बाह्य शीतोपचार बन्द कर अन्य पित्तघ्न शीतवीर्य षधियों का आभ्यन्तर प्रयोग होना चाहिये। चरकोक्त प्रयोग पित्तघ्न और हशामक होने से प्रशस्त हैं।[1]

---

[1] धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम्।
वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः॥
पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां क्षौमञ्च शीतं कदलीदलानि।
प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलानां च दलाः प्रशस्ताः॥
प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्।
दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः पद्मोत्पलानां च कलापवाताः॥

शीतवातातदग्ध— ठंडे मुल्कों में शिशिर ऋतुओं में हिम अतिशीत वायु के चलने से हाथ-पैरों में रक्तप्रवाह कम होने के कार नाक और कान खुले रहने के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है। इस में इन अवयवों की त्वचा ही अधिक विकृत होती है। अवयव सिकु कठिन और मोम की भांति दिखाई देता है; परन्तु उनमें वेदना नहीं इसमें एकाएक रक्तप्रवाह शुरू होने से तीव्र वेदना शुरू होती है औ शोथयुक्त कर्दम (Inflammatory gangrene) हो जाता है। इ को अंग्रेजी में 'फ्रास्ट बाइट' कहते हैं।

चिकित्सा- 'स्निग्ध और उष्ण क्रिया प्रशस्त है'[1]। ठंड लगे हुए का रक्त रक्तवाहिनियों के भीतर जम जाता है। उसका विलयन और जारी करना चाहिये। इसलिये दग्ध स्थान पर घर्षण करके धीरे-धीरे उत्पन्न करनी चाहिये। क्योंकि एकाएक रक्तप्रवाह शुरू कराने से शोथयु होने की सम्भावना रहती है। पहले रोगी को ठंडे कमरे में रखकर उसकी उष्णता बढ़ानी चाहिये। जब थोड़ी प्रतिक्रिया शुरू होने लगे उष्ण पेय देना चाहिये। अंग को उष्ण तथा गरम कपड़े में लपेटक चाहिये। उष्ण औषधियाँ खाने के लिये देनी चाहिये। कृत्रिम उष्णता का दग्धस्थल पर तत्काल करने से हानि की सम्भावना रहती है।

अतितेज दग्ध—'आकाश की विद्युत् अथवा कृत्रिम विद्युत् से द चिकित्सा में सिद्धि कम मिलती है। कारण यह कि तीव्राघात से मस्ति (Neuro paralysis) होकर तुरन्त मृत्यु हो जाती है। यदि मध्यम और सौम्य हुआ एवं रोगी यदि कुछ समय तक जीवित रहे तो त्वक को स्नेहाभ्यङ्ग, परिषेक और प्रलेप आदि से प्रतीकार करना कई बार सौम्य आघात होने पर जलने के अतिरिक्त स्मृतिनाश, अङ्गव मांद्य, अपस्मार, पागलपन आदि चिरकालीन परिणाम होते हैं। उनकी चि रोगानुसार की जा सकती है।

सरिद्ध्रदानां हिमवद्दरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्।
मनोनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम्। (च० चि० ३

[1] शीतवर्षानिलैर्दग्धे स्निग्धमुष्णं च शस्यते।

[2] इन्द्रवज्रादिदग्धेऽपि जीवति प्रतिकारयेत्। स्नेहाभ्यङ्गपरीपेकैः प्रदेहैश्च तथा

दशम प्रकरण

प्रनष्टशल्यविज्ञानीय–शल्यापनयनीयाध्याय

प्रनष्टशल्यविज्ञान और शल्यापनयन की विधि

(Diagnois & Removal of foreign bodies)

शल्य एक पारिभाषिक शब्द है। इस शब्द की व्याख्या विभिन्न ग्रन्थकारों पृथक् पृथक् शब्दावलियों में की है। अष्टाध्यायी में 'शल्' 'श्वल्' धातु का पाठ ता है, उसका तात्पर्य शीघ्र गमनार्थक है। इनसे 'यक्' प्रत्यय होने से शल्य सिद्ध होता है। ऐसी वस्तु जो वेग से शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाय। के सिवाय शल्य के दो अर्थ और होते हैं—'शल' हिंसा के अर्थ में व्यवहृत ने वाला धातु हैं, जिसका शल्य रूप बनता है। अथवा 'शल' पीड़ा देने के र्थ में प्रयोग होने वाला धातु है, जिससे यक् प्रत्यय होकर पीड़ा देने वाली स्तु के वाचक शल्य शब्द की सिद्धि होती है।[1]

यदि इन सभी प्रकृति-प्रत्ययों से बने शल्य शब्द का सामूहिक अर्थ ग्रहण या जावे तो अर्थ होगा—

१. कोई ऐसी वस्तु, जो शीघ्रता से चलकर वेग से शरीर के भीतर घुस जावे।

२. कोई ऐसी वस्तु, जिससे शरीर पर घातक परिणाम होकर हिंसा हो जावे।

३. कोई ऐसी वस्तु, जिससे शरीर को पीड़ा पहुंचे।

इसी लिये सुश्रुताचार्य ने इसकी व्याख्या की है कि–जो समस्त शरीर में पीड़ा रता है (सर्वशरीराबाधकरम्) वह शल्य है। यहां सर्व शरीर कहने का विशेष र्थ है, समनस्क शरीर-मन के साथ पूरा शरीर। विविध प्रकार की घास लकड़ी, र, रज:कण, लोह, मिट्टी हड्डी, बाल, नख, पूय अन्तर्गत मूढगर्भादि सभी द्वारा शरीर को पीड़ा पहुंच सकती है, इसलिये सभी शल्य हैं।

---

[1] शल, श्वल-आशुगमने धातुः, तयोराद्यस्य शल्यमिति रूपम्। तच्च द्विविधम् शारीरमागन्तुकञ्च (सु. सू. २६)

डल्हणाचार्य ने अपनी टीका में इसीलिये कहा है—स्थावर या जंगम के अत्यन्त बढ़े हुए मल या दोष, जो शरीर में पीड़ा देते हों, उन सब कहते हैं[१]। इन शल्यों के निकालने में इस तन्त्र की सार्थकता है यह विद्या शल्य शास्त्र या शल्य तन्त्र के नाम से अभिहित है। ये प्रकार के होते हैं—

१. शारीरिक—	२. आगन्तुक—
शरीर को धारण करने वाले धातु या दोष जब विकृत होते जाते हैं तो वे ही मल कहलाते हैं, क्योंकि उनसे शरीर को पीड़ा होती है। जैसे—	शारीरिक शल्य के जितने भी दुःखोत्पादक पदा सभी का ग्रहण आगन्तुक में होता है। जैसे—
दुष्ट बाल (टूटे हुए)	लौह
दुष्ट नख (टूटे हुए)	वेणु
विकृत रसादिक धातु	वृक्ष, तृण
अन्न के मल मूत्रादि	शृङ्ग
विकृत हुए वातादिक दोष	अस्थिमय पदार्थ

आगन्तुक शल्य—शल्य की जो व्यापक व्याख्या की गई है, अनुसार शल्य अनन्त होते हैं. जिनका निदान और चिकित्सा या प्रती दृष्टि से एक अध्याय में वर्णन करना असम्भव है। अस्तु शल्य कहला पदार्थों का प्रथम निर्देश करके तत्पश्चात् लोहे के बने आगन्तुक शल्यों विशेष विचार इस अध्याय में होगा।

शल्य की सामान्य निरुक्ति पीड़ा या हिंसा करने की दृष्टि से की परन्तु विशिष्ट निरुक्ति लोहे के बने बाणों से सम्बन्धित है[२]। शल्य और चिकित्सा का उदय प्रथम इन बाणों के लिये ही हुआ है। इस लिये शल्य निकालने की विद्या को शल्यचिकित्सा या शल्यतन्त्र या शल्यशास्त्र क

---

[१] अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्।
यत्किञ्चिदाबाधकरं शरीरे तत् सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्॥

[२] लोहानामपि दुर्वारत्वादणुमुखत्वाद् दूरप्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृत।

अत्यन्त प्राचीन काल से सुश्रुत के समय तक युद्ध में बाणों का ही उपयोग क हुआ करता था। ये बाण अत्यन्त कठिन, तीक्ष्ण मुख वाले होते थे दूर से अत्यन्त वेग के साथ जाकर कवच आदि प्रतिबन्धकों को तोड़कर, र में प्रविष्ट होकर अत्यन्त पीड़ा देते थे। इस गुण या क्रिया के आधार पर ल्य शब्द की विशिष्ट निरुक्ति होती है।

बाणों की आकृतियाँ—बाण बहुधा अनेक प्रकार के वृक्षों के पत्तों के फूलों के आकार के सदृश तथा सर्प और कई प्रकार के जानवरों के मुख अथवा पक्षियों के मुख सदृश होते थे।

विविध वृक्षों में, जैसे कुछ पीपल के पत्तों के समान चौड़ी और चपटी ली धार वाले, कुछ कनेर के पत्र सदृश लम्बी और चपटी नोक वाले, कुछ ती-कलिका के समान गोल नोक वाले, कुछ एलाफल के समान तिधारी वाले होते रहे। विविध पशुओं की मुखाकृति के समान जैसे सिंह, व्याघ्र, ग, काक, कंक, आदि प्राणियों के मुख के समान बनाये जाते रहे।

इतने विभेद होते हुए भी चिकित्सक को उन्हें निकालते समय दो ही बातों जानना (इनकी आकृति के सम्बन्ध में) आवश्यक रहा। जिन बाणों में की तरफ कुछ टेढ़ा रहता था—कुछ लगा रहता था, उसका एक विशेष वर्ग । दूसरे कुछ ऐसे रहते थे, जिनमें इस प्रकार की कर्णिका नहीं लगती थी इनको सरल या श्लक्ष्ण कहा करते थे। प्रथम वर्ग के बाणों को कर्णिका होने के कारण कर्णी कहा करते थे। फलतः चिकित्सक को उन दोनों— कर्णी और २. श्लक्ष्ण-भेदों का जानना परमावश्यक रहा। 'व्यवहार की से इन दो प्रकारों को ठीक से ज्ञान कर लेना चाहिये, पश्चात् उनके निर्हरण व्यवस्था करनी चाहिये।'

शल्यों की गति—छोटे बड़े सभी शल्यों को पांच प्रकार की गति ी है—[1]

१. ऊर्ध्व—नीचे से आने वाले बाण की गति ऊपर की ओर होती है।

२. अधः—ऊपर से आने वाले बाण की गति नीचे की ओर होती है।

---

[1] सर्वशल्यानां महतामणूनाञ्च पञ्चविधो गतिविशेषः-ऊर्ध्वमधोऽर्वाचीनस्तिर्यगृजु-।(सु० सू० २६)

६. अर्वाचीन—(विपर्यस्तगति) कभी·कभी शरीर की ओर आने वा
के विरुद्ध दिशा में बाण की गति हो जाती है, उसे
गति कहते हैं। वाग्भट ने उसकी वक्र गति की सं
वक्रर्जुतिर्यगूर्ध्वाधः शल्यानां पञ्चधा गतिः।

४. तिर्यक्—पार्श्व से आने वाले बाण की गति तिरछी होती है।

५. सरल—आगे से सीधे आने वाले बाण की गति सरल होती है।

इस प्रकार पञ्चविध गति शरीर में प्रविष्ट होने वाले शरों (वा
होती है। ये शल्य गति के कम होने से या अस्थि—जैसे कठिन या
जैसे मोटे पदार्थों के प्रतिबन्ध से त्वचा, मांस आदि अधिष्ठानों में तथा
स्रोत और अस्थियों के विवरों में प्रविष्ट होकर स्थित हो जाते हैं।

इनकी स्थिति का ठीक ज्ञान होना कई बार कठिन हो जाता है।
इनके निदान के साधक लक्षणों का जानना परमावश्यक है। ये लक्षण
के होते हैं—१. सामान्य। २. विशेष।

शल्ययुक्त व्रण का सामान्य लक्षण—अधोलिखित लक्षणों
व्रण की सशल्यता का ज्ञान होता है। जैसे—[1]

व्रण श्यामवर्ण का,	पिडिका, शोफ और वेदनायु
बारम्बार रुधिर का स्राव होना	बुलबुल के समान उठा होना
कोमल मांसयुक्त	

विशिष्ट लक्षण—इनके द्वारा शल्य का अधिष्ठान मालूम होता है

त्वचा में अवस्थान होने पर—त्वचा का वर्ण बदल जाता है
शोथयुक्त, विस्तृत और कड़ी हो जाती है।

मांस में अवस्थान होने पर—शोथ की वृद्धि, शल्य के मार्ग
भरना, स्पर्शनाक्षमता (पीडनासहिष्णुता or Tenderness),
पाकादि लक्षण होते हैं।

---

[1] श्यामं शोफरुजावन्तं स्रवन्तं शोणितं मुहुः।
अभ्युद्गतं बुद्बुदवत् पिटिकोपचितं व्रणम्॥
मृदुमांसं च जानीयादन्तःशल्यं समासतः। (वा० सू० २८)

मांसपेशीगत या पेश्यन्तराल में होने पर— उपर्युक्त लक्षण ही मिलते चोष और शोथ नहीं रहता ।

सिरा में शल्य होने पर——रक्तप्रवाह रुक जाने से सिरा का फूलना, में वेदना तथा शोफ (Phlebitis) होता है ।

स्नायु में अवस्थित होने पर——स्नायुओं का सङ्कोच, तीव्र शोथ और वेदना होती है ।

स्रोत में पड़ा हुआ शल्य हो तो——स्रोत की स्वकर्म गुणहानि Loss of function)—अवरोध के कारण कार्य की हानि होती है ।

धमनीगत शल्य हो तो——झागयुक्त रक्त बाहर निकला हुआ वायु के रण शब्द के साथ निकलता है । अङ्गमर्द, तृषा और हृल्लास (मिचली) है ।

अस्थि में शल्य हो तो——विविध प्रकार की पीड़ा और सूजन होती है ।

अस्थिविवर में रहने पर (Medullary cavity)——छिद्र का भर ना, अस्थियों में पीड़ा और व्याकुलता होती है ।

सन्धिगत शल्य में——वे ही लक्षण होते हैं, जो अस्थिगत शल्य के न्ध में बतलाये गये हैं, अर्थात् सन्धि-शोफ एवं शूल ।

कोष्ठ में शल्य हो तो——आटोप, आनाह, व्रण के मुख से मूत्र, पुरीष एवं हार का निर्गमन होता है ।

मर्मगत शल्य होने पर——मर्म के वेध के अनुसार लक्षण होते हैं मान्यतया मर्महत (Shock) के चिह्न और लक्षण मिलते हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर शल्य के अवस्थान और शल्य-उपस्थिति का निदान हो जाता है । बड़े शल्यों के प्रविष्ट होने पर ये लक्षण व्यक्त मिलते हैं, परन्तु यदि शल्य छोटे आकार का हुआ तो ये चिह्न अस्पष्ट में पाये जायेंगे ।

शल्यापनयन की आवश्यकता——स्वस्थ शरीर में जिनका शरीर वातादि षों से दूषित नहीं है, यदि शल्य का अनुलोम प्रवेश हो और विशेषतः कंठ, रा, त्वचा, और अस्थिविवर में प्रवेश हुआ हो तो ऐसे व्रण शल्यों के वजूद भी भर जाते हैं । ऐसा केवल छोटे शल्यों के ही सम्बन्ध में नहीं किन्तु,

कई बार बड़े शल्यों के बारे में भी देखा गया है तो फिर व्रणों को (शल्य का दूरीकरण) करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का है कि व्रण यद्यपि भर गया रहता है; परन्तु थोड़े से प्रकोपक कारणों वह प्रचलित होकर पुनः शरीर को बाधा देने लगता है। प्रकुपित क कारणों में १. वातादि दोषों का प्रकोप २. व्यायाम और ३. अभिघात दूसरी बात यह है कि यदि शल्य का निर्हरण पूरी तौर से नहीं तो वह स्थान उपसृष्ट होकर शोथ, पाक, तीव्रवेदना, बेचैनी प्रभृति पैदा करता है। फल स्वरूप विषमयता अधिक होकर रोगी की मृत्यु सकती है। इस लिये यत्न-पूर्वक शल्य को बाहर निकालना चाहिये।[1]

अन्तर्निविष्ट गुप्त शल्यों की परीक्षा-विधियाँ—एक सामान्य है कि रोगी को हाथी के कन्धे, घोड़े की पीठ, पहाड़ या वृक्ष पर चढ़ना, षंण का व्यायाम करना, शीघ्र चलने वाली गाड़ी में बैठना, कुश्ती ल चलना, कूदते-कूदते चलना, तैरना, ऊँचा कूदना इत्यादि व्यायामों के जृम्भा, उद्गार, कास, क्षवथु, ष्ठीवन, हसन, प्राणायाम आदि के द्वारा त वात, मूत्र, मल इनके उत्सर्ग से जहाँ लालिमा वेदना एवं शोफ का है; वहाँ पर शल्य का अवस्थान समझना चाहिये।

यह साधारण नियम है कि शरीर के जिस अवयव में तोद (सुई जैसी पीड़ा), सुप्तता, भारीपन तथा घर्षण करने से स्राव होता है और होती है, एवं रोगी जिस स्थान पर छेड़ने, छूने या दबाने से बार-बार वहाँ शल्य को जानना चाहिये[2]।

कुछ अन्य विशिष्ट विधियों का भी प्रचलन है। जैसे—

त्वचा में यदि शल्य गुप्त हो तो— स्नेहन, स्वेदन करके मृत्ति जौ, गेहूँ, गोबर इन का चूर्ण त्वचा पर रगड़ने से जहाँ सुर्खी, शोथ हो; वहाँ पर शल्य की उपस्थिति समझनी चाहिये।

---

१. शोथपाकौ रुजश्चोग्रा कुर्याच्छल्यमनिर्हृतम्।
वैकल्यं मरणञ्चापि तस्माद्यत्नाद् विनिर्हरेत्। (सु. सू० २७)

२. यस्मिंस्ततोदादयो देशे सुप्तता गुरुताऽपि च। घट्टितो बहुशो यत्र सूयते तुद्यतेऽ
आतुरश्चापि यं देशमभीक्ष्णं परिरक्षति। संवाह्यमानो बहुशस्तत्र शल्यं विनिर्दि

दूसरी परीक्षा यह है कि जमे हुए घृत का लेप या मृत्तिका और चन्दन कल्क का लेप करने पर शल्य की ऊष्मा से घृत पतला होकर बहने अथवा मिट्टी और चन्दन का लेप सूखने लगे वहाँ शल्य की उपस्थिति ननी चाहिये ।

यदि मांस में शल्य गुप्त हो तो—स्नेहन, स्वेदन आदि अनुगुण क्रिया शेषों के द्वारा रोगी का उपचार करे। इस प्रकार कर्शित रोगी का ढीला हुआ, पने स्थान से क्षोभित और विमुक्त किया हुआ शल्य जहाँ सुर्खी, शोथ और ना उत्पन्न करता है; वहाँ ही उसका स्थान जानना चाहिये ।

कोष्ठ, सन्धि, अस्थि, पेशी और पेश्यन्तर में प्रविष्ट हुए शल्य— भी उपर्युक्त विधान के अनुसार परीक्षा करनी चाहिये ।

सिरा, धमनी, स्रोत और स्नायु में गुप्त शल्य—इसमें भी क्षोभ उत्पन्न रके अवस्थिति का ज्ञान करने के लिये रोगी को टूटे पहिये की गाड़ी पर बैठा र विषम मार्ग में शीघ्रता से चलावे । उसके झटकों से जहाँ पर सुर्खी, शोथ रवेदना होती हो, उस स्थान का निरीक्षण करे, वहीं पर शल्य होना चाहिये । स्थि में शल्य नष्ट हुआ हो तो अस्थियों का स्नेहन और स्वेदन कर बंधन और दंन करना चाहिये । इसी प्रकार सन्धियों में नष्ट हुए शल्य का ज्ञान भी स्नेहन, स्वेदन करके प्रसारण, आकुंचन, बन्धन तथा पीडन के द्वारा होता है । स स्थान में लालिमा, शोफ और वेदना हो; वहाँ पर शल्य की अवस्थिति ननी चाहिये ।

मर्म के गुप्त शल्य—मर्म मांस, सिरा, स्नायु आदि से पृथक् नहीं होते स लिये उनके स्वतन्त्र परीक्षा-विधि की भी आवश्यकता नहीं। जिस व्रणाधिष्ठान धातु का मर्म हो, उसी के अनुसार उपर्युक्त विधियों की सहायता से शल्य-स्थिति की परीक्षा करनी चाहिये ।

शल्यों का विपरिणाम— शरीर के भीतर प्रविष्ट हुए विजातीय पदार्थों के र परिणाम देखने को मिलते हैं —

१. यदि शल्य असात्म्य, परन्तु शुद्ध (Sterile) हो तो धातुओं में उसी प में चिरकाल तक पड़ा रहता है । केवल उसके ऊपर तान्तव धातु का एक वरण कोष बन जाता है । इस प्रकार की अवस्था शृङ्ग, दन्त, अस्थि, बाँस,

लकड़ी, लोहे को गोलियां, पत्थर और मिट्टी की छोटी टुकड़ियों और छो
असात्म्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी पाई जाती हैं; परन्तु इन पदा
जीवाणुओं के (पूयोत्पादक) उपसर्ग से स्वतन्त्र होना आवश्यक है।[1]

२. शल्य असात्म्य, परन्तु दूषित हों तो पाकोत्पत्ति के पश्चात् त्व
फटने से पूयादि के द्वारा बाहर निकल जाते हैं। विशेषतः वृक्ष, बांस के
के असात्म्य शल्य अधिकतर दुष्ट ही होते हैं और वे नहीं निकाले जायं तो
ही रक्त और मांस को पका देते हैं।[2]

३. यदि शल्य सात्म्य और शुद्ध हो, तो पित्त तेज से पाचन और
होकर शरीर के धातुओं के साथ एक होकर मिल जाता है। विशेषतः ऐसे
सुवर्ण, चांदी, तांबा, पित्तल और रांगा एवं सीसा धातुओं के सम्बन्ध
जाती है। इन धातुओं के शल्य शरीर में अधिक काल तक रहकर पित्त
से तप्त होकर विलीन हो जाते हैं अर्थात् सात्म्य हो जाते हैं। स्व
शीतल, मृदु जो ऐसे ही और भी शल्य होते हैं; वे भी पित्त के तेज से पिघ
धातुओं के साथ मिल जाते हैं।[3]

४. यदि शल्य सात्म्य, परन्तु दूषित हुआ तो पाक होकर पूय के
बाहर निकल जाता है, या रक्त के द्वारा शरीर में ही शोषित होकर वृक्क, त्व
इन्द्रियमार्ग से मल के रूप में बाहर फेंका जाता है।

निर्गतशल्य व्रण के चिह्न एवं लक्षण—[4]सामान्यतः अस्थिरूप
शरीर के भीतर जाकर कणशः फूट जाते हैं या खण्डशः टूट जाते हैं,

---

१. विषाणदन्तकेशास्थिवेणुदारूपलानि च।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च। (सु. सू. २६)
२. वार्क्षवैणवतार्णानि निह्रियन्ते तु नो यदि।
पचन्ति रक्तं मासञ्च क्षिप्रमेतानि देहिनाम्॥
३. कानकं राजतं ताम्रं रैतिकं त्रपुसीसकम्।
चिरस्थानाद्विलीयन्ते पित्ततेजःप्रतापनात्॥
स्वभावशीता मृदवो ये चान्येऽपीदृशा मताः।
द्रवीभूताः शरीरेऽस्मिन्नेकत्वं यान्ति धातुभिः॥
४. अस्थ्यात्मकं भज्यते तु शल्यमन्तश्च शीर्यते।
प्रायो निर्भुज्यते शार्ङ्गमायसं चेति निश्चयः॥

हे के शल्य प्राय टेढ़े हो जाते हैं। इस लिये व्रण को निःशल्य करते समय क प्रकार से परीक्षा होनी चाहिये।

जब व्रण में बाधा कम हो जावे, सूजन न रहे, पीड़ा कम हो जावे, कोइ य उपद्रव न रहें, देखने से ठीक जान पड़े, उनके किनारे उठे हुए न होकर ाघट्ट की अवस्था में आजावें तो प्रायः निःशल्य समझना चाहिये। शल्य-ता का निश्चय करने के लिये ऐसे व्रणों में शल्यमार्ग के द्वारा एषणी को क कर देखना चाहिये। अङ्ग का प्रसारण और आकुंचन करके भी देखना हिये। निःशल्यव्रण में अंग के संकोचन और विस्फारण से वेदना नहीं होती यदि निश्चित रूप से निःशल्य का अनुभव हो तो रोपण का प्रवन्ध करना हिये[1]।

शल्यों के निकालने के उपाय— सभी प्रकार के छोटे या बड़े शल्य दो ार के हो सकते हैं-एक तो वे, जो विशेष रूप से संसक्त-गड़े हों और दूसरे वे शिथिल रूपसे गड़े हुए या ढीले हों। इनमें प्रथम वर्ग के शल्यों को १. अव-और दूसरे वर्ग को २. अनवबद्ध कहते हैं।[2]

अनवबद्ध शल्यों के निकालने में विशेष कठिनाई नहीं होती, ये सुविधे से अपने आप निकल जाते हैं; परन्तु गाढ बद्ध या अवबद्ध शल्यों के अपनयन विशिष्ट उपायों का ज्ञान रखना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के कुछ हु साधन होते हैं, जिनके द्वारा शल्य निकाले जा सकते हैं। इनकी पञ्चदश की संज्ञा दी गई है। उनका संक्षेप में वर्णन अधोलिखित है—[3]

१. **स्वभाव**—अश्रु, छींक, डकार, खाँसी, मूत्र, विष्ठा, वायु इन स्वभावबल-त वेगों से नयनादि अधिष्ठानों से शल्य निकल जाता है।

२. **पाचन**—अतसी, कुष्ठ, अगुरु, शणमूलादि आदि ओषधियों के लेप के पकाना। मांस में गहराई पर स्थित हुआ शल्य यदि न पकता हो तो

---

[1] अल्पाबाधमशूनञ्च नीरुज निरुपद्रवम्। प्रसन्नं मृदु पर्यन्तं निरावट्टमनुन्नतम्॥
एषण्या सर्वतो दृष्ट्वा यथामार्गं चिकित्सकः।
प्रसाराकुञ्चनान्नूनं निःशल्यमिति निर्दिशेत्॥ (सु० सू० २६)

[2] शल्यं द्विविधमवबद्धमनवबद्धञ्च।

[3] तत्र समासेनानवबद्धशल्योद्धरणार्थं पञ्चदश हेतून् वक्ष्यामः। तद्यथा स्वभावः, नं, भेदनं, दारणम्, पीडनं, प्रमार्जनम्, निर्ध्मापनं, वमनं विरेचनम्, प्रक्षालनं, मर्शः, प्रवाहणम्, आचूषणम्, अयस्कान्तो, हर्षश्चेति। (सु० सू० २६)

उसको पकावे। पकने पर वह पूय, रुधिर आदि के वेग से अपने आप आप निकल आता है।

३. **भेदन**—पकने पर भी जो अपने आप न निकले शस्त्र के द्वा देकर निकालना चाहिये।

४. **दारण**—शस्त्र के अभाव में पके हुए स्थान पर चिरविल्वादि योगों का लेप कर विदारण करना चाहिये। दारण होने पर शल्य आता है।

५. **पीडन**—व्रण हो जाने पर यदि मुख के द्वारा शल्य निकल उसको हाथ के जरिये या शाल्मल्यादि पिच्छिल द्रव्यों के योग से बने लेप के दबाव से निकालना चाहिये। इसी विधि को पीडन क्रिया कहते

६. **प्रमार्जन**—नेत्रादि इन्द्रियों के सूक्ष्म शल्यों को परिषेचन, बाल, कपड़ा और हाथ इनसे पोंछ कर निकालना चाहिये।

७. **निध्मापन**—प्रधमन नस्य का एक प्रकार है। इसमें नलिका नासा के भीतर मुख से फूककर नस्य छोड़ा जाता है। आहार का अवरो और छोटे-छोटे शल्य लम्बी सांस छोड़ कर, खाँसकर अथवा निध्मापन निकाले जाते हैं। इस क्रिया को अंग्रेजी में 'इनसफलेशन' कहते हैं। विशेष उपयोग कर्णशल्यों के निकलने में होता है। इसकी तीन विधियां युग में बरती जानी हैं—

(क) **वेलसल्या की विधि**—इसमें प्रणायाम की विधि की जाती तथा नासा बन्द करके श्वसन की क्रिया जोर से की जाती है, इससे (Eustrachian tube) से वायु मध्य कर्ण में चली जाती है।

(ख) **पोलिटजर की विधि**—इसमें रबर की थैली से एक नासि वायु भरी जाती है, उस समय दूसरे 'छिद्र और मुख को बन्द' रखा

(ग) **श्रुतिसुरंगा नाडी यन्त्र**—यूस्ट्रैचियन कैथेटर के द्वारा मुख से श्रुतिसुरंगा में प्रविष्ट की जाती है।

८. **वमन**—आमाशय या अन्ननलिका में पड़े हुए, खाये हुए वामक द्रव्यों (Emetics) का उपयोग कराके या अङ्गुली द्वारा घर्षण करके निकालना चाहिये। आधुनिक युग की प्रचलित आमाश (Stomah wasch) क्रिया का भी इसी के भीतर समावेश हो

९. **विरेचन**—पक्वाशयगत यदि शल्य हो अर्थात् ग्रहणी से लेकर गुदा तक महास्रोत के भाग में कोई शल्य हो तो विरेचन करके निकालना चाहिये।

१०. **प्रक्षालन**— व्रण के भीतर पड़े हुए पूयादि दोषरूपी शल्य को जल से षधि-सिद्ध क्वाथ या घोल से धोकर निकालना चाहिये।

११. **प्रतिमर्श**—अंगुलि से तेल आदि स्निग्ध पदार्थों के द्वारा नस्य लेने से स्राव होकर उसके द्वारा नासागत बाधा दूर हो जाती है।

१२. **प्रवाहण**—अधोवात, मूत्र, मल और गर्भ इनके अटक जाने में जो धा उत्पन्न होती है, उसको निकालने के लिये प्रवाहण कर्म बतलाया गया है।

१३. **आचूषण**—अस्थिगत वायु, कर्णगत जल या दूषित रक्त के निकालने आचूषण क्रिया का उपयोग होता है। इसके लिये नाडी या शृंग यंत्र का वहार करते हैं। इसमें मुख के द्वारा चूसने का कार्य होता है।

१४. **अयस्कान्त** (Load Stone)—इसमें लोह के आकर्षण की भाविक शक्ति होती है। शिथिल, कर्णहीन, श्लक्ष्ण, एवं चौड़े मुख के व्रण में वस्थित लौह, शल्य या शर को अनुलोम मार्ग से लोहचुम्बक के द्वारा काला जाता है।

१५. **हर्षण**—हर्षण के द्वारा सामान्यतया मानस शल्य का निर्हरण होता । अनेक कारणों से उत्पन्न हुई चिन्ता या शोकरूपी हृदयस्थित शल्य को गी को खुश करने मात्र से निकाल सकते हैं।

आहरणोपाय या आहरण हेतु[1]—सब प्रकार के छोटे या बड़े शल्यों निकालने के दो ही उपाय काम में लाये जाते हैं। एक को कहते हैं १. अनु- म विधि और दूसरे को २. प्रतिलोम विधि। अनुलोम का अर्थ होता है— स दिशा से शल्य प्रविष्ट हुआ हो, उसी दिशा में शल्य को आगे बढ़ा कर कालना अर्थात् प्रवेशमार्ग से न निकाल कर दूसरी ओर को नया मार्ग करके कालना। ऐसा उस समय करते हैं, जब शल्य का अग्रभाग दूसरी ओर के भाग के समीप पहुंच गया है। शल्य की इस अवस्था को पराचीन कहते हैं। सीलिये उक्ति है—'पराचीन को अनुलोम निकालना चाहिये।'

---

[1] सर्वशल्यानां महतामणूनां वा द्वावेवाहरणहेतू भवतः। प्रतिलोमोऽनुलोमश्च। तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेदनुलोमं पराचीनम्।

प्रतिलोम पद्धति का अर्थ ठीक इसके विपरीत है। जिस दिशा से प्र हुआ है, उसके विपरीत दिशा से निकालना अर्थात् जिस छिद्र से प्र हुआ है उसी छेद से यथामार्ग निकालना चाहिये इस विधि का प्रयोग उचित है, जब शल्य का अग्रभाग नातिदूर प्रविष्ट हो अर्थात् अंग के म तक नहीं पहुँचा हो– उसके पूर्व ही हो। शल्य की इस अवस्था की सं अवाचीन। उक्ति है 'अवाचीन को प्रतिलोम निकालना चाहिये।'

इस प्रकार के शल्याहरण का उद्देश्य यही है कि—शल्य के नि समय धातुओं का नाश बिल्कुल न हो या अत्यल्प हो, साथ ही शल्य के आने का मार्ग अत्यल्प हो। इस दृष्टि से अतिदूर स्थित शल्य को दूसरी थोड़ा छेद करके निकालना और नातिदूर स्थित शल्य को प्रवेश मार्ग निकालना उत्तम विधि है।

जो शल्य उत्तुण्डित और तीक्ष्ण धारामुख हों, उन्हें निकालने के लिये ओर छेदन करके इधर-उधर हिलाकर निकाले।

परन्तु कुक्षि, वक्ष, कांख, वंक्षण और पर्शुकान्तरीय स्थान (Inter Spaces) में प्रविष्ट हुये तीक्ष्ण धारामुख शल्यों को जो हाथ से नि उन्हें उसी मार्ग से प्रतिलोम हाथ से निकालने का यत्न करे। यदि निकालना संभव न हो तो उसे पहले शस्त्र से कुरेद कर पश्चात् यन्त्र से कर निकालना चाहिये।

अष्टाङ्गहृदय में यन्त्रों के द्वारा शल्यों के आहरण का वर्णन मिलता 'दृश्य शल्यों को सिंह, सर्प, मकर, वर्मि, कर्कट मुख यंत्रों से निकाले। शल्यों को कंक, भृंग, कुरर, शरारी, वायस मुख यंत्रों से निकाले। स्थित शल्यों को संदंश यंत्र से, शुषिर शल्यों को ताल यंत्रों की सहाय छिद्राकार रचना में पड़े शल्यों को नलक या नाडी यंत्रों के जरिये नि चाहिये। अन्य प्रकार के शल्यों को यथायोग्य यन्त्रों के द्वारा नि उचित है।'[1]

---

[1] शल्यं न निर्वात्यमुरःकक्षावंक्षणपार्श्वगम्।
प्रतिलोमनुत्तुण्डं छेद्यं पृथुमुखञ्च यत्॥
अथाहरेत् करप्राप्यं करेणैवेतरत्पुनः। दृश्यं सिंहाहिमकरवर्मिकर्कटाननैः
अदृश्यं व्रणसंस्थानाद् ग्रहीतुं शक्यते यदि। कङ्कभृंगाह्वकुररशरारीवायसा

जो शल्य विशल्यघ्न मर्मस्थानों में प्रविष्ट हों, जिनमें शोफ, वेदनादि लक्षण हों, ऐसे शल्यों के निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती[1] क्योंकि इस प्रकार की विशेषता है कि जब तक शल्य रहेगा, रोगी जीवित रहता है, निकालते उसकी मृत्यु हो जाती है।

शल्य निकालते समय मूर्च्छित हुए रोगी पर ठंडे पानी का थोड़ा थोड़ा ड़काव करना चाहिये। छेदन करते समय उसके मर्मों की रक्षा करते रहना हिये। बार-बार उसे हर्षणात्मक वचनों से तसल्ली देते रहना चाहिये।

पश्चात् कर्म—यथाविधि शल्य को निकालकर व्रण के रक्त को साफ के, स्वेदयोग्य व्रण को घृत, अग्नि आदि से स्वेद करके, दाहयोग्य रोगी के को अग्नि से दग्ध करके पश्चात् मधुयुक्त घृत से लेप करना चाहिये। पश्चात् का बन्धन करके आहार, आचार, पथ्य आदि की व्यवस्था करनी चाहिये।[2]

अंगानुसार शल्यापनयन—सिरा-स्नान-विलग्न शल्य को शलाका से ड़ाकर निकालना चाहिये। शोथ में ग्रथित वाण को शोथ को दवा कर काले। यदि वाण को पकड़ने का स्थान दुर्बल हो तो कुशादि से बाँधकर कालना चाहिये।

हृदय समीपवर्त्ती भाग में स्थित शल्य—उद्विग्न हुए मनुष्य को ठंडे नी से आश्वासित करके प्रतिलोम-विधि से निकालना चाहिये। यदि यथा-गं से न निकल सके तो उस मर्म के पीड़ाकर शल्य को अन्य स्थान में थोड़ा न करके निकाले।

अस्थि-विवर-प्रविष्ट या अस्थि-विदष्ट शल्य[3]—१. को यन्त्र से बूती से पकड़ कर और शल्यस्थित भाग पर दोनों पावों को रोक लगाकर कालना चाहिये।

संदंशाभ्यां त्वगादिस्थं तालाभ्यां सुषिरं हरेत्।
सुषिरस्थं तु नलकैः शेषं शेषैर्यथायथम्॥ (अ० हृ० सू० २८)

[1] नैवाहरेद् विशल्यघ्नं नष्टं वा निरुपद्रवम्।

[2] शस्त्रेण वा विशस्यादौ ततो निर्लोहितं व्रणम्।
कृत्वा घृतेन संस्वेद्य बद्ध्वाचारिकमादिशेत्।

[3] अस्थिदष्टे नरं पद्भ्यां पीडयित्वा विनिर्हरेत्।
इत्यशक्ये सुबलिभिः सुगृहीतस्य किङ्करैः॥

२. यदि उपर्युक्त विधि संभव न हो तो शल्ययुक्त रोगी को बलवान् पकड़ कर रखे। शल्य को शल्यबारंग यन्त्र से टेढ़ा करे और उसे धनुष की डोरी से बाँध दे और दूसरी ओर पञ्चाङ्गीबन्ध में बद्ध किये के वक्रकविक बाँध दे। फिर घोड़े को ऐसी रीति से चाबुक से मारे कि को झटके से ऊंचा करे। इससे वेग के साथ शल्य निकल जावेगा।

३. अथवा पूर्ववत् धनुष की डोरी से बधे हुए शल्य को घोड़े के वृक्ष की मजबूत शाखा से नवाकर बाँध दे, फिर शाखा को झटके से इस प्रकार हठात् शल्य निकल जाता है।

कुक्ष्यादि अच्छेदनीय प्रदेश में—स्थित उत्तुण्डित शल्य को पत्थर या मुद्गर इनमें से किसी के प्रहारों द्वारा हिलाकर प्रवेश मार्ग निकालना चाहिये। मर्मादिरहित शस्त्रकर्म योग्य प्रदेश में उत्तण्डित कर्ण को शरयन्त्र से कर्ण को संकुचित करके अनुलोम विधि से निकालना चाहिये

जातुषे कण्ठासक्ते[1]—कंठ में लाख का शल्य यदि अंटक जाय शल्यवलोकनी (Oesaphagoscope) नाडी डालकर उसका करना चाहिये। फिर उस नाडी के भीतर से तप्त शलाका डालकर पकड़ना चाहिये। तप्त शलाका के द्वारा शल्य का सम्बन्ध होते उसमें चिपक जाता है। फिर उस ठंडे पानी का छिड़काव करने से में मजबूती आ जाती है। फिर शलाका को खींच कर बाहर करने निकल जाता है।

ऐसी घटना अधिकतर बच्चों में देखी जाती है। लाख के बने खेलते हुए बच्चे उसको मुख में डाल देते हैं और कभी-कभी निगलते गले में अँटक जाते हैं।

तथाप्यशक्ये वारङ्गं वक्रीकृत्य धनुर्ज्यया। सुबद्धं वक्त्रकटके बध्नीयात्सुसमाहि सुसंयतस्य पञ्चाङ्ग्या वाजिनः कशयाऽथ तम्। ताडयेद्विनि मूर्धानं वेगेनोन्नमयेत् उद्धरेच्छल्यमेवं वा शाखायां कल्पयेत्तरोः (अ० सू० २८)

[1] जातुषे कण्ठासक्ते कण्ठनाडीं प्रवेश्याग्नितप्तां च शलाकां, तयाऽवगृह्य परिषिच्य स्थिरीभूतं शल्यमुद्धरेत्। अजातुषं तु जतुमधूच्छिष्टप्रलिप्तया कल्पेनेत्येके (सु० सू० २७)

अजातुषे कण्ठासक्ते—यदि लाख के सिवाय अन्य किसी वस्तु का शल्य तो उसको उपर्युक्त रीति (पूर्वकी कल्पना) से ही निकालना चाहिये। वित् गले में नाली डाल दे। इस वार तप्त शलाका को मोम या लाख से त करके डालना चाहिये। जब विजातीय वस्तु शलाका से चिपट जाय तो जल से अवसिंचन करे, इस से लाख कड़ी हो जायगी और चिपका पदार्थ चा जा सकेगा।

अस्थि का टुकड़ा या अन्य किसी वस्तु का टुकड़ा यदि कण्ठ में तिर्यक् क हो तो देखकर बालों से बनी हुई गेंद दृढ़ सूत्र के एक सिरे से बाँधकर ले भात के साथ निगलवा दे। और भात को कण्ठ तक भर खिलावे। र आकंठ भरे हुए पेट पर मनुष्य को वमन कराना चाहिये। वमन कराते मय बालों की गेंद शल्य के एक आधे हिस्से में फँसी हुई जानकर शीघ्रता से त्र को खींच ले। इस से शल्य निकल आवेगा। सूत्र में बँधे हुए बालों की गेंद-की रचना को केशोण्डुक कहते हैं।

आज कल शल्य-चिकित्सा में एक प्रकार के केशोण्डुक (Probang) यवहार में आते हैं। यह एक नाडीगत शलाका यन्त्र है, जिसके अगले सिरे शलाका के चारों ओर घोड़े के बाल नलिका की भाँति लगे रहते हैं। गले में लते समय यह बालों का भाग शलाका की तरह बन्द रहता है, जो शल्य के छे तक चला जाता है। तत्पश्चात् यन्त्र को बाहर की ओर खींचा जाता । उस समय भीतर के बाल चारों ओर फैलकर एक पोली गेंद-सी बन जाती । जिसमें वहाँ पर स्थित हुआ शल्य फँस जाता है और खींचने के साथ ाहर निकल जाता है।

एक दूसरा ढङ्ग दातून के मृदु कूर्चक के साथ निकालने का है। इसके ारा भी कई बार कंठ में अँटके हुए मछली या अन्य प्राणियों की हड्डी के टुकड़े काले जाते हैं यदि किसी प्रकार से निकालने में सफलता न मिले तो शल्य ो भीतर की ओर ढकेल देना चाहिये।

पश्चात् कर्म—यदि इन द्रव्यों को निकालते समय कण्ठ में क्षत हो जाय तो मधु और घृत मिलाकर कर लेप करना चाहिये। अथवा त्रिफला का चूर्ण मधु एवं शर्करा में मिलाकर चाटने के लिये देना चाहिये।

उदक पूर्णोदर का शल्यापनयन—कई वार अकस्मात् पानी में मनुष्यों के उदर से पानी निकाल कर भारधिक्य कम करके पुनः आवश्यकता होती है। इस क्रिया में उदर से जल निकाल कर श्वसाव दूर कर रोगी के श्वास-कर्म को प्रकृतावस्था में ले आने का प्रया जाता है। इस प्रसङ्ग में उदर में भरा हुआ जल जलनिमज्जित या मृत लिये बाधक होकर शल्य का काम करता है—इसी कारण शल्यापन पाठ में ही इसका वर्णन प्राचीन आचार्यों ने किया है।

इस प्रक्रिया में नीचे लिखे उपक्रम किये जाते हैं—जो[1] सामान्यतया जलनिमज्जित व्यक्ति के सम्बन्ध में करना चाहिये—

अवाक् शिरस—सिर नीचे करके रखना।

पीडयेत्—छाती और उदर के ऊपर पीडन करना।

धुनीयात्—रोगी के दोनों पावों को टखने के पास पकड़ कर उस नीचे करके हिलावे या घुमावे।

वामयेत्—किसी प्रकार से वमन करावे।

चक्रादि आरोपणम् (अष्टाङ्ग संग्रह)— चाक के ऊपर उपे चाक को घुमावे।

इन क्रियाओं के द्वारा रोगी के उदर का पानी निकल जाता है और फ्राम के ऊपर का भार कम होने से श्वासक्रिया का भी आरम्भ होता है।

भस्मराशौ वा निखनेदामुखात्—राख के ढेर में मुख तक रोगी कर रखना। यह अनुभव-सिद्ध बात है कि पेट का पानी निकालने के बाद रोगी के होश में आने के बाद रोगी की बाह्य शीत से रक्षा करना और रिक सष्णता का अधिक नाश न होने देना बहुत आवश्यक होता है। होश में आने के पश्चात् श्वसनक ज्वर आदि होने की सम्णावना रह 'अन्यथा जल का उन्मार्ग में गमन होने के कारण आध्मान, काम, अपीनस, इन्द्रियोपघात, ज्वरादि श्लैष्मिक विकार होकर मृत्यु की

---

[1] उदकपूर्णोदरमवाक्शिरसमवपीडयेद् धुनीयाद्वामयेद्वा भस्मराशौ वा मुखात। (सु. सू. २७)

ा रहती है। इसलिये श्लेष्महर उपाय जलनिमग्न के सम्बन्ध में करना हिये।' (अ० सं०)

आधुनिक युग में भी इन्हीं सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कई उपक्रम लाये गये हैं।

१—वेहोश जलनिमज्जित व्यक्ति को जल से किनारे पर निकालते ही उसके ड़े विशेषतः छाती और गले के पास जो ही उतारने चाहिये यदि आवश्यक चीर के निकालना चाहिये।

२ **वामक तथा पुनःप्राणन प्रयोग**—तत्पश्चात् उसको भूमि पर धोमुख लेटा कर शेफर की विधि के अनुसार छाती और पीठ पर पीडन करके त्रिम श्वास-क्रिया करनी चाहिये। इस क्रिया को आधे घण्टे से घण्टों तक रना चाहिये। क्रिया के साथ उसके मुख और गले की श्लेष्मा को साफ रते रहना चाहिये। जीभ को बाहर करके रखना चाहिये।

३. **उष्णोपचार**—रोगी के शरीर को सूखा करना, उसके पास गर्म पानी ी बोतलें रखना और शरीर पर घर्षण करना चाहिये।

४. **शिरोरेचन**—रोगी को होश में लाने के लिये अमोनिया—जैसे तीव्र न्ध की वायु-रखना चाहिये।

५. **उत्तेजन**—हृदयोत्तेजक और श्वास-केन्द्रोत्तेजक योगों के द्वारा उन उन ङ्गों का उत्तेजन करना चाहिये। आजकल कुपीलुसत्त्व (स्ट्रीकनीन), 'एड्रनैलीन' थवा 'कोरामीन' इन ओषधियों को त्वचा, शिरा या सीधे हृदय में देना—चिका के द्वारा वेध करके देना, प्रशस्त माना गया है।

६. **आचारिक**—पश्चात् रोगी को पीठ के बल लेटा कर, गरम कम्बल आदि लपेट कर गर्म विस्तर पर लेटा देना चाहिये। यदि श्वास-कर्म होने लगे और रोगी होश में आ जावे तो उसको उष्ण पेय मद्य आदि पीने को देना चाहिये। एक बार श्वासोच्छ्वास शुरू होने के अनन्तर यदि पुनः श्वासावरोध होने लगे तो 'लेबोर्डे' की पद्धति से पुनः कृत्रिम श्वसन करना चाहिये।

ग्रास शल्यापनयन—भोजन करते समय कभी कभी बड़ा ग्रास कण्ठ में टक जाता है। उसके कारण शरीर को प्राणान्तक वेदना होने लगती है। उस दशा में वह ग्रास ही शल्य हो जाता है, उसको दूर करने के लिये अनुभव-

सिद्ध सरल उपाय है। ग्रास यदि गले में अंटक जाय तो निःशङ्क होक
रोगी के कन्धे पर मुष्टि से प्रहार करना चाहिये। अथवा कोई स्नेह, मद्
पिलाना चाहिये।[1]

बाहु, रज्जु, लतापाश के द्वारा वायुशल्यापनयन।

(Throtening, Strangulation or Hauging)

कई बार हाथ, डोरी या लता इनके पाश से गला घुट जाने के कार
प्रकुपित होकर कफ को प्रकुपित करती है और मार्ग को रोक देती है।
कारण, लालास्राव, फेनागम और संज्ञानाश होकर रोगी मर जाता है।
से जो कण्ठ का पीड़न होता है उसको अंग्रेजी में 'थ्रोटनिङ्ग' कहते हैं—
लतापाश लगाकर जो कण्ठ का पीड़न होता है उसको अंग्रेजी में 'स्ट्रैंगुलेशन
हैं। इस अवस्था में रोगी स्वयं रज्जु के द्वारा अपने गले को कसकर या
आत्महत्या कर लेता है इसी की एक दूसरी अवस्था भी हो सकती है,
रोगी को कोई दूसरा आदमी (परकृत) टांग देता है—जैसा फांसी
मिलने में होता है, इस अवस्था को अंग्रेजी में 'हैङ्गिङ्ग' कहते हैं।

इन तीनों अवस्थाओं में क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से एक ही क्रिया हो
१. शुद्ध वायु का भीतर न जाना। २. अशुद्ध वायु (Co) का बाहर
न होने से भीतर में भर जाना। ३. श्वासावरोध होकर संज्ञानाश होना।

चिकित्सा—इस अवस्था की चिकित्सा में श्वासावरोध दूर कर
संज्ञा में लाने के उपक्रम होते हैं—

१. गले के फांस को निकाल देना। २. रोगी को अभ्यङ्ग और
कराना। ३. रोगी को खुले स्थान में रखना। ४. कृत्रिम श्वसन—विशेषतः
स्टर' की पद्धति का करना। ५. यदि सम्भव हो तो सूंघने के लिये शुद्ध
जन देना। ६. हृदय और श्वासोत्तेजक योगों का प्रयोग करना।

वाग्भट ने कुछ अन्य शल्यापनयनों के सम्बन्ध में भी उल्लेख कि

कर्णस्रोतःप्रविष्ट कीट—कान में कीड़े-मकोड़ों के चले जाने

---

[1] ग्रासशल्ये तु कण्ठासक्ते निःशङ्कमनवबुद्धं स्कन्धे मुष्टिनाऽभिहन्यात्, स्ने
पानीयं वा पायेयत्। (सु० सू० २७)

रीपन, फरफराहट, उनके स्पन्दन से पीड़ा का बढ़ जाना आदि लक्षण होते हैं। स अवस्था में कान में निम्नलिखित द्रव्यों का पूरण करना चाहिये¹।

१, नमक का पानी (लवणाम्बु)।
२. मधुयुक्त मद्य।
३. केवल गुनगुना जल (सुखोष्ण जल)।

तोयपूर्ण कर्ण--कान में यदि पानी भर जावे तो निम्नलिखित विधि से कालना चाहिये।

१. हाथ से फेंटे हुए जल और तैल के द्वारा पूरण करके।
२ पार्श्वविनत होकर हाथ के द्वारा हिलाकर (हस्तेनाहन्यात्)।
३. नाडी के द्वारा चूषण करना।

एकादश प्रकरण

सन्धानकर्मीयाध्याय

(Plastic surgery)

सुश्रुत संहिता में कर्णपाली, नासा तथा होंठ के कट जाने पर अन्य स्थान चर्म लेकर उसी के द्वारा कटे हुए अङ्गों के बनाने या जोड़ने के अपूर्व और कुशल कर्मों का वर्णन मिलता है। इस मौलिक सिद्धान्त का ज्ञान जब से पाश्चात्य देशों में हुआ है, तब से पाश्चात्य सर्जरी के इस अङ्ग की (संधान कर्म या Plastic surgery अत्यन्त उन्नति हुई है। डा० न्यूबर्जर नामक इतिहास-लेखक ने कहा है कि 'उन्नीसवीं शताब्दी की प्लास्टिक सर्जरी को विकास के लिये भारतीय पद्धतियों के उदाहरण से ही उत्तेजना मिली हैं।'

---

१. कर्णेऽम्बुपूर्णे हस्तेन मथित्वा तैलवारिणी।
क्षिपेदधोमुखं कर्णं हन्याद्वाऽऽचूषयेत वा॥
कीटे स्रोतोगते कर्णं पूरयेल्लवणाम्बुना।
शुक्तेन वा सुखोष्णेन मृते क्लेदहरो विधिः॥ (वा० सू० २८)

नासासंधान कर्म (Rhinoplasty) का तो सुश्रुत में इतनी के साथ वर्णन मिलता है, कि पाश्चात्य सर्जरी में उसी का अनुकरणमा जाता है। उस विधि का नाम ही भारतीय पद्धति (Indian met ही रखा गया है।

इटालियन, फ्रेंच आदि कई पद्धतियाँ भी कुछ दिनों तक प्रचलि परन्तु दोषपूर्ण होने की वजह से वे छोड़ दी गई। आज एकमात्र भारती ही न्यूनाधिक फर्क के साथ बरती जाती है।

आधुनिक युग में सन्धान कर्म का इतना विकास हो गया है कि इ भाँति पेशी, स्नायु, हड्डी और वात नाडी का भी सन्धान किया जाता है

कर्ण सन्धान

कर्णगत सन्धान के प्रसङ्ग में कर्णव्यध का एक पाठ है। कर्णव्य का भी चिकित्सक को ज्ञान होना चाहिये। क्यों कि यह कर्म विशेषज्ञों ही प्राचीन काल में कराया जाता था।

स्कन्दादि बालग्रहों से रक्षा करने के लिये तथा शरीर की शोभा के लिये अलङ्कार पहनाने के लिये बालक के दोनों कानों का वेधन करना

काल—जन्म से छठां या सातवां महीना। धर्मशास्त्रों के अनुसार मास में भी वेधन हो सकता है। वाग्भट ने भी अष्टम मास का निर्देश कि डल्हण के अनुसार छठां या सातवां मास जन्म से न लेकर भाद्रपद फलतः माघ, फाल्गुन के महीने जब शिशिर या हेमन्त का ऋतु ही, सब है। क्यों कि इन ऋतुओं में बालक का स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और पाकोत्पत्ति का भी भय कम रहता है।

शुक्लपक्ष में शुभ तिथि, करण, मुहुर्त्त नक्षत्र में मङ्गलाचारपूर्वक स्व वाचन कर के धात्री या कुमारधर (बालक की देख-भाल करने वाला व्यक्ति गोद में बैठा कर खिलौने आदि से बालक को बहला कर और पुचकार कर

---

१. मासि षष्ठे सप्तमे वाप्यष्टमे मासि सत्वरम्।
कर्णवेध प्रशंसन्ति पुष्टयायुःश्रीविवृद्धये॥
षट्सप्ताष्टममासेषु नीरुजस्य शुभेऽह्नि।
कर्णौ हिमागमे विध्येद्धात्र्यङ्कस्थस्य सान्त्वयन्॥ (वा. उ. १)

कर्म--तत्पश्चात् वैद्य अपने बायें हाथ से कर्ण को खींच कर सूर्य-किरणों प्रकाश में रख कर धीरे से दाहिने हाथ में शस्त्र ले कर कर्णपाली के दैवकृत द्र में वेधन करे। दैवकृत छिद्र से तात्पर्य है जहां पर स्वभावतया अत्यन्त योग्य न मिले, अत्यन्त पतला और सिरादि से वर्जित स्थान हो, वहां पर वेधन ना चाहिये। कान यदि कोमल हो तो सुई (Sterile) से अथवा कड़ा होने विशुद्ध किये आरा शस्त्र से वेधन करना चाहिये। यदि बालक पुरुष हो उस का दाहिना कान और कन्या हो तो उसके बायें कान का पहले वेधन ना चाहिये।[१]

पश्चात् कर्म—बाद में पिचुवर्ति (रुई का डोरा या सूत्र) छिद्र में डाल दे।

उपद्रव और उनके प्रतिकार—कई बार अज्ञ वैद्य के द्वारा अन्यथा वेध ने से कई उपद्रव हो जाते हैं। इन उपद्रवों के मुख्यतया दो कारण हो सकते -प्रथम यदि ठीक स्थान (दैवकृत छिद्र) में वेधन न हो तो उस के कारण रा, धमनी या नाडी का नाश हो जाता है। दूसरा कारण यदि शस्त्र का शोधन अथवा स्थान का विशोधन न हुआ हो तो विकारी जीवाणुओं का उपसर्ग कर वेदना, ज्वर, शोथ, अपतानक (Tetanus) आदि उपद्रव हो जाया रते हैं।

इन उपद्रवों को स्थान-भेद के अनुसार तीन वर्गों में बिभाजन किया गया है।

१—वेदना, २--रक्तस्राव और ३—उपसर्ग

१. **कालिका**—काले वर्ण की शिरा कट जाने से। ज्वर, दाह, शोथ वेदना।

२ **लोहितिका**—रक्त वर्ण धमनी के कट जाने से। मन्यास्तम्भापतानक, रोग्रह, कर्णशूल।

३. **मर्मरिका**—श्वेत वर्ण या वर्णहीन नाडी के कट जाने से। वेदना, र ग्रन्थि।

प्राग्दक्षिणं कुमारस्य भिषग्वामं तु योषितः। दक्षिणेन दधत्सूचीं पालिमन्येन पाणिना। मध्यतः कर्णपीठस्य किञ्चिद्गण्डाश्रयं प्रति। जरायुमात्रप्रच्छन्ने रविरश्म्यवभासिते। धृतस्य निश्चलं सम्यगलक्तकरसाङ्किते। विध्येद्दैवकृते छिद्रे सकृदेवर्जु लाघवात्।

नोर्ध्वं न पार्श्वतो नाधः सिरास्तत्र हि संश्रिताः।
कालिका मर्मरी रक्तास्तद्व्यधाद्रागरुज्वराः।
सशोफदाहसंरम्भमन्यास्तम्भापतानकाः। (वा, उ. २)

पश्चात् इन उपद्रवों के योग्य प्रतिकार की व्यवस्था करनी चाहिए
पश्चात् कर्म (Curative treatment) से कई गुना श्रेष्ठ पूर्व
(Preventive treatment) होता है। क्योंकि कीचड़ के लग
धोने से अच्छा होता है कि ऐसा उपाय किया जावे, जिससे कीचड़

आधुनिक युग में पूर्व प्रतिकार बहुत सुलभ है। कर्णपाली का
में निरीक्षण करके नोवाकेन, प्रोकेन आदि वेदनाहर द्रव्यों का प्रयोग
किया जावे तो वेदना और रक्तस्राव नहीं होने पाता। वेधन के पूर्व यदि
और सूची आदि उपकरणों का पूर्ण विशोधन (Sterlization)
तो जीवाणुजन्य उपसर्ग के कारण होने वाले मन्यास्तम्भ, धनुर्वात (
nus) आदि उपद्रव उत्पन्न ही नहीं होते।

इस लिये इन बातों को पूर्णतया ध्यान में रख कर कर्ण का वे
प्रशस्त माना जाता है।

खुरदरी, निकम्मी और वक्र सुई के द्वारा वेधन से अथवा मोटे सूत्र
का उपयोग करने से, वातादि दोषों के प्रकोप से, अयोग्य वेध
शोथ और वेदना होने लगे तो डोरा निकाल कर शीघ्र मुलहठी,
मंजीठ, जौ, तिल इन्हें पीस कर मधु और घृत में मिला कर तब तक
लेप करे, जब तक वह छिद्र न भर जाय, भर जाय तो पूर्वोक्त विधान
कर्णपाली का वेध करना चाहिये।

योग्य वेध होने पर तिल के अपक्व तैल से परिषेक करता चले।
तीसरे दिन कान के छेद में थोड़ा मोटा सूत्र बदलता रहे और उसी
से परिषेक करता रहे।

जब सब दोष और उपद्रव नष्ट हो जाय, तब छिद्र को बढ़ाने के
छोटे वर्धनकों का उपयोग करे। ये वर्धनक कान में डालने के लिये
आकृति की शलाकायें होती हैं। डल्हण ने कहा है कि अपामार्ग, निम्ब,
आदि अन्य काष्ठों का अथवा सीसकादि धातुओं से बना धत्तूर के फूल
रचना की शलाकायें होनी चाहिये।

कर्ण सन्धान विधि

अब इस प्रकार बढ़ाया हुआ कर्ण (वर्धनक डाल कर) वातादि

धियों से अथवा आघात से कभी-कभी दो भागों में कट जाता है[1]। उन भागों जोड़ने की आवश्यकता होती है, इसी कर्म को कर्णसन्धान कहते हैं।

संक्षेप में कर्ण-सन्धान की पन्द्रह प्रकार की बन्धाकृतियां बनती हैं। ये ही य प्रकार हैं--

(साध्य)
नेमिसन्धानक
उत्पलभेद्यक
वल्लूरक
आसङ्गिम
गण्डकर्ण

(साध्य)
६. आहार्य
७ निर्वेधिम
८. व्यायोजिम
९. कपाटसन्धिक
१०. अर्धकपाटसन्धिक

(असाध्य)
११. संक्षिप्त
१२. हीनकर्ण
१३. वल्लीकर्ण
१४. यष्टिकर्ण
१५. काकौष्ठिक

कर्णपालिसन्धान के असंख्य बन्ध-प्रकार होते हैं[2]। जहाँ जो उचित हो, हाँ उसका योजना करना चाहिये। उपर्युक्त पन्द्रह बतलाये गये हैं, वे महत्त्व हैं, उनका अवस्था के अनुसार प्रयोग होता है। इन में आदि के नेमिन्धानक से लेकर अर्धकपाटसन्धिक तक दस भेद साध्य माने जाते हैं एवं द के संक्षिप्त से लेकर काकौष्ठिक तक पांच असाध्य माने गये हैं।

एक सामान्य बंध का वर्णन--

पूर्वकर्म--इन में से कोई भी बन्धन करना हो तो अग्रोपहरणीय-विधानोक्त मग्री का सम्पादन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त विशेषतः सुरामण्ड, क्षीर, दक, धान्याम्ल और कपाल-चूर्ण इन्हें पास में रख ले। तदनन्तर पुरुष हो या री, उस का केश गुथवा कर हल्का भोजन कराके, आप्त जनों से उसे ठीक पकवा कर योग्य बन्ध का निर्णय करे।

कर्म--छेदन, भेदन, लेखन तथा वेधन क्रियाओं में से जो उचित हो सका ग्रहण करते हुए, कान के रक्त को देखे कि वह शुद्ध है या अशुद्ध। यदि षों से दूषित जान पड़े तो दोषानुसार स्थान का प्रक्षालन करे। जैसे--

---

[1] एवं विवर्धितः कर्णश्छिद्यते तु द्विधा नृणाम्।
दोषतो वाऽभिघाताद्वा सन्धानं तस्य मे शृणु॥

[2] अमिताः कर्णबन्धास्तु विज्ञेयाः कुशलैरिह।
यो यथा सुविशिष्टः स्यात्तं तथा विनियोजयेत्॥

वातिक दोष में--कांजी और गरम जल से।

पित्तदूषित में—ठण्डे पानी और दूध से।

वायु से दुषित में—सुरामण्ड और गर्म जल से।

दोनों कानों को धोकर फिर उसे अवलेखन करके कर्णसन्धि को इस स्थापित करे कि वह न ऊंचा हो, न नीचा और न टेढ़ा रहे, फिर रक्त करके सूची-सूत्रादि से उसका सन्धान करे। तदनन्तर मधु और तैल रूई या कपड़ा ऊपर रख कर सूत्र से न बहुत कड़ा और न बहुत ढीला करे फिर ऊपर से कपाल चूर्ण उस पर डाल दे।

पश्चात् कर्म--आहार, विहार, आचार्य का योग्य उपदेश करे। चिकित्सा करता रहे।

कान का रगड़ना, दिन का सोना, परिश्रम, अतिभोज, मैथुन, पास बैठना और अधिक बोलना इनका त्याग करना चाहिये।

बन्ध के समय यदि पाली से अशुद्ध रक्त निकलता हो अथवा ब निकलता हो या बिल्कुल ही न निकलता हो तो उसका सन्धान नहीं चाहिये। क्योंकि वातदूषित रक्त हो पर जुड़ने पर परिपोट (त्वचा जाना) हो जाता है, पित्तदूषित रक्त से दाह, पाक और वेदना होने लग कफदूषित रक्त से स्थान सुन्न हो जाता है और खाज होती है। अधि बहने से स्थान काला और शोथयुक्त हो जाता है। रक्त बिल्कुल न उसपर मांस बिल्कुल नहीं चढ़ता।

तीन दिनों तक कच्चे तिल तेल का परिषेक करे और तीसरे दिन फाया बदल दे। जब वह ठीक जुड़ जाय, उसमें कुछ भी उपद्रव न रहे, त वर्ण में रङ्ग मिल जाय, तब उसके छिद्र को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। विपरीत करने से शोथ, दाह, पाक, लालिमा आदि फिर बढ़ जाती है, फिर कट जाता है।

यदि कर्णपाली अल्पदुष्ट अर्थात् शुद्ध हो तो उसको बढ़ाने क प्रकार के अभ्यङ्गों का प्रयोग करना चाहिये।

गोधा, प्रतुद, विष्किर, आनुप, औदकवर्ग के प्राणियों की चर्बी मज्जा घृत और सफेद सरसों का तेल इनमें से जितने मिल सकें इकट्ठा कर उनको

ार, बला, अतिबला, अनन्ता, अपामार्ग, अश्वगन्ध, शालिपर्णी, क्षीरशुक्ला, शूक, क्षीरकाकोली और मधुर वर्ग की ओषधियों के साथ पकावे। अथवा ादि ओषधियों को केवल तिल तैल के साथ पाक करके सिद्ध करे।

स्वेद और मालिश किये हुए कर्ण पर इस तैल का लेप करने से निरुपद्रव बढ़ जाते हैं। अन्य भी कई उद्वर्तन कर्णपाली को बढ़ाने के लिये ढ हैं। यथाः—

१. यव, अश्वगन्ध, मुलैठी, तिल पीसकर उबटन लगाना।

२. शतावरी, असगन्ध, क्षीरकाकोली, एरण्ड तथा जीवनीय ओषधियों के दूध युक्त पक्व तिल तैल का अभ्यङ्ग करना।

३. जो पाली अनेक प्रकार के भी स्नेहन एवं स्वेदन से न बढ़े, तो उनके ाङ्ग प्रदेश में कर्णपुत्रिका के नीचे प्रच्छान करना चाहिये।

युक्त सन्धान की परीक्षा तथा पाली के बढ़ने के उपयुक्त काल—

पाली का सन्धान होते ही उसको नहीं बढ़ाना चाहिये। क्योंकि उस समय बढ़ने से पाली अपक्व होने के कारण शोफयुक्त होकर फिर शीघ्र ही कट ी है। जब रोग शान्त हो जाय, छिद्र ठीक हो, सन्धि मिल गई हो, पाली एव दृढ हो, व्रण का रोपण पूर्व हो गया हो कुछ भी पीड़ा न हो तो उस य सन्धान को ठीक समझकर कर्ण को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये।

पन्द्रह प्रकार के बन्धों में विविध बन्धों के स्थान और विधियों का वर्णन ते हुए तीन प्रधान अङ्गों का उल्लेख मिलता है। १. कर्णशष्कुलि २. पुत्रिका ३. कर्णपाली। इन तीनों अङ्गों का प्रारम्भिक ज्ञान सन्धान कर्म को समझने लिये जरूरी है। ये तीनों अङ्ग बाह्यकर्ण के विभाग हैं।

कर्णशष्कुलि तथा पाली— कान का वह भाग है, जिसमें छेद कराके स्त्रियाँ यां पहनती हैं। बोलचाल की भाषा में इसी भाग को कान कहते हैं। इसका ार सीप जैसे होता है। इसमें कई उभार और दबाव होते हैं। इसके नीचे ा जो लटका हुआ मृदु भाग होता है, उसे पाली कहते हैं। कर्णपाली मृदु ी है, इसका कारण यह है कि उसमें तरुणास्थि नहीं होती, केवल तांतव धातु रबी रहती है। कर्णशष्कुलि के शेष भाग में तरुणास्थि होती है, जिससे भाग कड़ा होता है। अंग्रेजी में कर्णशष्कुली को Pinna or Auricule

कहते हैं, कर्णपाली को लोब्युल (Lobule) कहते हैं। बालकों मे इसी भाग पर किया जाता है। वर्धनक द्वारा अधिकतर यही भाग जाता है। यही अधिकतर कट जाता है, जिसका सन्धान आवश्यक होता

पुत्रिका—कर्णकुहर के ऊपर कर्णकुहर के दोनों तरफ जो किञ्चि होते है उनको पुत्रिका कहते हैं, अंग्रेजी में इन्हीं भागों की संज्ञा 'ट्रै 'एण्टीट्रैगस' हैं।

उनमें से यदि पाली कट गई और उसके दोनों भाग मोटे फैले समान हों तो नेमिसन्धानक बन्ध लगाना चाहिये। गोल फैली हु समान यदि दोनों पालियाँ हों तो उत्पलभेद्यक बन्ध लगाना चाहिये गोल समान दोनों पालियां हो तो बल्लूरक बन्ध लगाना चाहिये। जब की कर्णपाली का भाग दीर्घ हो तो आसंगिम बन्ध लगावे, जब बाहर कर्णपाली का भाग दीर्घ हो तो गण्डकर्ण बन्ध का प्रयोग करना चाहिये।

'जब बाहर की तरफ पाली बडी हो तो भीतर की तरफ सन्धा चाहिये यदि भीतर की तरफ पाली बड़ी हो तो बाहर की ओर सन्धा चाहिये।' जब दोनों ओर पाली का भाग न हो तो आहार्य बन्ध क करना चाहिये। जब दोनों पाली मूल से छिन्न हो जाती है, तब पुत्रि भाग का आश्रय करके निर्वेधिम बन्ध का प्रयोग करना चाहिये। का एक भाग मोटा और स्थूल तथा दूसरा भाग छोटा और अणु हो तो जिम बन्ध का उपयोग करना चाहिये। जब भीतरी पाली का भाग बाहर का अल्प हो तो कपाटसन्धिक बन्ध का प्रयोग करना चाहिये। का बाहर का भाग दीर्घ और भीतर का अल्प हो तो अर्धकपाट काम में लाना चाहिये। सभी बन्ध साध्य माने जाते हैं। इनके अति बन्ध हैं, जो असाध्य हैं।

उनमें से जब कर्ण की शष्कुलि शुष्क हो, पाली का एक भाग न दूसरा भाग भी अल्प हो, तब संक्षिप्त बन्ध का प्रयोग करना चाहिये। के दोनों भाग नष्ट हो गये हों और पालो के दोनों तरफ गालों पर कम हो तो हीनकर्ण बन्ध का प्रयोग होना चाहिये। जब पाली के पतले, विषम और अल्प हों, तब वल्लीकर्ण बन्ध बांधना चाहिये।

स में ग्रन्थियाँ हों, सिराओं की कुटिलता तथा प्रचुरता हो तथा पाली छोटी, तब यष्टिकर्ण नामक बन्ध से सन्धान करना चाहिये। जब पाली मांस-हित हो, उसके अग्र अत्यन्त अल्प हों और उसमें रक्त की कमी प्रतीत हो तो कौष्ठक बन्ध का प्रयोग करना चाहिये।

इस प्रकार विविध प्रकार के कर्णबन्ध समूह की व्याख्या हुई। इनकी ाद रूप से सन्धान करने की प्रक्रिया न होने से स्पष्टतया अवगत नहीं किया सकता। फिर भी कुछ की सन्धान-विधियाँ स्पष्ट हैं। जैसे—

१. जिसके कान की दोनों पाली न हों, उसका कर्णपीठ ठीक बीच में न करके छिद्र का वर्धन वर्धनक के जरिये करना चाहिये। कर्णपीठ कहने का त्पर्य उस स्थान से है, जहां से कर्णशष्कुलि में पाली का प्रारम्भ होता है। ह स्थान बाह्यपुत्रिका का समीपवर्त्ती स्थान है।

२. आसङ्गिम और गण्डकर्ण बन्ध का सन्धान सूत्र—यदि एक ही ओर ली मोटी, चौड़ी और स्थिर हो तो उसे ऊपर की तरफ बीच से चीरकर वह रा हुआ भाग दूसरी तरफ जोड़ देना चाहिये।

३. यदि कर्णपाली का अभाव हो तो आहार्य बन्ध-विधि से नयी पाली ाई जा सकती है। विधि यह है कि कपोल प्रदेश से जीवित थोड़ा मांस ाल कर पाली जोड़ने के स्थान पर लेखन कर उसके द्वारा पाली बनावे। सम्बन्ध से निकाले हुए मांस में रक्त का संचार होकर उसकी जीवितावस्था वश्यक काल तक स्थायी हो सकती है।[1]

कर्णपाली के रोग—प्रसङ्गवश कर्णपाली में होने वाले कुछ रोगों का वर्णन ता है।

स्फोट (फोड़ा), स्पर्शाज्ञत्व और शोथ—वायु के कारण।

---

[1] गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुबन्धेन जीवता।
कर्णपालीमपालेस्तु कुर्यान्निर्लिख्य शास्त्रवित् ॥
एकैव तु भवेत्पालिः स्थूला पृथ्वी स्थिरा तु या ॥
तां द्विधा पाटयित्वा तु छित्त्वा चोपरि सन्धयेत् ॥
यस्य पालिद्वयमपि कर्णस्य तु भवेदिह।
कर्णपीठं समे मध्ये तस्य विद्ध्वा विवर्धयेत् ॥

दाह, फोड़ा, शोथ और पाक—पित्त के कारण।
कण्डू, शोथ, स्तम्भ और गुरुत्व—कफ के कारण।

चिकित्सा—दोषों के अनुसार—

शोधन
स्वेदन
अभ्यङ्ग
परिषेक

प्रलेप
रक्तमोक्षण
बृंहण तथा यथोचित पथ्य।

कर्णपाली के उपद्रव—संख्या में दस होते हैं—

उत्पाटक—पाक के कारण पीडा होती है।
उत्पुटक—इसमें मांसवृद्धि होकर पपडी पड़ जाती है।
श्याव—वर्ण काला या नीला पड़ जाता है।
कण्डूयुत—खुजलीयुक्त।
अवमन्थ—जिसके भीतर मन्थन के समान पीड़ा रहे।
सकण्डूक—विशेष कण्डूयुक्त।
ग्रन्थिक—गाँठदार रचना वाला।
जम्बुल—जिसमें वर्ण जम्बूफल सदृश होता है।
स्रावी—स्राववान्।
दाहवान्—दाहाधिक्ययुक्त।

चिकित्सा—

उत्पाटक में—अपामार्ग, राल, पाटला और लकुच की त्वचा का
या इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध तेल का लेप करे।

उत्पुटक उपद्रव में—अमलतास, सहिजन, करञ्ज, गोधा की
सूकर, हरिण इनका पित्त तथा घृत एकत्र करके लेप करे या इन में
कर लगावे।

श्याव में—हल्दी, सुगन्धा, कृष्ण सारिवा और चौलाई इनका ले
इनसे सिद्ध तैल का प्रयोग करे।

कण्डूयुत उपद्रव में—पाठा, रसोंत, मधु और उष्ण कांजी इनका लेप थवा इनसे पके तैल का प्रयोग करना। व्रणित अवस्था में मुलैठी, क्षीरकाली, जीवकादि ओषधियों से सिद्ध तैल लगाना चाहिये। जहाँ पर पाली शुष्कता हो, बृंहण आवश्यक हो, वहांपर गोधा, सूकर और सर्प का वसा का भ्यङ्ग करना चाहिये।

अवमन्थक में—प्रक्षालन करके कमल, मुलैठी, लज्जालु और धव का ेप करना चाहिये।

सकण्डूक उपद्रव में—सहदेवा, विश्वदेवा (बलाभेद), बकरी का दूध र सैन्धव इनका लेप करे या इनसे पक्व तैल का।

ग्रन्थिक में—प्रथम ग्रन्थि को चीरकर रक्त निकाले पश्चात् सैन्धव का चूर्ण घस कर लगावे।

जम्बुल में—लेखन से रक्त निकालकर लोध्र का चूर्ण मलकर दूध से धोवे। वं शुद्ध करके व्रणवत् उपचार करना चाहिये।

स्रावी में—गुरुच, महुआ और मुलैठी इनको पीसकर मधु के साथ लेप नाकर लगावे। अथवा निम्न ओषधियों से सिद्ध तैल लगावे।

नासासन्धानविधि[1]

फटी हुई नासा की सन्धान-पद्धति—नासिका के छिन्न अंश की म्बाई और चौड़ाई का किसी वृक्ष का पत्ता लेकर उसी के बराबर कपोल (या लाट प्रदेश) से कुछ अनुबन्ध रखकर त्वचा और मांस का एक अवलम्बि Flap) लेना चाहिये। यह भाग मूल त्वचा के साथ सम्बन्ध रखने वाला ना चाहिये। इससे लाभ यह होता है कि ठीक सन्धान होने के समय तक न्न त्वचा का पोषण होता रहता है और सन्धान के कर्म में सहायता

---

[1] नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणां पत्रं गृहीत्वा त्ववलम्बितस्य।
तेन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वादुत्कृत्य बद्धं त्वथ नासिकाग्रम्॥
विलिख्य चाशु प्रतिसन्दधीत तत् साधुबन्धैर्भिषगप्रमत्तः।
सुसंहितं सम्यगतो यथावन्नाडीद्वयेनाभिसमीक्ष्य बद्ध्वा॥
प्रोन्नम्य चैनामवचूर्णयेत्तु पत्तङ्गयष्टीमधुकान्वितेन।

मिलती है । यह अवलम्बन ऐसे स्थान से लेना अच्छा होता है, जहां पर केशिकायें अधिक हों ।

कपोल या नासिका का सन्धान करते हुए अवलम्ब अन्यत्र के अङ्गों भी लिया जा सकता है । परन्तु कपोल और ललाट प्रदेश से त्वक्, मांस लम्बन कुछ बातों को दृष्टि में रखते हुए सर्वोत्तम है । प्रथम लाभ तो यह दोनों स्थानों की त्वचा में समता होने की वजह से सन्धित नासिका स्वा सी दिखाई देती है । दूसरा लाभ यह है कि अनुबन्ध रखने में सुविधा हो

अनुबन्ध रखने की एक इटालियन पद्धति रही, जिसमें बाहु से त्व जाती रही । परन्तु इसमें अनुबन्ध रखने में रोगी का हाथ सिर पर बां की जरूरत पड़ती रही है । इसमें रोगी को असुविधा और तकली रही । इसलिये यह पद्धति छोड़कर गण्डपार्श्व से त्वचा का अनुबन्ध लेना माना गया ।

फिर स्थिर की हुई नासिका का विलेखन करके, कपोल प्रदेश से हुए त्वचा-मांसादि के भाग को, विलेखित नासिकाग्र के साथ सूची सूत्रादि द्रव्यों के साथ सावधानीपूर्वक जोड़ देना चाहिये । सूई के द्वारा टाँके बन्धन करने का उद्देश्य ठीक तरह स्थिर करना होता है । बाद में तीन पश्चात् उन टाँकों को काटकर निकाल लेना चाहिये । इससे नाक के ऊ नहीं बनने पाता ।

तदनन्तर नासारन्ध्र में दो नलिकाओं को डालकर नाक को ऊंचा चाहिये । नलिका लगाते समय नासिका के सन्धान को इस प्रकार रखना कि सन्धित अवस्था में वह स्वाभाविक-सी दीख पड़े तथा रोगी के श्वा किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे ।

पश्चात् नासिका के ऊपर रक्तचन्दन, मुलैठी और रसोंत का चूर्ण बु चाहिये । पुनः उसके ऊपर सफेद पिचु रखकर तिलतैल डालकर तर करते चाहिये । रोगी को घृत पीने के लिये देना चाहिये । जब घृत जीर्ण हो यथोपदेश उसे मृदु रेचक देना चाहिये ।

जब व्रण का रोपण हो जाता है, तब कपोल के साथ सम्बन्ध रखने त्वचा को काट देते हैं । प्रायः ये अनुबन्ध दस से चौदह दिनों में

ते हैं, परन्तु यदि नासिका की पुनः कुछ मरम्मत की आवश्यकता हो तो नुबन्ध को उसके पश्चात् काटना चाहिये ।

इस विधि से विश्लेषित नासिका पूर्ण सन्धित हो जाती है और स्वाभाविक– दीखने लगती है, एवं उसके ऊपर कोई भद्दा निशान भी नहीं रह जाता ।

यदि नासिका कुछ छोटी या बड़ी हो गई तो उसे बढ़ाने या बराबर करने भी प्रयास करते रहना चाहिये ।

यदि नासिका का सद्यश्छेद हुआ हो तो छिन्नांश का यथास्थान न्यास करके देना चाहिये । इस अवस्था में भी निशान (Scar) बचाने के लिये नुबन्ध की आवश्यकता पड़ती है ।

ओष्ठ–सन्धानविधि—ओष्ठ के कट जाने पर भी उपर्युक्त विधि से सन्धान अनुबन्ध का विधान करना चाहिये । ओष्ठ–सन्धान कर्म में नाड़ी के योजन कोई अवश्यकता नहीं पड़ती ।

एकादश प्रकरण

आमपक्वैषणीयाध्याय

व्रणशोफ—छोटे बड़े आकार के उत्सेधयुक्त ग्रन्थि, विद्रधि, अलजी, ढिका इत्यादि जो रोग होते हैं; उन रोगों के लक्षणों से पृथक् लक्षणयुक्त किंचित् ला हुआ, गाँठदार सम या विषम आकृति का त्वचा-मांसादि अष्टविध व्रण-वस्तु स्थान में स्थित वातादि दोषों के सङ्घात से जो शरीर के एक देश में उत्थित ार होता है, उस को व्रणशोफ कहते हैं[1] ।

सामान्यतया शोफ या शोथ से सूजन का अर्थ ग्रहण किया जाता है। यह न तीन प्रकार की हो सकती है । १ — जब पूरे शरीर में सूजन हो—सर्वाङ्ग-फ । २ — आधे शरीर पर शोफ हो — अर्धाङ्ग शोफ । ३ — अथवा किसी एक यव पर सूजन—एकदेशोशोत्थित शोफ ।

इनमें सर्वाङ्गशोफ या अर्धाङ्गशोफ हृदय, यकृत् एवं वृक्क आदि मर्माङ्ग की

---

[1] शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतय- विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसङ्घातः शरीरैकदेशोत्थितः फ इत्युच्यते । (सु. सू. १७)

विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं, इनमें सूजन के अतिरिक्त इन्द्रिय-वि भी लक्षण होते हैं। इनका विवेचन कायचिकित्सा से सम्बन्ध रखता है लिये इसका निराकरण प्रस्तुत विषय के शोफ अर्थात् एकदेशोत्थित शो जाता है।

एकदेशोत्थित शोफ में स्थानिक लक्षणों का ही प्राधान्य रहता है, लक्षण बहुत कम होते हैं। अंग्रेजी में इस प्रकार के शोफ को 'इन्फ्लैमेटरी या 'इन्फ्लैमेशन' कहते हैं।

नवीन कल्पना के अनुसार उसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है प्रकार के आघात या क्षोभ के कारण होने वाली, जीवित जन्तुओं की प्रतिक्रिया। इस प्रकार की प्रतिक्रिया केवल मनुष्यों तक ही सीमित बल्कि विविध प्रकार के बहुकोषीय जीवों में, यहां तक कि ऐसे प्राणियों रक्तवह-संस्थान का अभाव होता है, उनमें भी इस प्रकार प्रतिक्रि जाती है। यह एक प्रकार से स्थानिक तन्तुओं की बाह्य आक्रमणों का साधन है।

शरीर के कोष बाहरी जीवाणु से अपनी रक्षा दो प्रकार से क १—व्रणशोफ की प्रतिक्रिया और २—प्रतिविष तथा प्रतियोगी प निर्माण के द्वारा।

कारण और सम्प्राप्ति—कारणों के अनुसार शोफ के छः भेद गये हैं—नैज या दोषज भेद से पांच और आगन्तुक एक; सब स्वतन्त्र छः होते हैं। यदि आगन्तुक वर्ग का विचार किया जाय तो अनेक मिलेंगे, जिनमें पाँच मुख्यतया मिलते हैं।

भेद तथा कारण

नैज (दोषज)	आगन्तुक
वात	१—विकारी जीवाणु।
पित्त	२—आघात दबाव, चोट, मरोड़,
कफ	३—अग्नि या तप्त पदार्थों से जल
रक्त	४—रासायनिक पदार्थ, तीव्र अम्ल एवं प्राणिज या वानस्पतिक वि
सन्निपात	५—विद्युत्-प्रवाह।

व्रणशोफ के सामान्य लक्षण—साधारणतया व्रणशोफों में स्थान–रपेक्ष पाँच प्रमुख लक्षण होते हैं।

चरक ने सामान्य शोफ के लक्षणों का वर्णन करते हुए कई प्रमुख लक्षणों का ल्लेख किया है। इसका इन पंचलक्षणों से बहुत कुछ साम्य भी है। शोथ में म्न लक्षण सामान्यतया मिलते हैं :—

गुरुता, उभार, अस्थिरता, ऊष्मा, रक्तवाहिनियों का विस्फार, रोमहर्ष तथा र्ण की विकृति।[1]

१. उत्सेध या शोफ—सूजन दो कारणों से होती है—१. रक्ताधिक्य रक्तरस निकलकर वहाँ के धातुओं में जमा होता है। यदि पोले स्थान में जन हुई, तो वह शीघ्र बढ़ती है और स्पर्श में मृदु होती है। कठिन स्थान सूजन होने से शोथ कम होता है, मन्दता से बढ़ता है और स्पर्श में कठिन ता है। कभी-कभी शोथ के स्थान से कुछ दूरी पर सूजन दिखाई देती हे, से-हस्ततल और पादतल के शोथ में कलाई और टखने पर सूजन दिखाई ती है। कनपटी के शोथ में आँखों पर सूजन दिखाई देती है। इसका कारण ह है कि शोथ के स्थान पर आवरण कड़ा होने से उसका प्रभाव समीपवर्ती दु अङ्गों पर दिखाई देता है।

२. लोहितवर्णता—इसका भो कारण रक्ताधिक्य है। प्रारम्भिक वस्था में जब रक्तप्रवाह की अधिकता होती है—रक्त में प्राणवायु की अधिकता हती है। इसलिये शोथयुक्त स्थान लाल–सुर्ख रहता है। जब अङ्गुली से दबाया ता है तो स्थान पीला पड़ जाता है और जब अङ्गुली हटा ली जाती है तो नः सुर्ख हो जाता है। दूसरी अवस्था में जब रक्तप्रवाह कम हो जाता है—क्त में प्राण वायु की कमी हो जाती है तो वर्ण किञ्चित् कालिमायुक्त (विवर्णता) जाता है।

३. ऊष्मा या उष्णता—इसका भी कारण रक्ताधिक्य है। शोथयुक्त स्थान न्य स्थानों की अपेक्षा अधिक गर्म होता है। इसका निश्चय करने के लिये शोथ स्थान पर कुछ देर तक हाथ रखकर पश्चात् दूसरे किसी शोथरहित स्थान

---

[1] सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माऽथ सिराततत्वम्।
सलोमहर्षश्च विवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम्॥ (च० चि० १२)

पर रखना चाहिये। उष्णता या ऊष्मा से तात्पर्य यही है। शोथस्थान क्रम रक्त के तापक्रम से अधिक नहीं होता। बाह्य त्वचा की भीतरी उष्णता से हमेशा कम होती है। जिस स्थान पर शोथ होता है, रक्त का परिभ्रमण उत्तम होने के कारण उसकी उष्णता रक्त के जाती है।

४. वेदना—शोथयुक्त स्थान में धमनीगत रक्त का भार बढ़ जाने लसीका का स्यन्दन अधिक होने से वातिक नाड़ियों के अङ्गों पर दबाव है—उनका क्षोभ होने लगता है, जिससे वेदना प्रतीत होती है। यदि पोला हो तो वेदना कम होती है, यदि कठिन हो तो अधिक होती है। वेदना की यह विशेषता है कि आभ्यन्तर या बाह्य दबाव बढ़ाने से वे वृद्धि होती है। यदि शोथस्थान पर अङ्गुलि या अन्य पदार्थ से दबाव दि तो वेदना बढ़ जाती है। इसी कारण रोगी स्पर्श को सहन नहीं कर है। इस अवस्था को स्पर्शासह्यता या पीडनाक्षमता कहते हैं।

५. स्वकर्मगुणहानि—(Loss of Function)—वेदना होने से स्थानिक शरीर के स्रावों के कार्य में बाधा उत्पन्न होकर अंग का अभाव हो जाता है।

उपर्युक्त सामान्य लक्षणों के तरतम भेद से विशिष्ट लक्षण ब उदाहरण के लिये—(दोषानुसार)

वातिक—किञ्चित् लाल, कृष्णवर्ण, परुष और मृदु होता है—इसमें अनवस्थित-सी रहती है। कभी बढ़ जाती और कभी घट जाती है।

पैत्तिक—पीला, मृदु और रक्तयुक्त, शीघ्र बढ़ने वाला होता है, अधिक होता है।

श्लैष्मिक—हल्का पीला या सफेद, कठिन, शीत, स्निग्ध और बढ़ने वाला होता है। इसमें विशेषतः कण्डू होती है।

सान्निपातिक—जिन शोफों में सर्व प्रकार की वेदना, वर्ण और पाये जावें।

रक्तज—इसमें सभी लक्षण और चिह्न पित्तवत् होता है, परन्तु वर्ण काला होता है।

आगन्तुक में—इन शोफों में पैत्तिक और रक्तज शोफों के लक्षण मिलते —लाली अधिक होती है और चमकती है।

स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त कुछ सार्वदैहिक लक्षण भी होते हैं। ज्वर— त के साथ ज्वर आता है, और पसीना देकर उतर जाता है। ज्वर का वेग समान नहीं रहता। जब विकारी जीवाणुओं के द्वारा शोफ की उत्पत्ति होती उस समय ज्वर विशेष होता है। क्योंकि पाक स्थान का विष रक्त में पहुँचकर तष्क के उष्णताजनक केन्द्रों को उत्तेजित करता है, फलतः ज्वर हो जाता है। न्तु जब पाक जीवाणुओं के अतिरिक्त कारणों से होता है, तब हल्का होता है नहीं होता।

ज्वर के साथ अरुचि, क्षुधानाश, कोष्ठबद्धता, जिह्वा का मैलापन, शुष्कता गहरा और गाढे रङ्ग का इत्यादि आनुषङ्गिक लक्षण भी होते हैं।

शोफ के परिणाम--सभी प्रकार के शोफो में दो ही विपरिणाम देखने मिलते हैं--१. उपशम और २. विकृति का अग्रसर होना।

१. उपशम—व्रणशोफ अधिकतर विकारी जीवाणु के पहुंचने के कारण न्न होता है। ये जीवाणु प्रवेशस्थल में सेलों को मारकर तथा उनके द्वारा व लेकर अपनी संख्या अतिशीघ्रता से बढ़ाते हैं। साथ ही बढ़ते समय कुछ ली वस्तुएं भी बनाते हैं, जो स्थनिक सेलों को हानि पहुँचाती हैं। शरीर के इन जीवाणुओं के साथ अपनी तरफ से अन्य शरीररक्षक कोषाओं की ायता लेकर इनका मुकाबला करते हैं। संक्षेप में यही शोथ है। इस प्रकार जीवाणुओं के प्रति शरीर के सेलों के युद्ध का एक लक्षण मात्र है।

यदि शरीर की संरक्षण-शक्ति प्रबल हुई तो विकारी जीवाणु रक्षक सेलों के ा भक्षण कर लिये जाते हैं, वहाँ पर की लसीका आदि का शोषण होकर ार ठीक हो जाता है। इस अवस्था को उपशम कहते हैं। कई बार सौत्रिक ु का आवरण बन जाता है, जिससे अभिघातज विकार आवृत होकर ष्क्रिय हो जाते हैं और शोथ का शमन हो जाता है।

प्रारम्भिक अवस्था में आलेप, परिषेक, सेक, अभ्यङ्ग, उपनाह इत्यादि निक बाह्य क्वाथादि के आभ्यन्तरिक प्रयोगों से शोथ का उपशम या हार धातुओं का नाश न होवे हुए भी हो सकता है।

२. विकृति की ओर अग्रसर होना—'परन्तु विपरीत क्रिया या दोषों की शक्ति प्रबल होने से जब शोथ बाह्य और आभ्यन्तर क्रि शान्त नहीं होता, तब पकने लगता है।' इसी बात को दूसरे शब्दों में तो कहेंगे कि जब जीवाणुओं की शक्ति प्रबल होती है, शरीर के कमजोर पड़ जाते हैं अथवा उचित उपचार उचित समय में नहीं हो विकृति अग्रसर होती है और दोष शरीर के कुछ अंश का नाश करने और पीप बनने लगती है। फलतः शोफ को तीन अवस्थाओं से गुजरना प

शोथ की प्रारम्भिक अवस्था को आमावस्था कहते हैं। जब पूयो हो जाती है, तब शरीर के परमाणुओं का नाश, पूय की वृद्धि और प्र लगता है। उस स्थिति को 'पच्यमानावस्था' कहते हैं। पूयोत्पत्ति हो शरीर के धातुओं का नाश बन्द हो जाता है, पूय के चारों ओर रो (Granulation Tissues) की भित्ति बनकर उसका प्रसार रुक पूय सीमित स्थान में एकत्रित हो जाती है तब उस स्थिति को 'पक्वाव हैं। इसी का दूसरा नाम विद्रधि है। विद्रधि के चारों ओर जो भित्ति वह केशिकाओं, श्वेत कण और स्थानिक धातुओं के कोषाओं से बनती

व्रणशोफ की तीनों अवस्थाओं के पृथक्-पृथक् लक्षण और चिह्नों का वर्णन नीचे किया जाता है, जिसके-ऊपर अवस्था-विशेष का निदान आ

१. आमावस्था[1]—शोफ का स्थान किंचिदुष्ण, त्वक् का सव त्वचा के वर्ण में परिवर्तन न होना, शोथ में ठंडापन, काठिन्य, मन्द अल्पशोफता (सूजन का थोड़ा थोड़ा) लक्षण मिलते हैं।

२. पच्यमानावस्था—इम अवस्था विकृति की दृष्टि से पू बनता है और धातुओं में फैलता है—उसका भार वायु-संस्थान के ना पड़ता है, जिससे विविध प्रकार की वेदना का अनुभव रोगी को होता पूय मृदु स्थान में बना हो, जहाँ पर उसको फैलने की सुविधा हो तो पी होती है, परन्तु कड़े स्थान में स्थित होने से पूय के फैलने लिये अ नहीं मिल पाती, जिससे थोड़ा भी पूय कड़े स्थानों में असह्य वेदना पैदा

---

[1] तत्र मन्दोष्मता त्वक्सवर्णता, शीतशोफता, स्थैर्य, मन्दवेदनताऽल्पशो लक्षणमुद्दिष्टम्।

रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि १पाकस्थान सूइयों से वेधा जा रहा है, टियों से काटा जा रहा है, चींटियाँ रेंगती हुई मालूम होती हैं, शस्त्र से चीरा रहा है, भाले से वेध किया जा रहा है, दण्ड से ताडित किया जा रहा है, ण से घट्टित (हाथ से दबाया जाना) किया जा रहा है, अंगुलियों से मला रहा है, अग्नि से जलाया जा रहा है, क्षार से पकाया जा रहा है। रोगी स्थानिक, पार्श्व में तथा चारों तरफ दाह का अनुभव होता है। बिच्छू के मारने के समान (वृश्चिकविद्ध इव) पीडित होकर रोगी को खड़े, बैठे या किसी प्रकार चैन नहीं मिलता। शोथ फूली हुई मसक के समान तना हुआ पड़ता है। त्वचा का वर्ण बदल जाता है। शोथ खूब बढ़ता है।

आनुषंगिक सार्वदैहिक लक्षणों में ज्वर, दाह, तृष्णा, अरुचि आदि लक्षण ते हैं।

३. पक्वावस्था—जब शोथ पक्व हो जाता है तो भीतरी शोथ बाह्य त्वचा ओर बढ़कर उसको निर्जीव करना चाहता है। जिससे त्वचा से छिल्के लना शुरू हो जाता है। यह त्वचा के निजीव होने का लक्षण है। कुछ समय पश्चात् अत्यन्त निर्जीव स्थान को फाड़कर पूय बाहर निकल जाता है।

इस अवस्था में आने पर—२वेदनाओं की शान्ति हो जाती है, त्वचा का फीका होना, शोफ का हल्का होना, त्वचा पर दरार पड़ना, झुर्रियाँ पड़ना, लि से दबाने पर गढ़ा पड़ना (Pitting on pressure) और अंगुलि ने पर उसका भर जाना। पूय स्थान को एक तरफ दबाने से वह दबाव पूय के जरिये दूसरी तरफ प्रतीत होना (तरंग प्रतीति Fluctuation)। बार-

---

१. सूचीभिरिव निस्तुद्यते, दश्यत इव पिपीलिकाभिः, ताभिश्च संसर्प्यत इव, न इव शस्त्रेण, भिद्यत इव शक्तिभिः, ताड्यत इव दण्डेन, पीड्यत इव पाणिना, त इव चाङ्गुल्या, दह्यते पच्यत इव चाग्निक्षाराभ्याम् ओषचोषपरीदाहाश्च भवन्ति। कविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातबस्तिरिवाततश्च शोफो ति, त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गम्।

२. वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता वलीप्रादुर्भावस्त्वक्परिस्फुटनं निम्नदर्शनमङ्गु- ऽवपीडिते प्रत्युन्नमनं, बस्ताविवोदकसंचरणं पूयस्य प्रपीडत्येकमन्तमन्ते वाऽवपीडिते, मुंहुस्तोदः कण्डूरुन्नतता व्याधेरुपद्रवशान्तिर्भक्ताभिकाङ्क्षा च पक्वलिङ्गम्।

(सु० सू० १६)

बार बीच-बीच में वेदना होती है। खुजली मालूम होना, सूजन के कम होना, उपद्रवों की शान्ति और भोजन में रुचि आदि लक्षण प होते हैं।

कई वार श्लैष्मिक रोगों में शोथ गहराई में स्थित होने से या अधि रोगों में पक्वावस्था के सम्पूर्ण लक्षण न देखकर शोफ के पक्व होनेपर पक्व न समझ कर वैद्य चिकित्सा में चूक जाता है। इसलिये जहाँ त्वच में समता, शोथ का ठंडापन, मोटापन, वेदना की अल्पता, पत्थर कड़ापन ये अपक्वावस्था के लक्षण होते हैं। वहाँ पर अन्य लक्षणों का करके पक्वावस्था का निदान करने में नहीं चूकना चाहिये। इस अ वाग्भट में 'रक्तपाक' कहा है।

आजकल पूयोत्पत्ति का निदान करने की अच्छी सुविधा प्राप्त है। दर्शक के द्वारा रक्त की परीक्षा करने से निदान में सहायता मिलती है गत सकल श्वेत कण-गणना पर ठीक निदान हो सकता है। सामान्य में ६००० से १२००० तक प्रतिघन सहस्रांश मीटर में श्वेत कणों की रहती है। इससे अधिक बढ़ना विकृति (पूयोत्पादन) का द्योतक है यदि रक्तपरीक्षा करने पर इन कणों की संख्या २०००० या इससे अधिक सहस्रांश मीटर में पाई जावे तो पाक या पूयोत्पत्ति निश्चित है।

पूयोत्पत्ति के विषय में विचार—प्राचीन चिकित्सकों में पूयोत् होती है, इस विषय पर मतवैभिन्न्य मिलता है[1]। एक सम्प्रदाय केवल कारण मानता है, और कहता है कि कालान्तर में प्रवृद्ध हुआ पित्त से वात और कफ को विवश करके रक्त को पका देता है और यही लाता है। दूसरा सम्प्रदाय केवल एक दोष (पित्त) को कारण न मान दोषों के सन्निपात को कारण मानता है। क्योंकि 'वायु के बिना

---

[1] आमं विपच्यमानञ्च सम्यक् पक्वञ्च यो भिषक्।
जानीयात्स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः॥
वाताहृते नास्ति रुजा न पाकः पित्ताहृते नास्ति कफाच्च पूयः।
तस्मात्समस्ताः परिपाककाले पचन्ति शोफास्त्रय एव दोषाः॥
कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य।
पचत्यतः शोणितमेव पाको मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः॥ (सु०

ती, पित्त के विना पकने का कार्य नहीं होता, और कफ के विना पूय नहीं ता । अस्तु, परिपाक के समय में तीनों दोष मिलकर कार्य करते हैं और शोफ पका देते हैं ।' इनमें दूसरा पक्ष अधिक सम्मत, विशेषत: सुश्रुत को मान्य है । इन सिद्धान्तों को यदि विवेचना की जाय तो प्रथम के अनुसार रक्त से पूय ता है, और दूसरे के अनुसार कफ से । इसमें सन्देह नहीं कि शोफ-स्थान पर तरल पाकोत्पत्ति के बाद बनता है, वही पूय (Pus) है । पाक-क्रिया को ग्रेजी में Suppuration कहते हैं ।

पाक होने के अनन्तर जो तरल या पूय बनती है यदि उसका विश्लेषण या जावे तो उसमें मृत सेल, मृत पूयजनक जीवाणु, मृत श्वेतकण, कभी कभी वित जीवाणु और जीवित श्वेतकण तथा लाल कण भी होते हैं । पूय का गाढ़ा ग इन्हीं पदार्थों का रहता है, शेष भाग तरल होता है जो रक्त का बनता है । य में १० भाग ठोस पदार्थों का और शेष ९० भाग तरल द्रव्यों का होता है । दि रक्त को द्रव भाग के रूप में और कफ को ठोस भाग के रूप में समझें तो श्रुतोक्त दोनों सिद्धान्तों के मिश्रण से किस प्रकार रक्त और कफ के द्वारा पूय नता है, स्पष्ट हो जाता है । रक्त और कफ में यदि कारण और कार्य ा सम्बन्ध मान लिया जावे यो प्राचीन दोनों सिद्धान्तों में भी कोई अन्तर हीं आता ।

इसके अतिरिक्त कई बार पूय में जीवाणु नहीं मिलते, जैसे यकृत्-विद्रधि से यों के बीजवाहिनी की विद्रधि (Pyosalpinx) से जो पूय निकलता है, समें जीवाणुओं का अभाव रहता है । इस प्रकार के पूय को जीवाणु रहित य (Sterile pus) कहते हैं । जीवाणु के न रहते भी पूयोत्पत्ति हो जाती । फलत: ऐसी जगहों पर जो पूय बनती है, वह रक्त से ही बनती है ।

व्रणशोफ की चिकित्सा

१. अपतर्पण[1]—सभी प्रकार के शोफ़ों में हितकर और आशुकारी होने से पतर्पण की क्रिया को शोफों में आद्य, सामान्य और प्रधान उपक्रम बतलाया

---

[1] अपतर्पणमाद्य उपक्रमः । एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च । वाते सामेऽपि हितम् ॥

गया है। अपतर्पण का यहाँ पर अर्थ होता है 'अभोजन' रखना या कराना। दोषानद्ध प्राणी के दोषोच्छ्राय जब तक शान्त न हो जायं अपतर्पण करते रहना चाहिये। परन्तु ऊर्ध्वमारुततृष्णाक्षुन्मुखशोषग्र (ऊर्ध्ववायु, तृष्णाधिक्य, भूख की अधिकता, मुख का सूखना) रोगि गर्भिणी, बाल, वृद्ध, दुर्बल और भीरु-प्रकृति के पीडितों में उस आवश्यकता नहीं पड़ती। वातिक शोफों में भी यदि आम का आधिक्य लङ्घन ठीक है।

२. **आलेप**[1]—औषध द्रव्यों के योग से होने वाले उपचारों में आ प्रथम उपचार माना गया है। शोफ के उत्पन्न होते ही दोषानुसार वातशोफों में मातुलुङ्गादि आलेप, पैत्तिक शोफों में दूर्वादि आलेप, श्लैष्मि में अजगन्धादि लेपों का एकैक प्रयोग करना चाहिये। आलेप शोफ की वे शमन कर देता है, जिस प्रकार जलते हुए घर को ठण्डे पानी का छिड़का कर देता है। आलेप के द्वारा शोथों का प्रह्लादन, शोधन, हरण, उत्सा रोपण भी हो जाता है।

आलेप या लेप प्रतिलोम करना चाहिये, अनुलोम नहीं। प्रतिलोम औषधि ठीक-ठीक लग जाती है। रोमकूपों में प्रवेश करती है और सिराओं के मुखों में प्रवेश करके अपने गुण को भी करती है। जब जाय तो उसको हटा लेना चाहिये। सूखा लेप निरर्थक और पीडाकर हो हाँ, कुछ अवस्थाओं में, जैसे—व्रण में पीडन की आवश्यकता रहने पर सूखा करके उतारना चाहिये।

लेप कई प्रकार के हो सकते हैं। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने उसके कुल भेद बतलाये हैं—

शोथ की अवस्था में	१. स्नैहिक २. निर्वापण ३. प्रसादन ४. स्तम्भन ५. विलयन	६. पाचन ७. पीडन ८. शोधन ९. शोषण १०. सवर्णीकरण	व्रण की अव

---

[1] आलेप आद्य उपक्रमः। एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च।

इनमें प्रारम्भिक ५ प्रकार के प्रयोग शोथ–शमन के व्यवहारों में आते हैं। सुश्रुतके अनुसार लेप ३ प्रकार के होते हैं—[1]

लेप

प्रलेप	प्रदेह	आलेप
शीत, तनु, क्लेद को सुखाने वाला या न सुखाने वाला (अविशोषी विशोषी च)	१–उष्ण या शीत मोटा या पतला क्लेद का शोषक नहीं (अविशोषी)	१–सभी बातों में मध्यम
क्त-पित्त का प्रसादन करता है। इस लिये क्त-पैत्तिक शोफ में युक्त होता है।	२–वातश्लेष्मजन्य शोफ में सन्धानीय शोधन, रोपण शोफ और पीड़ा-शामक। इसी का उपयोग व्रणों में भी हो सकता है, उसे 'निरुद्धालेपन' या 'कल्क' भी कहते हैं।	२–शोफ की अविदग्धावस्था में दाह, कण्डू एवं पीड़ा को दूर करता है। इसके द्वारा त्वचा, रक्त और मांस को प्रसन्न करता है। मर्मस्थान एवं गुह्य प्रदेश के रोगों में हितकर है। आलेप द्रव्यों में स्नेह मिली होनी चाहिये। उसकी मात्रा दोषानुसार इस प्रकार है–पैत्तिक रोगों में $\frac{१}{६}$ भाग स्नेह श्लैष्मिक „ $\frac{१}{८}$ „ „ वातिक „ $\frac{१}{४}$ „ „ रात में आलेप का प्रयोग नहीं होना चाहिये।

---

[1] स च त्रिविधः। प्रलेपः प्रदेह आलेपश्च। तत्र प्रलेपप्रदेहयोरन्तरं–तत्र प्रलेपः स्तनुरविशोषी विशोषी वा, प्रदेहस्तूष्णः शीतो वा बहलोऽबहुरविशोषी च। मध्यमोऽ- पः। तत्र रक्तपित्तप्रसादकृदालेपः प्रदेहो वातश्लेष्मप्रशमनः शोधनो रोपणः, वेदनापहश्च, तस्योपयोगः क्षताक्षतेषूपयुज्यते स भूयः 'कल्क' इति संज्ञां लभते द्धालेपनसंज्ञः, तेनास्रावसन्निरोधो मृदुत पूतिमांसापकर्षणमनन्तरदोषता व्रणशुद्धिश्च ति। (सु० सू० १८)

लेप की मात्रा—लेप की मोटाई की मात्रा[१] भैंसे के गीले चमड़े
के समान होनी चाहिये।

प्रदेह-साध्य व्याधियों में विशेषतः रक्त, पित्त, अभिघात और
व्याधियों में दिन में ही लेप करना प्रशस्त है। पर्युषित लेप का कदा
नहीं करना चाहिये। सूखे हुए लेप के ऊपर दूसरा लेप (उपर्युपरि
कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि कड़ा होने के कारण वह गर्मी, पी
दाह को पैदा करता है। एक समय सूखे हुए प्रलेप को गीला कर फि
नहीं करना चाहिये। क्योंकि शुष्क हो जाने से वह लेप निर्वीर्य हो
और उसका प्रयोग व्यर्थ होता है।[२]

३. परिषेक—वेदना की शान्ति के लिये—

वातिक शोफों में—घी, तैल, धान्याम्ल, मांसरस, वातघ्न औष
के क्वाथ से परिषेक करना चाहिये।

पित्त, रक्त, अभिघात एवं विषनिमित्त शोफों में—क्षीर,
शर्करोदक, इक्षुरस, मधुरौषध, क्षीरिवृक्ष-कषाय आदि द्रव्यों के द्वारा
सिंचन करना चाहिये।

श्लैष्मिक शोफ में—तैल, मूत्र, क्षारोदक, सुरा, शुक्त आदि
औषधियों के क्वाथ से गर्म-गर्म परिषेक करना चाहिये।

जिस प्रकार जल से सिंचित होने पर अग्नि शान्त हो जाती है,
शोफ में कुपित हुए दोषों की अग्नि परिषेक से निवृत्त हो जाती है।

४. अभ्यङ्ग—वातिक और श्लैष्मिक व्याधियों में तैल के द्वारा
रक्त तथा विषादि से उत्पन्न शोफों में शतधौत घृत के द्वारा

---

[१] आर्द्रमहिषचर्मोत्सेधप्रमाणा।

[२] प्रतिलोममालिम्पेत। प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति
स्वेदवाहिभिश्च सिरामुखैर्वीर्यं प्राप्नोति। न च शुष्यमाणमुपेक्षेत अन्यत्र
शुष्को ह्यपार्थको रुक्करश्च।

प्रदेहसाध्ये व्याधौ हितमालेपनं दिवा। पित्तरक्ताभिघातोत्थे सविषे च विशेषतः
न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत्। उपर्युपरि लेपं च न कदाचित् प्रदापये
ऊष्माणं वेदनां दाहं घनत्वाज्जनयेत् स हि। न च तेनैव लेपेन प्रदेहं दापये
शुष्कभावात्स निर्वीर्यो युक्तोपि स्यादपार्थकः॥ (सु० सू० १८)

लिश करना चाहिये। इसके द्वारा दोषों का उपशम हो जाता है, शोफों में दुता आ जाती है। आजकल पंचगुण तैल का अभ्यङ्ग सामान्यतया व्रणशोफ हितकर होता है।

५. **स्वेद**—रुजावान्, दारुण (रूक्ष) और कठिन (स्थिर) व्रणशोफों स्वेदन करना चाहिये। इस क्रिया के द्वारा रक्तसंचार बढ़ जाता है, उष्ण जल परिषेक से भी यही काम होता है। रक्तप्रवाह बढ़ जाने से स्थानिक विष षित हो जाता है, शोथ शान्त हो जाता है।

६. **विम्लापन**—कठिन और मन्द पीड़ावाले शोफों में विम्लापन का कार्य धिक लाभप्रद होता है। विम्लापन का अर्थ होता है, स्वेदन करने के पश्चात् थस्थान का मर्दन करना। 'शोफस्थान पर अभ्यङ्ग एवं स्वेदन करने के श्चात् वेणु नाड़ी (बाँस के चोंगे) के द्वारा या अङ्गूठे और अङ्गुली के जरिये पाणि पाद के तलवे या अङ्गूठे के सहारे धीरे-धीरे मर्दन करना चाहिये।'

७ **उपनाह**—शोफ का प्रशम या पाचन कराने के लिये तीसी आदि उष्ण- र्य द्रव्यों को पीस कर और गरम करके कपड़े से बाँधना चाहिये। अंग्रेजी में से पुल्टिस (Poultice) कहते हैं। उपनाह की क्रिया शोफ की दोनों वस्थाओं में की जाती है। अविदग्ध या आमावस्था में इसके द्वारा शोथ शान्त हो जाता है। विदग्धावस्था या किञ्चित् पक्वावस्था में प्रयोग करने से शोथ में ल्दी पाक हो जाता है।

८. **पाचन**—उपनाह का ही एक भेद है। यदि अपतर्पण से लेकर विरेक र्यन्त उपचारों के बावजूद भी शोथ का प्रशम न हो तो पाचन ओषधियों के ोग से उसका संपाचन करना चाहिये। मिश्रकाध्यायोक्त शणमूलक-बीजादि व्यों को सम भाग में लेकर उसमें चतुर्गुण दधि, तक्र, सुरा, शुक्त, धान्याम्ल ादि दव्यों को मिलाकर, नमक डालकर लप्सिका बनाकर शोफस्थान पर रखकर रण्डपत्र से आच्छादित कर के बाँधना चाहिये।

९. **शोणित-मोक्षण**—शोफ में वेदना और पाक से बचाने के लिये रक्ता- सेचन करना चाहिये। यह क्रिया अचिरकालजात शोफ में ही हितकर होती है। इसलिये शोफ का उद्भव होते ही रक्तमोक्षण करना चाहिये। इसके अति- रक्त कठिन, श्यामवर्ण, रक्तवर्ण, वेदनावान्, विशालमूल एवं सविष व्रणों में रक्त

विस्रावण किया जाता है। इसके द्वारा रक्त का दबाव कम हो जाता है, ए का शमन हो जाता है।

१०. स्नेहपान—सोपद्रव शोफों में अथवा रूक्ष, कृश एवं कृ रोगियों में दोषानुसार सिद्ध स्नेहपान कराया जाता है।

११, वमन—उत्सन्नमांस शोफ, कफाक्रान्त शोफ और ईषत् कृष्ण वाले शोफों में प्रच्छर्दन करना चाहिये।

१२. विरेचन—वात पित्त प्रदुष्ट शोफों में तथा दीर्घकालानुबन्धी श विरेचन की क्रिया हितकर होती है।

शोफ की चिकित्सा में जितने भी उपाय बतलाये गये हैं, उनका प्रधान रक्ताधिक्य को कम करना होता है। इसलिये कई अन्य सामान्य उपक्रमों ग्रहण और किया जा सकता है[1]। जैसे—

१. अङ्ग (शोफयुक्त) को ऊंचा करके रखना।
२. रोगी को खुले वातायन वाले गृह में रखना।
३. भोजन हल्का और सुपाच्य रखना।

यदि शरीर के किसी अङ्ग में शोफ छोटा या बड़ा उत्पन्न हो तो उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। प्रारम्भ से ही आलेप, उपनाह आदि योग्य द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

आलेप, रक्तस्रावण, संशोधन इत्यादि उपायों को योग्य समय औ द्वारा प्रयुक्त करने पर बहुधा शोफ का शमन होता है और वह पकता यदि उपचार करने पर भी प्रशम न हो सके तब भी लाभ ही होता है अङ्गों में समान रूप से पकता और फैलता है; परन्तु बहुत नहीं फैल दोषों को इकट्ठा करके ऊपर को उठ जाता है।

पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार पक्वावस्था का ठीक ज्ञान कर लेना चाहिये अवस्था विद्रधि की होती है। ठीक इस अवस्था में छेदनादि शस्त्रकर्मों का अवलम्बन करके पूय का निर्हरण करना चाहिये।

---

[1] आदौ विम्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचकम्। तृतीयमुपनाहञ्च।

इन तीन मुख्य क्रियाओं के अन्दर विस्तार से लिखी अपतर्पण से विरे बारह क्रियाओं का समावेश है।

वायु से प्रेरित होकर अग्नि जैसे तृणसमूह में प्राप्त होकर उसको हठात् ला देता है, उसी प्रकार बाहर न निकाला हुआ पूय मांस, सिरा और स्नायु ादि में प्राप्त होकर उनको खा डालता या नाश कर देता है। अथवा गहरा या ड़ा अवकाश बनाकर नाडी पैदा करता है। जिससे शोथ कष्टसाध्य या असाध्य जाता है।

इसके विपरीत की आमावस्था में शरीर के शत्रु तथा रक्षक आपस में ले रहते हैं, रक्त का आधिक्य होता है, त्याज्य द्रव्य एक स्थान में एकत्रित नहीं ता और बाह्य त्वचा जिसमें से होकर पूय निकलती है, मृत नहीं हुई रहती। तः इस अवस्था में चीरा देने से शरीर के धातुओं का अधिक नाश, रक्त का धिक स्राव, शरीर के त्याज्य पदार्थों का भी शरीर में शेष रह जाना, वेदना ादि हानिकारक घटनायें होती हैं।

पक्वावस्था में त्याज्य पदार्थ एक स्थान में पूय के रूप में एकत्रित हुए मिलते । शरीर इनको बाहर निकलना चाहता है और त्वचा के किसी निर्बल स्थान फाड़कर बाहर निकाल देता है। परन्तु यदि पूय अधिक गहराई पर स्थित ति की वजह से बाह्य त्वचा को फाड़कर अपने आप बाहर आने में असमर्थ हो र उस समय यदि चिकित्सक अपनी अज्ञतावश उसको शस्त्रकर्म के द्वारा कालने का उपाय न करे तो वह पूय रक्तवाहिनियों के साथ और आवरणों के चे कई दिशाओं में फैलकर शरीर के अन्य धातुओं को हानि पहुंचाता है। स्तु, शोथ पक्व होते ही भेदन करके पूय को बाहर निकालना चाहिये।

'जो आमावस्था में शोथ को चीर देता है तथा जो पक्वावस्था में उसकी क्षा करता है, वे दोनों अज्ञान के कारण व्याधि का निश्चय करने में असमर्थं चाण्डाल के समान समझे जाने चाहिये[1]।'

विद्रधि या पक्व शोफ की चिकित्सा[2]—(Abscess)

पाटन कर्म—विद्रधि की एक मात्र चिकित्सा है—उसको खोलकर पूय को काल देना।[3] इसके लिये कई उपाय काम में लाये जाते हैं। विभिन्न अवस्थाओं उनकी उपयोगिता भी है। उदाहरणार्थ—

---

[1] यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते। श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ॥

[2] सु. चि. १.

[3] चतुर्थी पाटनक्रियाम्।

१. छेदन— मेद, कफ, ग्रन्थि, मांसकन्द आदि न पकने वाले रोगों
वल्मीक आदि ईषत् पाक होने वाले रोगों में, कठिन, स्थिरमूल व्याधियों
स्नायुकोथ प्रभृति रोगों में छेदन के द्वारा दोष का निर्हरण करना चाहिये।

२. भेदन—ऐसी विद्रधि जिस में पूय भरा हो; परन्तु मुख नहीं हो
उत्सङ्गवान् व्रणों में (Pockets) तथा गतियुक्त (नाडी युक्त With
व्रणों में भेदन के द्वारा पूय का निर्हरण करना चाहिये।

३. दारण--बालक, वृद्ध, असहनशील, क्षीण, भीरु और स्त्रियों
मर्मों के स्थान पर यदि विद्रधि हो तो इन अवस्थाओं में शस्त्र के द्वारा
निर्हरण करना शास्त्र के द्वारा असम्मत है। वैसी दशा में शोथ की
एवं दोष की पिण्डितावस्था का ज्ञान कर के अच्छी तरह से पिसे हुए चि
दि योगों के द्वारा या प्रतिसारणीय क्षार के सहारे त्वचा पर ले
दारण के द्वारा शल्य (पूय) का निर्हरण होना चाहिये।

इस कार्य में जब पूय उत्तान अर्थात् त्वचा के पास आ गया हो
लाभ होता है। इस के पूर्व पीडन-द्रव्यों के कल्क को भी शोफ
लगाना चाहिये।

४ लेखन—कुछ ऐसे भी शोफ-स्थान होते हैं, विशेषतः कठि
और वृत्तौष्ठ व्रण या कठिन और उठे हुए मांस वाले ओष्ठ के व्रण; जिन
के द्वारा पूरा कार्य नहीं हो पाता अर्थात् बार-बार दीर्यमाण होकर भी
निर्हरण नहीं हो पाता। इन व्रणों में लेखन का कर्म करना चाहिये। इ
में शस्त्र का व्यवहार करना चाहिये।

(क) मांस-हीन कठिन व्रणों में-समान, हीन या अधिक आवश्यक

(ख) स्थूल और वृत्ताकार ओष्ठ वाले व्रणों में — सुलिखित-अति
करना चाहिये।

(ग) पुनःपुनः दीर्यमाण व्रणों में— निरवशेष लेखन होना चाहिये।

(घ) कठिन और उभरे हुए मांसयुक्त व्रणों में — वर्त्म की मात्रा
चारो पार्श्वों में लेखन करना चाहिये।

यदि लेखन के लिये शस्त्र का अभाव हो, फिर भी लेखन (S
खुरचना) परमावश्यक हो तो—क्षौम (अतसी का कपड़ा), प्लोत(

पड़ा), पिचु (कपास की तूल), समुद्रफेन, यवक्षार, सैंधव नमक और कर्कश त्र (खुरदरी पत्ती) इन द्रव्यों में से किसी एक के द्वारा रगड़ना या खुरचना ाहिये ।

५. **एषण**--यह कार्य केवल उत्सङ्ग वाले व्रणों (With pus Pockets) या नाडीव्रणों (Sinus or Fistula) में किया जाता है। कई बार ल्ययुक्त व्रणों में शल्य का निर्हरण करने की दृष्टि से भी यह कार्य किया जाता । एषण कर्म में कई द्रव्यों का यथालाभ प्रयोग किया जाता है[१] ।

करीर, पोई आदि शाकों के अङ्कुर, बाल-हाथी या शूकर के केश, अङ्गुलि - ोष्ठस्थ अथवा विवृत मुख वाले व्रणों में अङ्गुलि के द्वारा भी एषण हो सकता है या एषणी-शलाका शस्त्र के द्वारा ।

नेत्र-वर्त्म, गुद के समीप-भागों में यदि ऋजु या वक्र नाड़ी व्रण हों और नके मुख अल्प हों तो चुञ्चु, पोई आदि शाकों के कोमल अङ्कुरों के द्वारा एषण ा कार्य करना चाहिये ।

६. **आहरण**—यदि व्रण स्थानों में कोई विजातीय पदार्थ पड़ा हो और व्रण ा मुख संवृत अथवा असंवृत हो तो यथोक्त विधि के अनुसार मुख को चौड़ा रके शल्य का निर्हरण करना चाहिये ।

७. **विस्रावण** (व्यधन)—यह कार्य शोफ एवं विद्रधि से साक्षात् सम्बन्धित हीं, बल्कि परम्परया सम्बन्धित है । व्यधन नामक शस्त्रकर्म का व्यवहार विशेतः मूत्रवृद्धि और दकोदर रोगों में जलविस्रावण के लिये होता है। इस कर्म ा विशेष वर्णन और विधि का उल्लेख उन उन अधिकारों में किया जावेगा।

कई बार विद्रधि में भी प्रत्यक्षतया व्यधन नामक शस्त्रकर्म करने का विधान । जैसे-'यदि पाकस्थान बहुत दूरी में विस्तृत हो तो दो या तीन अङ्गुल के न्तर से कई स्थानों पर शस्त्रनिपातन कर के व्यधन के द्वारा दोष का विस्रावण रना चाहिये[२] ।' व्यधन और विस्रावण के कार्यों में साम्य होने से, कारण और ार्य का सम्बन्ध होने से एक ही साथ दोनों कर्मों का वर्णन समझना चाहिये ।

---

[१] यन्त्रों के अध्याय में एषणी का कार्य विस्तृत रूप से दिया गया है।

[२] 'महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वा शस्त्रनिपातनम्' । डल्हण ।

८ सन्धान या सीवन—यदि व्रण सद्यः हुआ हो, पाकोपद्रव-र व्रण यदि मांसस्थ हो, मुख यदि चौड़ा (विवृत) हो तो इन व्रणों के संयोजन (सन्धान) कर के सीवन कर्म करना चाहिये ।

इस प्रकार सूत्रस्थानोक्त व्रणशोफ की चिकित्सा के संक्षिप्त सूत्र मे कर्म के द्वारा पक्व शोफ की चिकित्सा बतलाई गई है। इस एक कर्म के विशद रूप से विचार करने पर छेदन से लेकर सीवन पर्यन्त नौ कर्मों का वेश हो जाता है।

अब तक व्रणशोफ की आम, पच्यमान और पक्वावस्थाओं का वर्णन रहा। जब पूय का निर्हरण हो गया, पक्वस्थान का मुख खुल गया, पू का स्राव होने लगा तो एक दूसरी अवस्था आ गई, इस अवस्था को व्रण क

व्रण (Ulcer)

आगन्तुक या निज कारणों से स्थानिक शरीर-परमाणुओं का नाश त्वचा या श्लैष्मिक त्वचा के पृष्ठ पर जो खुला हुआ घाव बन जाता है, व्रण कहते हैं।

कारणों के अनुसार व्रण भेद

शारीरिक	आगन्तुक
१—पवन	पुरुष, पशु, पक्षी, व्याल, सरीसृप,
२—पित्त	पीडन, प्रहार, अग्नि, क्षार, विष, ती
३—कफ	शकल, कपाल, शृङ्ग, चक्र इ
४—शोणित	शक्ति, कुन्त आदि आयुधाभि
५—सान्निपातिक	होने वाले।

पुनः शारीरिक वर्ग में भी दोषोपल्लव अर्थात् दोषों के तारतम्य संक्षेप में पन्द्रह भेद होते हैं—यदि विस्तार से विचार किया जावे तो मल, आदि के संसर्गों से बने असंख्य भेद हो सकते हैं। इसके अतिरि

---

१. आदौ विम्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम् ।
तृतीयमुपनाहञ्च चतुर्थीं पाटनक्रियाम् ॥

द्ध व्रण का भी भेद, है जो सब प्रकार से दोषोपप्लव से रहित हो । मोटे हिसाब कुल मिलाकर सोलह भेद माने जाते हैं ।[1]

भेद व्याख्या एवं लक्षण—व्रणों में दो प्रकार के लक्षण मिलते हैं— सामान्य एवं २. विशेष ।

सामान्य (शुद्धव्रण)

१—रुक्—पीडा मात्र का होना ।

२—गात्रविचूर्णन—गात्र का (शरीर का) विचूर्णन करना ।

३—व्रणयतीति—गात्र वैवर्ण्य करना है, इसलिए व्रण कहा जाता है ।

३—वह भर जाने पर भी अपने स्थान को आच्छादित करता है, और सका चिह्न (व्रणवस्तु) जीवन-पर्यन्त नष्ट नहीं होता । इसलिये तद्विद्य उसको कहते हैं[2] ।'

उपर्युक्त लक्षण सामान्यतया शुद्ध व्रणों में पाये जाते हैं । व्रणवस्तु शब्द दो प्रकार के अर्थ किये जाते हैं ।

१—व्रणाधिष्ठान—व्रण होने के आठ स्थान–'त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, स्थि, सन्धि, कोष्ठ और मर्म ये आठ व्रणवस्तु हैं ।'

२—व्रण का चिह्न–अंग्रेजी में इस प्रकार चिह्नों को साइकेट्रिक्स या कार (Cicatrix or scar) कहते हैं । व्रणों का रोपण हो जाने पर इस रह के चिह्न बनने का मतलब होता है, उस स्थान पर नष्ट हुए शारीरिक रमाणुओं की पूर्ति का अभाव । यदि नष्ट हुए कोषाओं के स्थान पर उसी कार की कोषायें बन जावें तो व्रण का पूर्ण रोपण हो जाने के पश्चात् उसका ह्न यावज्जीवन दिखाई देने का कोई कारण नहीं है ।

मनुष्य का शरीर अनेक प्रकार के परमाणुओं (Cells) का बना हुआ इन अनेक जातियों में प्रत्येक जाति के सेलों में अपनी ही जाति के सेलों के

---

[1] द्वौ व्रणौ भवतः । शारीर आगन्तुश्च । दोषोपप्लवविशेषः पुनः समासतः पञ्चदश- रः प्रसरणसामर्थ्यात् यथोक्तव्रणप्रश्नाधिकारे; शुद्धत्वात् षोडशप्रकार इत्येके ।

[2] व्रण-गात्रविचूर्णने । व्रणयतीति व्रणः ।

वृणोति यस्माद् रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति ।
आदेहधारणात् तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैः ॥

पुनर्जनन (Regeneration) की शक्ति होती है। इस शक्ति को सभी जातियों में नहीं रहती। कतिपय धातुओं में, जैसे–धारीदार मांस, कंडरा, वातनाड़ी और ग्रन्थियों में पुनर्जनन की शक्ति पूर्ण होती है। और उपत्वचा के परमाणुओं में अल्प होती है। सुषुम्ना के सेलों में ही नहीं।

व्रण प्रायः बाह्य त्वचा में होता है, परन्तु त्वचा के सेलों में पुन शक्ति अल्प होने की वजह से नष्ट हुए सेलों के स्थान पर जो व्रणव है, वह अन्य प्रकार के सेलों से बनती है। इसका परिणाम यह होता घाव का स्थान सन के सूत की भाँति तन्तुओं से आच्छादित हो प्रारम्भिक अवस्था में इस सौत्रिक धातु (fibrous tissues) में नियाँ होती हैं, परन्तु धीरे २ रक्तवाहिनियां नष्ट हो जाती हैं और चारो ओर की धातुओं की अपेक्षा विवर्ण हो जाता है। इस धातु में नाड्यग्र, रोमकूप, स्वेदग्रन्थि और तैलग्रन्थियाँ भी नहीं होतीं।

यदि व्रणौष्ठों का सन्धान ठीक से मिलाकर किया गया हो तो व्रणव कम बनता है। परन्तु यदि अधिक स्थान का नाश हुआ हो तो व्र इसी प्रकार के धातु से आच्छादित होता है। अस्तु, इस प्रकार का आदेहधारण (जीवन पर्यन्त) पड़ा रहता है।

व्रणों के विशिष्ट लक्षण—इन लक्षणों में दुष्टव्रण के ही चिह्न पाये

१. वातजन्य—श्याव या अरुणाभ, शीत, पिच्छिल, अल्पस्रावी चटचटायनशील, निर्मांस, स्फुरण, आयाम, तोद, भेद, वेदना-बहुल होता

२. पित्तजन्य—शीघ्रजन्मा, पीतनीलाभ, किंशुकोदकाभ, उष्णस्रावी पाकरागविकारवान्, पीले रङ्ग की पिटिकाओं से युक्त होता है।

३. कफजन्य—सदैव तीव्रकण्डूयुक्त, स्थूलौष्ठ, स्तब्ध, सिरा स्नायु तना हुआ, कठिन, पाण्डवभास, मन्दवेदनायुक्त, शुक्ल, शीत, सान्द्र, स्रावी और गुरु होता है।

४. रक्तजन्य—प्रवाल के काण्ड-सदृश रक्त वर्ण का, काले रङ्ग और पिडिका से युक्त, तुरङ्गस्थानगन्धी (तीक्ष्ण क्षार की गन्ध वेदनावान्, धूमायनशील, रक्तस्रावी एवं पित्त-लक्षण युक्त होता है।

५. **वातपित्तजन्य** – तोद, दाह, धूमायनप्राय, पीतारुणाभ और पीताभस्राव वाला होता है ।

६. **वातश्लेष्मजन्य**—कण्डूयनशील, निस्तोद, रूक्ष, गुरु, दारुण, मुहुः शीतपिच्छिलस्राववान् होता है ।

७. **पित्तश्लेष्मजन्य**—गुरु, दाह, उष्ण, पीत या पाण्डुस्राव वाला ता है ।

८. **वातशोणितजन्य**—रूक्ष, तनु, तोदबहुल, सुप्तसदृश, रक्तारुणाभ और र्णस्राव वाला होता है ।

९. **पित्तशोणितजन्य**—घृत या मण्डाभ स्राव, मीनधावन-जलसदृश (मछली धोये पानी के समान) गन्ध वाला, मृदु, विसर्पी, उष्ण और कृष्ण ववान् होता है ।

१०. **श्लेष्मशोणितजन्य**—रक्तवर्ण, गुरु, पिच्छिल-स्राववान्, कण्डू-य होता है, स्थिर, रक्त वर्ण का स्राव होता है ।

११. **वातपित्तशोणितजन्य**—स्फुरण, तोद, दाह, धूमायन, पीत, तनु, त वर्ण का स्राव होता है ।

१२. **वातश्लेष्मशोणितजन्य**—कण्डू, स्फुरण, चुमचुमायन, पाण्डु वर्ण, न रक्त स्राव होता है

१३. **श्लेष्मपित्तशोणितजन्य**—दाह, पाक, राग, कण्डू, पाण्डु, घन कस्राव होता है ।

१४. **वातपित्तकफजन्य**—त्रिविध वर्ण वेदना और स्राव से युक्त होता है।

१५. **वातपित्तकफशोणितजन्य**—भस्मसात् करने के समान दाह, लोडन के समान पीडा, स्फुरण, तोद, दाह, पाक, राग, कण्डू, स्वपाकाधिक्य, ना प्रकार के वर्ण और वेदना वाला स्राव होता है ।

१६. **शुद्ध व्रण**—जिह्वा-तल के समान मृदु, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, वेदनाहीन, व्यवस्थित तथा स्रावहीन व्रण शुद्ध होता है ।

अवस्थाभेद से व्रणों के भेद (Stages of ulceration)

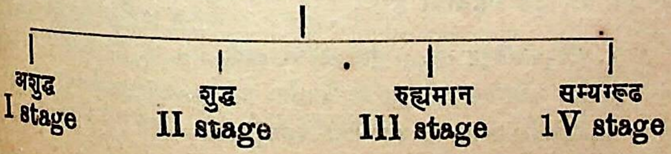

व्रण शोफ के विदीर्ण होने के पश्चात् से पूर्णतया रूढ होने के समय प्रधान अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है ।

१. **दुष्ट व्रण की अवस्था**[1] (Stage of proper ulcerat Extension)—इस अवस्था में दोष प्रबल होते हैं, धातुओं का नाश व्रण में पूय, रक्त आदि उपस्थित रहते हैं, दुर्गन्धयुक्त स्राव होता है, रहते हैं । व्रण के चारों ओर का भाग सुर्ख और शोथयुक्त होता है तल निचले धातुओं पर चिपका रहता है ।

'अति छोटा मुख, अति चौड़ा मुख, अति कठिन, अति मृदु, मांसहीन, अति ठण्डा, अति गरम, काला, लाल, सफेद इनमें से एक अनिश्चित लक्षणयुक्त, दुर्गन्धयुक्त पूय, मांस सिरा, स्नायु आदि से पू मुख, ऊर्ध्वगामी, देखने और गन्ध में विकृत, अति वेदनायुक्त, जल सुरखी, कण्डूशोथ, पिटिका इन से युक्त, अत्यन्त दुष्ट रक्त का स्राव का और चिरकाल तक रहने वाला ये दुष्ट व्रण के लक्षण होते हैं । दोषों अनुसार उसके छः भेद करने उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ।'

२ **शुद्ध व्रण की अवस्था** (Stage of Transition)—दूसरी में व्रण शुद्ध होता है, इस अवस्था में दोषों का प्राबल्य नष्ट होकर, धातुओं का नाश वन्द हो जाता है और रोपण की तैयारी होने लगती है लिये इस अवस्था में पूति-मांसादि वस्तुओं (Slough) का निकल दुर्गन्धयुक्त पूय और दुष्ट रक्त का निकलना वन्द हो जाता है । लाल पानी निकलता है । व्रण सुर्खी कम होने पर जिह्वातलाभ गुलाबी रं जाता है । तथा स्वच्छ और स्वस्थ दिखाई देता है ।

तल से छोटे-छोटे मांसाङ्कुर या पिटिकायें (Granulation) लगती हैं । जो आकार और संख्या में उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं ।

'जो तीनों दोषों से निर्मुक्त हो, जिसके ओष्ठ श्याववर्ण के हों, मांसाङ्कुर युक्त हो गया हो, जिसका मल सेम हो, जिसमें वेदना अत्यल्प हो, वह शुद्ध कहलाता है'[2] ।

---

१. पूतिपूयोऽतिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः ।
दुष्टो व्रणोऽतिगन्धादिशुद्धलिङ्गविपर्ययः ॥

२. त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः ।

३. रुह्यमान व्रण (Stage of repair)—इस अवस्था में व्रण-रोहण वेग से होता है। इस में रोहण धातु अधिक बनती है और सारे तल पर जाती है। पृष्ठ भाग मृदु, किञ्चित् निम्न, मध्य लाल और वेदना से रहित ा है व्रण के चारों ओर का भाग शोथ-रहित हों जाता है। किनारे कपोत श्वेत, नील और रक्त वर्ण तथा स्वस्थ दिखलाई देते हैं।[1]

'जिस व्रण का वर्ण कपोत के समान पाण्डु धूसर होता है, जिसमें आर्द्रता होती, जो स्थिर और सूक्ष्म मृदु त्वचा से युक्त होता है—वह भर रहा है समझना चाहिये।'

४. सम्यग् रूढ व्रण—प्राचीनों की कथित यह चतुर्थावस्था उपर्युक्त तृतीय स्था का ही एक भेद है।

'जब व्रण का मुंह भरकर साफ हो गया हो, जिस में मांस की गाठें न हों, में सूजन और पीडा न हो, जिसका रङ्ग चारों ओर की त्वचा के रङ्ग से मिल । जो सपाट हो उसको ठीक-ठीक भरा हुआ समझना चाहिये।'[2]

रुढावस्था में व्रण के नये उत्पन्न हुए रोहण धातु का परिवर्त्तन तान्तवीय ओं (Fibro cicatrical tissues) में हो जाता है। इसके ऊपर त्वचा एक पतला पर्त्त चढ़ जाता है। तथा त्वचा में सवर्णता आ जाती है। इसी व्रणवस्तु कहते हैं।

व्रण की इस प्रकार की दो अवस्थायें

१. स्वतन्त्र भी पाई जा सकती हैं।

२. एक ही व्रण में एक ही समय में भी पायी जाती हैं। अधिकतर व्रण ः इन दो अवस्थाओं में होता हुआ भी भर जाता है।

व्रणस्राव (Discharge)

अवेदनो निरास्रावो व्रणशुद्ध इहोच्यते ॥
जिह्वातलाभोऽतिमृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विवेदनः ।
सुव्यवस्थितो निरास्रावश्च शुद्धो व्रण इति ॥

[1] कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ।
स्थिराश्च पिटिकावन्तः रोहन्तीति समादिशेत ॥

[2] रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ।
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत ॥

व्रणाधिष्ठानों के अनुसार स्रावों का वर्णन—[१]घिसी या त्वचा में से तथा स्वयं या यत्न से फूटी हुई फुन्सी में से कुछ सा दुर्गन्धयुक्त पीला स्राव होता है। मांस में से निकलने वाला समान गाढ़ा, सफेद और लसदार होता है। सिरागत व्रण से सिरा कटी हो तो बहुत सा रक्त का स्राव होता है, पक्क हो पानी की नलिका से जल बहता है वैसे पूय बहता है। वह स्राव खण्डित, लसदार, गाढ़ा, काला ओस के समान प्रतीत होता है। का स्राव चिकना, गाढ़ा, नासिका से निकले हुए पीले श्लेष्मा (समान और रक्तयुक्त होता है। टूटने, फूटने या भिन्न होने से तथा दोषों होकर जब अस्थि व्रणयुक्त होती है, तो दोषों से भक्षित होने की हल्की और धोये हुये सीप के समान होती है और उससे मज्जमिश्रित चिकना स्राव होता है। सन्धिगत व्रणों में दबाने से स्राव नहीं आता; सिकोड़ने, फैलाने, ऊपर और नीचे को करने, चलने एवं फिरने, जोर और कुन्थन करने आदि क्रियाओं से स्राव होता है। लसदार चाशनी फेन, पूय तथा रक्त से आलोडित होता है। कोष्ठगत व्रणों से रक्त, पूय, जल का स्राव होता है। मर्मगत व्रणों का स्राव त्वचादि के आता है। अंतः उसके स्वतन्त्र उल्लेख की आवश्यकता नहीं।

दोषानुसार स्रावों का वर्णन

दोष	अधिष्ठान·त्वक्	मांस	स्नायु	सिरा	अस्थि
वातसे	परुष	कालेरङ्गका	दधिमस्तु सदृश।	कुहरे के सदृश	क्षारोदक
पित्तसे	गोमेदके सदृश	गोमूत्रवत्	शङ्खवत्	भस्मवत्	कषायोदक वत्
श्लेष्मा से	मक्खनवत्	कासीस सदृश	मज्जावत्	पिट्ठी के समान	तिल सदृश
सन्निपातसे	नारिकेलोदकवत्	ककड़ीके रस के समान	काञ्जी सदृश	आरुक नामक वृक्ष के स्वरस सदृश	प्रियङ्गु फलवत्

---

१. व्रणस्रावविज्ञानीयाध्याय। (सु. सू. २२)

२. पूर्वोक्त जो व्रणों के आठ अधिष्ठानों (त्वक्, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि, स्थि, कोष्ठ और मर्म) के अनुसार स्रावों का वर्णन हुआ है उनमें मर्म के तिरिक्त जो शेष सात स्थान हैं उनमें यथाक्रम वातादि दोषों के कारण उपर्युक्त कार के स्राव होते हैं।

रक्त से पित्त के समान ही स्राव होता है, परन्तु कच्चे मांस के समान बदबू ती है।

सर्व व्रणवेदना—दोषानुसार व्रणों में होने वाली पीड़ा का वर्णन किया वेगा। व्रणों से पीडित रोगियों को इतने प्रकार की वेदनायें होती हैं—इन नाओं के आधार पर इनका निदान आश्रित है।

वातिक वेदनायें— तोदन (सूची-वेधनवत्), भेदन (त्वचा के फटने के य), ताडन (डंडे से मारना), छेदन (काटना), आयमन (संकुचित अङ्ग को ाने के समान), मन्थन (व्रण के भीतर मन्थन हो रहा हो ऐसा अनुभव), विक्षेपण कने के तुल्य), चुमचुमायन (Tingling), जलन, अवभञ्जन (टुकड़े ड़े से होना), स्फोटन (व्रण के भीतर पत्थर से फोड़े जाने के तुल्य पीड़ा का नुभव होना), विदारण (नख से चीरने के समान), उत्पाटन (उखाड़ने सी पीड़ा), कम्पन, नाना प्रकार के शूल. विश्लेषण (अलग अलग करने के ल्य), विकिरण (व्रणस्थान जैसे अनेक स्थानों में तितर-बितर किया जा रहा हो), रण, स्तम्भन, स्वप्न (त्वचा की सुन्नता), आकुञ्चन (अकड़ जाना), अङ्कुशिका ङ्कुश के आघात होने वाली विशेष प्रकार की पीड़ा)—यदि रोगी इतने विविध कार की पीड़ाओं का जिक्र अपनी मुख्य व्यथा के इतिहास में करे अथवा जहाँ अकारण नाना प्रकार की वेदनायें उत्पन्न हों और जहाँ बार २ विशेष प्रकार व्यथा का दौरा आता हो, उसका निश्चित निदान वातदुष्ट व्रण होना चाहिये।

पैत्तिक वेदनायें—जहां जलन, चूसने के समान पीड़ा (चोष), परिदाह वं शरीर का दाह), धूमायन (व्रण से धुआँ सा निकलता मालूम होना), रीर पर अग्नि पड़ने के समान जलता हुआ मालूम होना, बहुत गर्मी बढ़ना, व पर क्षार डालने की सी पीड़ा इत्यादि विशेष वेदनाओं की मुख्य व्यथा पित्त दुष्ट व्रणों में होती है। रक्त दूषित व्रणों में भी पित्तवत् वेदनायें मिलती हैं।

श्लैष्मिक वेदनायें—कण्डू, भारीपन, सुन्नता, शरीर का लिप्त सा रहना,

अल्प पीडा, स्तब्धता, ठंडापन ये जहाँ पर हों वह व्रण कफदूषित है समझना चाहिये।

सान्निपातिक वेदनायें—जहाँ पर सब प्रकार की पीडा की वहां पर सन्निपात का निदान होना चाहिये।

व्रणों की वर्ण के द्वारा परीक्षा—

सान्निपातिक व्रणों में	वात दुष्ट व्रणों में	रक्तज तथा पैत्तिक व्रणों में	श्लैष्मिक
सर्व वर्णोंका मिश्रण होता है	भस्म सदृश कपोत के वर्ण सदृश अस्थि के सदृश स्पर्श में खुरदरा किंचित् काल और काला होता है	नीला, पीला, हरा, श्याव, काला, लाल कपिल और पिङ्गल होता है	सफेद, और का हो

व्रणों के सम्बन्ध में गन्ध, वर्ण, स्राव, वेदना आदि का संग्रह वर्ण गया है वह केवल व्रणों के विषय में ही है ऐसा नहीं समझना चाहिये। व्रणों भाँति सम्पूर्ण शोथयुक्त विकारों के लिये भी है[1] अर्थात् सार दोषों का ज्ञान शोफों में भी किया जा सकता है।

आधुनिक युग में भी व्रणों की परीक्षा करते समय इन बातों को दिया जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि आज के युग में चिकित्सा होती है। प्रचीन युग में गन्ध, वर्ण, आदि का दोषानुसार होता था। व्रणों की परीक्षा करते समय निम्नलिखित सात बातों का आवश्यक होती है। जैसे—

१—अधोभाग या तल (Base) की परीक्षा।
२—पृष्ठभाग (Surface) ”
३—स्राव (Discharge) ”
४—व्रणोष्ठ (Edges) ”
५—व्रणान्त (किनारे Margins) ”
६—व्रण के चारो ओर के धातुयें (Surounding
७—व्रण के अवस्थान (अधिष्ठान) (Situation)

---

[1] न केवलं व्रणेपूक्तो वेदनावर्णसंग्रहः। सर्वशोफविकारेषु व्रणवल्लक्षयेद्भिषक्॥

साध्यासाध्यता का ज्ञान—

१. व्यक्तित्व के अनुसार—सामान्यतया तरुण, दृढ शक्तिमान् और त्विक मनुष्यों के व्रण सुसाध्य होते हैं। जहाँ एक ही मनुष्य में ये चारों गुण तो उसके व्रण अत्यन्त सुखसाध्य होते हैं। इसका कारण यह है कि तरुण यों के व्रण बढ़ती हुई धातु होने से जल्दी ही भर जाते हैं। दृढ़ मनुष्यों में स्थिर और अधिक होने से उपयोग में लाया हुआ शस्त्र सिरा, स्नायु आदि र धातुओं में नहीं पहुंच पाता। इसलिये गहराई में स्थित धातु सुरक्षित रह ी है। मनुष्य यदि बलवान् हुआ तो शस्त्रकर्म के समय में उत्पन्न हुई ा तथा आहार के नियन्त्रणादि के कारण ग्लानि उत्पन्न नहीं होती। तथा त्विक पुरुषों में भयङ्कर क्रियाओं से भी व्यथा मालूम नहीं होती। इसीलिये व्यक्तियों में व्रण सुसाध्य होते हैं। वे ही व्रण वृद्ध, कृश, निर्बल और कातर यों में उपर्युक्त गुण से विपरीत होने के कारण कष्टसाध्य या असाध्य होते हैं।

२. स्थान के अनुसार—नितम्ब, गुद, शेफस्, माथा, कपोल, होंठ, पृष्ठ, न, अण्डकोष, उदर, ग्रीवामूल और मुख के भीतर के व्रण सुख से भर जाने े होते हैं।

आंख, दाँत, नासिका, अपाङ्ग, कान, नाभि, जठर, सेवनी, नितम्ब, पार्श्व, क्षि, कक्ष, स्तन और सन्धि भाग इन स्थानों के व्रण अथवा जिन से झाग, पीप र वायु निकले अथवा जिनके भीतर शल्य रह गया है वे व्रण दुःसाध्य होते हैं। ा ऐसे व्रण जिनकी नाड़ी नीचे की ओर और मुख ऊपर की ओर हो और सीमन्त समीपवर्ती भाग मर्म और जङ्घास्थि के व्रण भी दुःसाध्य होते हैं। सेवनी समी-ति कुकुन्दरास्थि (Ischium) संश्रित अन्तर्मुख भगन्दर भी दुःसाध्य होते हैं।

३. रोगानुसार—कुष्ठ, विषजुष्ट, राजयक्ष्मा, मधुमेह इन रोगों से पीडित यों के व्रण कष्ट से भरते हैं[१]। कारण यह है कि इन रोगियों में दोष (Toxins) सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होते हैं, जब तक उनकी सार्वदैहिक कित्सा की जावे, तब तक केवल स्थानिक उपचार से व्रण भरने की आशा रहती है।

---

[१] कुष्ठिनां विषजुष्टानां पिडिकामधुमेहिनाम्।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषाञ्चापि व्रणे व्रणाः॥

कुष्ठ में सर्वाङ्ग का रक्त विकृत होता है, कुष्ठ के जीवाणु पूरे शरीर मांस, रक्त और लसीका की खराबी कर देते हैं। इस लिये जब ये रो पीडित होते हैं, तब उनके व्रण भरते नहीं। मधुमेह में मधुर स्वभा तत्त्व शर्करा (चीनी) का नाश होता रहता है। राजयक्ष्मा में कारण रक्त-मांसादि धातु नहीं बनते। विषयुक्तावस्था में शारीरिक वि व्रण के धातुओं का नाश करता है। इस लिये ऐसे व्रणों का रोपण होता। इसी प्रकार के व्रणों के लिये आचार्यों ने 'दुष्ट व्रण' की सं आधुनिक शल्यतन्त्रीय ग्रन्थों में ऐसे व्रणों का वर्णन रोपण न होने (Nonhealing wounds) के नाम से प्राप्त होता है। रूप में मुख्यतया निम्न विकारों का दायित्व है। जैसे, अणु संक्रमण (Sepsis), विशिष्ट रोग क्षय, फिरंग एवं मधुमेह (T. B., lis & Diabeties), अंग को विश्राम न मिलना, गतिशीलता (ments), शल्य (Foreign body), तथा अनुरूप चिकित्सा (Lack of proper Treatment), स्थानिक उपचारों के रोगों की विशिष्ट चिकित्सा का अभाव।

अवपाटिका, विरुद्धप्रकश, सन्निरुद्धगुद, जठर-ग्रन्थिक्षत, कृमि, कुष्ठज व्रण, त्वक् रोग, प्रमेहपीडित रोगियों के व्रण, शर्करामेह, वातकुण्डलिका, अष्ठीला, दन्तशर्करा, अंकुश, कंठशालूक, दूषित दंत या सफाई न करने से खराब हुए दन्तमांस, विसर्पजन्य अस्थिक्षत, ग्रन्थि आदि रोगों में उत्पन्न हुए व्रण याप्य होते हैं।[१]

४. सच्चिकित्सा का अभाव—व्रण की चिकित्सा ठीक-ठीक वाले मनुष्यों के साध्य व्रण याप्य हो जाते हैं, याप्य असाध्य हो जा असाध्य प्राणों का नाश कर देते हैं।

५. अरिष्ट-लक्षण-युक्त-व्रण— गन्ध, वर्ण, रसादिक में प्रत्येक

---

[१] यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम्।
क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति॥
प्राप्ता क्रिया धारयति, याप्यं व्याधितमातुरम्।
प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधु योजितः॥

नुसार जो भाव होते हैं, उन में विकृति होने पर व्रणी मनुष्य की मरणो-
ता समझनीचाहिये ।

यदि व्रण से मद्य, अगुरु, घृत, जाती (चमेली), कमल, चन्दन, चम्पक के
न सुगन्ध मिले अथवा अलौकिक (दिव्य) गन्ध आने लगे तो व्रणी को
समझना चाहिये । कुत्ता, घोड़ा, कौआ, चूहा, पूयपुक्त शुष्क मांस,
ल इनके समान गन्धयुक्त व्रण, कीचड़ के समान गन्धयुक्त व्रण तथा भूमि
मान गन्धयुक्त व्रण हो जाय तो अनिष्ट की सूचना देतें हैं ।

जो व्रण खटखट, घुरघुर आदि ध्वनि करते हैं, जो जलनयुक्त प्रतीत होते
र त्वचा एवं मांस में रहने पर भी शब्द के साथ वायु को छोड़ते हैं,
भी गर्हित समझना चाहिये । (इस प्रकार की अवस्था गैस गैंगरीन में
जाती (है ।[1]

जो व्रण मर्मस्थानों पर न होते हुए भी अत्यन्त पीड़ा करते हैं, भीतर से
त गर्म और बाहर से ठण्डे होते हैं अथवा स्पर्श में बादूर से गर्म और
र से ठण्डे रहते हैं उन्हें भी अरिष्ट लक्षण युक्त समझना चाहिये ।[2]

शक्ति, ध्वजा, भाला, घोडा, हाथी, गाय, वृषभ इनकी आकृति तथा राज-
की आकृति जिनमें आभासित होती है और जो चूर्ण न छोड़ने पर भी
से अवकीर्ण दिखाई पड़ते है, वे अनिष्टकर होते हैं ।[3]

जो व्रण प्राणक्षय, मांसक्षय, कास, श्वास और अरोचक इन उपद्रवों से युक्त
है, जिनमें पूय और दुष्ट रक्त काफी होता है, अथवा जिनका अवस्थान मर्मो
ोता है, वे शरीर की प्रतिकार शक्ति (Lowered Vitality) के
ण असाध्य हो जाते हैं ।[4]

---

[1] क्ष्वेडन्ति घुर्घुरायन्ते ज्वलन्तीव च ये व्रणाः ।
त्वङ्मांसस्थाश्च पवनं सशब्दं विसृजन्ति ये ॥

[2] ये च मर्मसु सम्भूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ।
दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिः शीताश्च ये व्रणाः ।
दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ॥

[3] शक्तिध्वजरथाः कुन्तवाजिवारणगोवृषाः ।
येषु चाप्यवभासेरन् प्रासादाकृतयस्तथा ।
चूर्णावकीर्णा इव ये भान्ति चानवचूर्णिताः ॥

[4] प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः । प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषाञ्च मर्मसु ॥

संक्षेप में जब शरीर की प्राणशक्ति (Vitality) नष्ट हो जा योग्य ओषधियों के द्वारा चिकित्सा करने पर भी यश नहीं मिलता। प्राण शक्ति के अभाव में धातुओं तथा इन्द्रियों द्वारा प्रयुक्त ओषधियों पचन और उत्सर्जन सम्यक् न होने की वजह से उन का कार्य शरीर नहीं होता। प्राण शक्ति यदि पूर्णतया नष्ट हो जाय तो उत्तम से उत्तम भी कार्यकर न हो कर निष्फल हो जाती हैं। शरीर की प्रतिक्रिया पूर्ण नाश होना असाध्यता का निदर्शक होता है और यह एक प्र चिह्न है इसी लिये व्रणों के सम्बन्ध में यह उक्ति मिलती है।

'जो व्रण योग्य उपचारों से भी चिकित्सित होने पर अच्छे नहीं हैं को बुद्धिमान् वैद्य अपनी यश की रक्षा करने लिये त्याग दे।'[1]

६. धातुगत अवस्थितियों के अनुसार—एक ही वस्तु प्रथम में होने वाले और त्वचा को ही भेदन करके बाहर आने वाले व्रण होते हैं। इनके अतिरिक्त मांसादि धातुओं में सन्निविष्ट तथा अप जाने वाले व्रण दुःसाध्य होते हैं।

७. आकार के अनुसार—दीर्घ, चतुष्कोण, गोल और त्रिक साध्य व्रण के प्रकार हैं। इनके अतिरिक्त विकृत आकार के व्रण दुःसाध्य होते हैं।

८. पथ्यापथ्य के अनुसार—यथोक्त पथ्यकर—आहार-विहार वालों के और उत्तम वैद्य से चिकित्सित व्रण प्रायः जल्दी भर जाते हैं पथ्यकर आहार-विहार सेवन करने वालों तथा कुवैद्यों से चिकित्सित की वृद्धि हो जाने से दूषित हो जाते हैं। कई बार सम्यग्रूढ व्रण हो जाते हैं।

'दोषों के प्रकप से, परिश्रम से, चोट से, अजीर्ण से, हर्ष से, क्रोध भय से अच्छा हुआ व्रण भी फिर फट जाया करता है।'[2]

---

[1] क्रियाभिः सम्यगारब्धा न च सिद्ध्यन्ति ये व्रणाः।
वर्जयेत्तान् भिषक् प्राज्ञः संरक्षन्नात्मनो यशः॥ (सु० सू० २८)

[2] पथ्य—रूढेऽप्यजीर्णव्यायाम-व्यवायादीन्न योजयेत्।
हर्षं क्रोध भयं चापि यावत्स्थैर्योपसम्भवात्॥

९. काल के अनुसार—जैसे वृक्ष बड़ा होने पर नहीं उखाड़ा जा सकता, ही धीरे-धीरे बढ़कर सर्व धातुओं में फैला हुआ रोग शरीर से निर्मूल नहीं सकता। वह विकार स्थिर हो जाने से, बढ़ने से तथा धातुओं पर आक्रमण से औषधियों की कार्यकर शक्ति को विकल कर देता है, जैसे दुष्ट ग्रह मन्त्र भाव को निष्फल कर देता है।

इसलिये उपर्युक्त गुणों के विपरीत गुणयुक्त रोग सुखसाध्य कहलाता है। रोग, जमीन में थोड़ा ही गड़ा हुआ पौदा सदृश सुख से उखड़ जाना है।[1]

१०. स्राव के अनुसार—पक्वाशय से निकलने वाला पुलाकोदक के समान असाध्य होता है। रक्ताशय से क्षार सदृश पानी का स्राव वर्जित है। ाशय तथा त्रिक सन्धि से मटर-यूष के सदृश स्राव असाध्य होता है।[2]

वसा, मेद, मज्जा और मस्तिष्क धातु इनका स्राव जिन व्रणों से होता है वह आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हो (Accidentsl) तो सिद्ध हो सकता है। तु यदि वातादिक दोषों से उठा हुआ हो तो चिकित्सा में सिद्धि नहीं मिलती। से दूर सिरा, सन्धि और अस्थिवर्जित स्थान में हुआ व्रण जब चिकित्सा ने पर भी धातुओं में फैलता है, तब वह असाध्यता का सूचक है।

असाध्य व्रण—व्रणोष्ठों का मांसपिण्डवत् उठा होना अथवा घोड़े के ष्ठों के समान उठा होना (Eleveted edges), अत्यधिक पूय-स्राव-ाधिक्य, गोशृङ्गसदृश मांस कठिन या मृदु मांस-प्ररोह युक्त। दुष्ट रक्त या ला स्रवयुक्त किनारों का नीचे एवं भीतर धसा होना। व्रण के ऊपर सूत्र की भांति स्नायुतन्तु का जाल फैला होना जो देखने में भयानक वसा, मेद, मज्जा या मस्तिष्कवत् स्राव युक्त दोष समुत्थित व्रण। पीला,

---

१. अणुर्हि प्रथमा भूत्वा रोगो पश्चाद् विवर्धते।
स जातमूलो मूष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः॥
यथा स्वल्पेन यत्नेन च्छिद्यते तरुणस्तरुः।
स एवातिप्रवृद्धस्तु च्छिद्यतेऽतिप्रयत्नतः॥ (च.)

२. पक्वाशयादसाध्यस्तु पुलाकोदकसन्निभः।
क्षारोदकनिभास्रावो वर्ज्यो रक्ताशयात्स्रवन्॥
आमाशयात् कलायाम्भोनिभश्च त्रिकसन्धिजः।
स्रावानेतान् परीक्ष्यादौ ततः कर्माचरेद् भिषक्॥ (सु. सू. २२)

काला मल-मूत्रस्रावी कोष्ठगत व्रण। कृश व्यक्तियों में सब तरह छोटे मुख और मांस के प्ररोहयुक्त व्रण। शिर और कण्ठ के वायु-मुञ्चन करने वाले व्रण। कृश, दुर्बल, अरुचि, अजीर्ण, कास पीडित व्रणी के पूय और रक्त बहने वाले व्रण। खोपड़ी के (शिरःकपाल के भिन्न होने पर) जहाँ मस्तिष्क दीखने लग जाय, लक्षण होने लगे तथा कास, श्वास के उपद्रव हो जायँ तो व्रण असाध्य

इस प्रकार व्रणों की साध्यासाध्यता का विषय समाप्त हुआ। अधिकांश भाग सच्चे अनुभवों और निरीक्षणों (Experience vations) के ऊपर आधारित है। कई वार ऐसे व्रणी देखने को व्रणों से पूय का स्राव जारी रहा सामान्य स्वास्थ्य गिरा रहा, उपद्रव हो गया-अनेक उपचारों के रहते भी रोगी की प्राण रक्षा नहीं

व्रण की चिकित्सा—शोफ की आमावस्था से आरम्भ करके पुनः विद्रधि की दशा से चल व्रण के पूर्ण रोपण हो जाने तक उपक्रम शास्त्र में बतलाये गये हैं। इनकी प्राचीन संज्ञा 'व्रण के

इन उपक्रमों में से व्रणशोफ की चिकित्सा में अपतर्पण से लेकर बारह उपक्रमों का वर्णन हो चुका है। तदनन्तर शोफ की पक्वावस्था की अवस्था में चिकित्सा लिखते हुए—छेदन से लेकर सीवन तक नौ उल्लेख कहा जा चुका है। जब व्रण की अवस्था पहुँच गई हो तो और रोपण कर्मों के लिये संधान से लेकर व्रणधूपन तक तेरह उपक्रमों किया जायगा। व्रण के भर जाने के बाद स्थानिक विकृति को दूर वैकृतापह की विशेष क्रिया की जाती है और उसके भीतर उत्सादन रक्षा विधान तक छब्बीस उपक्रमों का समावेश है। जिनका विस्तृत किया जायगा।

व्रणशोथ की चिकित्सा के ये साठ उपक्रम बहुत विशद हैं संक्षेप रूप से वर्णन करना हो तो अत्यन्त उपयोगी सात प्रधान उपक्रमों समावेश हो जायगा। इनको 'सप्तोक्रम कहते हैं।[1]

---

[1] आदौ विम्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम्।
तृतीयमुपनाहञ्च चतुर्थीं पाटनक्रियाम्॥

१. विम्लापन —अपतर्पण से लेकर विम्लापन पर्यन्त छै उपक्रम ।
२. अवसेचन — विस्रावण, स्नेहन, वमन, विरेचन चार उपक्रम ।
३. उपनाह — उपनाह और पाचन दो उपक्रम ।
४. पाटनक्रिया — छेदन से लेकर सीवन पर्यन्त नौ उपक्रम ।
५. शोधन
६ रोपण
संधान से लेकर व्रणधूपन पर्यन्त तेरह उपक्रम ।
७. वैकृतापह—उत्सादन से लेकर रक्षाविधान तक छब्बीस उपक्रम ।

इन क्रियाओं के द्वारा स्थानिक और सार्वदैहिक विकृतियों का दूरीकरण ा जाता है ।

इस प्रकार व्रण की अवस्था में चिकित्सा-क्रम को दो भागों में बाँट कर न किया जायगा-शोधन, रोपण तथा वैकृतापह ।

शोधन एवं रोपण

१. संधान—व्रणोष्ठों को मिलाकर रखना ।

२. पीडन—मर्मस्थान पर स्थित व्रणों में अथवा छोटे मुख वाले व्रणों में को छोड़कर चारों तरफ यथोक्त पीडन द्रव्यों का प्रलेप करना चाहिये । लेप जब सुख जाय तो भी कुछ देर तक पड़े रहने देना चाहिये । इसके द्वारा स्थान पर दबाव होकर पूय का निर्हरण होकर व्रण साफ हो जाता है ।

३. शोणितास्थापन (स्तंभन)—यदि अधिक रक्तस्राव किसी सिरा कट जाने से होने लगे तो चतुर्विध 'संधान, स्कंदन, पाचन और दहन' उपायों रा शोणित का स्थापन करना चाहिये ।

४. निर्वापण— रक्तपित्तज व्रणों में दाह, पाक, ज्वर आदि वेदनायें अधिक ने लगें तो उनके शमन के लिये उपचार करना चाहिये । इस प्रकार के उपचार तल द्रव्यों के द्वारा लेप करना होता है । दूध में या घृत में पीस कर मिला कर ोक्त द्रव्यों का लेप करना चाहिये । अथवा उन-उन द्रव्यों से बने शीतल ायों के द्वारा अवसिंचन करना चाहिये ।

पञ्चमं शोधनं कुर्यात षष्ठ रोपणमिष्यते ।
एते क्रमा व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापहम् ॥ (सु० सू० १७)

५. उत्कारिका— वायु के कारण यदि व्रण में मांसाल्पता हो होता हो, अपाक हो, सूई चुभाने की पीडा हो, परुषता, कठिनता, कम्प होता हो तो उत्कारिका बनाकर ऐसे वेदनावान् और स्थिर व्रणों करना चाहिये। उत्कारिका बनाने के लिये वातघ्न वर्ग की कुछ काकोल्यादिगण और स्नैहिक बीज (तिल, अतसी सर्षप एवं एरण्ड द्रव्यों का समान भाग और उसमें चतुर्गुण अम्लवर्ग की औषधियां (तुषोदक) को मिलाकर नातिघन, नातिसान्द्र पेया के समान उत्का लेना चाहिये।

६. कषाय (शोधन)— मिश्रक अध्याय में कही गई शंखिनी सुमनादि द्रव्यों द्वारा कषाय निर्माण करके दुर्गन्ध क्लेदयुक्त और पि का शोधन करना चाहिये।

७. ८. कल्क और वर्ति—जिन व्रणों के भीतर शल्य हो (अ जिनका मुख छिद्र, जो बहुत गहराई पर मांस में अवस्थित हों करने के लिये शोधन द्रव्यों से युक्त वर्ति बना कर प्रयोग करना पूतिमांस से प्रतिच्छन्न या अतिदुष्ट व्रण भी वर्त्ति के व्यवहार से शुद्ध हो वर्ति बनाने के लिये मिश्रक अध्यायोक्त अजगंधा, अजशृङ्गी, आदि कल्क बनाकर उसकी बत्ती जैसे बना कर प्रथम पतली फिर क्रमशः कर मोटी बत्ती व्रण के भीतर देनी चाहिये।

९. घृत--पित्तज, गहराई पर अवस्थित दाह, राग, पाक आदि से में कार्पास के फल से सिद्ध घृत का शोधन के लिये प्रयोग करना चाहि की कल्पना इस प्रकार है–'जितना कासीस, अजगंधादि शोधन द्रव्य हो कर्पासफल--इनको पीस कर कल्क बनावे उसके चतुर्गुण घी को रखे। के चतुर्गुण जल को डालकर सिद्ध करले।'

१०. तैल— वातकफाधिक्य की अवस्था में व्रणों मे यदि मांस हो और अस्निग्ध और अल्पस्राव होता हो तो मिश्रकोक्त पूयादि शोध युक्त सर्षपतैल और तिलतैल का पाक करके प्रयोग करना चाहिये। अधिक और तिलतैल कम मात्रा में रहता है।

११. रसक्रिया—तैलों के द्वारा जल्दी शोधन होने वाले व्रणों में

का प्रयोग कर सकते हैं, परन्तु विशेषतः कठिन मांसव्रणों में ही इस कर्म का ग होना चाहिये। कल्पना का विधान यह है कि शालसारादि द्रव्यों का यथा- क्वाथ (षोडश गुण जल में अष्टमांशावशिष्ट, अष्ट गुण में—चतुर्थांशावशिष्ट) बना कर पुनः उसका आग पर पाक करे, फिर जब (फाणितीभाव) द्रव होने लगे तो तुवर मृत्तिका, कासीस, मनःशिला, हरिताल आदि द्रव्यों का लेप करके गाढ़ा करके उसमें नींबू का रस और मधु डाल करके खूब मसलना ये। इससे सभी द्रव्यों का एकीभाव हो जाता है–मिल जाते हैं।

इस क्रिया का प्रयोग व्रण में करके अधिक से अधिक तीन दिनों तक रख बदलते रहना चाहिये। अधिक दिनों तक पड़े रहने पर व्रणवस्तु के छिल का भय रहता है।

१२. **अवचूर्णन**—मेदोयुक्त, अगम्भीर (उत्तान भाग पर अवस्थित Supficial) व्रणों में जगन्धादि शोधन द्रव्यों का चूर्ण बना कर प्रयोग ना चाहिये।

यहां तक विविध प्रकार का कल्क, घृत, तैल, वर्ति, रसक्रिया और अवचूका जो वर्णन किया गया है वह शोधनकार्यों में व्यहृत होता है, आगे विधियों का शुद्ध व्रणों में रोपण कैसे होता है लिखा जायगा।[1]

) **रोपण कषाय**—वटादिद्रव्यों के कषाय का प्रयोग शुद्ध व्रणों में रोपण के लिये करना चाहिये।

) **रोपण वर्ति**—सोगामृता–अश्वगन्धा–काकोल्यादि द्रव्यों की वर्ति का प्रयोग अवेदनावान् शुद्ध एवं गम्भीर व्रणों में करना चाहिये।

) **संरोहण कल्क**—तिल और मधु के कल्क का लेप—मांसधातु में स्थित निर्गम मांस व्रणों का शीघ्रता से रोपण होता है। इसका कारण यह है कि यह लेप मधुर, स्निग्ध और उष्ण होने से वायु का शामक होता है, कषाय, मधुर, तिक्त होने की वजह से पित्त का शमन करता है उष्ण, कषाय और तिक्त होने से कफ का भी शामक हो जाता है।

---

[1] शमयेदविदग्धञ्च विदग्धमपि पाचयेत्। पक्वं भिनत्ति भिन्नञ्च शोधयेद्रोपयेत्तथा॥ (सु चि. १)

निम्बपथ का कल्क और मधु का लेप व्रणों का शोधन तथा करता है।

तिल के सदृश यवकल्क को भी कुछ लोगों ने रोपण के लिये प्रयो

(४) **रोपण तैल**—कफ और वात से अभिभूत व्रणों में 'कालानुसार्या द्रव्यों से सिद्ध तैलों के द्वारा रोपण करना चाहिये।

(५) **रोपण घृत**— पित्त, रक्त, विष और आगन्तुक कारणों से उत्प पृथक्पर्णी, आत्मगुप्तादि द्रव्यों से क्षीर में पाक करके घृत बना करना चाहिये। (मिश्रक अध्याय)

(६) **रोपण रसक्रिया**—अबन्ध्य व्रणों (पित्तरक्तविषाभिघातजन्य सन्धियों पर स्थित व्रण तथा शुद्ध व्रण यदि दोषयुक्त हो रहे हों रसक्रिया करनी चाहिये।

न्यग्रोधादि और त्रिफला आदि द्रव्यों का अष्टगुण या चतुर्गुण चतुर्थांशावशिष्ट या अष्टमांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर लेना चाहिये उसको गाढ़ा करके उसमें चतुर्थांश हरिद्रा और आम्रहरिद्रा का मधु डालकर खूब मर्दित करके रख लेना चाहिये। इस प्रकार की क्रिया के द्वारा रोपण शीघ्र होता है।

(७) **रोपण चूर्ण**— जब व्रण प्रायः भर आया हो, उसका अवस्थान ऊ पर त्वचा में हो, उसके मांसाङ्कुर अति मृदु न हों तो किंशुक, त्रि प्रभृति द्रव्यों (सु. सू. स्था.) के बने चूर्ण से अवचूर्णन करना चा

इस अध्याय में शोधन एवं रोपण के सम्बन्ध में जो विधियाँ ब हैं, सामान्यता प्रत्येक अवस्था में लाभप्रद हैं। चाहे व्रण शारीरि आगन्तुक। जहाँ पर दोष विभेद की आवश्यकता जान पडे वहाँ प सार विशिष्ट योगों का भी व्यवहार कर सकते हैं। इन योगों के भेदबुद्धि नहीं लानी चाहिये। सभी योग निःसन्दिग्ध कार्यकर हैं। ऋषियों ने इनका प्रयोग दृढ़ विश्वास से मन्त्रवत् करने का उपदेश कि

---

१. एष आगमसिद्धत्वात्तथैव फलदर्शनात्।
मंत्रवत् संप्रयोक्तव्यो न मीमांस्यः कथञ्चन॥

किसी पदार्थ की सत्यता प्रतिपादन करने में दो प्रकार के प्रमाण साक्षी हैं। एक को कहते हैं स्वतः प्रमाण दूसरे को परतः प्रमाण। स्वतः प्रमाण म (शास्त्र) का होता है, परतः प्रमाण फल-दर्शन का होता है। ये योग, ों के द्वारा भी सिद्ध माने गये हैं और फल की दृष्टि से सदैव लाभप्रद गये हैं, इनके द्वारा रोगियों को निरोग होते हुए देखा गया है। अस्तु ये अविचार्य या अमीमांस्य है।

फिर भी चिकित्सक को स्वतन्त्रता है कि कहीं पर यदि योग निर्दिष्ट न हों अपनी बुद्धि का सहारा ले और यथायोग्य कषाय, वर्ति, कल्क, सर्पि, रसक्रिया और चूर्ण के शोधन और रोपण की सातों प्रक्रियाओं की कल्पना ले। जैसे—

(क)-दोनों पञ्चमूल गण के द्रव्य वातनाशक होते हैं—वातदुष्ट व्रणों में ाय से आरम्भ करके चूर्ण पर्यन्त सातों विधानों में इनका प्रयोग लाभदा- क होगा।

(ख) न्यग्रोधादि और काकोल्यादि गण की औषधियाँ पित्तशामक होने से त्तिक व्रणों की विविध सप्त प्रक्रियाओं में व्यवहृत होती हैं।

(ग)-आरग्वधादि गण की ओषधियाँ उष्ण होती हैं उनका प्रयोग कफ दुष्ट ों में उपयुक्त कार्यों में हितकर होता है।

(घ)-यदि दोषों का संसर्ग हो तो दो-दो या तीनों का मिश्रण कर उपचार में योग करना चाहिये।

१३ व्रण-धूपन— वातश्लैष्मिक व्रणों में जब पीड़ा और स्राव अधिक ता हो तो क्षौम, यव, श्रीवेष्टक, सर्जरस, घृत प्रभृति द्रव्यों को जलाकर उसका वाँ व्रणस्थान पर देना चाहिये।

वैकृतापह—(व्रण के रोपण होने के बाद की प्रक्रियायें)

१. उत्सादन— जो व्रण वातात्मक हों (जिनका मांस शुष्क हो गया हो) थवा रक्तपित्तात्मक (गम्भीर धातुओं में हों) उनमें अपामार्गाश्वगंधा प्रभृति त्सादन द्रव्यों से सिद्ध घृत का उबटन लगाना चाहिये। साथ ही मांस खाने

स्वबुद्धया चापि विभजेत् कषायादिषु सप्तसु।
भेषजानि यथायोगं यान्युक्तानि पुरा मया॥ (सु० चि० १)

वाले पशुओं के मांस का भी आभ्यन्तर प्रयोग होना चाहिये क्योंकि मांस की वृद्धि होती है । इस अवस्था में रोगी के विशुद्ध मन अर्थात् चिन्ता से विरहित स्वस्थ मन होना आवश्यक है । इसके द्वारा मांस का धिक आप्यायन होता है[1] ।

२. अवसादन—उन्नत व्रणों को निम्न करना । जिनमें मांस हो गया हो, उन व्रणों में कासीसादि द्रव्यों का प्रयोग करके करके प्रकृतावस्था में लाना चाहिये ।

३. मृदुकर्म—वायु के द्वारा विकृत हुए व्रणस्थानों में जहां पर और कठिन हो गये हों मृद्वी क्रिया करनी चाहिये । कई बार शोणित भी यही कार्य होता है । मृदु कर्म के लिए मधुर, स्निग्ध, कोष्ण युक्त बाह्य आलेप तथा आभ्यन्तरिक उपचार करना चाहिये । वायु रक्तानुगत हो तो रक्तमोक्षण और कफानुगत हो तो स्नेह करना चाहिये ।

४. दारुण कर्म—मृदु मांसाङ्कुर वाले व्रणों में कठिनीकरण करनी चाहिये । इस कार्य के लिये धव, प्रियङ्गु, अशोक और छाल, त्रिफला, धातकीपुष्प, सर्जरस इन द्रव्यों को समभाग में लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये और उनका अवचूर्णन करना चाहिये ।

५. क्षारकर्म—जिन व्रणों में मांस कठिन एवं उत्सन्न हों, खुजली चिरकाल-जात हो और जिनका शोधन न हो पाता हो उनमें क्षारकर्म सिद्धि मिलती है ।

६. अग्निकर्म—अश्मरी-निर्हरण जरते हुये, छेदन के बाद उत्पन्न मूत्रस्राव होते हुए व्रणों में या जिनमें रक्तस्राव अधिक होता हो उनमें के निःशेष कट जाने पर हुए व्रणों में अग्निकर्म किया जाता है । मूत्र यदि आघातजन्य सद्योजात (Accidental) हों तो उनमें तत्काल कर्म नहीं करना चाहिये, बल्कि एक सप्ताह के बाद यदि सन्धान न हो अग्निकर्म करना प्रशस्त है ।

---

[1] मांसाशिनाञ्च मांसानि भक्षयेद्विधिवन्नरः । विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन

७. कृष्णकर्म—यदि व्रण का रोहण ठीक न हुआ हो और व्रणाधिष्ठान द हो गया हो तो कृष्णकर्म करना चाहिये। इसके लिये फल स्नेह या सार ह ओषधियों का तैल व्यबहृत होता है। विशेषतः भल्लातक, पिण्डीतक और ीतक का प्रयोग होता है। भल्लातक तैल जो इस कर्म में प्रशस्त है उसके ने की ग्रन्थोक्त विधि नीके दी जाती है।

भल्लातक को एक सप्ताह तक गोमूत्र में भावित करे फिर दूध में उतनी ही धि तक रखे। तदनन्तर प्रत्येक फल के दो टुकड़े करके लौह धातु के घड़े में रखे। फिर इस घड़े पर छिद्रयुक्त विधान रखकर मुह उलट कर । एक गड्ढा खोद कर नीचे एक खाली लौह का घड़ा रखकर उसका मुख र वाले घड़े से संयोजित करे। फिर उपले की आंच देकर जला देना हिये। इस भांति जो स्नेह स्रवित हो उसका ग्रहण करना चाहिये। उसमें य और आनूप पशुओं के खुर का चूर्ण जला कर उसका राख मिला र रख लेना चाहिये। इस लेप का उपयोग व्रणस्थान की सफेदी को काले ङ्ग में बदल देता है।

८. पाण्डुकर्म—यदि व्रणों का रोहण ठीक न हुआ हो और वहाँ का स्थान वर्ण का हो गया होतो पाण्डुकर्म की क्रिया करनी चाहिये। (१) बकरी दूध में रोहिणी फल (कटुतुम्बी या हरीतकी भेड़) को भिगोकर एक सप्ताह क रखे पश्चात् उसको पीस डाले इसका लेप त्वचा को सवर्ण कर देता है। २) नया खपड़े का (कपाल) चूर्ण, बेंत का मूल, सर्जवृक्ष का मूल, कसीस र मधुयष्टि, चूना और मधु मिला कर लेप करे। (३) कपित्थ के फल को र उसकी भीतर मज्जा को निकाल कर बकरी के मूत्र से उसको भर दे र उसमें कासीस, हल्दी, तुत्थ, हरिताल, मैनशिल, बांस की छाल, चक्रमर्दबीज र रसाञ्जन के समभाग चूर्ण का अवक्षेप डाल दे तत्पश्चात् उसे अर्जुन वृक्ष नीचे एक मास तक जमीन के अन्दर गाड़ के रखे। पुनः एक मास के पश्चात् काल कर कृष्ण रङ्ग को सवर्ण करने के लिये व्यवहार करे।

९. प्रतिसारण—कुक्कुटाण्ड का छिल्का, निर्मली, मुलैठी, जलशुद्धि, फटिक मणि का चूर्ण समान भाग में लेकर गोमूत्र में पीकसर गुटिका बनाकर र्षण करना चाहिये। प्रतिसारण का उद्देश्य भी सवर्णीकरण ही होता है। एवं न्डुकर्म और कृष्णकर्म करते हुए अवशिष्ट दोष दूर करने के लिये होता है।

१०. रोमसञ्जनन—(१) हाथी के दांत को जलाकर उसे (कालिख) बनाकर उसमें श्रेष्ठ रसाञ्जन मिलाकर बकरी के दूध में पीस करने से हाथ के तलवे में भी केश उग आते हैं।[1] इस योग का वालों में अनेक बार सफल प्रयोग देखे गये हैं (२) घोड़ा, गाय, जैसे जानवरों की त्वचा, रोम, खुर, शृङ्ग तथा अस्थि की भस्म का छिड़का चाहिये। ऐसे व्रणस्थानों जिनमें व्रणो के भर जाने के बाद केश नहीं तिल का तेल लगा कर ऊपर चूर्ण का अवचूर्णन करना चहहिये। (३) और अमल्ताश के पत्तों को कैंथ के रस में पीस कर लेप करने से भी निकल आते हैं।

११. रोमशातन—यदि वणस्थानों के रोम गिराने की आवश्य तो निम्नलिखित विधियों का अनुसरण करना चाहिये।

(१) क्षुर (उस्तरा), कर्तरी (केंची), संदंश (Forceps) साफ करना।

(२) शंखभस्म और हरिताल को क्रमशः दो एक्‌ के सम्बन्ध से (सिरके) में पीसकर लेप करना चाहिये।

(३) भल्लातक का तैल और स्नुही का क्षीर एकत्र करके लेप रोमशातन होता है अर्थात् केश गिर जाते हैं।

(४) केला और श्योनाक का भस्म. हरिताल, नमक, शमी का द्रव्यों का ठण्डे जल से पीस कर लेप करना केशघ्न होता है फल वाली शमी का बीज लेप करने से या खाने से केश हैं—ऐसा वृद्ध वैद्यों का उपदेश है।

(५) छिपकली (आगारगोधिका) का पूंछ, कदली, हरिताल, बीज जलाकर उसके राख को तेल और जल मिला कर की धूप में पकाना चाहिये। इसका लेप केशशातन करता है

१२. बस्तिकर्म—यदि वातदुष्ट व्रण हो, अत्यन्त रूक्ष और

---

[1] हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यञ्चैव रसाञ्जनम्।
लोमान्येतेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि॥ (सु० चि० १)

विशेषतः शरीर के नीचे भागों में हो तो बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। पर निरूहण और स्नैहिक दोनों प्रकार की बस्तियां दी जा सकती हैं।

१३. **उत्तरबस्ति**—यदि व्रणों के कारण मूत्राघात, मूत्रदोष, शुक्रदोष या दोष हो गया हो या अश्मरी-निर्हरण में व्रण बना हो तो उत्तरबस्ति का हितकर है।

१४. **बन्ध**—बंधन कर्म के द्वारा व्रण का शोधन होता रहता है, व्रण में आती है, निःशङ्क भाव से व्रणों का रोहण हो जाता है। इसीलिये बंधन व्यवहार आवश्यक हो जाता है।[1]

१५. **पत्रदान**—अल्पमांस वाले कठिन व्रणों में यदि रूक्षता के कारण न होता हो तो पत्रदान करना चाहिये। पत्ते रखने के सम्बन्ध में दोष ऋतु का भी विचार रखना होता है।

वातिक व्रणों में—एरण्ड, भूर्ज, पूतीक, हरिद्रा, उपोदकीपत्र एवं काश्मरीपत्र।

पित्त या रक्तज व्रणों में—क्षीरीवृक्ष और औदक बनस्पतियों के पत्ते।

श्लैष्मिक व्रणों में—पाठा, मूर्वा, गुडूची, पाठा, हरिद्रा और शुकनाम ते।

इन पत्तों को रखते हुए कई गुणों पर ध्यान देना चाहिये—पत्ते नये, कोमल ंश, अविच्छिन्न, सुकुमार और मृदु होने चाहिये। व्रणों के ऊपर लेप करके र से पत्तों को चिपका देना चाहिये। कई बार पट्टियों के बाँधने से स्निग्ध धियों का सार अच्छी तरह से व्रणों को नहीं मिल पाता है; इसीलिये पट्टियों जगह पत्तों के चिपकाने का विधान है। दूसरा लाभ यह है कि यथायोग्य शैत्य वा औष्ण्य का भी प्रभाव इनके द्वारा पैदा किया जा सकता है। जैसे पित्त-ज व्रणों में शैत्य और वातश्लैष्मिक व्रणों में औष्ण्य लाभप्रद होता है, इन स्थाओं में पट्टी के द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता और उन २ गुणों से युक्त यों के द्वारा सुविधे से हो सकता है। फलतः व्रणस्थान पर पत्ते रखने से लाभ होते हैं—(१) यथायोग्य शैत्य और औष्ण्य का प्रभाव। (२) ांश का ग्रहण।

---

[1] यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणो याति च मार्दवम्।
रोहत्यपि च निःशङ्कस्तस्माद्बन्धो विधीयते॥ (सु० चि० १)

१६. कृमिघ्न—कई बार कृमियों के द्वारा भक्षण होने की वजह व्रण में दारुण शोफ हो जाता है। ये कृमि मक्खियों से व्रण पर आते हैं.। उनके खा जाने के बाद तीव्र पीडा, शोफ, रक्तस्रावादि लगते हैं। अतः उनसे बचाने के लिये कृमिघ्न विधियों का ज्ञान आव इसके लिये—

(१) सुरसादिगण के क्वाथ से धावन और पूरण होना चाहिये।

(२) सप्तपर्ण, करञ्ज, राजादन की छाल को गोमूत्र में पीस कर चाहिये। या क्षारोदक से सेक करना चाहिये।

(३) इन कृमियों की बीस जातियां होती हैं। उनका मां पकड़ कर अपहरण करना चाहिये।

१७. बृंहण—दीर्घकालीन रोगियों में तथा कृश और व्रण कायाग्नि के अनुसार बृंहण होते रहना चाहिये।

१८. विषघ्न—यदि व्रण स्थावर या जङ्गम विषों से विकृति हो लक्षणों के अनुसार विषघ्न क्रिया भी करनी चाहिये। इस क्रिया में तथा बाह्य (स्थानिक) दोनों उपचार होने चाहिये।

१९. शिरोरेचन—यदि व्रण का अवस्थान जत्रु के ऊपर हो, और कण्डू बहुत हो तो शिरोविरेचन की भी चिकित्सा में आवश्यकता

२०. नस्य—पीडावान्, वाताधिक्य युक्त, रूक्ष और ऊर्ध्वजत्रुग नस्यकर्म की आवश्यकता पड़ती है।

२१. कवलग्रह—त्रिफला, द्राक्षादि क्वाथों के द्वारा मुंह में कुल्ल रखना कवलग्रह कहलाता है। जिह्वा, दांत और मुँह के रोगों में मन्द रण, रुजा एवं दाह की शान्ति और दोषों का प्रक्षालन करने के लि व्रणों में इस क्रिया का उपयोग होता है। कवलग्रह मुखज व्रणों का रोपण दोनों कार्य करता है—वह वीर्य के अनुसार उष्ण या शीत दो हो सकता है।

२२. धूमपान—वायु और कफजन्य ऊर्ध्व-जत्रुग रोगों में स्राव और पीडाधिक्य हो तो धूमपान के द्वारा चिकित्सा करनी चाहि

२३. **मधुसर्पि**— सद्योव्रण (Accidental wounds) में क्षतस्थान उष्णता की रक्षा के लिये तथा सन्धान के लिये मधु और घी का प्रयोग काल करना चाहिये ।

२४. जो व्रण गहराई में स्थित हों या जिनके भीतर कोई शल्य Foreign body) पड़ी हो और हाथ के द्वारा वह निकाला न जा सकता तो उस अवस्था में यन्त्र की सहायता से उसको निकालना चाहिये ।

२५. **आहार**— मात्रा में लघु, हल्का, स्निग्ध, उष्ण और अग्निदीपक च्य पथ्य सब प्रकार के व्रणियों को देना चाहिये ।

२६. **विहार**—(रक्षा विधान) नित्य दिवारात्रि रोगी को विशेषतः व्रणी रक्षोघ्न धूपों (गुग्गुलु आदि) के द्वारा और मन्त्रों के द्वारा रक्षा करनी हिये । और रक्षाविधान में बतलाये यम और नियमों का अनुपालन व्रणी को ना चाहिये ।[1]

इस प्रकार षण्मूली, अष्टपरिग्राही, पञ्चलक्षण-लक्षित व्रण की षष्टि (साठ) धानों के द्वारा चिकित्सा कही गई । व्रण की साध्यता के लिये चतुष्पाद की भी वश्यकता पड़ती है ।

मूली—वात, पित्त, कफ, शोणित, सन्निपात और आगन्तुक कारणों से उत्पन्न ।

ष्टपरिग्राही— त्वक् , मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, कोष्ठ और मर्म प्रभृति अङ्गों पर अवस्थित ।

चलक्षणलक्षित—(क) वात, पित्त, कफ, शोणित और सन्निपात के लक्षणों से लक्षित ।

(ख) गन्ध, वर्ण, वर्ण, स्राव, वेदना आकृति के चिह्नों से युक्त ।

तुष्पाद--गुणी वैद्य, वशी रोगी, चतुर–परिचारक और औषधि की सम्पन्नता ।

ष्टिविधान--पूर्वोक्त पाठ के उपक्रम[2] । इन उपक्रमों के सम्बन्ध में कहीं पर क्षेप करते हुए बहुत सी औषधियों का संग्रह अनुक्त रह गया है वहाँ पर

अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं तथैव च । व्यवहारनिवृत्तिश्च यमाः पञ्च प्रकीर्त्तिताः ॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् । अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः परिकीर्तिताः ॥

षण्मूलोऽष्टपरिग्राही पञ्चलक्षणलक्षितः । षष्ट्या विधानैर्निर्दिष्टैश्चतुर्भिः साध्यते व्रणः ॥
(सु, चि. १)

चिकित्सक को स्वतन्त्रता है कि यथावश्यक तत्समान अन्य ओषधियों योग कर ले या इसके विपरीत यदि कहीं पर गणोक्त ओषधियों ओषधि व्याधि के अनुकूल न पड़ती हो तो उनको पृथक् कर दे। कहीं चिकित्सा बतलाते हुए प्रसङ्गवश ऐसी ओषधियों का वर्णन हो गया है दुर्लभ हैं--वहां पर जो मिल सके उनका यथालाभ प्रयोग करना ओषधियों की दुर्लभता कई कारणों से हो सकती है। जैसे देश, ओषधि का ज्ञानाभाव प्रभृति कारण।

व्रणों के उपद्रव, स्थानिक--[1]गन्ध, वर्ण, स्राव, वेदना, आकृति प्रभृति में इनका वर्णन देख चुके हैं। (सु. सू. २२)

सार्वदैहिक--ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा, हिक्का, छर्दि, अरोचक, श्वास, का अविपाक।[2]

चिकित्सा--स्थानिक उपचारों का उल्लेख हो चुका है। सार्वदैहिक में कायचिकित्सा के अभ्यन्तरीय उपचारों के द्वारा यथारोग की जाती है

द्वादश प्रकरण

सद्योव्रण (Accidental wounds) चिकित्सीयाध्याय

व्रण—आकस्मिक या बलपूर्वक प्रयुक्त होकर कोई भी साधन त्व श्लैष्मिक त्वचा में एक अवच्छिन्नता पैदा कर देते हैं उस अवस्था को हैं[3]। ऐसी अवस्था दोषजन्य अथवा आगन्तुक दोनों कारणों से हो स दोषज उस दशा में होगा जब विद्रधि स्वयं भिन्न हो वैद्यकृत विदारित हो। आगन्तुक कारणों में नाना प्रकार की शस्त्रधारा, नाना

---

१. उपद्रवाश्च विविधा व्रणस्य व्रणितस्य च।
तत्र गन्धादयः पञ्च व्रणस्योपद्रवाः स्मृता॥

२. ज्वरातिसारौ मूर्च्छा च हिक्का छर्दिररोचकः।
श्वासकासाविपाकाश्च तृष्णा च व्रणितस्य तु॥ (सु. चि. १)

[3] Wound is a forcible solution of continuity involving or mucous membrane.

मुखों का नाना प्रकार के देहस्थानों पर निपतित होने (लगने) से नाना रूप के ोव्रण हो सकते हैं। फलतः आगन्तुक सद्योव्रण की नाना प्रकार की आकृतियाँ सकती हैं।[1] जैसे—

आयताकार (चतुर्भुजाकार)
चतुरस्र (चतुष्कोणाकार)
त्र्यस्र (त्रिकोणाकार)
मण्डलिन (वर्तुलाकार गोल)
विशाल (विस्तीर्ण)
६. कुटिल (वक्र)
७. शराब-सदृश (निम्न-मध्य होने से सकोरे के सदृश)
८. यवमध्य (जिसके भीतर निम्नता कम हो)

चिकित्सक को उन व्रणाकृतियों का ज्ञान होने से चिकित्सा में सरलता होती यदि कहीं पर व्रण विकृत होकर दुर्दर्श भी हो जावे अर्थात् गोशृङ्ग के सदृश उठे हुए मांसांकुर हो जावे तों भी उनको ठीक से समझ कर यथावश्यक ा का इन्तजाम कर सकता है।

यद्यपि ऊपर में आठ ही प्रकार की व्रणाकृतियों का संग्रह किया गया है; तु उसके द्वारा सीमा नहीं बतलाई गई है क्योंकि आकृतियाँ अनन्त प्रकार हो सकती हैं। फिर भी प्राचीन चिकित्सकों ने संक्षेप में लक्षणों के आधार छः वर्गों में बाँटा है।

सद्योव्रण के भेद[2]—

१. छिन्न (Excised wouud)
२. भिन्न (Deep Punctured wound)
३. विद्ध (Superficially Punctured wound or Gun shot wouud or poisoned wound)
४ क्षत (Incised wound)

---

[1] नानाधारामुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः।
नानारूपा व्रणा ये स्युस्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्॥
एवं प्रकाराकृतयो भवन्त्यागन्तवो व्रणाः।
दोषजा वा स्वयं भिन्ना न तु वैद्यनिमित्तजाः॥

[2] छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च।
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्॥ (सु० चि० २)

५. पिच्चित (Contused wound or Contusion)
६. घृष्ट (Lacerated wound)

यहां पर आकस्मिक व्रणों के ये छः भेद या वर्ग बहुत वि बतलाये गये हैं। बहुत से पण्डितमानी व्यक्ति चाहें इन्हीं शब्दों के और निपात जोड़ करके अनेक भेद दिखला सकते हैं जैसे—छिन्न ना ही सम्यक् छिन्नं = संछिन्नम्, सुष्ठुच्छिन्नं = सुच्छिन्नम्, अल्प ही छि अच्छिन्नम्, निपात योगों से जैसे— अतिक्रमाच्छिन्नम् = अतिच्छि छिन्नं=सुच्छिन्नम्, अल्पं छिन्नम् = ईषच्छिन्नम्, अच्छिन्नम् इत्यादि।

परन्तु ये कोरी सिद्धान्त की बाते हैं अथवा मानगर्वित पण्डितों हैं। इनके कथित अनेक भेदों का छः के भीतर ही अन्तर्भाव हो जाता कि सामान्य शब्द के द्वारा विशेष का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण एक सामान्य शब्द के कहने से ही प्रसारणाकुञ्चन आदि विशेष कर्मों जाता है। इसी प्रकार छेद एक सामान्य के द्वारा संछिन्न, परिच्छि च्छिन्न और ईषच्छिन्न आदि का ग्रहण हो सकता है। इसी प्रका अन्य पाँच भेदों में भी समझना चाहिये।[1]

इसी लिये छः वर्गों को निश्चित और परम मत बतलाया गया है व्रणों के ही ये छः प्रधान भेद हो सकते हैं।

छिन्न—तलवार जैसे तीक्ष्ण धार से अङ्ग कटकर अलग होकर या गिर जाय तो उस व्रण को छिन्न कहते हैं। ऐसे व्रणों की आकृ तिर्यक् और कई बार ऋजु आयताकार होती है।[2]

चिकित्सा—

१. रक्तस्राव को रोकना—केशिकाओं का रक्तस्राव तो बन्द हो जाता है; परन्तु शिरा और धमनी कट गई हो तो भारसंदंश

---

[1] उपसर्गनिपातैश्च तत्तु पण्डितमानिनः।
क्वचित् संयोज्य भाषन्ते बहुधा मानगर्विताः॥
बहु तद्भाषितं तेषां षट्स्वेवावतिष्ठते।
विशेषा इव सामान्ये षट्त्वं हि परमं मतम्॥

[2] तिरश्चीन ऋजुर्वापि यो व्रणश्चायतो भवेत्।
गात्रस्य पातनश्चापि च्छिन्नमित्युपदिश्यते॥ (सु० चि० २)

कर स्राव को बन्द करना चाहिये। आवश्यकतानुसार दाहकर्म भी किया सकता हैं।

२ यथास्थानानयन, विधानोक्त सीवन, गाढबंध—यदि घाव बहुत रा हो तो उसके धातुओं में तन्तु (Catgut) से सीवन करके त्वचा के ारों को एक साथ मिलाकर वाल, क्षौमसूत्र आदि से सीवन करना चाहिये। ात् गाढ बन्धन लगाकर बन्धन करना चाहिये।

(क) यदि कान अपने स्थान से कट कर लटक रहा हो तो उसे यथा-ति में लाकर सीवन करके तैल से तर्पण करे।

(ख) ग्रीवा के पश्चात् भाग में कृकाटिका छिन्न हो गई हो और उसमें से निकलती हो तब भी उसे सम्यक् निवेश करके सीवन और बन्धन करना हिये। रोगी को उत्तान होकर सोना चाहिये। किसी भी क्रिया में उसे बैठना चाहिये। पथ्य सेवन करते हुए या मल मूत्र आदि का त्याग करते हुए भी को नहीं बैठने देना चाहिये। बल्कि यन्त्रित करके लेटा कर रखना चाहिये। री के घृत से परिषेक करना चाहिये।

(ग) शस्त्र के तिर्यक् प्रहार से यदि शाखा छिन्न हो तो उसे भी यथा-न स्थापन, सीवन और तैल के द्वारा सिंचन के बाद बेल्लितक बन्ध Spiral Bandage) लगाकर गोफणा बन्ध (चर्मनिर्मित Sling Ba-age) में लटकाना चाहिये।

(घ) यदि व्रण पीठ में हो तो उत्तान सुलाना चाहिये, यदि छाती में हो उसके विपरीत अर्थात् पेट के बल सुलाना चाहिये। इन स्थितियों में दोष निर्हरण भली-भाँति हो जाता है।

(ङ) यदि शाखायें एक दम कट कर अलग हो गई हों तो उन्हें तैल-दग्ध के कोष बन्ध (Stump bandage) में बाँध के रखना चाहिये।

३. अङ्ग को विश्राम–स्वास्थ्यवर्धक पोषण—छिन्न, भिन्न, विद्ध र क्षतज व्रणों में रक्तस्राव अधिक होता है, रक्तक्षय होने की वजह से ु अधिक बढ़ती है। इसलिये वायुशामक पथ्य और आचार का प्रबन्ध ना चाहिये।

स्नेहपान, कोष्ण स्नेहसेक करना चाहिये। वेशवार (अस्थिरहित स्विन्न

स्निग्ध पिष्ट मांस), कृशरा (तिल, चावल और उड़द की बनी को स्निग्ध और कोष्ण उपनाह करने के लिये उस स्थान पर बाँध देना धान्य (माषादि कोष्ण द्रव्यों के द्वारा) स्वेदन करना चाहिये। करना चाहिये। वातघ्न औषधियों से सिद्ध स्नेह का पान या वस्ति चाहिये। सामान्यतया ऊर्ध्वनाभिज व्रणों में स्नेहपान और नाभि वाले घावों में बस्ति का प्रयोग होता है।

४. शोधन और रोपण में चन्दनादितैल—(१) चन्दन, उत्पल, प्रियङ्गु, हरिद्रा, मधुयष्टि आदि द्रव्यों के कल्क और मिलाकर पक्व तैल श्रेष्ठ व्रणरोपक होता है।

(२) चंदन, कर्कटशृङ्गी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, गुडूची, कलाय, मृणा त्पल, त्रिफला, पद्मक, जटामांसी, घृत, वसा, मज्जा, चतुर्गुण क्षीर पकाया हुआ तैल त्रयोदशाङ्ग कहलाता है। व्रणरोपण के लिये सेक करते हैं।

भिन्न[1]— कुन्त, शक्ति (भाला, बरछी), ऋष्टि, तलवार आदि की नोक लग जाने से इस प्रकार के व्रण बनते हैं। बाहरी छिद्र छोटा परन्तु उसमें भीतरी अङ्गों के नष्ट होने का भय रहता है। जैसे कण्डरा, कोष्ठाङ्गों की हानि का भय रहता है। कोष्ठाङ्गों में आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रुधिराशय, हृदय, उण्डुक, फुफ्फुस इनकी गणना है भिन्न व्रणों में इन अङ्गों का भी वेधन हो जाता है।

उन आशयों के भिन्न होने पर आशय रक्त से भर जाते हैं, ज्वर आदि सर्वाङ्ग लक्षण होते हैं। मूत्रमार्ग, गुद, नासा और मुख से रक्त होता है। मूर्च्छा, श्वास, तृषा, आध्मान, भोजन में अरुचि, विट्, वायु की रुकावट, स्वेद, आस्राव, आंख का रक्तवर्ण होना, मुंह से आना, शरीर से बदबू, हृदय और पार्श्व में शूल होना ये सामान्य मिलते हैं।

---

[1] कुन्तशक्त्यृष्टिखड्गाग्रविषाणादिभिराशयः।
हतः किंचित् स्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते॥
स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठमित्यभिधीयते॥
तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे। (सु० चि० २)

विशेष लक्षणों में आमाशय विद्ध होने पर कोष्ठ रक्त से भर जाता है, जिस रक्त का वमन होना, अत्यधिक आध्मान और दारुण शूल होता है। यदि काशय भिन्न हो तो पीड़ा, गुरुता, नाभि के नीचे ठंडापन रहता है। अन्यान्य तशों से रक्त का स्राव होता है।

कई बार आशय के न भिन्न होते हुए भी आन्त्र रक्त से भर जाते हैं और न्त्र में गुरुता आ जाती है। जिस प्रकार घड़े के मुंह बन्द रहते हुए भी सके छोटे-छोटे सूक्ष्म छिद्रों से जल भरकर उसमें भारीपन आ जाता है।

चिकित्सा—१. यदि नेत्रगोलक का भेदन हो गया और वह अकर्मण्य अथवा अभिन्न (ईषत् भिन्न) और कर्मण्य हो एवं लटक रहा हो तो उसको मपत्र से आच्छादित करके हाथ से पकड़ कर यथास्थान सन्निविष्ट करना हिये। तत्पश्चात् बकरी के घी का नस्य देकर तर्पण करना चाहिये।

अजा (बकरी) का दूध और घृत के तुल्य मुलेठी, उत्पल, जीवक, षभक को पीस कर पाक करना चाहिये। इस प्रकार का घृत सभी प्रकार के भिघात में लाभप्रद है।

२. यदि उदर का भेदन होने से मेद की वर्त्ति निकल आई हो तो वर्त्ति को एवं अर्जुन का क्काथ में गुंधी हुई भस्म और काली मिट्टी के साथ लपेट करके क्ष्म सूत्र से बाँध कर अग्नि में तपाये गये शस्त्र के द्वारा काट कर निकाल ना चाहिये। भरसक यह कोशिश करनी चाहिये कि वह मेदोवर्त्ति भीतर चली जाय; परन्तु यदि न प्रविष्ट हो सके या प्रविष्ट होकर भी वहाँ स्थिर रह सके निकल जाया करे तो काट कर निकाल देना चाहिये। अग्नितप्त से काटने पर उपसर्ग होकर पाकोत्पत्ति का भय नहीं रहता। पुनः सीवन अनन्तर व्रण का बन्धन करे। पश्चात् अन्न के जीर्ण हो जाने पर घृतपान रावे। घृतपान के अतिरिक्त क्षीर भी पिलाया जा सकता है। इस प्रकार के बनाने की कई कल्पनायें हैं। १. मुलैठी का क्काथ, शर्करा और एरण्ड तैल लकर क्षीर का पाक कर लेना। २. गोक्षुर क्वाथ, लाक्षा, चित्रा, तिल तैल से क्षीर[1]। प्रतिदिन दूध की मात्रा चार पल, शर्करा और एरण्ड तैल का

---

[1] द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम।
क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः॥

एक कर्ष होना चाहिये। यहां पर व्रण का बन्धन मधु का
किया जाता है।

कई बार यदि मेदोवर्त्ति न काटें तो कई उपद्रव होने लगते हैं
आध्मान, शूल होकर मृत्यु तक हो जाती है।

बहुधा भिन्न व्रणों में शल्य पाया जाता है। इसलिये छेद को
शल्य के निर्हरण की पूर्ण व्यवस्था करनी चाहिये।

अनेक बार आशयों का वेध होने से अन्तर्लोहित आभ्यन्तरीय
(Internal hæmorrhage) होने लगता है। उस समय
असाध्य लक्षण न मिलें तो तत्काल चिकित्सा करनी चाहिये। असाध्य
मे 'हाथ, पैर और मुख का ठण्डा होना, शीत उच्छ्वास, रक्त नेत्र होना
अपने मार्गों से मल और दोष की प्रवृत्ति का न होना (आनद्ध)' प्रधान

३. अभ्यन्तरीय रक्तस्राव का ज्ञान करके यदि आमाशयस्थ
वमन कराना चाहिये, पक्वाशयस्थ होने पर निःशङ्क होकर विरेचन
चाहिये। वाताशयस्थ यदि रुधिर हो तो गोमूत्रादि के द्वारा अहिनग्ध
करे। विशुद्ध रक्त का अनुलोमन करने के लिये यव, कोल कुलत्थ
भी कर सकते है। सैन्धव नमक मिलाकर यवागू पीने के लिये या
के लिये देना चाहिये। यदि कोष्ठ भेदन से अत्यन्त रक्तस्राव हो
जीवन-यापन के लिये साक्षात् रक्त पिलाना चाहिये।

यदि ऐसे रोगियों में विट्, मूत्र और वायु का प्रवर्तन अपने
जाता हो और ज्वर, आध्मान आदि उपद्रव न हों तो साध्य होता है
का भेद होने पर भी बच जाता है।[2]

४. यदि आन्त्र उदर से निकल गये हों—उनकी दो अवस्थायें
तो भिन्न होंगी या अभिन्न। यदि भिन्न हों तो उनका सन्धान
सिर से कराके क्षीर से उसका प्रक्षालन करके, आन्त्र में लगे हुए

---

१. तत्रान्तर्लोहितं पाण्डुं शीतपादकराननम्।
शीतोच्छ्वास रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत्॥
२. स्वमार्गप्रतिपन्नास्तु यस्य विण्मूत्रमारुताः।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवति मानवः॥

र धूलि आदि को साफ करके घृत से चिकना कर धीरे-धीरे उसी मार्ग से ष्ट करा देना चाहिये । प्रवेश कराते समय चिकित्सक का हाथ शुद्ध (Ste- e), नाखून कटे हुए, घृत आदि से लिप्त होकर चिकना होना चाहिये । यदि न्त्र अधिक देर तक बाहर पड़ी रहने की वजह से सूख गई हो तो उसको क्षीर- क करके घृत से स्निग्ध करके भीतर में डालना चाहिये । यदि इतने पर भी ष्ट न हो पाये तो रोगी के कण्ठ में अङ्गुली डाल कर रगड़ना चाहिये, या जल ककर उद्वेजित करना चाहिये । अथवा हाथ–पैर पकड़ कर रोगी को कुछ इधर- र हिलाना-डुलाना चाहिये । इन क्रियाओं के जरिये आन्त्र प्रविष्ट हो जाती है ।

यदि व्रण का मुख अल्प हुआ और आन्त्र का बहुत भाग निकल जाने से विष्ट न हो पाती हो तो व्रण के मुख को उसके प्रमाण के अनुसार अधिक चौड़ा र लेना चाहिये और फिर भीतर में प्रविष्ट करना चाहिये। जब आन्त्र पूरी तौर भीतर चली जावे और यथास्थान स्थित हो जावे तब ऊपर सीवन करके घृत सिञ्चन करके, वहाँ बन्ध करना चाहिये । आन्त्र का यथास्थान स्थित होना बहुत हत्व का है क्योंकि आंत्र की गेंडुलियाँ यदि गुम्फित हो जाय या अपने सम्यक थान पर न रह पायें तो प्राणनाशक उपद्रव होते हैं ।

पश्चात् रोगी को चित्रा और तैल युक्त सुखोष्ण घृत पिलाना चाहिये इससे न्त्र में मृदुता आती और वायु एवं मल की अधःप्रवृत्ति होती है ।

स्थानिक उपचार के लिए निम्नलिखित रोपण थैल का प्रयोग करना चाहिये–

अश्वकर्ण, धव, मोचकी, मेषशृङ्गी, शल्लकी, अर्जुन, विदारी, क्षीरीवृक्ष की ल और बलामूल इनका संग्रह करके यथाविधि तिलतैल का पाक करना ाहिए। ऐसा तैल रोपण कार्यों में प्रशस्त है । एक वर्ष तक रोगी को पथ्य से हना चाहिये ।

५. यदि अण्डकोष से मुष्क (Tetstes) निकल गये हों तो आंख और रों को जल से सिंचन करके भीतर में कोष को प्रविष्ट करके ऊपर से तुन्नसेवनी मक सीवन से सिलाई करनी चाहिये । पुनः कमर में कटियन्त्रक बांध कर कौपीन बन्ध या गोफणिका (T. shaped) बन्ध लगाना चाहिए । इस व्रण में स्नेह से सेक नहीं करना चाहिये अन्यथा व्रण क्लेदयुक्त हो जाता है । तगर, अगुरु, एला, जाति, चन्दन, पद्मक, मैनशिल, दार्वी, गिलोय और तुत्थ से सिद्ध तैल रोपण में व्यवहृत होता है ।

विद्ध व्रण—'जब नुकीले शस्त्र की नोक से आशय विद्ध होते हैं भिन्न कहते हैं—जब आशथ न भिन्न हो बल्कि त्वचा, मांस या अस्थि तो वैसे व्रण को विद्ध कहते हैं। सूक्ष्म शल्यों के लग जाने से आशय अङ्ग विद्ध हो जाते हैं और अङ्ग का वह भाग उत्तुण्डित (उभार युक्त हो जाता है या शल्य के निकल जाने से निर्गत मुख हो जाता है। ऐसे विद्ध कहते हैं।'

वास्तव में भिन्न या विद्ध हुए व्रण एक हैं, अन्तर इतना ही है कि आशयों की हानि होती है विद्ध में आशयों की हानि नहीं होती।

आधुनिक युग में सद्योव्रण के वर्ग में बन्दूक की गोली के लगने से का विशेष उल्लेख है। इसे 'गन शाट बुण्ड' कहते हैं। यदि आशय स्थान पर ऐसा व्रण हो तो उसकी प्राचीनों की विद्धसंज्ञक व्रण से पाई जाती है।

चिकित्सा—१. यदि शिरोभाग (सिर) में वेध हुआ हो तो निकाल कर उसमें केश की बनी हुई वर्त्ती लगा देनी चाहिये। इससे व्रण अवरुद्ध हो जाता है और व्रण से मस्तिष्क धातु मस्तुलुङ्ग (पिघले स्राव) का स्राव नहीं होने पाता। यदि बालवर्त्ति न प्रविष्ट की जाय तो बलाधान कम हो जाता है और वायु बढ़ कर विकृति पैदा करती है। व्रण का रोहण होने लगे एक एक कर के बालों को क्रमशः निकाल देना चा

२. यदि कहीं शरीर के दूसरे अङ्ग पर अभिघात हो तो व्रण को करके स्नेहवर्त्ति डाल देनी चाहिये। स्नेहवर्त्ति का अर्थ होता है चक्रतैल में गया 'गाज' (Gawze)। व्रण का शोधन एवं रोपण दोनों कार्य इस हो जाता और व्रण भर जाता है। स्नेहवर्त्ति डालने के पूर्व व्रणस्थान को धो लेना चाहिये।

३. यदि व्रण का मुख सँकरा हो और गहरे धातुओं तक विद्ध हो, को विशोणित कर सूक्ष्म नेत्र (Wound syringe) के द्वारा चक्रतैल तर्पण करना चाहिये।

---

१. सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयाद्विना ।
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत ॥

आजकल ऐसे विद्ध व्रणों की चिकित्सा में 'कैरेल डेकिन' की विधि से लन किया जाता है। इसमें छोटी-छोटी पार्श्व छिद्रों वाली रबर की नलि- घाव के विभिन्न भागों में फैला दी जाती हैं। ये नलिकायें ऊपर की एक नलिका से जुड़ी होती हैं और मोटी नलिका एक बड़े पात्र से जिसमें घोल रहता है। इसमें घोल का पानी लगातार नहीं बहता, अपितु दो दो घण्टे के र से बहता रहता है। वास्तव में इस विधि के द्वारा लगातार प्रक्षालन नहीं । पानी पिचकारी से प्रविष्ट होता है अङ्कित चिह्न तक पानी की मात्रा एक प द्वारा नियमित की जाती है। पानी की मात्रा व्रण की अवस्था पर निर्भर है-एक बार २० से १०० सी० सी० तक हो सकती है। स्राव या की अधिक मात्रा हो जाने पर शोषक कपास का इस्तेमाल सोख लेता है। चिकित्सा से व्रण जल्दी भर जाते हैं। इस चिकित्सा में डेकिन का घोल akin's solution) या 'यूसोल' व्यवहृत होता है। यह विधि प्रक्षालन की तम विधियों में से है।

चक्रतैल का अर्थ कोल्हू से पेरकर निकाला हुआ ताजा तिलका तेल है। के अतिरिक्त प्राचीन युग में और भी कई प्रकार के रोपण तैल व्यवहार में रहे। जैसे—

१. समङ्गा, रजनी, पद्मा, त्रिवर्ग, विडङ्ग, कुटकी, पथ्या, गुडूची और करंज ति द्रव्यों से सिद्ध तैल।

२. तालीश, पद्मक, मांसी, हरेणु, अगुरु, चंदन, हरिद्रा, पदम बीज, उशीर क प्रभृति द्रव्यों से पक्व तैल सद्यो व्रण का रोपक होता है।

क्षत—[1]सद्योव्रण की वह अवस्था जिसमें व्रण (नातिच्छिन्न) नाधिक दो गों में कटा हुआ (नातिभिन्न) नाधिक विदीर्ण हुआ हो बल्कि दोनों के च की अवस्था हो ऐसा विषम आकार का व्रण यदि अङ्ग पर बना हो तो उसे त कहते हैं। ये व्रण भी तेज काटने वाले शस्त्रों से ही बनते हैं। इनमें रक्तस्राव हुत होता है। कई बार इनके किनारे कटे नहीं होते ऐसे व्रणों को 'डाइसाइज्ड ड' कहा जाता है। शस्त्रकर्म करते हुए जो चीरा लगाया जाता है उसकी मता क्षत व्रण के साथ होती है।

---

१. नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ।
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत्क्षतं त्वभिनिर्दिशेत् ॥

चिकित्सा—सामान्यतया क्षत की चिकित्सा निम्नलि
चाहिये। जैसे—

१—रक्तस्राव का निरोध करना (Arrest of Haemorrh

२—घाव का शोधन करना (Sterlization of Wound)

३—व्रणोष्ठों का मिलाना और सीवन बन्धन आदि कर्म (Ap
of surfaces)।

४—प्रक्षालन (Drainage)।

५—अङ्ग को पूर्ण विराम देना (Rest)

६—रोपण क्षौद्र, घृत, तैलादि का अभ्यङ्ग (Healing)

७—पथ्यकर आहार विहार (General treatment)

पिच्चित—प्रहार (मुद्गर और दण्डे आदि के) और पीडन (चौ
दरवाजे से) के द्वारा यदि शरीर का कोई अङ्ग पृथु (मोटा या विस्तीर्ण
हो, अस्थि भी पिच्चित हो गई हो, एवं उससे मज्जा और रक्त का स्राव
तो ऐसे व्रण को पिच्चित कहते हैं। ऐसे व्रण को अंग्रेजी में 'लेसेरेट
हैं। अधिकतर बिना धार के शस्त्रों से अभिघात होकर या मशीन में
पर ऐसे व्रण होते हैं। इनमें रक्तस्राव बहुत कम होता है, इनमें पूयजन
णुओं के उपसर्ग का बहुत भय रहता है। कई बार पूयोत्पत्ति लेकर
तक उपद्रव हो जाते हैं धनुर्वात के जीवाणुवों का उपसर्ग होकर
(Tetanus) का भी भय अधिक रहता है। यदि व्रण निर्दोष हो
रोपण देर से होता है।

चिकित्सा—१. इसमें अधिक स्राव नहीं होता। दाह और पा
होता है। इसलिये—दाह, पाक और ऊष्मा से बचाने के लिये, शीत
और शीत परिषेक करना चाहिये।

२—गली और मृत हुई त्वचा आदि को काटकर साफ कर लेना
शल्य का निर्हरण करना, शोधन और रोपण की व्यवस्था करनी चाहिये

३—'पिच्चिते भग्नवद् विधिः'। यदि अस्थि का नुकसान हुआ
भग्नवत् उपचार-बन्धन, सेक, रूक्ष भोजन आदि करना चाहिये।

घृष्ट'—रगड़ या किसी दूसरे कारण से यदि अङ्ग त्वक् रहित हो गया हो र व्रणस्थान से उष्ण स्राव आता हो तो व्रण को घृष्ट कहते हैं। अंग्रेजी में प्रकार के घाव को 'कण्टचूजन' (Contusion) कहते हैं। इसमें वाह्या-त के कारण त्वचा नष्ट हो जाती है। पीड़ा, सूजन और विवर्णता रक्त के के कारण आ जाती है। यदि ढीले तन्तुओं में अभिघात हो तो रङ्ग काला जाता है। यदि रोपण होने लगें तो यह काला रङ्ग क्रमशः भूरा, हरा और वर्ण होकर लुप्त हो जाता है।

यदि रक्तस्राव होकर तन्तुओं में न फैल पावे या बाहर न निकल सके तो एक न पर एकत्रित होकर बड़ी सूजन के रूप में होकर रक्तवर्ण का हो जाता है र रक्त रस से भर जाता है। रचना एक छोटी अर्बुद (ग्रन्थि) सी हो जाती इसे अंग्रेजी में 'हीमेटोमा कहते हैं।

चिकित्सा— १. पिच्चित और विघृष्ट दोनों अवस्थाओं में रक्तस्राव अधिक होता-जिससे व्रण में दाह, पाक और ऊष्मा अधिक होती है। उसके शमन लिये शीतल आलेप और शीतपरिषेक प्रशस्त हैं।

२—इसमें शोधन, रोपण की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती परन्तु यदि पीड़ा कम होवे या जल्दी शोषण होकर रोपण न हो तो आवश्यक प्रक्षालनादि कर्म रना चाहिये। अन्यथा ठण्डे लोशन (घोलों का व्यवहार) के उपयोग व अङ्ग को विश्राम देने से ठीक हो जाता है।

३—अवचूर्णन-घृष्ट व्रणों में पीड़ा को मधु, मधुर शीत कषायों से दूर कर शाल, सर्ज, अर्जुन प्रभृति द्रव्यों के चूर्ण से अवधूलन करना चाहिये।

सद्योव्रण-सम्बन्धित कुछ अन्य व्याधियाँ (Shock etc.)

चिकित्सा की दृष्टि से समान होने के कारण प्रसङ्गवश विश्लिष्ट देह और ष्ट व्रण की भी विधियाँ बतलाई जाती है।

---

१. प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम्। सास्थि तत्पिच्चितं विद्याद् मज्जरक्तपरिप्लुतम् ॥ विगतत्वग्यदङ्गं हि संघर्षादन्यथापि वा। उष्णस्रावान्वितं तत्तु घृष्टमित्युपदिश्यते ॥

पिच्चित और घृष्ट दोनों ही Crushed infury में आते हैं और क्रमशः Contusion or laceration Contused wound के पर्य्याय रूप में व्यवहृत होते हैं।

विश्लिष्ट देह—कई बार वेग से झुकने, खीचने, ऊपर आदि साहसिक कर्मों से, दण्ड, मुष्टी आदि से हत होने पर पूरा हो जाता है। शरीर के प्रत्येक अवयव अपने स्थान से च्युत होने निष्क्रिय होकर शरीर को शिथिल कर देते हैं। ऐसी अवस्था में को विश्लिष्ट देह कहते हैं।

अध्वादि क्षीण—कई बार बहुत दूर तक पैदल यात्रा करने के यही हालत होती है, पेशियाँ थक जाती हैं, उनके भीतर 'लैक्टिक (अम्लता) के भर जाने से क्लान्ति आ जाती है। शिथिक शरीर हो जातीं है।

मर्महत—मर्म कहते है–हृदय को, उसके ऊपर अभिघात होना। शरीर की सभी महत्त्व की क्रियायें शिथिल पड़ जाती हैं। शिथिल, अचेत या निष्क्रिय हो जाता है। यह अवस्था अभिघात के साथ या बाद में भी आ सकती है। अंग्रेजी में इस मर्माभिघात को (Shock) कहते हैं।

विकृति यह होती है कि शरीर की केशिकायें विस्तृत हो जातीं गत रक्त का भार कम हो जाता है, जिससे पेशियों और रक्तवाहिनि प्रकार का विषसञ्चय हो जाता है। हृदय की गति तीव्र हो जाती है। के दो प्रकार किये जाते हैं—

प्राथमिक—यदि सिर और उदर पर गहरी चोट लग जाय तो परिणाम यह होता है कि संज्ञानाश हो जाता है, जो क्षणिक रहता है यावसाद के लक्षण होने लगते हैं। जैसे नाड़ी सूक्ष्म और क्षीण हो श्वासक्रिया उथली और मन्द हो जाती है, तापक्रम प्रकृतावस्था से जाता है, नेत्र आदि गर्त्त में चले जाते हैं, शीत स्वेद और शैथिल्य है। यदि रोगी की मृत्यु नहीं हुई तो शारीरिक प्रतिक्रिया होकर प्रकृतावस्था में रोगी आ जाता है। वमन और बेचैनी जारी रहती है।

द्वितीयक या औपद्रविक—दूसरे प्रकार का मर्महत लक्षण या आकस्मिक अभिघात के कुछ देर बाद आता है। यह अवस्था स्वतन्त्र आ सकती है और कई बार प्राथमिक के होने के कुछ देर बाद आ

के उत्पादन में कई कारण सहायक होते हैं, जैसे १. भय, २. पीड़ा, शीत, ४. उपवास, ५. रक्तस्राव, विस्तृत धातुओं का नाश, ६. महत्त्व के और विशेषतः मर्माङ्गों की चोट। इस परिस्थिति में निम्न लक्षण होते हैं— को बहुत उत्तेजना देने पर वह होश में आता और बुद्धिसङ्गत उत्तर देता नाड़ी क्षीण, तीव्रगतिक होकर तेजी से चलती है। श्वासक्रिया तीव्र और ी होती है। शाखायें शिथिल पड़ जाती हैं। तापक्रम प्रकृतावस्था से नीचे हो जाता है। मुख की आभा फीकी, पाण्डुवर्ण और गर्त्त में प्रविष्ट–आदि लक्षण होते हैं। शरीर शीत और स्वेद से आच्छादित रहता है।

कई बार मर्मंहत की अवस्था बिना किसी अभिघात या ईषत् अभिघात से पैदा हो जाता है जैसा विश्लिष्ट देह और अध्वक्षीण की अवस्था में ता है। चिकित्सा दोनों अवस्थाओं में एक ही होती है।

चिकित्सा—'विश्लिष्ट देह, वृक्षादि, ऊंचे स्थानों से पतित, बलवान क्तियों के द्वारा मसले (मथित) एवं दण्ड, मुष्टि आदि से पीटे गये (हत), अध्व-ा, अथवा मर्मंहत व्यक्तियों में एक ही प्रकार की चिकित्सा की जाती है। व्यक्तियों के शरीर को तैल से भरी हुई नौकासदृश काष्ठनिर्मित द्रोणी में ना चाहिये। पथ्य में मांसरस खाने को देना चाहिये।'[1]

शरीर और ऋतु के अनुसार तैलों, घृतों का प्रयोग सद्योव्रण के रोपण परि- और पान व्यवहार करना चाहिये।

यदि व्रणस्थान में पीड़ा हो तो कोष्ण सर्पि से अथवा बला तैल से परिषेक ना चाहिये।

यदि व्रण दुष्ट न हो, तो सामान्यतया सभी सद्योव्रण में समङ्गा, हल्दी, ा, पथ्या, तुत्थ, सुवर्चल पद्मक, रोध्र, मधुक, विडङ्ग, हरेणुक, तालीशपत्र, द, चन्दन, पद्मकेशर, मञ्जिष्ठा, उशीर, लाक्षा, क्षीरी वृक्ष के पल्लव, प्रियाल-ा, तिन्दुकी के कच्चे फल इन द्रव्यों में यथालाभ लेकर तैल पाक करके ोग करना चाहिये।

आधुनिक युग में मर्मंहत की चिकित्सा निम्नलिखित प्रकार से होती है—

---

[1] विश्लिष्टदेहं पतितं मथितं हतमेव वा। वासयेत्तैलपूर्णायां द्रोण्यां मांसरसाशनम्॥
अयमेव विधिः कार्यो क्षीणे मर्मंहते तथा॥

१. स्थिति — रोगी का सिर नीचे लटकाकर पैर ऊपर करके रखे

२. स्वेदन — गर्म पानी का बोतल चारो ओर, कम्बल के द्वार
शाखाओं पर गर्म पट्टियाँ या बिजली की बत्ती के द्वारा स्वेद।

३. संशामक — अहिफेन अल्पमात्रा में विशेषत: पीड़ा अधिक होने

४. प्राणवायु सूंघने के लिये देना-इसमें कार्बन डायाक्साइड १०
रहता है।

५. सन्तर्पण — शिरा के द्वारा रक्त, लवण विलयन, द्राक्षश
आदि देना।

६. हृदयोत्तेजक औषधियाँ — पिट्यूटरीन, एड्रेनैलिन, कोरामीन
जक औषधियाँ दी जाती है।

सामान्यतया सद्योव्रण में एक सप्ताह तक कषाय, मधुर, शीत
क्रियायें करनी चाहिये पश्चात् यथावश्यक अन्य क्रियायें की जा सकती है

अभी तक जितने उपचार बतलाये गये हैं वे ऐसे व्रणों के हैं जि
जनक जीवाणुओं का उपसर्ग नहीं हुआ है। यदि उनमें उपसर्ग हो
वे व्रण दुष्ट कहलाते हैं। इनमें व्रण का पूरण बहुत देर से होता है।
इनका भरना भी सम्भव नहीं रहता। इसका वर्णन पूर्ण दुष्ट व्रण
heeling wounds) के नाम आमपक्वैषणीयाध्याय में हो चुका है
पर चिकित्सा बतलाई जा रही है।

इनकी चिकित्सा में कई तत्त्वों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता

दुष्ट व्रण चिकित्सा — १. शोधन-वमन और विरेचन करा के
ऊर्ध्वाधः दोनों प्रकार से शोधन किया जाता हे। ऊपर के अङ्गों के
वमन के साथ-साथ शिरोरेचन भी किया जाता है और नाभि के
व्रणों में विरेचन के साथ-साथ आस्थापन के द्वारा भी दोष का निर्ह
जाता है।

२. विशोषण — लङ्घन कराना या तिक्त, कटु, कषायादि द्रव्यों से
आहार देना चाहिये।

३. शोणितमोक्षण।

४. सुरसादि कषाय या आरग्वधादि कषाय से प्रक्षालन करना।

. शोधन तैल—उपर्युक्त क्वाथ्य द्रव्यों से पका हुआ तैल शोधन के लिये हिये । या क्षारद्रव्यों से सिद्ध क्षार तैल का प्रयोग करना चाहिये ।

. दोषानुसार—वातिक में—सैन्धव, त्रिघृत्, एरण्डपत्र कल्क सिद्ध तैल ।
तिक में—त्रिवृत्, हरिद्रा, मधुक कल्क से सिद्ध तैल ।
फज में—तिल, तेजोह्वा, दन्ती, स्वर्णिक और चित्रक से सिद्ध तैल ।

न तैलों के द्वारा दुष्ट व्रणों में दोषानुसार शोधन करना चाहिये । मेह और व्रणों में भी इनके द्वारा लाभ होता है ।

. सामान्यतया सर्वत्र व्यवहृत होने वाला दुष्ट व्रण में लाभप्रद घृत या तैल खित औषधियों के योग से सिद्ध होना चाहिये ।

न्ती, चिरबिल्व, दन्ती, चित्रक, पृथ्वीका, निम्बपत्र, कासीस, तुत्थ, तेजोवती, नीली, हरिद्रा, सैन्धव, तिल, भूमिकदम्ब, सुवहा, शुका, लाङ्गली जालिनी, मदयन्ती, मृगादनी, सुधा, मूर्वा, अर्क, कीटारि, हरिताल, यथालाभ इन द्रव्यों से सिद्ध तैल या घृत बना लेना चाहिये ।[1]

न सद्योव्रणों की श्रेणी में कुछ ऐसे भी व्रण आते हैं जो विशेषतः कीट, क, लूता आदि कम विष वाले या सर्प आदि भयङ्कर विषवाले जीवों के दंश जाते हैं । इनको विषयुक्त व्रण (Poisoned wound) कहते हैं । विशेष उल्लेख कल्प स्थान के अध्यायों में विषों की चिकित्सा लिखते हुए यान किया गया है । यहाँ पर केवल वैसे सद्योव्रण का वर्णन है जो यन्त्र ों के अभिघात से बनते हैं ।

त्रयोदश प्रकरण

विद्रधिनिदानचिकित्सीयाध्याय

(Abscess and treatment)

याख्या-सम्प्राप्ति—व्रण शोफ के अध्याय में तीन अवस्थाओं का, आम, न और पक्वावस्था का, वर्णन हो चुका है । वहाँ पर बतलाया गया है कि

---

[1] सु. चि. २

पच्यमानावस्था पूयोत्पादन (Suppuration) की है, पक्वावस् है । विद्रधि-शोफ का ही परिणाम है । इसके भीतर पच्यमानावस्था वस्था दोनों का ग्रहण हो सकता है । अंग्रेजी में इस अवस्था (Abscess) कहते हैं—इसकी दो अवस्थायें हो सकती हैं । तीव्र कालीन । चिरकालीन प्रकार की समता श्लैष्मिक विद्रधि से होती है तीव्र से ।

एक सीमित स्थान में पूयसंग्रह, जो चारों ओर ऐसे धातुओं से जिनमें शोथ के परिवर्त्तन स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं वह विद्रधि क प्रारम्भिक अवस्था में लालिमा, रक्ताधिक्य और स्राव होता रहता है धातुओं में नई-नई रक्तवाहिनियां वनने लगती हैं, नवजात मांसाङ्कुर जो वाद में सफेद सौत्रिक तन्तु (Fibrous tissues) के रूप में हैं, जब रोपण होने लगता है तब इस प्रकार विद्रधि की दीवाल तैय है जिसके गर्त में तरल पूय पड़ी रहती है ।

यह विद्रधि आयाम में बढ़ती-जाती है जिधर कम से कम प्रति उधर पूय फैलती-जाती है । कुछ धातु जल्दी गल जाते और कुछ दे कई वार विद्रधि में छोटे कोष (Loculated) बनते जाते हैं, करने पर बड़े अवकाश (Pus pockets) होकर पूय से भर जा चिकित्सा न की जावे तो पूय गहरी धातुओं में दूर तक प्रविष्ट हो इसके कि वह बाह्य त्वचा पर आकर फूटे और बहे ।

इसलिये सर्जन के लिये यह एक महत्त्व का कार्य है कि पूयोत्पा निदान करके विद्रधि की हानिप्रद प्रक्रिया से रक्षा करने के लिये का निर्हरण कर ले ।

चिरकालीन प्रकार की विद्रधि में उपर्युक्त विकृति अधिक तीव्र तथा लक्षण और चिह्न भी बहुत प्रबल नहीं होते । पूयोत्पादन धीरे-

---

१. त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थि समाश्रिताः ।
दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम्
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं चाप्यथवायतम् । तमाहुर्विद्रधिं धीराः । ""॥
विद्रधिं द्विविधामाहुर्बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा ।

धि देर से बनती है । तीव्र अवस्था की विद्रधि का वर्णन सुश्रुत ने इस प्रकार है—

'अत्यन्त प्रकुपित हुए दोष हड्डियों का आश्रय करके त्वचा, रक्त, मांस और इन्हें दूषित करके धीरे-धीरे भयंकर शोफ उत्पन्न करते हैं । उस पूययुक्त, र मूल पीडायुक्त, गोल अथवा दीर्घ फैले हुए उभार को बुद्धिमान वैद्य विद्रधि हैं ।'

ग्रन्थ में प्रधानतया विद्रधि के दो भेद बतलाये गये हैं—बाह्य और आभ्य- । इसका क्या अर्थ है, इसके सम्बन्ध में तीन बातें द्रष्टव्य हैं ।

१. चरकसंहिता में तीन रोगमार्ग बतलाये गये हैं-(क) शाखा (बाह्यमार्ग) में त्वचा और रक्तादि धातुओं का ग्रहण है, (ख) मर्मास्थिसंधि (मध्यममार्ग) के भीतर हृदय, बस्ति, मूर्धादि मर्माङ्ग एवं संधि और अस्थियों का समावेश है, कोष्ठ (आभ्यन्तर मार्ग) महास्रोत का ग्रहण है । इन तीनों मार्गों में से यदि धि का अवस्थान बाह्य मार्ग में हो तो बाह्य विद्रधि और मध्यम और आभ्य- मार्ग में हो तो आभ्यन्तर विद्रधि कही जायगी ।

२. दूसरा मतलब यह हो सकता है कि शरीर में भी त्वचा, मांस, स्नायु आदि त्पन्न होने वाली विद्रधि बाह्य और अन्तःशरीर में होने वाली विद्रधि आभ्य- रीय कहलाती है ।

३. किंवा अधिक गहरा, अधिक मोटा, अधिक दारुण और अधिक घातक विद्रधि हो तो अभ्यन्तरीय अन्यथा बाह्य कहेंगे ।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर विद्रधि की व्याख्या टीकाकारों ने तीन र से की है । परन्तु इनकी व्याख्या यदि निम्नलिखित ढंग से की जाय तो का समन्वय हो जायगा ।

'शिरोगुहा, उरोगुहा' उदरगुहा में उत्पन्न होनेवाली विद्रधि अभ्यन्तरीय शाखाओं में तथा उरोगुहा, उदरगुहा और शिरोगुहा की प्राचीर में होनेवाली धि बाह्य है । जैसे वंक्षण विद्रधि यदि उदर प्राचीर के वंक्षण विभाग में हो बाह्य और उदरगुहा के वंक्षण विभाग में जैसे—(Appendicitis) हो तो न्तरीय समझी जाय ।'

विद्रधि की संख्या या प्रकार—

विद्रधि

बाह्य

१. वातिक
२. पैत्तिक
३. श्लैष्मिक
४. साग्निपातिक
५. क्षतज
६. रक्तज

आभ्यंतर स्थान भेद से

१. गुदविद्रधि (Ischio Rectal Absces
Rectal Abscess
२. बस्तिविद्रधि (Cystic or Prostatic a
३. नाभिविद्रधि
४. कुक्षिविद्रधि
{ Localised peritonitis,
neal Abscess. Connect
Lumder or Illiac regi
५. वंक्षणविद्रधि (Psoas abscess)
६. दक्षिण वंक्षणविद्रधि (Appendicular A
७. वृक्कविद्रधि (Pyelonephritis, pyon
Perinephric Absces
८. यकृतविद्रधि (Liver Abscess)
९. प्लीहविद्रधि (Spleenic abscess)
१०. हृदयविद्रधि (Purulent pericarditis)
११. क्लोमविद्रधि (Subphrenic Abscess o
tonsillor Abscess or
Abscess or Brain Ab
१२. मक्कलविद्रधि (Putrid Endometritis o
rperal Abscess or sep
१३. मज्जपरीपाक (Acute infective osteo

स्थानिक—लक्षण तथा चिह्न

१—विदाह—विद्रधि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है वि
वाली वस्तु । दुष्ट रक्त की अति मात्रा होने के कारण जल्दी-जल्दी वि

र विदाह होने की वजह से विद्रधि कही जाती है 'अङ्गारे से जलने के समान न होती है।'[1]

२—मन्थनवत् पीडा (Throbing pain)

३—उभार या भूरे रङ्ग की सूजन—जो दबाने पर पिचक जाती है।

४—दृतिवत् तरङ्ग-प्रतीति—बस्ति में उदक-संचरणवत् प्रतीति। (पूय से रहने की वजह से)।

सार्वदैहिक—

१—ज्वर

२—शीत के साथ विषमज्वर सदृश ज्वर का आना और स्वेदागम।

३—रक्तदोष-सूक्ष्मदर्शक के द्वारा रक्त के श्वेत कणों की संख्या बहुत बढ़ जाती है, प्राकृतिक ६०००—८००० तक की संख्या बढ़कर २००००—४०००० हो जाती है।

उपर्युक्त लक्षण दोष-निरपेक्ष सामान्य बतलाये गये हैं। वर्ण, वेदना, दाह लक्षणों के तरतम भेद के द्वारा छः प्रकार के विशिष्ट लक्षण आगे बतलाये रहे हैं—

वातिक विद्रधि—कृष्ण अथवा किञ्चित् रक्तवर्ण, परुष, तीव्र पीड़ायुक्त, विध प्रकार से उठने और पकने वाली होती है। स्राव पतला आता है।

पित्त विद्रधि—पके हुए गूलर के फल समान वर्ण वाली, या उर्द के रङ्ग ज्वर-दाहयुक्त, शीघ्र उठने और पकने वाली होती है। स्राव पीला आता है।

---

[1] विद्हतीति विद्रधिः। शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते।

त्वग्रक्तमांसमेदांसि सन्दूष्यास्थि समाश्रिताः।
दोषाः शोथं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम्॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं वाप्यथवायतम्।
स विद्रधिरिति ख्यातो विज्ञेयः षड्विधश्च सः॥
पृथग् दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा।
षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं सम्प्रवक्ष्यते॥ (सु. नि. ९)

दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्रं विदह्यते।
ततः शीघ्रविदाहित्वाद् विद्रधीत्यभिधीयते॥ (च. सू. १७)

श्लेष्म विद्रधि—शराव (सकोरे) के समान फैला हुआ, शीत, स्तब्ध, अल्पपीड़ा युक्त, कण्डू-युक्त, देर में उठने वाला और होता है। इसकी समता 'कोल्ड एब्सेस' से है। स्राव श्वेत वर्ण का है

सान्निपातिक विद्रधि—अनेकविध वर्णयुक्त, अनेकविध पीड़ा युक्त, अत्यन्त उभरी हुई, अधिक फैली हुई विषम आकार की, वि पकने वाली होती है।

आगन्तुक या क्षतज विद्रधि—काष्ठ, लोष्ठ, पाषाणादि से आ पर अपथ्य सेवन करने वाले का वायु से प्रेरित क्षतोष्मा रक्त के साथ प्रकुपित करता है। इससे उस व्यक्ति को ज्वर, दाह और तृष्णा होती आगन्तुक विद्रधि पित्त-विद्रधि के सदृश होती है।

रक्तज विद्रधि—कृष्ण वर्ण के स्फोठों से घिरा हुआ, सांवले तीव्र दाह, तीव्र पीड़ा, तीव्र ज्वर युक्त—पित्त विद्रधि के लक्षण को होती है।

साध्यसाध्यता—उपर्युक्त बाह्य विद्रधियों के भेद का वर्णन हो चु प्रायः सभी साध्य होती हैं। केवल सन्निपातजन्य विद्रधि आसाध्य माने

आभ्यन्तर विद्रधि या अन्तर्विद्रधि

उपर्युक्त लक्षण और चिह्नों के दोषानुसार समान लक्षण वाली विद्रधियाँ होती हैं, जो शरीर के अन्तःस्थ अङ्गों में पाई जाती हैं। इ विद्रधि की संज्ञा है। ये अधिकतर शिरोगुहा, उदरगुहा, और उरोगुह के अङ्गों में पाई जाती हैं। इनकी पक्वापक्वावस्था का ज्ञान भी आम ध्याय के सूत्रों के अनुसार होता है। इनके कई स्थान बतलाये गये बस्ति का मुख, नाभि, कुक्षि के दोनों पार्श्व, दोनों वंक्षण, वृक्क, यकृ हृदय तथा क्लोम' इन स्थानों में प्रायः अन्तर्विद्रधियाँ होती हैं। प

---

१. तेषां लिङ्गानि जानीयाद् बाह्यविद्रधिलक्षणैः।
आमपक्वैषणीयाच्च पक्वापक्वं विनिर्दिशेत ॥
गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वंक्षणयोस्तथा।
वृक्कयोर्यकृति प्लीह्नि हृदये क्लोम्नि वा तथा ॥

आधुनिक पारिभाषिक (Anatomical terminology) शारीरिक के अनुसार निश्चित नहीं हैं, न इनके विस्तृत लक्षण ही दिये गये हैं। फलतः निक शल्यशास्त्र में प्रचलित रोगों का बोध इनके द्वारा ठीक नहीं हो पाता। प उनकी समानता करके अंग्रेजी भाषा में उल्था, वर्गीकरण में किया गया आभ्यंतर विद्रधियों के स्थानानुसार भेद कर उनके नाम आंग्ल भाषा में गये हैं।

हेतु और सम्प्राप्ति—गरिष्ठ भोजन, असात्म्य भोजन, विरुद्ध भोजन, भोजन, पथ्यापथ्य के मिश्र भोजन से, अति मैथुन से, अति शारीरिक म से, मूत्रादिवेगों के रोकने से, विदाहजनक वस्तुओं के सेवन से, कुपित दोष, पृथक् अथवा मिलकर गुल्म के स्वरूप का गोल और वल्मीक के सदृश और उन्नत अंतर्विदधि को पैदा करता है। अधिष्ठान भेद से विशिष्ट मिलते हैं। जैसे—

यदि अंतर्विद्रधि गुद में हो तो वात का निरोध, बस्ति में हो तो मूत्र कष्ट ड़ा-थोड़ा और गंदला निकलता है। नाभि में हो तो हिक्का तथा आध्मान, में हो तो वायु का कोप होता है। वंक्षणों में विद्रधि हो तो कमर और में सख्त जकड़न होती है। वृक्कों में हो तो पार्श्व में संकोच पैदा होता है। में हो तो साँस लेने में रुकावट होती है। हृदय में हो तो सर्व शरीर में जकड़न और हृदय में तीव्र शूल होता है। यकृत में हो तो श्वास और होती है। क्लोम में हो तो अधिक प्यास लगती है।

रक्तज विद्रधि—बाह्य रक्तज विद्रधि का ऊपर वर्णन हो चुका है—यहाँ पर अंतर्विद्रधि का वर्णन किया जावेगा। 'अकाल में प्रसूता या योग्य समय में स्त्रियों को कुपथ्य करने से दाह और ज्वर करने वाली भयंकर रक्तज हो जाती है। योग्यकाल में प्रसूता स्त्रियों में गर्भाशय से न निकाला हुआ कुक्षि (गर्भाशय) में मक्कल संज्ञक रक्तज विद्रधि को उत्पन्न करता है यदि विद्रधि एक सप्ताह में शान्त न हो सके तो पक जाती है।' इन वाक्यों के र पर इस प्रकार की विद्रधि को आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा में Putried-ometritis कह सकते हैं।

---

१. सन्निपातज विद्रधि असाध्य है।

साध्यासाध्यता—२. आम हो या पक्क, बड़ा हो या छोटा, उत्पन्न हुई प्रत्येक विद्रधि कष्टसाध्य होती है।[1]

३. नाभि के ऊपर की विद्रधियाँ अर्थात् प्लीह, यकृत्, क्लोम विद्रधियाँ पककर ऊपर को मुख से निकलती हैं। अन्य नीचे की झरती हैं। इनमें नीचे की ओर झरने वाली विद्रधियों से मनुष्य परन्तु ऊपर की ओर झरने वाली विद्रधियों से मनुष्य नहीं बचता।

४. हृदय, नाभि, और बस्ति के अतिरिक्त अन्तर्विद्रधि बाहर कर बहने से कदाचित् मनुष्य जीवित रह सकता है-परन्तु हृदय, बस्ति की विद्रधि बाहर फूटने पर कदापि जीवित नहीं रह सकता।

हृदय, नाभि, बस्ति इनका पक्क अंतर्विद्रधि और सान्निपाति असाध्य होती है।

✓ गुल्म और विद्रधि में भेद[2]–Differential points in Tumour and Abscess)

१. गुल्मों के लिए बंधन नहीं होता विद्रधि के लिये बंधन होता है

---

१. तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः।
आमो वा यदि वा पक्वो महान् वा यदि वेतरः।
सर्वो मर्मोत्थितश्चापि विद्रधिः कष्ट उच्यते॥
नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः।
जीवत्यधोनिःस्रुतेषु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति॥
हृन्नाभिबस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः।
जीवेत् कदाचित्पुरुषो नेतरेषु कदाचन॥ (सु. नि. ९)

२. कस्मान्न पच्यते गुल्मो विद्रधिः पाकमेति च।
न निबन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रधिः सन्निबन्धनः॥
गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते।
विवरानुचरो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुदको यथा॥
एवंप्रकारो गुल्मस्तु तस्मात् पाकं न गच्छति।
मांसशोणितहीनत्वाद् गुल्मः पाकं न गच्छति॥
मांसशोणितबाहुल्यात् पाकं गच्छति विद्रधिः।
गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते॥
विद्रधिः पच्यते तस्माद् गुल्मश्चापि न पच्यते।

रक्त-मांसादि का बंधन न होने के कारण संचारी होता है अर्थात् स्थानान्तर करने वाला होता है। परन्तु इसके विपरीत विद्रधि में रक्त-मांसादि दूष्य का बंधन होने के कारण वह एक स्थान में निबद्ध रहता है।

२. गुल्माकाराः स्वयं दोषाः—दोष स्वयं गाँठ के आकार के बनते हैं और विद्रधि में मांस और शोणित स्वयं विद्रधि बनाने भाग लेते हैं। फुटवाल में जैसे वायु भर जाने से एक विशेष आकृति हो जाती है और स्पर्श-लभ्य हो जाता है। उसी प्रकार गुल्म में वायु स्वयं परिपिण्डित होकर गुल्म की आकृति ले लेती है और स्पर्शलभ्य हो जाती है। विद्रधि में आकार मांस और शोणित का बनता है।

३. जैसे जलस्थ अवकाश में विचरण करने वाली गांठ बुदबुद (बुलबुला) होता है, वैसे ही कोष्ठस्थ अवकाश में (विवरानुचर) विचरण करने वाली गांठ (ग्रंथि) गुल्म होता है। अर्थात् जैसे वायु से जल के अवकाश में बुलबुला बनता है, वैसे ही ठीक वायु से कोष्ठ के विवरों में गोलाकार गुल्म बनता है। इस प्रकार गुल्म रिक्त स्थानों में उत्पन्न होता है और विद्रधि रक्त एवं मांस के स्थान में उत्पन्न होती है।

४. गुल्म में पाक नहीं होता और विद्रधि में पाक होता है शरीर में पाकोत्पत्ति होने के लिये पाच्य और पाचक दोनों की आवश्यकता है। दूष्य और दोष दोनों का सङ्गम होने पर पाक सम्भव है। गुल्म में दोष हो विशेषकर वायु ही परिपण्डित हो कर रहता है—पाच्य द्रव्य दूष्यों का प्रायः अभाव रहता है—इसलिये पाक नहीं होता। परन्तु विद्रधि में इसके विपरीत मांस और रक्त में अवस्थान होता हैं, मांस और रक्त की अधिकता होती है। दूष्य मांस-रक्त विकृत दोषों के साथ संयुक्त होकर (पाचक और पाच्य दोनों भावों की विद्यमानता की वजह से) पाकोत्पत्ति करते हैं। संक्षेप में गुल्म में मांस और रक्त का अभाव रहता है. इन धातुओं में दोष का अवस्थान नहीं रहता इस लिये गुल्म पकता नहीं उपर्युक्त दोनों भावों की उपस्थिति विद्रधि में रहती है अस्तु, विद्रधि पकती है।

विद्रधि और गुल्म की उत्पत्ति समान दोषों से ही होती है। यदि उपर्युक्त भेदसूचक वर्णनों पर विचार किया जावे तो स्पष्ट हो जाता है कि सञ्चरण शील गुल्म एक प्रकार का हृदय और नाभि के बीच उदरस्थ अङ्गों में (विशेषतः

आन्त्रों में) होने वाला एक अर्बुद या उभार है—जो आन्त्र में वायु के कारण होता है। वायु आन्त्र के एक भाग को वायु के द्वारा विस्तृ देती है जो ऊपर से फूला हुआ गोला (Abdominal tumour d distension of a part of Intestinal Coil) की भाँति दि पड़ता है। यह गुल्म कहलाता है। यदि वायु का अनुलोमन हो जाय सञ्चारी गुल्म भी नष्ट (अपचय प्राप्त) हो जाता है।

विद्रधि एक सीमित स्थान पर किसी भी बाह्य या आभ्यन्तर अङ्ग वाला उभार है। वह किसी क्षण प्रकट हो जाय दूसरे क्षण हो जाय चयवान) या दबाने से स्थानान्तर कर सके (सञ्चारी) ऐसा नहीं है। स्थायी विकृति है, उसका रक्त और मांसादि धातुओं में आश्रय होता है, मूल होता है और वास्तु परिग्रहवान् होता है। जब उसमें पूयोत्पत्ति हो है, पूय निकल जाती है, तब व्रण का रूप ले लेता है।

चरक ने गुल्म में पाक होना बतलाया है, और विद्रधि की भाँति पक्वापक्वावस्था का निदान, चिकित्सा में उपनाह और शस्त्रकर्म का भी बतलाया है। परन्तु पाक की अवस्था में आने वाले गुल्म को गुल्म न विद्रधि ही कहना अधिक उचित है। क्योंकि जैसे वर्णन संहिताकार ने है वह विद्रधि का ही है—पकने वाले गुल्म की तीन विशेषतायें दी '१. कृतवास्तुपरिग्रह, १. कृतमूल, ३, रक्तमांसश्रयी'।

यहाँ पर स्पष्ट है 'कि गुल्म का पाक तो इसी लिये नहीं होता कि निराश्रय रहता है, यदि वही गुल्म कारणवश मांसादिक का आश्रय प्रा लेता है और स्वेदोपनाह आदि उपचारों से रक्त दुष्ट होकर वहाँ पर वि लक्षणों के समस्त विद्रधि का ही रूप ले लेता है।' इसलिये चरकोक्त मुख गुल्म विद्रधि के ही तुल्य है। ऐसा मान लेने से यह सामान्य भी रह जाता है कि विद्रधि में पाक होता है गुल्म में नहीं।'

चिकित्सा वातिक विद्रधि—अपक्वावस्था में गमन के लिये वात धियों के मूल और कल्क से सिद्ध घृत, तैल तथा कल्क का लेप करना चाहि सुखोष्ण और मोटा होना चाहिये। आनूप और औदक मांसरस और ल्यादि गण से तर्पण करना चाहिये। वायु शमन के लिये और भी स्नेह और लवण रसों का प्रयोग करना चाहिये। वेशवार (मांस), कृशर

ण्डुल और माषकृत), उष्णक्षीर, उष्णजल, पायस (दूध में पकाया चावल) व्यों से स्वेदन करना चाहिये। शृङ्ग के द्वारा रक्तावसेचन करना चाहिये। यदि न विधियों से शोथ न शान्त हो, और पाकाभिमुख जान पड़े, तो पाचक औष- यों से पकाना चाहिये।

जब विद्रधि पक गई हो—

१. भेदन (Incision) करना चाहिये, भेदन सबसे अधिक निराश्रय Dependent) स्थान में देना चाहिये। यदि कहीं पर पूय के संश्रय Locules) हो तो उनको भी काट-काट कर साफ करना चाहिए।

२. पूय का निर्हरण—कई बार इस कार्य के लिये यदि घाव गहरा हो, र की (Drainage) नलिका लगाकर भी पूय को साफ करना चाहिये।

३. व्रणशोधन (Ascptic & antiseptic dressing etc)—इसके ये लवण विलयन पञ्चमूलकषाय में प्रक्षालन—भद्रादिद्रव्य मधुक द्रव्यों से द्ध तैल वैरेचनिकयुक्त त्रिवृतादि क्काथ से विशोधन।

४. रोपण (Avoidence of damage the abscess wall y strong chemicals)—इसके लिये तीक्ष्ण औषधि का प्रयोग न कर मधुर षायादि द्रव्यों का प्रयोग करने से मांसाङ्कुर स्वस्थ बनते हैं। घाव जल्दी भरता । इसके लिये पृथक्पर्ण्यादि-सिद्ध स्नेह प्रयुक्त होता है।

पैत्तिक विद्रधि—अपक्वावस्था में शर्करा, लाजा मधुक, सारिवा, क्षीर-कोली, चन्दन आदि द्रव्यों को दूध से पीस कर लेप करना चाहिए। शीत ायों के द्वारा दूध जीवनीय घृत (शर्करायुक्त) और ईख के रस से सिञ्चन रना चाहिए। त्रिवृत् और हरीतकीचूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटने के ये देना चाहिए। जलौका के द्वारा रक्तवसेक भी किया जा सकता है। यदि उपचारों से शोफ शान्त न हो और पाकाभिमुख जान पड़े तो पाचक षधियों के द्वारा पकाना चाहिये।

जब विद्रधि पक्वावस्था में आजाय तो—

१. भेदन करना चाहिए।

२. पूय के निर्हरण की व्यवस्था करनी चाहिए।

३. व्रण के शोधन के लिए क्षीरीवृक्ष कषाय, जलवनस्पतियों या तिल, मधुयष्टिकाचूर्ण घृत और मधु के साथ मिला कर लेप करना और ऊपर से पट्टी बांध देना चाहिये ।

४. व्रण-रोपण के लिए—१ प्रपौण्डरीक, मञ्जिष्ठा, मधुक, उशीर, हरिद्राचूर्ण और दूध से पाक कर घृत का प्रयोग करे । २. क्षीरविदारी, पर्णी, मजीठ, रोध्र, चन्दन, न्यग्रोधादि के पत्ते या छाल के द्वारा सिद्ध का प्रयोग करना चाहिये ।

करञ्जाद्यघृत—पूतिकरञ्ज के पत्ते, कच्चे फल, चमेली के पत्ते, और नीम के पत्ते, दोनों हल्दी, मधूच्छिष्ट, मुलैठी, तिक्तरोहिणी, प्रियङ्‌ मूल, वेत का छिलका, मञ्जिष्ठा, चन्दन, उशीर, उत्पल, सारिवा, त्रिवृ का एक एक कर्ष लेकर, एक प्रस्थ की मात्रा में लिये हुए घृत का पाक करे । इस घृत को करञ्जाद्य घृत कहते हैं ।

यह एक विशेष घृत है, जिसका प्रयोग, दुष्टव्रण, नाडीव्रण, व्रण, ऐसे विकृत व्रण जो अनेक उपचारों के बावजूद भी न भरते हों, अग्निदग्ध या क्षारदग्ध दारुण व्रणों में स्वतन्त्रतापूर्वक किया जा सक सभी प्रकार के व्रण निश्चित रूप से शान्त हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं।

श्लैष्मिक विद्रधि—अपक्वावस्था में ईंट, लोष्ट, बालू, गोशकृत् (गो (भूसी), धूलि आदि द्रव्यों को उष्ण करके स्वेद करना चाहिये । उष्ण मूत्रों सतत करते रहना चाहिये । कई प्रकार के श्लेष्मघ्न क्वाथों के आभ्यन्तर वमन, आलेप और उपनाहादि क्रियाओं के द्वारा अनवरत प्रयत्न करके शमन करना चाहिये । अलाबू के द्वारा रक्तावसेचन भी किया जाता है विद्रधि न शान्त हो तो पाचक योगों का बाह्यालेपन करके पकाना चाहि

पक्वावस्थायें—

१. विद्रधि का भेदन—(अवपाटन)

२. पूय का निर्हरण

३. व्रण का शोधन करने के लिये — आरग्वधादि कषाय से प्रक्षालन त्रिवृत , शक्तु, तिल मधु आदि का लेप बनाकर व्रण को भरक करना चाहिये ।

कुल्थी, दन्ती, त्रिवृत, श्यामा, अर्क, तिल्वक द्रव्यों से सिद्ध तैल गोमूत्र र सैन्धव मिलाकर शोधन के कार्यों में दे सकते हैं।

४. रोपण—करञ्जाद्य घृत से।

रक्तज और आगन्तुक विद्रधियों में—पित्त-विद्रधिवत् पूरी क्रियायें ी चाहिये।

अन्तर्विद्रधि-चिकित्सा

अन्तर्विद्रधियों की चिकित्सा के सम्बन्ध में सदैव प्रयास करना चाहिये, कि वह पाक को न प्राप्त हो अर्थात् पके नहीं क्योंकि परिपाक हो जाने पर कित्सा में सफलता की आशा नहीं रहती या अल्प रहती है।[1]

अपक्वावस्था में आभ्यन्तरोत्थ विद्रधि में–सामान्यतया आभ्यन्तरोपचारों में–[2]

१. वरुणादि गण का क्वाथ ऊषकादि प्रतीवाप के साथ पिलाना चाहिये।

२. उपर्युक्त दोनों वर्गों से सिद्ध घृत का प्रयोग—प्रायः-प्रातः इस घृत का न शीघ्रता से विद्रधि को नष्ट कर देता है।

३. उपर्युक्त औषधियों से सिद्ध स्नेह-संयुक्त आस्थापन और अनुवासन भी रना चाहिये।

---

[1] नोपगच्छेद्यथापाकं प्रयतेत सदा भिषक्।
पर्यागते विद्रधौ तु सिद्धिर्नैकान्तिकी स्मृता॥

[2] वरुणादिगणक्वाथमपक्वेऽभ्यन्तरोत्थिते।
ऊषकादिप्रतीवपं पिवेत् सुखकरं नरः॥
अनयोर्वर्गयोः सिद्धं सर्पिर्वैरेचनेन च।
अचिराद्विद्रधिं हन्ति प्रातः प्रातर्निषेवितम्॥
एभिरेव गणैश्चापि संसिद्धं स्नेह-संयुतम्।
कार्यमास्थापनं क्षिप्रं तथैवाप्यनुवासनम्॥
पानालेपनभोज्येषु मधुशिग्रुद्रुमोपि वा।
दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम्॥
तोयधान्याम्लमूत्रैस्तु पेयो वापि सुरादिभिः।
यथादोषगणक्वाथैः पिवेद्वापि शिलाजतु॥
प्रधानं गुग्गुलं वापि शुण्ठीं च सुरदारु च।
स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च सदा चाप्यनुलोमनम्॥ (सु० चि १६)

४. शिग्रु और मधु का प्रयोग—इसके आंतरिक प्रयोग से अपक्व
नष्ट होती है।

दोषानुसार वाताधिक्य में धान्याम्ल में मिलाकर। पित्ताधिक्य
मिलाकर। श्लेष्माधिक्य में गोमूत्र में मिलाकर या सुरा में प्रक्षेप
पीना चाहिये।

५ उपर्युक्त क्वाथों में जो दोषानुसार वतलाये गये हैं उनमें मधु
के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का भी प्रक्षेप डाल सकते हैं। जैसे—

(क) शिलाजतु। (ख) गुग्गुलु। (ग) शुण्ठी। (घ)

६. अनुलोमन— स्निग्ध क्रियाओं के द्वारा अनुलोमन करते रहना

उपर्युक्त ओषधियों के द्वारा पूयोत्पादन बन्द हो जाता है यदि हो
शोषण हो जाता है। आधुनिक युग में आज इस ज्ञान का बहुत
देखने को मिलता है। बहुत ऐसे रासायनिक योग हैं, जिन्हें 'सल्फा
हैं, व्यवहृत होने लगे हैं। सबसे आधुनिकतम विज्ञान का विकास 'पेनसी
रूप में प्रतिफलित हुआ है। इसके अनन्तर विविध नामों से वृहत्तर क्षेत्र
(Broad Anti Biotics) भी आने लगे हैं जैसे—क्लोरम फेनि
साइक्लिन प्रभृति। इनका भी अन्तिम लक्ष्य वही है जो प्राचीन युग में
ओषधियों का रहा।[1]

७. सिरावेध—कफ-लक्षण-प्रधान विद्रधि हो तो—वाम पार्श्व में
स्तन के मध्य में सिरावेध करना चाहिये।

रक्त, पित्त, और वायु-प्रधान लक्षणों में कूर्पर (वाहुमध्य) सिरा
करना चाहिये।[2]

पक्वावस्था में यदि उपर्युक्त उपचारों से विद्रधि नहीं शान्त हो और
ऊपर की ओर उन्नद्ध दीखने लगे तो उसका भेदन करके व्रणवत् शोध
प्रभृति उपचार करनी चाहिये। साथ ही साथ निम्नलिखित योगों द्वा
न्तरिक व्यवस्था करनी चाहिये।

---

[1] दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम्।

[2] यथोद्दिष्टां सिरां विध्येत्कफजे विद्रधौ भिषक्।
रक्तपित्तानिलोत्थेषु केचिद्बाहौ वदन्ति तु॥ (सु० चि० १६)

१. मैरेय, अम्ल, सुरा आसव का पान ।
२. वरुणादि कषाय, ऊषकादि प्रतीवाप ।
३. मधुशिग्रुद्रुम योग ।
४. शिग्रुमूल के क्वाथ में सिद्धार्थक (सरसों का प्रक्षेप) डालकर लेना ।
५. यव, कोल, कुल्थी का यूष ।
६. तैल्वक घृत का मात्रा से प्रातः प्रातः सेवन ।
७. त्रिवृतादिगण-सिद्ध क्वाथ ।

मज्जपरीपाक और चिकित्सा

(Iufective Osteo myelitis & treatment)

यह एक भयङ्कर स्वरूप का रोग है जो अधिकतर बाल्यावस्था में होता है। धुनिक वर्णनों में इसके दो भेद बतलाये जाते हैं । तीव्र और मध्यम (Acu· and subacute) यह भेद केवल लक्षणों की तारतम्यता के अनुसार ना गया है । सुश्रुत ने इसका बड़ा ही विशद और रोचक वर्णन किया है भी कभी अस्थि की विद्रधि में मज्जा का भयङ्कर परिपाक उत्पन्न होता है । व वह परिपाक अस्थि और मांस के अवरोध से बाहर आने के लिये द्वार नहीं ता है तब उस व्याधि से पीड़ित वह मनुष्य अग्नि की तरह दाह से पीड़ित ता है । मन्द अग्नि में रखी हुई चीज जिस प्रकार जल कर नष्ट हो जाती है सी प्रकार इस व्याधि की विषरूपी उष्णता (Toxaemia) से रोगी घुल-ल कर मर जाता है । अर्थात् अस्थि, मज्जा के उस दाह से जलती हुई वस्तु की भांति वह नष्ट भी हो जाता है । यह शल्यभूत मज्जपरिपाक की व्याधि धिक काल तक रोगी को पीड़ा देती है । और जब पूर्वजन्मकृत कर्म के भाव से स्वयमेव अथवा शस्त्रकर्म से अस्थि के भिन्न होने पर मार्ग मिल ने पर उससे मज्ज-परिपाक को बाहर आने का द्वार मिलता है तब उससे द-सदृश चिकना, सफेद, ठण्डा और भारी स्राव निकलता (Like Red one marrow) मवाद निकलता है । इस प्रकार की विद्रधि को शल्यशास्त्र-शल वैद्य अस्थिविद्रधि या अस्थिमज्ज-परिपाक कहते हैं । यह सर्व-दोषयुक्त र सर्व प्रकार की पीड़ा से युक्त (त्रिदोषज रोग) होता है ।'[1]

---

[1] अथ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते ।

उपर्युक्त लक्षण अस्थिशोफ (Osteitis), अस्थ्यावरणशोफ (steitis) और तीव्रौपसर्गिक अस्थिमज्जशोफ (Acute infecti omyelitis) से मिलते-जुलते हैं। इनमें सबसे अधिक साम अवस्था से है।

'इस रोग का आक्रमण प्रायः अचानक होता है—रोगी को ज्वर आता है और ताप बहुत अधिक हो जाता है। व्याधित अङ्ग में होती है, विशेषतः उसका अनुभव रोगी को समीपस्थ संधियों में होता अवस्था में स्थानिक चिह्नों में—'अस्थि की लम्बाई में बहुत गहराई पीडनासह्यता (Tenderness) ही रहती है।'

पश्चात् विषमयता (Toxaemia) की अवस्था बढ़ने पर लक्षण—जैसे जिह्वा का मलयुक्त होना, नाड़ी त्रिदोषज, तीव्रगतिक होती है, यदि अस्थि उत्तान (Superficial) हुई—शोफ या मालूम होता है, स्थानिक तरंग-प्रतीति का भी अनुभव होने लगता है। समीपस्थ सन्धि में तरलता का अनुभव होता है। (तरल-सञ्चय वजह से)। यदि रोगी जीवित रहा तो विषमयता और अधिक व्यक्त उपद्रव हृदय और सन्धियों के होने लगते हैं। जैसे हृदयावरण शोफ, सन्धिशोथ, संधि से पूय का भर जाना या पूयविषमयता (Pyaemi

प्रारम्भिक अवस्था में निदान कठिन होता है, पश्चात् लक्षणों के पर रोग का निदान सरलता से हो सकता है।'

चिकित्सा—यह एक कष्टसाध्य रोग है, चिकित्सा में सफलता अल्प रहती है, इस लिये प्रत्याख्यान करके चिकित्सा प्रारम्भ करनी चा

सोऽस्थिमांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा ॥
ततः स व्याधिना तेन ज्वलनेनैव दह्यते।
अस्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यते दह्यमानवत् ॥
विकारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेदातुरं चिरम्।
अथास्य कर्मणा व्याधिर्द्वारं तु लभते यदा ॥
ततो मेदःप्रभं स्निग्धं शुक्लं शीतमथो गुरुम्।
भिन्नेऽस्थिनि स्रवेत्पूयमेतदस्थिगतं विदुः ॥
विद्रधिं शास्त्रकुशलाः सर्वदोषरुजावहम्। (सु॰ नि॰)

१—विद्रधिसदृश उपचार शोफ के शमन के लिये आमावस्था में करना हिये । आभ्यन्तारिक अंतर्विद्रधि के शमनार्थ ओषधि सेवन भी करना चाहिये ।

२—स्नेहन एवं स्वेदन कराके रक्तावसेचन करना ।

३—अस्थिभेदन—यदि शोफ का शमन न हो और पाक वढ़ता ही जाय तो थ का भेदन करना अपेक्षित रहता है ।

४—शोधन—अस्थि के भेदन के बाद जब पूय का निर्हरण हो जाय तो का प्रक्षालन करते रहना चाहिये । इस कार्य में तिक्त द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ या घृत का प्रयोग होता है । अन्य संशोधन कषायों का भी यथावश्यक प्रयोग ा जा सकता है । आधुनिक शल्य तन्त्र में अस्थिविवर के संशोधन के लिये -विलयन (Normal saline) या 'यूसोल' लोशन का व्यवहार किया ा है । एक दूसरी विधि में 'आयोडिन' और 'स्प्रिट' के फायों से विवर के वों को सुखाकर पिचु (Gawze) भर दी जाती है, यह पिचु वेसलीन से ध रहती है । नियमित समय पर पिचु को निकाल कर विवर का शोधन कर या जाता है, धीरे-धीरे मांसाङ्कुर बनकर घाव को भर देते हैं ।

५—रोपण के लिये प्रियङ्गु, धातकी, रोध्र, कट्फल, तिनिश, सैन्धव इन ों से सिद्ध तैल का प्रयोग होता है । इन तैलों के फाये से भरे विवर का शीघ्रता से होता है ।

* * *

चतुर्दश प्रकरण

विसर्प-नाडीस्तनरोग-निदान-चिकित्सीयाध्याय

(Diagnosis & Treatment of Erysipelas, Sinus & Mammary abscess.)

विसर्प की उत्पत्ति में रक्त, लसीका, त्वक्, मांस चार दूष्य और वात, पित्त र कफ तीनों दोष—कुल मिलाकर सात धातुयें भाग लेती हैं । एक स्थान पर फ उत्पन्न होकर सर्वाङ्ग में बाहर और भीतर एवं सभी अंगों पर फैल जाता । यह एक प्रकार का संसर्गज और औपसर्गिक रोग है जिसका प्रथम उद्भव

त्वचा या श्लेष्मल त्वचा में दिखाई पड़ता है। वहाँ से आरम्भ कर त्वचा पर फैल जाता है। विसर्प में यह विशेषता होती है कि स्थान से जब शोथ चारों ओर के स्वस्थ स्थानों पर आक्रमण प्रथम पीड़ित स्थान का शोथ चला जाता है वहां पर धातुओं का होता। विद्रधि, ग्रन्थि, गुल्मादि विकारों में शोथ बहुत उभार वा परन्तु वैसा उभार विसर्पज शोफों में नहीं पाया जाता शोफ रहता है।[1]

थोड़े शब्दों में विसर्प रोग का आत्मलिङ्ग (Characteri व्याख्या पांच शब्दों में की जा सकती है।

१. त्वचा या श्लेष्मल त्वचा से शोफ का आरम्भ।

२ सर्वाङ्ग में सरण करने वाला—बाह्य त्वचा (Erysipelas ns) के अतिरिक्त हृदयावरण, फुफ्फुसावरण, मस्तिष्कावरण, आदि अन्तरङ्ग अङ्गों में घुसकर दूषित करने की प्रवृत्ति भी विसर्प में ऐसे विसर्प जिनमें उपर्युक्त अङ्ग दूषित हो जाते हैं, असाध्य हो जाते हैं

३. उत्पत्ति स्थान में अस्थिर (इहास्थितम्) (Tendency t taneous recovery)।

४. अनुन्नत शोफ।

५. विसरण—विविध प्रकार से फैलता है इसलिये विसर्प अथवा चारो ओर फैलने के कारण परिसर्प कहते हैं। (Tende spread) इन्हीं लक्षणों को यदि एकत्र संग्रह करके कहा जाय तो होगी—'त्वचा और त्वचाश्रित लसीका, मांस और रक्त में प्राप्त कुपित दोष-सर्व शरीर में फैलने वाला, उत्पत्ति के स्थल पर स्थित न होने वाला वातादि दोषों के अपने लक्षणों से युक्त विस्तृत और को उठा हुआ शोथ शीघ्रता से उत्पन्न करते हैं। चारों ओर फैलने उसको विसर्प कहते हैं।'

---

[1] त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः, सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्ग
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं, तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः॥
विविधः सर्पति यतो विसर्पस्तेन संज्ञितः। परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः
(सु

कारण और सम्प्राप्ति—आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विसर्प के दो भेद जाते हैं—१. दोषज (Idiopathic) जिसमें क्षत का पता न लगे और तज (Traumatic) जिसमें क्षत का पता लग जाय। इन दोनों अव- में दुर्बलता या प्राणशक्ति (Vitality) की कमी रोगोत्पादन में सहा- होती है। चिरकालीन मेह, विषमाग्नि, मद्यसेवन, सीड़युक्त स्थानों में निवास, हवा और मकान आदि के कारण जिनकी शारीरिक क्षमता नष्ट हो गई है, त्वचा में दोष विकृति पैदा करते हैं। पाश्चात्य शल्यशास्त्र में एक प्रकार विसर्पजनक मालाकार जीवाणु (Streptococcus Erysipelatis) माना जाता है। यही जीवाणु रोग का प्रधान या उत्तेजक कारण माना है। ऐसा मानते हैं कि त्वचा में ये जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म दरार से प्रविष्ट कते हैं। इस प्रकार के सूक्ष्म क्षत में किसी प्रकार जीवाणु का प्रवेश हो है और रोग प्रथम वर्ग का (Idiopathic) पैदा हो जाता है। त्वचा के र की अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण उसका ज्ञान नहीं हो पाता। त्वचा में प्रविष्ट जीवाणु लसीका को आश्रित कर लसीकावाहिनियों द्वारा प्रवेशस्थान के ों ओर फैलते हैं।

दूसरे वर्ग (Traumatie) में तो क्षत स्पष्ट रहता है[1]। आघात से घाव ाने पर, स्त्री के प्रसूता होने पर, बालक का नाभिनाडीच्छेदन करने पर, क्रिया करने पर, और खुले मुखवाले व्रणों में जीवाणुओं का उपसर्ग हो ा स्वाभाविक है। अधिकतर विसर्प ऐसे ही होते हैं। पाश्चात्य वैद्यक में विसर्प क्षतज (Traumatic) ही बतलाये गये हैं। प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों ोषज भी माना है।

विसर्प के प्रकार { बाह्य
आभ्यन्तर

ोषज (सु०) क्षतज (च०)

१. वातिक—आग्नेय (वायु और पित्त से) (With small blebs)

---

[1] अत्यादानदिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात क्षतात।
वधबन्धप्रपतनाद् दंष्ट्रादन्तनखक्षतात ॥

२. पैत्तिक—कर्दमक (कफ और पित्त से) (Cellulocut

३. श्लैष्मिक—ग्रन्थ्याख्य (कफ और वायु से) (Suppuratio

mpt

४. सान्निपातिक

सुश्रुत ने कुल पाँच प्रकार बतलाये हैं। तीनों दोषों से स्वतन्त्र, और क्षतज। परन्तु आचार्य चरक ने द्विदोषज तीन और विसर्पों है। इसका समन्वय सुश्रुतोक्त वर्गों में समाविष्ट करके किया जा सुश्रुतोक्त वातिक विसर्प में, जिसमें ग्रन्थियाँ पाई जाती हैं, चरकोक्त स्फो मानकर वातिक विसर्प के भीतर समावेश कर सकते हैं। सुश्रुतोक्त में चरकोक्त कर्दम विसर्प का समावेश है, जिसमें त्वचा और उपत्वचा पाक हो जाता है। इसी प्रकार सुश्रुतोक्त श्लैष्मिक विसर्प के भीतर ग्रन्थि विसर्प का ग्रहण हो जाता है, जिनमें कभी-कभी गाठें निकल जा

दूसरा समन्वय का मार्ग यह हो सकता है, कि सुश्रुत ने बतलाये हैं वे आम हैं और प्रायः मिलते हैं। इसके विपरीत चरकोक्त स्थायें विरल होती (Rare) हैं—इसलिये सुश्रुत ने उन अवस्थाओं करके उल्लेख नहीं किया हो। चरकोक्त द्विदोषज विसर्प विशेष लक्षण के रूप में होते हैं।

तीसरा समन्वय का प्रयास प्राचीन टीकाकार श्रीचक्रपाणिदत्त कंठदत्त ने किया है, जिसमें उन्होंने बताया है कि चरकोक्त ग्रन्थि-वि सुश्रुत अपची मानते हैं और अपची रोग नाम से उन्होंने स्वतंत्र वर्णन परन्तु ये दोनों रोग बिल्कुल स्वतंत्र हैं और इनमें ग्रन्थि शब्द के अ भी समता नहीं है।

लक्षण तथा सामान्य चिह्न—पूर्वरूप में सुस्ती, शिरःशूल, सिहरन और व्रण में किंचित् पीड़ा होती है; इसके बाद ज्वर हो जाता स्थान पर अनुन्नत शोफ, लालिमा, जलन, पीडा आदि लक्षण होने यह लालिमायुक्त शोफ-जिसके किनारे उठे हुए होते है—फैलते चलते और दाह होता रहता है।

विशेष पीडाधिक्य—जब वातदोष प्रबल होता है और कोई दूषित होता है (When tense structures are involved

ल, मृदु, खुरदरा, पीडा, सभेद तोद युक्त होता है। (वातिक) यही आगे र उपद्रवयुक्त होने पर स्फोटयुक्त (Bullae) होकर असाध्य हो जाता इसी विशेष अवस्था का वर्णन चरक ने पित्तानुबंधी रूप में आग्नेय विसर्प या है[1]। 'अग्निदग्ध सदृश स्फोटों से युक्त होता है।'

पूयोत्पादन—या पाक विसर्प में बहुत कम होता है—फफोले बनते हैं, परंतु नहीं; परन्तु जब पित्ताधिक्य हो तो शीघ्र फैलने वाला, दाह, ज्वर और से युक्त होता है। वर्ण में अधिक लाल शोफ होता है। फुन्सियों से युक्त है। दोष यदि अत्यंत कुपित हो जाय तो मांस तथा सिरायें गल जाती हैं, अंजनसदृश काला होकर कीचड़ के समान हो जाता है। पैत्तिक विसर्प सी बढ़ी हुई अवस्था या उपद्रव को चरक ने कर्दम विसर्प नाम से द्विदोषज वर्णन किया है। इस अवस्था में त्वचा के साथ उपत्वचा का गम्भीर पाक ाता है—त्वचा और उपत्वचा दोनों गल जाती हैं। यह एक विशेष प्रकार विसर्प होता है, अंग्रेजी में इसको 'सेल्युलोकुटैनियस गैंगरीन' कहते हैं।[2]

विसर्प में शोफाधिक्य अधिकतर नहीं होता; परन्तु यदि शिथिल रचनाओं में र्ग का प्रवेश हो या दूसरे शब्दों में कफ का प्राधान्य हो तो शोफ क होता है। मन्दता से फैलता, देर से मिटता है—स्निग्ध, श्वेत शोफ, वेदना और कण्डू अधिक होती है। सम्भवतः चरक ने इसी के उपद्रुत रूप जिसमें ग्रन्थियाँ निकल जावें (Lymphatic glands are always larged but of rare Suppuration) और पूय न बने, ग्रन्थि-र्प बतलाया है[3]। अधिकतर ग्रन्थियों का मालाकार निकलना बहुत कम ा जाता है।

त्रिदोषज—विसर्प उपर्युक्त तीनों प्रकार के दोषों के वर्ण और तीनों दोषों पीड़ा से युक्त होते हैं। यह गहराई तक प्रविष्ट रहता है। पक्व होने पर तथा सिराओं का नाश होने से असाध्य हो जाता है।

दुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरवकीर्यमाणं मन्यते। अग्निदग्धप्रकारैश्चोपचीयते।

म्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टक्लिन्नोऽवदीर्यते। पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः॥

वगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम्।

दूषयित्वा तु दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम्।

न्थीनां कुरुते मालां सरक्तां तीव्ररुग्ज्वराम्॥

क्षतज—अतिदोष युक्त मनुष्य के रक्त और पित्त चोट के प्राप्त होकर कालापन लिये रक्तवर्ण का, तीव्र ज्वर, दाह और पाक से कुलथी सदृश काली फुन्सियों से भरा हुआ शोथ उत्पन्न करता है। का चरक ने स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया हैं, उन्होंने अपने बताये के भीतर ही इसको समाविष्ट कर लिया है। उनके बताये विसर्प ये हैं–तीनों दोषों से स्वतन्त्र तीन, द्विदोषज तीन, और सान्निपातिक

साध्यासाध्यता—

१ वात, पित्त और कफज विसर्प साध्य होते हैं—यदि कर्दमनिभ और गण्डादिक उपद्रव हो जाय तो असाध्य हो जाते हैं असाध्य होते हैं।

२. बहिर्मार्गाश्रित साध्य हैं। परन्तु अन्तर्मार्गाश्रित विशेषतः असाध्य होते हैं। इस अवस्था में मस्तिष्कावरणशोफ, अन्तर्हृ या जीवाणुमयता (Septicaemia) के उपद्रव हो जाते हैं। घातक हो जाता है। उभयाश्रित होने पर असाध्य विसर्प में आ जा

३. आयु के हिसाब से बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में रोग असा

४. मद्यपी रोगियों में प्राणशक्ति (Vitality) की घातक होता है।

सामान्य चिकित्सा—

१. विसर्प-चिकित्सा में वरुणादि गण की औषधियाँ—लेप, सेक में–सभी अवस्था में व्यवहार में आती हैं।

२. संशोधन और शोणितमोक्षण विसर्प में श्रेष्ठकर्म माना जाता है

३. पूयोत्पत्ति हो जाने पर शोधन और रोपण व्रणवत् करना

वातात्मक चिकित्सा— उष्णवीर्यं गण की औषधियों से सेक, इन्हीं औषधियों से सिद्ध घृतों का भी प्रयोग करे। मुस्ता, सुराह्वा,

---

१. बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम्।
विसर्पं दारुणं विद्यात्सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम्॥
यस्य सर्वाणि लिङ्गानि बलवद्यस्य कारणम्।
यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यस्य हन्ति तम्॥

राही, कुस्तुम्बुरु, सहिजन आदि ओषधियों का प्रयोग। लघुपञ्चमूल, बृहत् मूल और तृणपञ्चमूल की वनस्पतियों को भी प्रदेह, सेक, घृत और तैल में ना चाहिये।

पित्तात्मक चिकित्सा—१. कसेरु, शृङ्गाटक, पद्म, भद्रमुस्ता, शैवाल, ल और कीचड़ मिलाकर कपड़े पर चिपकाकर स्थानिक लेप करना चाहिये। लेप में घृत भी मिला लेना चाहिये। २. सुगन्धवाला, खस की जड़, न, सौवीराञ्जन, मुक्ता, मणि, गैरिक आदि शीतवीर्य द्रव्यों को दूध के साथ कर घृत के साथ मिलाकर पतला लेप करना चाहिये। ३. क्षीरविदारी, ठी, प्रपौण्डरीक, मंजिष्ठा, पद्मक, चन्दन, सुगन्धिका आदि द्रव्यों का लेप। न्यग्रोधादिवर्ग की ओषधियों का सेक, उन्हीं औषधियों से सिद्ध क्वाथ से पकाया , ठंडे दूध से, मधु और जल मिलाकर इक्षु के रस से और चीनी के शर्बत प्रक्षालनादि का कर्म करना चाहिये।

गौर्यादिघृत—हल्दी, मुलेठी, कमल, रोध्र, बालक, खिरनी, गेरु, ऋषभक, क, सारिवा, काकोली, मेदा, कुमुद, नीलकमल, चन्दन, मधु, शर्करा, द्राक्षा, लपर्णी, पृश्निपर्णी, सौंफ इन द्रव्यों का चार पल कल्क, न्यग्रोधादि, विदारिगादि और पञ्चमूल इन तीनों गणों का बना क्वाथ घृत से चतुर्गुण होना हिये। गाय का दूध घृत से चार गुना होना चाहिये और घृत की मात्रा तीस पल होनी चाहिये। कुछ लोग कल्क की मात्रा चार पल की अपेक्षा आठ बतलाते हैं।

इस घृत का सामान्यतया सभी पित्तज विसर्प, सर्व प्रकार के पित्तज नाडी, विस्फोट, दुष्ट व्रण, शीर्ष रोग में आन्तरिक प्रयोग करते हैं। ग्रहार्दित और पयुक्त बालकों में भी पोषण के लिये भी यह घृत प्रशस्त है।

श्लेष्मज विसर्प—अजगन्ध, असगन्ध, त्रिवृत्, कासमर्द, शतावर, तमारणि इन द्रव्यों को गोमूत्र से पीसकर लेप करना चाहिये। तगर, दालचीनी, ञ्जा, रास्ना, वचा, सौंफ, इन्द्रवारुणी, कालवल्ली, मुञ्जाती, महीकदम्ब (मुण्डी), भृति द्रव्यों का लेप श्लेष्मज विसर्प में लाभप्रद होता है।

आधुनिक युग में विसर्प की चिकित्सा का तीन अवस्थाओं में वर्णन किया ाता है—१. अनागत-रोगप्रतिषेध। २. सामान्य, स्वास्थ्यप्रद भोजन, उत्तेजक

औषधियों के द्वारा हृदय, श्वासक्रिया और अग्नि का संधुक्षण करना। तथा 'एण्टीस्ट्रप्टोकोकल सीरम' का ५० से १०० सी० सी० करना। ३. स्थानिक उपचारों में विसर्प के उठे हुए किनारों के 'सिल्वर नाइट्रेट' और 'आयोडीन' का लेप कर दिया जाता है। अहिफेन और सीस द्रव का स्थानिक प्रयोग स्तब्धता और दाह के लिये होता है। इसके अतिरिक्त जीवाणुनाशक औषधियाँ जैसे, 'पेनिसिलीन' तथा अन्य बृहत्तर क्षेत्रीय भूतघ्न (Broad Anti योग भी सफलता से व्यवहृत होते हैं।

नाडीव्रण (Sinus or Fistula)

'अनुचित कर्म करने वाला वैद्य जब अपक्व समझकर किसी शोफ का अथवा काफी मवाद से भरे व्रण की उपेक्षा करता है, तब रोगी के त्वग्-माँसादि आठ गहरे धातुओं को विदीर्ण करता हुआ प्रवेश करता है। उस पूय के अधिक भीतर गमन करने के कारण गति कहलाता है और नलिका की तरह से बहता रहता है, कहलाता है।'[1]

थोड़े शब्दों में कहना हो तो नाड़ी का अर्थ होगा—'नलिका की लम्बा मार्ग।' अंग्रेजी में नाडीव्रण को 'साइनस' या 'फिस्चुला' कहते व्रण की ही ये दो अवस्थायें हैं। जिस नाड़ी का एक मुख बाह्य त्वचा हो और दूसरा पाक स्थान से सम्बन्धित हो वह 'साइनस' पाकस्थानों को मिलाने वाली नलिका को भी 'साइनस' कहते हैं। को अथवा आशय और त्वचा को मिलाने वाली नाड़ी को 'फिस्चुला' प्राचीन परिभाषा के अनुसार 'गति या नाड़ी' एक पारिभाषिक संज्ञा के दोनों का समावेश है, ऐसा समझना चाहिये।

ये नाडीव्रण कई कारणों से बनते हैं, जब तक कारण नहीं तब तक ये भरते भी नहीं हैं। १ यदि पाकस्थान में सूत्र, रेशम,

---

[1] शोफं न पक्वमिति पक्वमुपेक्षते यो यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः।
तस्यातिमात्रगमनाद् गतिरित्यतश्च नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी॥

हड्डी के टुकड़े हों। २. यदि उनका शोधन ठीक न हो और छिद्र से मूत्र,
पूय, मल, आदि का स्राव होता हो। ३. यदि पूय का निःशेष निर्हरण
सका हो। ४. यदि व्रणयुक्त अङ्ग को पूर्ण विश्राम न मिलता हो। ५. व्रण
दि क्षय की विकृति हो। ६. रोगी यदि अतिकृश हो। और ७. व्रण के
-पास यदि सौत्रिक धातु (Fibrous tissues) की अधिकता हो।

लक्षण एवं भेद

दोषज
१. वात
२. पित्त
३. श्लेष्म
४. सन्निपात

आगन्तुक
५. शल्यनिमित्तज

१. वातिकनाड़ी—खुरदरी, छोटे मुख की और शूलयुक्त होती है और
को फेनमिश्र स्राव अधिक होता है।

२. पैत्तिक— तृष्णा, जलन, पीड़ा, अङ्गग्लानि ज्वर और भेदन लक्षण
है और दिन को पीला और गरम स्राव होता है।

३. श्लैष्मिक--अधिक गाढ़ा, सफेद, लसदार स्राववाली, रात्रि को स्रवने
ली, मन्द वेदनायुक्त, कठिन और कण्डूयुक्त होती है।

४. सान्निपातिक—जिसमें ज्वर, दाह, सांस, मुंह की खुश्की तथा वातादि
नों दोषों के लक्षण मिश्रित होते हैं। वह कालरात्रि के समान प्राणों का नाश
नेवाली भयङ्कर त्रिदोष के प्रकोप से उत्पन्न होती है।

५. शल्यजनाड़ी— उक्त त्वचादि स्थानों में किसी तरह से अदृश्य हुआ
स शल्य अल्प काल में नाड़ी उत्पन्न करता है। वह नाड़ी अकस्मात् झाग-
र विलोये हुए तक्र के समान सान्द्र, स्वच्छ, रक्तमिश्रित स्राव करती है और
शा पीड़ायुक्त होती है।

साध्यासाध्यता—त्रिदोषज नाड़ी को छोड़कर शेष सभी साध्य होती हैं।

सामान्य चिकित्सा—१. उपनाह।

२. अशेषतः पूय गति का विदारण।[1]

विशेषतः वातिक—

(क) तिल, अपामार्ग बीज, सैन्धव को पीसकर व्रण का पूरण

(ख) बृहत्पञ्चमूल से प्रक्षालन।

(ग) हिंस्रा, हरिद्रा, कटुका, बला, गोजिह्वा, बिल्वमूल इन द्र
तैल के द्वारा शोधन, पूरण और रोपण करना चाहिये।

पैत्तिक—

(क) तिल, नागदन्ती और मुलेठी को पीसकर कल्क से पूरण करे

(ख) सोम, निम्ब और हल्दी के द्वारा क्वाथ बनाकर प्रक्षालन करे

(ग) श्यामा, त्रिफला, त्रिवृत्, हरिद्रा, लोध, कुटज प्रभृति
दूध के साथ घृत का पाक करके प्रयोग करना चाहिये।
कोष्ठगत व्रणों का भी रोपण हो जाता है।

श्लैष्मिक—

(क) निम्ब, तिल, सुराष्ट्रजा, सैन्धव को पीसकर व्रण का पूरण।

(ख) करञ्ज, निम्ब, जाती, अक्ष, पीलु प्रभृति द्रव्यों के क्वाथ से प्र

(ग) सुवर्चिका, सैन्धव, चित्रक, दन्ती, भूम्यामलकी मूल, सफेद
मार्ग बीज इन द्रव्यों का गोमूत्र के साथ योगकर तै
चाहिये। इससे रोपण श्लेष्मज नाड़ी का होता है।

(घ) बला पत्र स्वरस का पूरण नाडीव्रण को शीघ्रता से पूरित

क्षारसूत्र—तीव्र या मध्य वीर्य क्षारों में सूत्र को डुबाकर रखने
क्षारांश से सूत्र लिप्त हो जाते हैं। क्षारों के द्वारा क्षरण या क्षणन(
sive or Causticaction) की क्रिया होती है। क्षारक
सूत्रों के द्वारा यह क्रिया और अधिक वेग से होती है। क्योंकि सूत्र
बाँध देने से पीडन (Pressure) के द्वारा मृदु अङ्ग और शो
जाता है। कई बार हल्दी के कल्क और चूने के पानी में भी सूत्र
यह कार्य होता है। शस्त्रक्रिया के अभाव में क्षारसूत्र के द्वारा कार्य क्रि

---

१. निपातयेच्छस्त्रमशेषकारी अशेषतः पूयगतिं विदार्य॥

अवस्थाओं में शस्त्रकर्म का निषेध है उन रोगों में क्षारसूत्र के द्वारा न या भेदन किया जाता है। इसकी प्रयोग विधि नीचे दी जाती है—

क्षारसूत्रावचारण (प्रयोग विधि)[1]—कृश, दुर्बल और भीरु व्यक्तियों अथवा मर्म स्थान में स्थित व्रणों में विशेषतः नाड़ीव्रणों में शस्त्र से छेदन न के, क्षारसूत्र से छेदन करना चाहिये। विधि यह है कि एषणी के (Probe Director) द्वारा व्रण की गति का अन्वेषण करके, क्षार लगा हुआ डोरा में डालकर गति के अनुसार सुई को प्रवेश करे। गति के अन्त भाग में सुई को ा करके शीघ्र ही सुई को निकाल लेवे। फिर उस क्षारसूत्र के दोनों सिरों पकड़कर कसकर बाँध दे।

क्षार के बल के अनुसार यदि क्षार तीक्ष्ण न हो तो फिर और एक बार एक र सूत्र डाल देना चाहिये। इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि क्षार से पूरी ी छिन्न हो जाय (भीग जावे)। जब तक यह अवस्था न आ जाये तब तक क्षार ों का प्रयोग करते रहना चाहिये। भगन्दर में नाड़ीव्रण को छिन्न करने के े यही कर्म किया जाता है। अन्यत्र नाड़ीव्रणों में इसका प्रयोग किया जा कता है।

अर्बुदों की चिकित्सा में जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा, क्षार-सूत्र मूल बांधा जाता है।

तैलपिचु या वर्त्ति-प्रयोग–(सर्व नाड़ी में)

१. बेर की छाल, नमक, लाख, सुपारी, काकमर्दनिका, तेजपत्र इनको एकत्र र सेहुण्ड और मन्दार के दूध से पीसकर बत्ती बनाकर गति में डाल देना ाहिये। इस बत्ती के प्रयोग से सब प्रकार के नाड़ीव्रण भर जाते हैं।

२ बहेड़ा, आम की गुठली, बरगद के पत्ते, हरेणुका, शंखिनी (यवतिक्ता) जलाकर उसकी राख और वाराहीकन्द की राख तेल मिलाकर नाडीव्रणों रुई या गाज में भिगोकर रखने से रोपण होता है।

३. कई ओषधियों के चूर्ण नाड़ी में भर दिये जाते हैं। इसका विशेष उप-ग कोष्ठस्थ नाडीव्रण में हितकर है। जैसे धतूर, (मदनकोद्रव) नशा करने

---

[1] कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता हि या।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न तु शस्त्रेण बुद्धिमान्॥

वाला कोदो, कोशातकी, शुकनसा, मृगभोजनी और अंकोट के
इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु में मिलाकर वर्त्ति बनाकर नाड़ी में रख
इस वर्त्ति या चूर्ण के डालने के पूर्व लाक्षोदक से नाडी का
लेना चाहिये ।

४. गोमांस को जलाकर बनाये गये राख में मधु और लवण मि
वर्त्ति भी नाड़ीव्रण में हितकर होती है ।

५. दुष्ट व्रण-चिकित्सा में जो तैल बतलाये गये हैं वे भी नाडीव्र
प्रद हैं, उपर्युक्त द्रव्यों के चूर्ण को इस तेल में मिलाकर वर्त्ति बना
किया जा सकता है ।

६. उपर्युक्त धस्तूरादि द्रव्यों में ही गोमूत्र मिलाकर, कृष्ण पुष्प,
गन्धनाकुली-मूल और वज्रकन्दों को डालकर सामान्य परिभाषा से
शीघ्र नाडीव्रणों को भर देता है ।[1] कई बार इन तैलों के पिचु के प्र
सप्ताह में व्रण भर जाते हैं ।

७. भल्लातकादि तैल—भल्लातक, अर्क, मरिच, लवण, वायविड
आमाहल्दी, चीता, मार्कव रस—इन द्रव्यों से पकाया तैल वातज
नाडीव्रणों में तथा अपची में लाभप्रद होती है ।

स्तनरोग या स्तनकोप

(Inflammatary Diseases of the Breast)

स्त्रियों में विशेषतः प्रसूता स्त्रियों में स्तन और स्तन्य दोनों को
सकती है । अपथ्यकर आहार-विहार के कारण स्तन्य (धात्रीक्षीर
होती है । ऐसी धात्री का क्षीर पीनेवाले बालक रोगी हो जाते हैं ।
का संशोधन करने की आवश्यकता होती है । संशोधन के लिये नि
वमन कराके त्रिफला घृत, आरग्वधादि कषाय प्रभृति ओषधियाँ धात्री
करनी पड़ती हैं । इस विषय का सम्बन्ध बाल रोग से है ।

---

[1] धत्तूरजं मदनकोद्रवजं च बीजं कोशातकी शुकनसा मृगभोजनी (इन्द्र
अङ्कोटबीजकुसुमं गतिषु प्रयोज्यं लाक्षोदकाहृतमलासु विकृत्य चूर्णम् ॥
तथा च गोमांसमसीहिताय कोष्ठश्रितस्यादरतो दिशन्ति ।
वर्त्तीकृतं माक्षिकसम्प्रयुक्तं नाडीघ्नमुक्तं लवणोत्तमं वा ॥

यहाँ पर केवल स्तन रोग का वर्णन ही प्रस्तुत है। स्तन में होनेवाली व्याधियों का वर्णन शल्य शास्त्र में होता है। इन रोगों के लक्षण बाह्य धियों (रक्तज विद्रधियों को छोड़कर) के सदृश होते हैं। फलतः दोषभेद से वाले स्तनगत शोफ के ही ये पाँच प्रकार हैं।

स्तन रोग से यहां पर यावतीय स्तन में होनेवाले रोगों का ग्रहण नहीं है, क केवल स्तनगत धातुओं के व्रणशोफजन्यपरिणामों (Inflamma-y Affections of The Breast) का ही ग्रहण है। क्योंकि स्तन की जो चिकित्सा बतलाई गई है वह एक प्रकार की स्तनगत विद्रधि की ही और पक्वावस्था की चिकित्सा है।

'स्तन रोग से स्तनकोप का वर्णन समझना चाहिये।' दो अवस्थायें इसके र आ सकती हैं – तीव्र या जीर्ण स्तनशोफ (Acute or Chronic stitis) और स्तनविद्रधि (Mammary Abscess), यह रोग : प्रसूता और गर्भिणी स्त्रियों में होता है; परन्तु क्वचित् बालकों में भी होता दोषों का प्रसार होकर स्तनगत धातुओं की दुष्टि होकर दोषानुसार वातिक, क, श्लैष्मिक अथवा सान्निपातिक विद्रधियाँ पैदा होती हैं। पाँचवा प्रकार ज है, जिसमें स्तनाग्र के दरारों से पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग पहुँच विद्रधि पैदा होती है।

स्तन का आंशिक या पूर्ण रूप से शोफ हो जाता है, पीडनासह्यता Tenderness) और त्वचा की लालिमा, कक्षा की ग्रन्थियों का बढ़ना, निक पीडाधिक्य आदि लक्षण हो जाते हैं। पुनः पूयोत्पत्ति हो जाने पर ज्ञ-प्रतीति आदि पक्वावस्था के लक्षण और चिह्न मिलने-लगते हैं। शोफ की राई के अनुसार इसकी तीन प्रकार की अवस्थायें होती हैं। १. उत्तान Superficial) २. स्तनमध्य–पूरे स्तन की धातुओं में पूय का सञ्चय ा है। ३. स्तनाधः (Retomammary) विद्रधि स्तन और छाती की यों के मध्य में बनती है।

स्तन रोग अधिकतर प्रजाता और गर्भिणियों में ही होते हैं, छोटी उम्र की लिकाओं में प्रायः नहीं होता। इसका कारण यह है कि कन्याओं के स्तन के य सम्बन्ध रखनेवाली धमनियाँ कन्यावस्था में सङ्कुचित होती हैं इसलिये यों का प्रवेश न होने से उनके स्तनों में रोग नहीं होते। उन्हीं के प्रसूत और

गर्भ की अवस्थाओं में स्तन की दुग्धहारिणी नाडियां फिर अपने आप जाती हैं, इसीलिये स्तन के रोग होने लगते हैं।[1]

चिकित्सा—अपक्कावस्था (Mastitis) में विद्रधिवत् उपचार की आमावस्था में जो स्वेदन, संशोधन, दोषावसेचन आदि कार्य वही करना चाहिये। यदि बालक धात्री का स्तन्यपान करता करा देना चाहिये और धात्री के स्तन का दूध 'सदैव और किसी लेना चाहिये[3]।' आज कल दूध निकालने के 'क्लैप का चूषक' चूषक' (Klapp's Suction ball or Breast pump) व्यवहृत होते हैं। इस यन्त्र को एक घंटे तक स्तन से लगाकर को दबा-दबाकर दूध निकाला जाता है, ऐसी क्रिया कम से बार करनी चाहिये। इस यन्त्र के द्वारा विम्लापन का भी कार्य हो छाती पर एक बन्धन लगाकर स्तन को उसके आश्रित कर देते हैं। पूर्ण आराम देना चाहिये। संशोधन के लिये मृदु रेचन अथवा वामक का प्रयोग करना चाहिये। आभ्यन्तरिक ओषधियों, शोफ और ओषधियों का व्यवहार करना चाहिये।

पाचन—यदि शोफ का शमन न हो पावे तो बिना उपनाह प्रयोग के द्वारा तथा पथ्यकर भोजन के उपयोग से पचाना चाहिये। का भोजन या उष्ण ओषधियों का मुख के द्वारा प्रयोग करके ही उत्पन्न करनी चाहिये। क्योंकि स्तन का मृदु मांस होने की वजह शीघ्र प्रकोप होता है और शीघ्रता से पाकोत्पत्ति होकर विद्रधि स्वयं जाती है।[4]

शस्त्रकर्म (Mammary Abscess)—यदि विद्रधि स्वयं हो सके तो शस्त्र का प्रयोग करना चाहिये। पक्वावस्था में शस्त्रकर्म

---

१. धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः। दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति
तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः। स्वभावादेव विवृता जायन्ते

२. रोगं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग् विदध्याद्, यद्विद्रधावभिहितं बहुशो विधान

३. धात्र्याः स्तनौ सततमेव हि निर्दुहीत, आमे विदाहिनि तथैव गते च पाक

४. संपाच्यमानमपि तं तु विनोपनाहैः सम्भोजनेन खलु पाचयितुं यतेत।

समय यह ध्यान रखना चाहिये कि भेदन (Incision) ऐसा हो जिसमें लिखित रचनायें न कट सकें ।[1]

१. दुग्धहरिणीनाडियां (Lactiferous tubules)
२. चूचुक (कृष्ण) (Nipples)

आधुनिक युग में भी स्तन-विद्रधि का शस्त्र कर्म करते हुए इन रचनाओं के ने का प्रयास किया जाता है ।

१. उत्तान—यदि विद्रधि-स्तन के उथले भाग में हो तो स्वेदन करके चीरा के व्यास की दिशा में दे देते हैं । दोष का निर्हरण हो जाता है । छोटे (Small Icision) से काम चल जाता है ।

२. स्तनमध्य या अन्तःस्तन विद्रधि—इसी प्रकार की विद्रधि अधिक ती है । इसमें कई भेदन और प्रतिभेदन (Incisions and Counter isions) की आवश्यकता पड़ती है । विद्रधि से स्वतन्त्रतापूर्वक पूय का ण करने के लिये कृष्ण चूचुक से व्यास की दिशा में लम्बाई में भेदन किया है । पूय को निकालने के लिये सौत्रिकावरणों (Fibrous Septa) अंगुलियों से तोड़ दिया जाता है । अंगुलि डालकर विद्रधि की मध्य भित्ति देने से व्रणों के प्रक्षालन में सुविधा होती है । कई बार स्तन के आश्रित की तरफ में प्रतिभेदन (Counter incision) किया जाता है । श्यकतानुसार कुछ दिनों के लिये शोधन के लिये रबर-नलिकायें (Drai- e tube) लगाकर शोधन करते हैं । अनेक प्रकार से भेदन और शोधन वजूद भी इन व्रणों में नाड़ी हो जाने का भय रहता है—और जिससे स्राव तों चलता-रहता है, वैसी अवस्था में स्तन के आंशिक या सम्पूर्ण छेदन xcision or amputation) की आवश्यकता पड़ती है ।

३. स्तनाधः—यदि विद्रधि स्तनाधःप्रदेश में अर्थात् स्तन के धातु और छाती शियों के अन्तराल में अवस्थित हो तो क्षयज विद्रधि को छोड़कर शेष प्रकार का इन विद्रधियों में स्तन के नीचे और बाहरी भाग में व्यास की दिशा दन (Lower & outer side of the Breast) किया जाता है ।

* * *

---

[1] पक्वे च दुग्धहरिणीं परिहृत्य नाडीं कृष्णं च चूचुकयुगं विदधीत शस्त्रम् ॥

पञ्चदश प्रकरण

ग्रन्थ्यपच्यर्बुदनिदानचिकित्सीयाध्याय

(Tumours & cysts etc.)

ग्रन्थि (Cyst)—एक छोटी गोल परिमित आकार की गां गर्त्त की चारों ओर कला का एक कोष होता है और कोष के भी अर्धद्रव तरल पदार्थ भरा रहता है। उसकी शास्त्रीय व्याख्या है वातादि दोष, मांस एवं रक्त तथा कफ संयुक्त मेद इनको दूषित करके ऊंचा, गांठ के समान मर्यादित शोथ करते हैं। इसी को ग्रन्थि कहते

आयाम, वर्ण, वेदना के अनुसार तथा दोष एवं दूष्य के अनुसार होते हैं—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, मेदोज और सिराज (सु०)। च और भेद मांसज ग्रन्थि का वर्णन किया है (च०)। वाग्भट ने नौ भेद गिनायें हैं—जिनमें सुश्रुतोक्त पांच के अतिरिक्त चार अन्य मांसग्रन्थि, रक्तग्रन्थि, अस्थिग्रन्थि और व्रणग्रन्थि। इस प्रकार के भीतर अनेक विकारों का समावेश हो जाता है जिनमें केवल प्र ही समानता है।[1]

ग्रन्थि प्रकार

(सुश्रुत)	(चरक)	(वाग्भट)	(पाश्चात्य-दोषनिरपेक्ष)
१. वा.	१. वा.	१. वा.	१. त्वक् ग्रन्थि।
२. पि.	२. पि.	२. पि.	२. अवरोधज ग्रंथि, जैसे मेदोज Saba
३. क.	३. क.	३. क.	३. भ्रूणज ग्रन्थि।
४. मे.	४. मे.	४. मे.	४. श्लेष्मज (Synovial cysts)

---

[1] वातादयो मांसमसृक् च दुष्टाः सुन्दूष्य मेदश्च कफानुविद्धम्।
वृत्तोन्नत्तं विग्रथितं चो शोफं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः॥
स ग्रन्थिर्ग्रंथनात्स्मृतः। (सु०)

.)	(च.)	(वा.)	(पा. दो. नि.)	
सि.	५. सि.	५. सि.	५. वातिक (Neural cysts)	
	६. मां.	६. मां.	६. पराश्रयीज ग्रन्थि (Hydatid cyst)	
		७. रक्त.	७. मिथ्या ग्रन्थि (Psudocyst)	रक्तज ग्रन्थि अपचयज ग्रन्थि
		८. अस्थि.		
		९. व्रण,		

१. वात ग्रन्थि—कृष्ण, कठिन, वस्ति (मसक) के समान तना हुआ रहता -फूटने पर स्वच्छ स्राव होता है। पीड़ा, तोद, भेद, छेद और तनाव की ता रहती है।

२. पित्त ग्रन्थि — रक्त या पीत वर्ण का होता है, फूटने पर उष्ण स्राव ा है। दाह, संताप, पाक प्रभृति वेदनायें होती हैं।

३ श्लेष्मज— पाषाणसदृश कठिन, देर में बढ़नेवाला, फूटने पर सफेद ा पूय का स्राव होता है। शीतल, अल्प पीड़ा, अधिक कण्डू प्रभृति वेदनायें ी हैं।

४. मेदोज— शरीर की वृद्धि और क्षय के अनुसार घटने और बढ़नेवाला, नध. मोटा, अल्प पीड़ायुक्त, अधिक कण्डूयुक्त होता है। फूटने पर तिल की ली और घृत (पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु भेदः) सदृश स्राव होता है। त्वचा में दग्रन्थि और मेदःपिण्ड (Sweat glands & sabaceous glands) ते हैं। प्रकृतावस्था में इनकी नलिकाओं से एक चिकनी वस्तु निकलती ती है, जिससे त्वचा में रूक्षता नहीं आने पाती है। इनकी नन्हीं नन्हीं सी लियां होती हैं जो पतले सुराखों के द्वारा त्वचा पर खुलती हैं। यदि किसी रण से इनके पतले द्वारों का अवरोध हो जाय तो थैली फूलकर ग्रन्थि का रूप लेती है। शरीर के अन्य स्थानों की अपेक्षा चेहरे के ऊपर मेदःपिण्ड (Saba ous cyst) अधिक होते हैं। निदान ये ग्रन्थियां मुंह पर ही अधिकतर पाई ती हैं। इन्हीं ग्रन्थियों की संज्ञा मेदोज है- इनके फूटने पर 'पिण्याक और घृत श' स्राव होता है। यदि दबाव के कारण इनका मुख खुल जाय तो स्रवित र छोटी हो जाती हैं, फिर मुंह के बन्द हो जाने से बढ़ जाती हैं।

५. सिराज— बलवद्-विग्रह आदि विविध व्यायामों के कारण कुपित हुई ल मनुष्य की वायु रक्तवाहिनियों के जल को आक्षेपित करके, सम्पीडित

करके, सङ्कुचित और विशोषित करके ऊंची गोलाकार ग्रन्थि
करती है।

यह सिराज ग्रन्थि यदि पीड़ायुक्त और चल हो तो कृच्छ्रसाध्य
और पीडारहित होने पर भी स्थिर, मोटी और मर्म स्थान में
असाध्य होती है।

आधुनिक शल्य शास्त्र में रक्तज ग्रन्थि 'ब्लड सीस्ट' कह सके
प्रकार के सीस्ट अधिकतर बाह्याभिघात से होते हैं। रक्तवाहिनी से
रक्त थक्का के रूप में हो जाता है और उसके ऊपर दीवाल-सी रचना
है। इस अवस्था को रक्तज ग्रन्थि (Blood cyst or haemato
सकते हैं। क्योंकि कई बार इसमें रक्त शोषित होकर जल से पूर्ण
रह जाती है।

सिराज ग्रन्थि से एक दूसरी अवस्था का भी बोध होता है-जिस
भिघात अथवा रक्तवाहिनियों की दीवाल की कमजोरी के कारण वाहि
हिस्से का आंशिक (Sacculated aneurism) या पूर्ण विस्फार
form) हो जाता है। जब उसमें रक्त का वहन होता रहता है।
स्फुरण या स्पन्दन होता रहता है।[1] जब भीतर का रक्त जम जा
उसमें स्फुरण प्रतीत नहीं होता (Consolidated aneurism)
ग्रन्थि (Aneurism) के तीन प्रकार माने गये हैं—१. धमनियों
से, २. धमनी और सिरा दोनों के विस्फार से और ३. आघातजन्य।

६. **मांसज**—दूषित मांस के आहार से, स्निग्ध, महान् कठिन
स्पष्टता के साथ श्लेष्मक लक्षणों से समन्वित ग्रन्थि होती है।

७. **रक्तज**—विकृत दोष से रक्त के दुष्ट होने पर सिरा-मांस को
पित्त लक्षणों से युक्त, स्वाप लक्षण से युक्त रक्त प्रकार की ग्रन्थि होती
टोमा और 'ब्लड सीस्ट' से इसकी भी समानता है। अन्तर इतना
वाग्भटाचार्य ने इस को दोषज बतलाया है अभिघातज नहीं
अभिघातज ही माने जाते हैं।

८. **अस्थिज**—अभिघातज के कारण अस्थि टूट जाने पर उसका

---

[1] चरकने लिखा है कि सिराज ग्रन्थि में स्फुरण होता है 'स्फुरणं सिरा

धान न होने की वजह से स्थानिक उभार या दबाव को अस्थिग्रन्थि ते हैं। यह एक प्रकार से अस्थि के सौत्रिक सन्धान (Fibrous union) अन्यथा सन्धान (Vicious union) के कारण होता है।

९. व्रणग्रन्थि—सर्व-रसाशी व्यक्तियों में, अरूढ़ या रूढ़ व्रणों में आर्द्र या न्ध व्रणों में, पत्थर की चोट खा जाने से वायु और रक्त दुष्ट होकर व्रण तु पर एक गाँठ बन जाती है, इसीको व्रणग्रन्थि संज्ञा है। इस प्रकार की ति को 'केल्वायड' (False Keloid) अंग्रेजी में कहते हैं। इस प्रकार ग्रन्थि अधिकतर दग्धव्रणों में (After Burn) पाई जाती है।

सामान्य चिकित्सा—[१]

१. सभी प्रकार की ग्रन्थियों में जब तक पूयोत्पत्ति न हो, तबतक शोफवत् तर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त उपचारों को करना चाहिये।

२. तैल, घृत, वसा, मज्जा का स्वतन्त्र प्रयोग करना चहिये।

३. वसा, तैल, घृत तीनों को मिलाकर पीना।

४. घृत, तैल, वसा और मज्जा चारों को मिश्रित करके पिलाना।

५. तैल-घी, तैल-वसा, तैल-मज्जा, घृत-मज्जा, वसा-मज्जा आदि दो स्नेहों मिलाकर पान करना चाहिये।

६. दशमूल और प्रसारिणी से सिद्ध उपर्युक्त दो स्नेहों का अथवा चारों हों का प्रयोग करना चाहिये।

७. कोश के साथ ग्रन्थि को शस्त्र से काटकर निकालना और पश्चात् अग्नि- में एवं व्रणवत् उपचार करना।

८. शोधन।

९. रोपण।

---

[१] तैलं पिबेत्सर्पिरथो द्वयं वा दत्त्वा वसां वा त्रिवृतं विदध्यात् ॥
अपेहिवातादशमूलसिद्धं वैद्यश्चतुःस्नेहमथो द्वयं वा ॥ (सु.)
विपाट्य चोद्धृत्य व्रणं सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत् ।
(च. शो. चि.)
अपक्वमेवापहरेद् विदार्य शस्त्रेण वाऽऽपाट्य सुपक्वमाशु ।
प्रक्षालयेत् पथ्यतमैः कषायैः ··· ··· ··· । (सु.)

विशेष-दोषानुसार

वातिक में—१. हिंस्रामूल, कुटकी, गुडूची, भार्ङ्गी, सोनापा
अगुरु, शोभाञ्जन, गोजी, तालपत्री इन द्रव्यों को पीसकर लेप करना।

२. विविध प्रकार के स्वेद, उपनाह तथा अन्य मिश्रकाध्याय की
का लेप करना चाहिये।

शस्त्रकर्म—यदि उपर्युक्त उपचारों से ग्रन्थि शान्त न हो तो
निकाल देना चाहिये, पश्चात् व्रणवत् चिकित्सा करनी चाहिये।

शोधन—तिल, एरण्डपत्र के क्वाथ, सेंधानमक मिला क
करना चाहिये।

रोपण—तदनन्तर-रास्ना, शाल, विडङ्ग, मधुयष्टि और दु
पाक किये हुये तैल का प्रयोग करे।

पैत्तिक में—१. जलौका के द्वारा रक्तावसेचन (Blood lett

२. क्षीरोदक के द्वारा परिषेक।

३. काकोलि वर्ग से शीत कषाय बनाकर शर्करा डालकर पीना।

४. द्राक्षारस (अंगूर) अथवा इक्षु के रस से हरीतकी का सेवन।

५. महुआ, जामुन, अर्जुन, वेतस की छाल से बाह्य प्रदेह करना।

६. केतकीमूल, और मुचकुन्द का लेप।

शस्त्रकर्म—यदि उपर्युक्त उपचारों से शमन न हो।

शोधन—वट, प्लक्ष, पीपल, उदुम्बर के क्वाथ से प्रक्षालन।

रोपण—मधुयष्टि आदि मधुर ओषधियों से सिद्ध घृत के
करना चाहिये।

श्लैष्मिक में—१. शोधन।

२. स्वेदन।

३. अङ्गुष्ठ, पाषाण या बांस के डंडे से विम्लापन।

४. कंटकारी, अमलतास, गुञ्जा, अहिंस्रा, इंगुदी, कड़ुई
भारङ्गी, करञ्ज, हिंस्रा और मैनफल, इन ओषधियों के मूलों को
करना चाहिये।

शस्त्रकर्म—१. यदि उपर्युक्त उपचारों से शान्त न हो, और यदि मर्म- न में अवस्थिति न हो तो अपक्वावस्था में ही अवपाटन करके निकाल चाहिये। पुनः अग्निकर्म करके सद्यःक्षत को विधि के अनुसार चिकित्सा नी चाहिये।

२. शोधन।

३. रोपण।

मांसज—यदि मांसाङ्कुर बढ़े हुए हों या मांसज ग्रन्थि हो तो उसकी कित्सा भी उपर्युक्त विधि से करनी चाहिये। अर्थात् १. शस्त्र के द्वारा अव- त। २. पथ्यतम कषायों के द्वारा प्रक्षालन और शोधन। मधु और गुड़ के से शोधन। ३. विडङ्ग, पाठा और हल्दी से सिद्ध तैल के द्वारा रोपण।

मेदोज—१. तिलकल्क का प्रदेह।

२. आग में गरम किये हुए लोहे से विम्लापन।

३. लाक्षालिप्त दार्वी (कलछुल) को गरम करके स्वेदन करना।

शस्त्रकर्म—यदि उपर्युक्त उपचारों से शोफ शान्त न होवे तो शस्त्रक्रिया के उसको कोश के सहित निकालना अथवा पक्व हो तो विदारण करना चाहिये।

शोधन—तदनन्तर तिल को गोमूत्र से पीसकर उसमें सुवर्चिका, हरिताल, नमक, क्षौद्र, घृत, प्रभृति अन्य क्षार द्रव्यों का योग करके उसके लेप के शोधन करना चाहिये।

रोपण—तदनन्तर पूतिकरञ्ज, कटुकरंज, गुञ्जा, बांस की छाल, इङ्गुदी द्रव्यों का कल्क लेकर उसमें तैल से चतुर्गुण मात्रा में गोमूत्र डालकर तैल द्ध कर लेना चाहिये। रोपण में इसी तैल का प्रयोग होना चाहिये।

रक्तज और सिराज ग्रन्थि में—पित्तवत् उपचार करना चाहिये।

व्रणग्रन्थि—छेदन, अग्निकर्म, शोधन और रोपण। व्रणग्रन्थि में आधुनिक के अनुसार इसमें (Deep x ray therapy) देते हैं क्योंकि इसे व्रण की र्वावस्था मानते हैं।

अस्थिग्रन्थि—छेदन, अग्निकर्म, शोधन और रोपण।

अपची (Chronic Lymphadenitis)

हन्वस्थि, कक्षा, अक्षक, बाहुसन्धि, मन्या और गला इकट्ठा हुआ कफ र मेद, स्थिर, गोल, दीर्घ, मृदु और अल्प पीडायुक्त ग्रन्थि उत्पन्न करता है।

उसका परिणाम कर्कन्धु, बेर, आंवला या जाल स्थित मछली के होता है। ऐसी अनेक गाठें निकलती चलती हैं। क्रमशः इनको परिणाम में वृद्धि होती चलती है। इनकी बढ़ने में अत्यधिक इसीलिये इनको अपची की संज्ञा मिली है। प्रकर्ष से अतिशय करनेवाली वस्तु।[1]

वे ही ग्रन्थियां जो प्रारम्भ में अल्प खाज युक्त और पीडा देने हैं कुछ समय के बाद पकती और फूट कर बहने लगती हैं। कुछ और कुछ नई बनती हैं। इस प्रकार मेद और कफ से उत्पन्न हुआ बरसों तक बना रहता है और बड़ा भयङ्कर होता है।

ऊपर की व्याख्या में स्पष्टतया रोग की दो अवस्थायें दी गई हैं वस्था जिसमें ग्रन्थियों का निकलना, बढ़ना, पाक का अभाव, कण्डू और पीडा की अल्पता आदि लक्षण दिये गये हैं। दूसरी अवस्था वह ग्रन्थियों में पाक और स्राव शुरू हो जाता है। व्यवहार के लिये प्रथम गण्डमाला और दूसरी अवस्था को अपची कह सकते हैं—यद्यपि ये दो रोग नहीं किन्तु एक ही रोग के अवस्थाविशेष हैं। चरक ने स्वतन्त्र माला नामक रोग का उल्लेख किया है 'जिसमें गले के पार्श्व में बहुत निकलना बतलाया गया है।' इसमें पश्चात् पाकोत्पत्ति होती है और वाग्भटोक्त अपची का रूप ले लेती है यह स्पष्ट नहीं कहा गया है।

---

[1] स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैर्दीप्तानले यूनि बलान्विते च।
कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवंक्षणेषु ॥
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः।
ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तकालाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ॥
कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति केचित्। (चरक)
हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धिमन्यागलेषूपचितन्तु मेदः ॥
ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा स्निग्धं कफश्चाल्परुजं करोति।
तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रैर्मत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथान्यैः ॥
अनन्यवर्णैरुपचीयमानं चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति।
कण्डूयुतास्तेऽल्परुजः प्रभिन्नाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ॥
मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी। (सु. नि. ११)

ी क्रियाविधि में 'धान्वन्तरों' का अधिकार हो जाता रहा, इसीलिये उस स्या का उन्होंने अपने कायचिकित्सा के ग्रन्थ में उल्लेख न किया हो।

आचार्य भोज ने दोनों का बड़ा अच्छा समन्वय किया है-उन्होंने इन धि को त्रिदोष से उत्पन्न बतलाया है और मेह को दूष्य माना है-एवं दोष की प्रकार की गति होकर कुछ ऊपर की तरफ कक्षा, मन्या एवं गले के पार्श्व में यां बनती हैं और अधो गमन होकर वंक्षण और जङ्घादि प्रदेशों में गाठें ती हैं। ये ग्रन्थियाँ नाना प्रकार की होती हैं और अपची कहलाती हैं। इन यों में जो वातोत्तरा होती हैं उनमें रूक्षता और पीडाधिक्य होता है। त्तरा में शीघ्र पाक और दाहादि लक्षण विशेष होते हैं। श्लेष्मोत्तरा ग्रन्थियाँ कवान्, कठिन, स्निग्ध और अल्पपीडावाली होती हैं। ऐसी श्लैष्मिक ग्रन्थियाँ में मेद का आधिक्य होता है और जो मृदु अङ्गों में-जैसे कण्ठ, मन्या, कक्षा, सन्धि, कण्ठ और हनुसन्धि के नीचे बनती हैं, उनकी आकृति मालाकार हो ी है, उनको गण्डमाला कहते हैं। यह गण्डमाला भी अपची के तुल्य लक्षणों-ही होती है।

कई स्थानों पर प्राचीन टीकाकारों (श्रीकण्ठ और चक्रपाणि) ने ग्रन्थि, र्पं (चरकोक्त जिसमें रासायनी ग्रन्थियाँ फूलती हैं) को ही सुश्रुत की अपची ना है। परन्तु यह ठीक नहीं जँचता जैसा कि आगे के व्यावहारिक उदाहरणों ष्ट होगा।

इस रोग का व्यावहारिक ज्ञान करने के लिये इसके विशिष्ट लक्षणों का संग्रह श्यक है।

१. लसीका-ग्रन्थियों की आकार-वृद्धि और विकृति एवं उनके न—

लसीका ग्रन्थियों की विकृति और वृद्धि होती है। निम्न लिखित स्थानों पर यों का बढ़ना।

१. हन्वस्थि प्रदेश की—Sub maxillary glands.
२, कक्षा ,, Axillary glands.
३. अक्षक ,, Supra or Infraclaviculárglands.
४. बाहुसन्धि ,, Deep cervical glands.

५. मन्या प्रदेश की	Post cervical glands,
६. गल ,,	Superficial cervical gl
७. वंक्षण ,,	Inguinal glands,

२. **उपचय**—ग्रन्थियां धीरे-धीरे बढ़ती हैं, नई-नई विकृत होती

३. **स्राव होना, नाश होना और नई-नई हो जाना**—इन मवाद (Caseation or Suppuration) पड़ जाता है। स्राव होकर उसका नाश हो जाता है और व्रण स्थान का पूर्णतया जाता है। अपने आप ठीक हो जाने की प्रवृत्ति (Tendency to taneos healing) होती है।

४. ग्रन्थियां आपस में संसक्त (Matting together) हो में पड़े हुए मत्स्याण्ड-सदृश मालूम होती हैं।

५. **वर्षगणानुबन्धी**—यह विकार बरसों तक बना रहता है कालीन रोग है। आचार्य वाग्भट ने इसके क्षय और वृद्धि की तुल की है।[1] रोगी के स्वास्थ्य के बुरे और भले होने के अनुसार इनमें घटना बराबर लगा रहता है—परन्तु रोग एकदम निर्मूल नहीं होता। भरी दूब पानी न मिलने पर पूर्णतया सूख जाती है परन्तु बिना प्रयत्न नहीं जाती—वैसे ही अपची स्वास्थ्य के ठीक हो जाने पर-बल के हो जाती है, परन्तु जड़ से नष्ट नहीं होती। पुनः दूर्वा को पानी मिलने प्रकार वह अपने प्रतानों द्वारा फैलती है उसी प्रकार यह विकार दशा में जब शरीर की प्राण-शक्ति कम हो जाती है—बड़े वेग से बढ़ बार ग्रन्थियों की मर्यादा को लांघ कर चारों ओर समस्त शरीर में ज्वर, कास, अंगमर्द इत्यादि सार्वदैहिक लक्षणों को पैदा करके राजय ले लेता है।

उपर्युक्त विशिष्ट लक्षणों के आधार पर अपची या गण्डमाला रोग अंग्रेजी के 'क्रोनिक ट्युबर्कुलस लिम्फैडनाइटिस' या 'स्क्रोफुला' से 'गण्डमाला' नामक रोग से सामान्य 'एडिनाइटिस' (Chronic ade

---

[1] नश्यन्त्यन्ये भवन्त्यन्ये दीर्घकालानुबंधिनः। ,,
गण्डमालाऽपची चेयं दूर्वेव क्षयवृद्धिभाक्। (सु० उ० २९)

प्रकार भी ले सकते हैं। आधुनिक ग्रन्थों में गण्डमाला के तीन प्रकार ाये जाते हैं—

१. क्षतज, २. फिरंगज, ३. क्षयज। इनमें प्रथम के दो प्रकारों में पूयोत्पादन होता जब तक कोई बाहरी उपसर्ग उपद्रव रूप से न पहुंच जाय। परन्तु ज प्रकार में अपने आप अपचय होने लगता है।

क्षयज प्रकार—यह रोग बाल्य और युवावस्था में बीस वर्ष की पूर्वायु में क होता है। इस रोग के प्रधान कारण के रूप में राजयक्ष्मा का जीवाणु ा जाता है। सहायक कारणों में कुलज प्रवृत्ति, विभिन्न दीर्घकालीन रोगों के रिणाम अथवा स्वास्थ्यवर्धक खाद्य और स्वच्छ वायु का अभाव, अतिमैथु- दौर्बल्यजनक कारणों की उपस्थिति हैं। गाला, आंत्र और श्वासमार्ग की यों पर अधिक प्रभाव विष का पड़ता है। वैसे पेशियों और आमाशय-ीर की ग्रन्थियों को छोड़कर शरीर की कोई भी धातु या अवयव इनसे नहीं सकता। सर्वत्र की ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं।

चिकित्सा—उभयतोदोषहरण (वमन और विरेचन)।[1]

१. जीमूतक (देवदाली) और कटु कोशातकी (कड़ुई तरोई) के फल कल्क और दन्ती, द्रवन्ती और निशोथ के मूलकल्क लेकर उसको चतुर्गुण त्रा में करके जीमूतक तैल और तैल से चौगुना जल डालकर सिद्ध किया पीने के लिये देना चाहिये। इससे बढ़ी हुई अपची की अवस्था भी सुधर ती है। इसके द्वारा उत्कट वमन और रेचन होता है।

२. निर्गुण्डी, चमेली और वालक इन द्रव्यों की एक अञ्जलि मात्रा लेकर समें एक आढक जल डाल देवे। चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर इस क्वाथ पुरुषापेक्षा उष्ण अवस्था में लेकर (Slightly above body tempeature) उसमें निर्गुण्ड्यादि कषाय, जीमूतक, कोशातकी और दन्ती, द्रवन्ती,

---

[1] ऊर्ध्वाधः शोधनं पेयमपच्यां साधितं घृतम्।
दन्तीद्रवन्तीत्रिवृताजालिनीदेवदालिभिः॥
शीलयेत् कफमेदोघ्नं धूमगण्डूषनावनम्। सिरयापहरेद्रक्तं पिबेन्मूत्रेण ताक्ष्र्यजम्॥
पलमर्द्धपलं वापि कर्षं वाप्युष्णवारिणा।
काञ्चनारत्वचं पीत्वा गण्डमालां व्यपोहति॥ (अ० हृ० उ० ३०)

निशोथ पूर्वोक्त योग का क्वाथ डालकर मधु और सेन्धानमक मिश्र चाहिये। इसके द्वारा तीव्र वमन होता है—अपची की दुष्टावस्था में भी हि

मूर्धविरेचन—१. कैटर्य (पहाड़ी नीम), बिम्बी, करवीर इ मूल का कल्क ¼ भाग, तैल १ भाग और जल ४ भाग के अनुपात तैल से शिरोविरेचन कराना चाहिये।

२. शाखोटक की त्वचा का तैल से चतुर्गुण स्वरस डालकर हुआ तैल का नस्य देने से लाभ होता है।

३. सहिजन का फल और अपामार्ग-तण्डुल को गर्म जल से पीस देना अपची में हितकर होता है। इस प्रकार के नस्य को अवपीडन

शस्त्र कर्म—यदि उपर्युक्त उपचारों से अपची शान्त न हो ग्रंथियों का अवस्थान मर्मों के ऊपर न हो तो उनको शस्त्रकर्म के द्वा साथ उद्धरण करना चाहिये।

क्षारकर्म या अग्निकर्म—तदनन्तर लेखन करके वहां पर क्षारकर्म अथवा अग्निकर्म करना चाहिये।

अग्निकर्म में दो प्रकार के विधान हैं—१. स्थानिक (ठीक उसी जहाँ ग्रन्थि हो) और २. स्थानान्तरिक (अन्यत्र)। इनमें स्थानान्तरि विशेष वर्णन प्रासंगिक है—

पार्ष्णि (गुल्फपश्चाद्भाग— Calcaneous) से बारह अंगुल माप लेना चाहिये, उसके समीप इन्द्रबस्ति नामक मर्म (Calf m पड़ता है उसको बचाकर वहाँ पर जो मेदोजाल मत्स्याण्ड-सदृश दि उसको ठीक तरह से स्पष्ट कर बुद्धिमान् वैद्य को वहां पर अग्निक करना चाहिये[1]।

कुछ लोग 'पार्ष्णि प्रति' में प्रति शब्द से विपरीत अर्थ का ग्रहण और उनके अनुसार यदि दक्षिण भाग में अपची हो तो वाम जंघा में भाग में हो तो दक्षिण जंघा में (विपरीत दिशा में) दाह करना चाहि उभय भाग में अपची हो तो दोनों जंघाओं में करना होता है।

---

[1] पार्ष्णिं प्रति द्वे दश चाङ्गुलानि मित्वेन्द्रबस्तिं परिवर्ज्य धीमान्।
विदार्य मत्स्याण्डनिभानि वैद्यो निष्कृष्य जालान्यनलं विदध्यात्॥ (सु०

दाह की विधि यह है कि जंघा में पार्ष्णि के दस अंगुल ऊपर तक माप लें दो अंगुलों की दूरी में दाह करें। इस प्रकार पूरे बारह अंगुल का समावेश ाता है। दाहकर्म करने का उद्देश्य रोग का अपुनर्भव है। दाह करने के अग्नि से तप्त शलाका लेनी चाहिये। यदि लौह के स्थान पर स्वर्ण की का हो तो अधिक उत्तम है। इस क्रिया के द्वारा अपची का मूलोच्छेद हो है।

इसी अर्थ का एक दूसरे श्लोक के पाठ द्वारा वर्णन मिलता है।[1] कर्ण के न गुल्फ वाले पाद और जङ्घा के सन्धि स्थल (खुडक या खुलक) से पूरी की लम्बाई बीस अङ्गुल की होती है। उसमें ऊपर की ओर से आठवां भाग त ढाई अङ्गुल छोड़कर घोण (नासा सदृश उठी हुई उत्तरीय कण्डरा) का (सीधा) वेधन करना चाहिये। ढाई अङ्गुल छोड़ने का उद्देश्य होता है— स्ति मर्म को बचाना। यद्यपि इन्द्रबस्ति मर्म की परिधि कुल दो अङ्गुल की है; परन्तु मर्म को कटने से बचाने के लिये (अधिक सुरक्षित रखने के) ढाई अङ्गुल तक छोड़ने का निर्देश किया गया है। कुछ लोग केवल मात्र अर्थात् दो ही अङ्गुल का परिहार करने का उपदेश देते हैं।

अपची में जङ्घाकण्डरागत मेदोमूल ही कारण माना जाता है और उसका कर्म से निर्मूलन हो जाता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यह दाहकर्म ा जाता है। भोज ने स्पष्ट लिखा है—'वात, पित्त और कफ वृद्ध होकर कण्डराश्रित मेद को दूषित करके मस्त्याण्डसदृश बहुत सी ग्रन्थियों को करते हैं। इसलिये जंघा में ही कर्म करने से मूलोच्छेदन होता है।'[2]

इसी श्लोक की 'गूढपदभंग' टिप्पणी में दूसरी व्याख्या मिलती है। इसके ार कान से, लेकर गुल्फ तक की पूरी दूरी अङ्गुलों में माप लेनी चाहिये। तरह से मापने पर यह कुल दूरी छिहत्तर (७६) अङ्गुल की होगी, उसका

---

१. आगुल्फकर्णात् सुमितस्य जन्तोस्तस्याष्टभागं खुलकाद्विभज्य।
घोणर्जुवेधः सुरराजवस्तेर्हित्वाक्षिमात्रं त्वपरे वदन्ति॥ (सु० चि० १८)

२. वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम्।
जङ्घयोः कण्डरां प्राप्य मस्त्याण्डसदृशान् बहून्॥
तस्माज्जंघायामेव कर्मणा मूलोच्छेदः।

आठवां भाग अर्थात् साढ़े नौ अङ्गुल को 'खुलकाव' माने पार्ष्णि भाग neoue) से ऊपर को माप कर वेध करना चाहिये। इस अवस भाग—जो दो अङ्गुलों का होता है, उसका ग्रहण नहीं किया जाता। पार्ष्णि से साढ़े ग्यारह या बारह अङ्गुल की दूरी पर स्थित स्थान प्रा है। वेध और दाह का स्थान घोणानासा (घोड़नस) ही रहता है। ने खुलक या पार्ष्णि की कुल लम्बाई तीन अङ्गुल की मानी है उसमें साढ़े नव अङ्गुल जोड़ने से लम्बाई कुल साढ़े बारह अङ्गुल की हो जाती में इन्द्रवस्ति मर्म को बचा लेना पड़ता है। क्योंकि इन्द्रवस्ति मर्म पार्ष्णि से साढ़े बारह अङ्गुल की दूरी पर अर्धाङ्गुल अर्धव्यास का हो उपर्युक्त तीन प्रकार की व्याख्याओं में एक ही बात का कथन कि 'जङ्घा के पश्चात् भाग में अवस्थित कण्डरा (घोड़नस) इन्द्रवस्ति ऊपर मर्म की रचना की रक्षा करते हुये दो अङ्गुल लम्बा वेधन (करना चाहिये। वहां पर जाल में फँसी हुई मत्स्याण्डसदृश मेदोजाल मिलेगी उसको निकाल कर उस स्थान को दग्ध करन चाहिये।'[1]

आचार्य वाग्भट ने इन्द्रवस्ति मर्म के ऊपर ही वेधन आवश्यक है बल्कि 'यदि औषधोपचार से व्याधि न शान्त हो तो रोग के अन्य जंघे में वस्तिमर्म के ऊपर या नीचे मेदों को निकाल दाहकर्म करते बतलाया है।

रेखात्रय विधि—'मणिबन्ध के ऊपर एक अङ्गुल का शस्त्र के द्वारा तीन रेखायें करनी चाहिये। इसके द्वारा अपची रोग जाता है।' यह रेखाओं का स्थान मणिबन्ध और कूर्परगर्त के बीच मणिबन्ध सन्धि से नौ अङ्गुल से किञ्चित् अधिक दूरी तक इन बनाना चाहिये।[2]

रोपण काल या चूर्ण काल—१ मयूर, काक, गोह, सर्प, राख में इङ्गुदी तैल मिलाकर मसी बनाकर बाह्य लेप करने से रोपण

---

१. इत्यशान्तौ गदस्यान्यत् पार्श्वजंघासमाश्रितम्।
बस्तेरूर्ध्वमधस्ताद्वा मेदो हृत्वाऽग्निना दहेत्॥

२. मणिबन्धोपरिष्टाद्वा कुर्याद्रेखात्रयं भिषक्। अङ्गुल्यन्तरितं सम्यगपचीनां

२. श्लीपद की चिकित्सा में पठित तैल का भी स्थानिक प्रयोग हो है ।

वैरेचनिक धूम—

ओषधियोग—त्रिफलाद्य गुग्गुलु, कांचनार गुग्गुलु, छुछुन्दरी तैल, गुंजा-प्रभृति ओषधियां गण्डमाला की अवस्था में लाभप्रद होती हैं। अपची की था में चन्दनादि तैल की बड़ी प्रशंसा है।

आधुनिक युग में गण्डमाला (Tuberculous Adenitis) और अपची rofula) की चिकित्सा तीन भागों में बाँट देते हैं—१. सामान्य । स्थानिक संशामक उपचार । ३. शस्त्रकर्म ।

पथ्य—सामान्य उपचारों का समावेश पथ्यादि की व्यवस्था में है। 'स्वच्छ आराम, पोषक आहार, सूर्यप्रकाश आदि की व्यवस्था करनी चाहिये। यदि का हेतु क्षय हो तो क्षयघ्न आहार-विहार तथा औषधि (क्षयरोगाश्रमीय त्सा Senatorium Treatment) की अवस्था करनी चाहिये। 'जौ मूंग' का पथ्य सुश्रुत ने बतलाया है।

स्थानिक संशामक—उपचारों में स्थानिक 'अल्ट्रावायलेट' किरण, पूय का , लेप आदि ।

शस्त्रकर्म—संशामक उपचारों से रोग का शमन नहीं होने पर शस्त्रकर्म स्थानिक ग्रन्थियों को काटकर निकालते हैं और यदि पूययुक्त शरीर में hronic sepsis or foci) हो तो दूर करते हैं।

साध्यासाध्यता—जब अपची का विष ग्रन्थियों तक ही मर्यादित न रह समस्त शरीर में फैल जाता है और पीनस, पार्श्वशूल, कास, मन्दज्वर, आदि सार्वदैहिक राजयक्ष्मज लक्षणों से युक्त हो जाता है, तब असाध्य जाता है[1]।

अर्बुद (Tumours or neoplasms)

व्याख्या—'शरीर के किसी प्रदेश में प्रवृद्ध हुए दोष मांस को अत्यन्त षित करके या मेद आदि अन्य धातुओं को दूषित करके गोलाकार, स्थिर, अल्प

---

[1] पीनसपार्श्वशूल-कासज्वरच्छर्दियुतस्त्वसाध्यः । (च.)

पीड़ा देने वाला, बड़ा गहरा (अनल्पमूल), बहुत दिनों में बढ़ने पकने वाला मांसोच्छ्राय का रूप प्रतीत होने वाला शोफ या उभार हैं। उस शोफ को शास्त्रविद् अर्बुद कहते हैं[1]।'

इस प्रकार—'शरीरस्थ धातुओं से ही उत्पन्न हुए नये धातुओं ठोस पिण्ड है जो शरीर की किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति उत्पन्न होता (अर्थात् जिसकी उत्पत्ति निरर्थक) है जो वृक्ष को शरीर पर पलता है, जिसके उत्पन्न होने से शरीर को कोई भी लाभ वातिक संस्थान का जिस पर कोई भी नियन्त्रण नहीं होता, तथा नियत अवसान नहीं होता; उसको अर्बुद कह सकते हैं।'

लक्षण और परिमाण की दृष्टि से आधुनिक ग्रन्थों में अर्बुद के बतलाये गये हैं—

१. सौम्य अर्बुद—ये अर्बुद चारों ओर से मर्यादित और को हैं, इनको छेदन कर के कोषयुक्त निकालकर निःशेष किया जा सक पुनरुत्पत्ति का भय नहीं होता। प्रायः अर्बुद एक होता है; द्विरर्बुद नहीं होते, ये धीरे-धीरे बढ़ते हैं। बढ़ने पर भी इनमें अल्प पीड़ा हो न ये पकते हैं; न रक्तस्राव करते हैं। न इनसे जीवन के नाश का उपर्युक्त अर्बुद की सामान्य परिभाषा सौम्य अर्बुदों की ही है। परन् अर्बुद मर्माङ्गों पर दबाव डालें तो घातक हो सकते हैं। इन अर्बुदों के भीतर वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और मेदोज प्रकार का समावेश है साध्य होते हैं। इनके लक्षण ग्रन्थि रोगों के सदृश होते हैं।

आधुनिक ग्रन्थों में इनके दोष-निरपेक्ष नाम बतलाये गये हैं। जिस धातु विशेष के द्वारा इनकी उत्पत्ति होती है उसी के अनुरूप करण हैं। जैसे श्लेष्मार्बुद, त्वगर्बुद, मेदोर्बुद, अस्थ्यर्बुद, त दन्तार्बुद, मज्जार्बुद, नाड्यर्बुद, इत्यादि।

२. घातक अर्बुद—दूसरा वर्ग घातक (प्राणहारक) अर्बुदों

---

[1] गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः सम्मूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम्॥
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति। (सु० नि०

दित नहीं होते किन्तु चारों ओर के धातुओं में फैलते रहते हैं, इसलिये न करके निकालने पर भी सशेष रह जाते हैं एवं फिर उत्पन्न हो जाते हैं। ष दोष से अर्बुदों का पुनरुद्भव होता रहता है। सौम्य अर्बुदों की अपेक्षा ये से (आशु) बढ़ते हैं। इनमें व्रणोत्पत्ति होकर रक्तस्राव होता रहता है जिससे डु रोग हो जाया करता है। अपने स्थान के पास या दूरवर्ती अङ्गों में र्बुद और अध्यर्बुद (Matastatic growth or Secondary posits) उत्पन्न करने की इनमें प्रवृत्ति होती है। इनकी सूक्ष्म रचना तुओं से भिन्न होती है। चिकित्सा की दृष्टि से ये असाध्य माने गये हैं। और वर्ग के भीतर मांसार्बुद और रक्तार्बुदों का समावेश हो जाता है।

आधुनिक ग्रन्थों में 'कैन्सर' या 'एपिथिलियोमा' और 'सिरस कैन्सर' Scirrhus) घातकार्बुद माने गये हैं। स्थान के अनुसार इनमें भिन्न लक्षण सकते हैं। जबान या मुंह में होने से भोजन नहीं खाया जाता, अन्नप्रणाली होने से भोजन नहीं निगला जाता, आमाशय में होने से भोजन का अविपाक-न और रक्तवमन आदि लक्षण होते हैं। आन्त्र में होने से मलावरोध अपचन दि लक्षण होने लगते हैं।

अर्बुद प्रकार

साध्य (सौम्य)	असाध्य (घातक)
वातार्बुद—Osteoma (अस्थ्यर्बुद)	५. रक्तार्बुद (Carcinoma)
Odontoma (दन्तार्बुद)	Sarcoma
Neuroma (नाड्यर्बुद)	६. मांसार्बुद Cirhus
Chondroma (तरुणास्थ्यर्बुद)	cancer
Fibroma (सौत्रिकार्बुद)	
Neurofibroma (नाड्यावरणार्बुद)	
पित्तार्बुद—Angioma, Haemangioma (सिरार्बुद या धमन्यर्बुद)	

३. श्लेष्मार्बुद—Lympangioma

(लसीकावहार्बुद)
Myxoma (पेश्यबुंद)
Myeloma (अस्थिमज्जार्बुद)

४. मेदोर्बुद—Lipoma

हेतु—अबुंदोत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में विविध प्रका के तीन ही हेतु बतलाये गये हैं—

१. दुष्ट दोष २. मुष्टि के या अन्य प्रहार ३. अर्दित अङ्ग।

आधुनिक ग्रन्थों में भी वास्तविक कारण अभी तक पूर्णतया निश्चि १. जीर्ण या अधिक काल स्थायी निरन्तर पीडन या क्षोभ किसी अङ्ग रहे तो अबुंद की उत्पत्ति हो सकती है। मुष्टिप्रहार (Trauma) ताङ्ग (Chronic Irritation) इसी भाव का द्योतन करते हैं। सिद्धान्त विकारी जीवाणु या धातुओं की खास विकृति का है। इसके भी निश्चित प्रमाण वर्तमान काल के अन्वेषणों में नहीं मिलता। ३. बालक के शरीर में धातुओं का शेष रहना—भ्रूणावस्था में कुछ शेष रहते हैं, जो जन्म के बाद बढ़ने लगते हैं और उनके बढ़ने से अबुंद हैं। इनके लिये कई सहायक कारण—जैसे कुलज प्रवृत्ति अथवा प्रहार सहायता करते हैं। पीडन वाले अङ्गों या अर्दिताङ्गों में—जैसे ओष्ठ, और त्वचा में अबुंद बहुत बनते हैं।

दोषभेद के सामान्य अर्बुदों के लक्षण ग्रन्थिरोग के समान ही विशेष वर्णनों में रक्तार्बुद और मांसार्बुद की व्याख्या के नीचे की

रक्तार्बुद—प्रदुष्ट हुआ दोष रक्त और सिराओं को सम्पीडित और करके पश्चात् पाक की अवस्था में आ जाता है और स्राव युक्त मांसाङ्कु जाता है शीघ्रता से बढ़ता और मांसपिण्ड को उन्नत करता चलता निरन्तर रक्त निकलता है। यह रक्तार्बुद असाध्य है, इस अर्बुद से रक्तक्षय के उपद्रवों से पीडित होकर पाण्डु वर्ण (पीला पड़ना) का हो

---

१. सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं मांसाङ्कुरैराचितमाशु वृद्धिम्।
स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्टमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं तु॥
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु॥

म्प्राप्ति की दृष्टि से रक्तार्बुद को पाश्चात्य निदान का 'सारकोमा' और णों के आधार पर 'कार्सिनोमा' या 'एपिथिलियोमा' कह सकते हैं। सारकोमा प्रकार का घातक अर्बुद है जो अस्थ्यावरण, अस्थिमज्जा इनमें प्रायः उत्पन्न है, बचपन तथा जवानी में अधिक दिखाई देता है। इसकी घातकता और की शक्ति में बहुत भिन्नता पाई जाती है। जो सारकोमा अत्यन्त सौम्य र के होते हैं, वे शनैःशनैः बढ़ते हैं, कठिन होते हैं और उनमें रक्तसञ्चार भी होता है। परन्तु जो अत्यन्त घातक होते हैं, वे तेजी से बढ़ते हैं, मृदु होते र उनमें रक्त का सञ्चार अधिक होता है। भीतरी रक्त की न्यूनाधिकता के ार उनका रङ्ग हल्का भूरा से लेकर गहरा लाल तक हो जाता है। भीतरी र में इनका विष रक्तवाहिनियों के द्वारा ही फैलता है और अध्यर्बुद या द्विर-(Matastasis) की उत्पत्ति रक्त मार्ग से होती है ('प्रदुष्ट दोष रक्त सिराओं के द्वारा फैलता है')। प्राथमिक सारकोमा का अवस्थान प्रायः स्थि, प्रगण्डास्थि, प्रकोष्ठास्थि, ऊर्ध्वस्थि, नासास्थि और लसीका ग्रन्थियों ता है।

कार्सिनोमा श्लैष्मिक या बाह्य त्वचा पर अधिक होता है। ओष्ठ, जिह्वा, अन्नप्रणाली, जठर, आन्त्र, मलाशय, स्त्रियों में गर्भाशय और स्तन, पुरुषों ष्ठीला ग्रन्थि और शिश्न इसके प्रधान स्थान हैं। साधारणतया यह रोग स वर्ष की अवस्था के बाद होता हे। प्राचीन 'रक्तार्बुद' के लक्षणों के साथ ी कई सामानतायें मिलती हैं। जैसे—

१. **मांसाङ्कुरों से भरा हुआ**—'कैन्सर' या 'कार्सिनोमा' के 'एपिथि-मा' प्रकार में अर्बुद के पृष्ठ पर बहुत से अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं, जो कोई खिले हुए गोभी के फूल के समान दीखते है।

२. **अजस्र रुधिर स्राव करनेवाला** } कुछ समय के पश्चात् इनमें व्रण बन
३. **स्राव युक्त मांसाङ्कुरों से भरा** } जाते हैं, जिससे हमेशा न्यूनाधिक
ा में रक्तस्राव हुआ करता है। आस-पास की लसीकाग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं, तथा शरीर के अन्य अङ्गों में कैन्सर उत्पन्न होता है। इस विकृति में ुद या अध्यर्बुद (Metastasis) लसीकावाहिनियों द्वारा ही विष की त होने से बनते हैं।

४. रक्त के क्षय का उपद्रव और पाण्डु वर्ण होना— क्षय होना एक प्रधान लक्षण है। इस रोग में वातिक वेदनायें होती स्राव, वातिक वेदना और कैन्सर का विष इन तीनों कारणों से क्षीणता स्थ्य (Cachexia) बढ़ता जाता है। रोगी को कितना ही खाने जावे वह पनपता नहीं। वह पाण्डुवर्ण या सफेद हो जाता है।

मांसार्बुद—'मुष्टिप्रहार आदि से पीड़ित हुए अङ्ग में मांस अल्पवेदना युक्त, स्पर्श में स्निग्ध, त्वचा के वर्ण का, न पकने वाला, समान कठिन और स्थिर शोफ उत्पन्न करता है। अत्यन्त मांसपरा का मांस दूषित होने से मांसार्बुद होता है यह असाध्य है[1]। यह प्राचीन का वर्णन है। आधुनिक कैन्सर का एक प्रकार है। जिसमें वह—

१. **अश्मोपम**— अत्यन्त कठिन (Scinrhus) हो जाता है

२. **अप्रचाल्य**—अचल या स्थिर हो जाता है।

३ **मुष्टिप्रहार और अर्दित अङ्ग**—अन्य अर्बुदों की अपेक्षा उत्पत्ति में क्षोभ या पीडन (Chronic Irritation) प्रधान जाता है। निज कारणों अर्थात् अनुकूल प्रकृति के अतिरिक्त आग भी घातकार्बुदों की उत्पत्ति में सहायता करते हैं। आगन्तुक कार और पीडन आ जाते हैं।

४. मांसपरायणता—भारतवर्ष की अपेक्षा यह रोग यूरोप में अधिक पाया जाता है। दिन-प्रतिदिन इससे पीडित होने वाले संख्या बढ़ती जारही है। संयुक्त प्रदेश अमेरिका में मृत्यु के कारणों का दूसरा नंबर है। उस देश के लोगों में मांस का प्रयोग बहुलता इस दृष्टिकोण से संभवतः अन्य कारणों के साथ-साथ मांसलोलुपता करण हो। सुश्रुत ने इसको मांसलोलुप व्यक्तियों में ही होते देखा हो

अर्बुदों में अपाक कारण—'कफ की—विशेषतः मेद की अधि की स्थिरता तथा ग्रथनता (कठिनता) से, तथा स्वभाव से सभी

---

१. मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम्।
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम्॥
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य बाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य।

प्राप्त होते¹ ।' यह व्यावहारिक अनुभव है कि अर्बुदों में पूयोत्पत्ति नहीं , जब तक कि उनमें कोई औपद्रविक उपसर्ग न पहुँच जावे। विभिन्न कार के अर्बुदों में से केवल रक्तार्बुद में सुश्रुत ने पाक होना बतलाया है। दूसरे ग्रन्थकारों को यह मान्य नहीं मालूम होता, क्योंकि माधवनिदानकार पने संग्रह में पाठ भेद करके उसको भी अपाक युक्त ही माना है।²

साध्यासाध्यता—रक्तार्बुद और मांसार्बुद असाध्य होते हैं—क्योंकि ये ही घातक (Malignant) होते हैं। साध्य अर्बुदों में भी जो स्राव मर्मस्थानों में उत्पन्न हुआ अथवा नासा और महास्रोतों में होकर स्थिर हो हो, वह असाध्य हो जाता है।

अध्यर्बुद और द्विरर्बुद—पहले अर्बुद के रहते भी शरीर के दूसरे पर यदि कोई दूसरा या तिसरा अर्बुद निकल जाय तो उसको अध्यर्बुद हैं। और पूर्व के रहते ही एक ही समय में अथवा क्रम से यदि दो या अर्बुद निकलें तो उसको द्विरर्बुद कहते हैं। यह असाध्य होता है।³ पहले प्रकार में अर्थात् अध्यर्बुद के वर्ग में जो अर्बुद बतलाये गये हैं वे य प्रकार के हैं, वे स्वतन्त्र होते हैं, प्रथम अर्बुद से साथ उनका कोई सन्बन्ध होता। दूसरे प्रकार में पूर्व के अर्बुद के सम्बन्धित उपद्रवरूप अन्यान्य दों का वर्णन है। पाश्चात्य ग्रन्थों में भी 'कैन्सर' और 'सारकोमा' नामक क अर्बुदों की क्रमशः लसीकावह और रक्तवह स्रोतसों से विष का सञ्चार र तत्सम छोटे बड़े अर्बुदों का उद्भव होता चलता है, ऐसा उल्लेख मिलता इन द्विरर्बुदों को 'मेटास्टैटिक ग्रोथ' (Metastatic growth) कहते हैं। अवस्था असाध्यतासूचक होती है।

वातार्बुद-चिकित्सा—

१. उपनाह— कूष्माण्ड, ककड़ी, प्रियाल, नारिकेल, एरण्डबीज के चूर्णों के

---

१. न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोधिकावाच्च विशेषतस्तु।
दोषस्थिरत्वाद् ग्रथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु॥

२. माधवनिदानकार ने रक्तार्बुद के पाठ में 'सङ्कोच्य सम्पीडय गतस्तु पाकं' के नपर 'सङ्कोच्य सम्पीडय ततस्त्वपाकम्' भेद करके लिखा है।

३. यज्जायतेऽन्यत्व खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः।
यद्द्वन्द्वजातं युगवत् क्रमाद्वा द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम्॥

द्वारा अथवा इनसे सिद्ध तैल और घी के द्वारा उपनाह करना चाहि मांस अथवा वेसवार के द्वारा स्वेदन या उपनाह भी उत्तम है।

२. स्वेद—नाड़ी के द्वारा।

३. रक्तविस्रावण—शृङ्ग के द्वारा।

४. वातघ्न ओषधियों (देवदारु प्रभृति) का क्वाथ, क्षीर और तीनों के चतुर्गुण द्रव से सिद्ध किया हुआ घृत, तैल और वसा समान मि पीने के लिये देना चाहिये। इसी क्वाथ के द्वारा यदि स्नेह शतधा (पाक कर लिया जावे तो वह शतपाक घृत कहलाता है।[1]

पित्तार्बुद चिकित्सा—

१. काकोल्यादि मृदु द्रव्यों से युक्त क्षीर और अम्ल से पिष्ट उपनाह मृदु होने चाहिये।

२. काय विरेचन वमन और रेचन। रक्तावसेचन (जलौका के द्वा

३. स्थानिक लेखन के अनन्तर उदुम्बर, शाक, दार्वी, पत्रिका (के पत्तों को पीसकर लेप अथवा अमलतास, गोजी, त्रिवृत् और सो कर लेप करे। सर्जरस, प्रियंगु, पतंग, लोध्र, अंजन, मुलैठी प्रभृति का लेप।

४. श्यामा, गिरिह्वा, वेल, द्राक्षा, यवतिक्ता और मुलेठी इन द्रव्यों परिभाषा के अनुसार सिद्ध किये हुए घृत का पान करे।

श्लेष्मार्बुद-चिकित्सा—

१. स्वेदोपनाह

२. विरेचन

३. रक्तावसेचन (अलाबू के द्वारा)

४. 'जीमूतक, घोषवती, फल, दन्ती, द्रवन्ती, त्रिवृतादि' ऊर्ध्वा करने वाली ओषधियों को पीस कर लेप करना।

कपोतविट्, पारावतविट्, कांस्य (कांस्य का भस्म), नील, (गोंठवन), लाङ्गली (कलिहारी), काकादनी (वायसतिन्दुका) के गोमूत्र में पीसकर क्षार से संयुक्त करके लेप करना चाहिये।

---

[1] वातघ्ननिर्यूहपयोऽम्लभागैः सिद्धं शताख्यं त्रिवृतं पिबेद्वा।

मेदोर्बुद-चिकित्सा—

मेदोर्बुद में उपर्युक्त उपचारों से कुछ विशेष लाभ नहीं होता। इसलिये ं प्रारम्भ से ही शस्त्रकर्म करने का विधान है।

१. शस्त्रक्रिया के द्वारा अशेष समुद्धरण करना चाहिये। अर्बुद के ऊपर निक स्वेद कर विदारण करके अर्बुद को कोष के सहित पूर्णतया निकाल चाहिये।

२ सीवन—तदनन्तर रक्त को विशोषित करके सीवन करना चाहिये।

३. अवचूर्णन, शोधन और लेप-तदनन्तर हरिद्रा, गृहधूम, लोध, पतङ्ग चूर्ण, शिला अदि द्रव्यों का अवचूर्णन या मधु के साथ मिलाकर मोटा लेप करे।

४. रोपण—करञ्जादि तैल के द्वारा रोपण करना चाहिये।

सामान्य उपक्रम—यदि संशामक उपचारों से अर्बुद का शमन न होवे भी प्रकार के अर्बुदों में—१. क्षार कर्म, २. अग्नि कर्म और ३. शस्त्र कर्म ना चाहिये।

इन कर्मों को करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अर्बुद पूर्णतया ल जाय, क्योंकि यदि दोष थोड़ा भी अवशिष्ट रह जाता है तो अर्बुद की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार अल्प परिमाण की अग्नि भी असावधानी से ङ्कर रूप ले लेती है (Complete Excision)।[1]

यदि अर्बुद अल्पावशिष्ट अथवा कृमिभक्षित हो और अल्पमूल (कम ाई) या तनुमूल (पतले मूल) का हो तो लेखन करके अग्निकर्म करना हिये। अग्निकर्म करते हुए अन्य समीपस्थ धातुओं को बचाने के लिये मूल के ों तरफ पित्तल, ताम्र, सीस या लोह के बने पट्टों (पत्तरों) से अङ्ग को त करके रखना चाहिये।[2]

---

१. क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद्विदध्यात्प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्तः।
सशेषदोषाणि हि योऽर्बुदानि करोति तान्याशु पुनर्भवन्ति॥
तस्मादशेषाणि समुद्धरेत्तु हन्युः सशेषाणि यथा हि वह्निः।
२. अल्पावशिष्टे कृमिभक्षिते च लिखेत्ततोऽग्निं विदधीत पश्चात्॥
यदल्पमूलं त्रपुताम्रसीसपट्टैः समावेष्ट्य तदायसैर्वा।
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद्विदध्यात् प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्तः।

क्षारकर्म में क्षारलिप्त सूत्र के द्वारा पतले मूल वाले अर्बुदों को दिया जाता है, जिससे शनैः शनैः अर्बुदस्थ धातुओं में रक्त सञ्चार बन्द वृद्धि बन्द हो जाती है और वे मुरझा जाते हैं। साथ ही क्षार को कट कर शरीर से पृथक् हो जाते हैं। यदि अर्बुद विशाल मूल का मूल में क्षारसूत्र को यवमुखी सूची के द्वारा पहनाते हैं। इसके लिये सूत्र की प्रतिष्ठापना के लिये कई बार (चारों तरफ से) छेद करके बन्धन करना होता है। यह क्षारकर्म बहुत हल्का पड़ता है, इसके शनैः शनैः होता है। अस्तु भीरु और सुकुमार प्रकृति के मनुष्यों-जो अग्नि कर्म से डरते हैं, उन्हीं व्यक्तियों में इसके करने की आवश्यकता

क्षार कर्म अथवा अग्नि कर्म के द्वारा बने व्रणों में सीवक करने श्यकता नहीं होती; परन्तु शस्त्र कर्म के द्वारा अर्बुद के निकाले जाने सीवन होना चाहिये।

शोधन—पश्चात् आस्फोता, चमेली और कनेर के पत्रों से शोधन सामान्यतया सभी प्रकार के व्रणों में करना चाहिये।

रोपण—के लिये सबों में भार्ग्यादि तैल का व्यवहार करना भार्गी, विडङ्ग और पाठा से सामान्य तैलपाक विधि द्वारा यह तैल तैयार

उपद्रवों की चिकित्सा—अर्बुदों में दो प्रकार के उपद्रव देखे हैं, उनकी चिकित्सा निम्नलिखित व्यवस्थाओं के अनुसार करनी चाहि

१. कृमिभक्षित या मक्षिकाभक्षित—सेम, तिल की और मांस को दधिमस्तु (मट्ठा) के साथ पीस कर गाढ़ा लेप लेप के द्वारा स्थानिक कृमियाँ मूर्च्छित हो जाती हैं और मक्खियाँ वैठने पातीं।

२. अर्बुद में पाकोत्पत्ति— अर्बुदों में पूयोत्पत्ति नहीं होती, पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग पहुँच जाय तो पाक हो जाता है। में विद्रधिवत् या व्रणवत् उपचार करना चाहिये।

आस्फोतजातीकरवीरपत्रैः कषायमिष्टं व्रणशोधनार्थम्।
शुद्धे च तैलं विदधीत भार्ङ्गी विडङ्गपाठात्रिफलाविपक्वम्॥
यदृच्छया चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः। (सु. चि. १८

रक्तार्बुद और मांसार्बुद की चिकित्सा के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख नहीं है। कि ये दोनों अवस्थायें असाध्य हैं। आधुनिक युग में भी 'सारकोमा' और सिनोमा' असाध्य हैं। क्योंकि इन अर्बुदों में द्विरर्बुदोत्पत्ति (Metas- sis) होती रहती है। फलतः उनका अशेष निर्हरण (Complete Exci- n) नहीं होने पाता। आजकल के युग में 'क्ष किरण' और 'रेडियम्' का ग बहुत कुछ कार्यकर होता है।

गलगण्ड (Simple Goitre)

'प्रवृद्ध हुए वायु, कफ तथा मेद मांस को आश्रित करके गले में क्रमशः ने लक्षणों से युक्त गण्ड उत्पन्न करते हैं, उसको गलगण्ड कहते हैं।'[1]

'जिसके गले में मर्यादित हुआ शोफ वृषण की भांति लटकता है, वह चाहे टा हो या बड़ा; उसको गलगण्ड कहते हैं।'[2]

गले में इस प्रकार का लटकने वाला उभार अवटुका (Thyroid) न्थि की स्थायी अतिवृद्धि में होता है। अंग्रेजी में इस रोग को 'सिम्पुल गायटर' ते हैं। इस ग्रन्थि का कार्य स्वास्थ्य के लिये परमावश्यक है। इसके द्वारा र की वृद्धि और आहार-परिवर्त्तन का नियन्त्रण होता है। सिद्धान्त यह है यह ग्रन्थि जम्बुकी (आयोडिन) को ग्रहण करके उससे 'थायोरोक्सिन' त्मक द्रव बनाती है, जो रक्त में मिलकर उपर्युक्त कार्य किया करती है। इस की कमी और वेशी होने का स्थानिक तथा सार्वदैहिक प्रभाव शरीर पर ता है। शरीर के अन्य अङ्गों की अपेक्षा स्वयं यह ग्रन्थि अपने द्रव्य की नाधिकता से अधिक प्रभावित होती है। फलतः १. खाद्य पेय द्रव्यों में जब म्बुकी (आयोडिन) धातु की कमी हो, २. मेद की अधिकता हो, ३. खटिक धिकता हो, ४. (Vit A. B.) जीवतिक्ति की कमी हो, ५. फास्फेट कमी हो और ६. आन्त्र में जीवाणुओं की कमी हो तो इनके कारण खाद्य व्यों में योग्य मात्रा में आयोडिन उपस्थित रहने पर भी उसका ठीक शोषण

---

१. वातः कफश्चैव गले प्रवृद्धौ मन्ये तु संसृत्य तथैव मेदः ।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥ (सु. नि. ११)

२. निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥

नहीं होता, अतः इस ग्रन्थि में 'थायोरोक्सिन' नामक पदार्थ उचित नहीं बनता। इसका सर्वप्रथम प्रभाव ग्रन्थि पर होने से वह स्थायी जाती है। इसी अवस्था को, जिस में ग्रन्थि वृद्धि युक्त हो जाती है, जाता है। गलगण्ड प्रायः आनूपदेश में पाया जाने वाला रोग है। हिमालय पर्वत की तराई के (Fndamic) देशों में अधिकतर इस भूखण्ड के निवासियों के भोजन तथा पीने वाले जल में जम्बुकी कमी पाई जाती है। फलतः रोग भी बहुलता से पैदा होता है।

प्रकृति भी इस क्षति पूर्ति में तत्पर दिखलाई पड़ती है, क्षेत्रों में नींबू, अदरक, परवल, प्याज, लहसुन प्रभृति ऐसे भोज्य उपज भी पर्याप्त होती है जिनमें सेन्द्रिय जम्बुकी (Organic Iodi भोज्य-द्रव्यों की अपेक्षा अधिक मात्रा में होती है। इन द्रव्यों के सेवन की पूर्ति होकर अधिकांश निवासियों का रोग से बचाव हो जाता है नुसार उसमें निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं—

वातज—पीडायुक्त काली सिराओं से भरा हुआ, काला किञ्चित् अधिक काल तक बढ़ने पर मेद युक्त होने से अतिस्निग्ध और होता है स्पर्श में कर्कश, देर में बढ़ने वाला, पाक रहित, कभी-कभी कारणों (Secondary Infcetion) से पकने वाला होता है। मनुष्य की मुंह में अरुचि होती है तथा तालु और गले में खुश्की रहती

कफज—निश्चल, त्वचा के वर्ण का अल्प पीडायुक्त, शीतल होता है। दीर्घ काल में बढ़ता है और पीड़ाहीन रहता है। जब उसमें हो जाय तो अल्प पीड़ा होती है। उस मनुष्य के मुंह में मीठापन, तालु में कफ लिप्त होते हैं।

मेदोज—स्निग्ध, मृदु, पाण्डुवर्ण, अनिष्टगन्ध का पीडारहित, तुम्बी के समान लटकने वाला, मूल में पतला और देह के अनुरूप बढ़ने वाला होता है। उससे पीड़ित मनुष्य का मुख चिकना होता है सदैव अस्पष्ट शब्द करता है।

उपद्रव—गलगण्ड ऐसे स्थान पर होता है जहां पर शरीर के अवयव पाये जाते हैं। जब यह गांठ बहुत बढ़ जाती है तब उन

व डालती है। दबाव के कारण विविध उपद्रव होने लगते हैं, टेटुए पर दबाव ने से वह चपटा हो जाता है और एक ओर को अपसारित हो जाता है ससे श्वास-प्रश्वास में कठिनाई होकर श्वासकृच्छ्र होने लगता है। स्वर-यन्त्र नाड़ी (Recurrent laryngeal nervs) पर दबाव पड़ने से स्वरभेद र स्वरावसाद होकर भिन्नस्वर हो जाता है। रक्तवाहिनियों पर दबाव पड़ने गले की सिरायें फूल जाती हैं, जिससे स्थान काली सिराओं से भर जाता है। वाहिनियों पर दबाव पड़ने से मस्तिष्क में ठीक प्रकार से रक्तसंचार नहीं पाता, जिससे मूर्छा, चक्कर और भ्रमादि वातिक लक्षण होने लगते हैं। प्रणाली पर दबाब पड़ने से निगलने में कठिनाई होती है और अरुचि आदि लक्षण होने लगते हैं।

इन दबाव के उपद्रवों के अतिरिक्त ग्रन्थि के विशिष्ट विष 'थायोरोक्सिन' यदि अधिक मात्रा में रक्त में सञ्चार होने लगे तो अन्य सार्वदैहिक वातिक वा अपतर्पणज लक्षण होने लगते हैं। जैसे—आंखे बाहर निकल जाती हैं, खें विस्फारित हो जाती हैं। पलक बन्द करना भी कठिन हो जाता है, नीचे ते समय ऊपर के पलक नीचे नहीं आते। वाताधिक्य के कारण हृदय और ड़ी की गति १२०-१५० तक प्रति मिनट हो जाती है। धड़कन इतनी अधिक ती है कि ग्रीवा की धमनियां दूर से फड़कती हुई दिखाई पड़ती हैं। हाथ व कांपते हैं, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, थोड़ा भी परिश्रम करने से दम लने लगता है। शरीर में संचित शक्ति का व्यय होने से रोगी दिन-प्रतिदिन ल और क्षीण होने लगता है। इस अवस्था को बहिर्नेत्र गलगण्ड (Exophalmic Goitre) नामक एक दूसरी व्याधि ही मानी गई है।

गलगण्ड के उपर्युक्त दोनों ही उपद्रव कृच्छ्रसाध्यता के द्योतक हैं। इन्हीं क्षणों के निरीक्षण के पश्चात् कहा गया है।

'बड़ी कठिनाई से सांस लेने, वाले, दुर्बल शरीर, एक वर्ष से अधिक पुराने, रुचि पीड़ित, क्षीण और स्वरभेद से पीड़ित गलगण्ड के रोगी को वैद्य को ोड़ देना चाहिये[1]।'

---

[1] कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्त्तम्।
क्षीणञ्च वैद्यो गलगण्डिनन्तु भिन्नस्वरं चैव विवर्जयेत्तु॥ (सु० नि० ११)

चिकित्सा[१]—सामन्यतया सभी प्रकार के गलगण्ड के रोगियो लिखित ओषधियोग हितकर होते हैं।

१ त्रिकटु क्षौद्र और गोमूत्र मिलाकर पीने के लिये देना।
२ यव, गाजर, मुद्गयूष का पथ्य करना चाहिये।
३ आर्द्रक, पटोल और निम्ब का प्रयोग।
४ त्रिफला कषाय।
५ गाढ़ बंधन।

वातज—वातघ्नौषध पत्र-क्वाथ से नाड़ी स्वेद। शुद्ध वायु हो एरण्डादि के पल्लवों से। यदि पित्तावृत वायु हो तो कांजिक के साथ यदि श्लेष्मावृत हो तो क्षीर में पीसकर। आवश्यकता होने पर स्वेद में मांस का भी योग कर सकते हैं।

२. रक्तविस्रावरण—जलौका के द्वारा।

३. उपनाह—शण, अतसी का मूल, सहिजन, सुराबीज, प्रियालमज्ज हिंस्रा, गुडूची; शिग्रु और जलकुम्भी को पीसकर गर्म करके लेप करना।

४. प्रदेह—पुनर्नवा, अर्क, हस्तिपिप्पली, मैनफल, कुष्ठ, अम्बष्ठ(कुटज, तिल्वक, इन द्रव्यों को सुराम्ल में पीसकर लेप करे।

५. अमृतादि तैल आभ्यन्तरीय प्रयोग अमृता, वल्लि, निम्ब, कुटज, पिप्पली, बला और देवदारु इन द्रव्यों के द्वारा सामान्य विधि किया हुआ तैल पीना चाहिये।[२]

कफज— १. स्वेदन २. उपनाह ३. विस्रावण

४. प्रदेह—अजगन्धा, अतीस, विशल्या, विषाणिका, कूठ, शुक, इन द्रव्यों को पलाश भस्म के जल से पीसकर लेप करना चाहिये।

---

१. कटुत्रिकक्षौद्रयुताः समूत्रा भक्ष्या यवान्नानि रसाश्च मौद्गाः।
सशृङ्गवेराः सपटोलनिम्बा हिताय देया गलगण्डरोगे।
हितश्च नित्यं त्रिफलाकषायो गाडश्च बन्धो यवभोजनञ्च।

२. तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्ब-हंसाह्वयावृक्षकपिप्पलीभिः॥
सिद्धं बलाभ्यां च स देवदारु हिताय नित्यं गलगण्डरोगे॥
(सू० चि० १८)

५. तैल—(आभ्यन्तर) पिप्पल्यादि क्वाथ, कल्क और पञ्चलवण से सिद्ध पीने के लिये देना चाहिये।

६. प्रच्छर्दन, ७. मूर्धविरेचन ८. वैरेचनिक धूम

मेदोज—१. स्निग्ध शरीर मनुष्यों को यथाविधि सिरावेध करके रक्तविस्रा करना चाहिये।

२. त्रिवृत्, सेहुण्ड, लोहकिट्ट, दन्ती, पारावतकिट्ट, रसाञ्जन इन द्रव्यों के क का लेप करना चाहिये।

३. शालसारादि वृक्षों का कल्क बनाकर एक कर्ष (१ तोले) की मात्रा गोमूत्र से पीना चाहिये। इसका सेवन प्रातःकाल खाली पेट करे।

यदि उपर्युक्त विधानों से गलगण्ड की वृद्धि न रुके अथवा यदि उसमें पाकोत्ति हो जाय तो शस्त्रकर्म करना चाहिये। यदि पाक की अवस्था हो तो उसकी चकित्सा विद्रधि एवं व्रणवत् होगी, परन्तु बिना पाक के ही निकालना आवश्यक ा तो निम्नलिखित विधि के अनुसार शस्त्रकर्म करे।

शस्त्र के द्वारा अवपाटन या विदारण करके मेद का भाग जो विकृत हो, उसे काटकर निकाल लेना चाहिये। पश्चात् सीवन करना चाहिये। पश्चात् मज्जा, घृत, मेद और मधु के द्वारा स्थानिक दाह करना चाहिये। जिससे उसकी पुनरुत्पत्ति न होने पावे[1]।

पश्चात् कर्म—दाह के स्थान पर मधु और घी का लेप करना चाहिये। कासीस, तुत्थ और हल्दी के चूर्ण से अवचूर्णन करना चाहिये। अथवा इन्हीं ओषधियों से सिद्ध तैल का स्थानिक अभ्यङ्ग करना चाहिये। प्रक्षालन में त्रिफला-कषाय का प्रगोग करना चाहिये। फिर तैल से मलकर सालसारादि गण की औषधियों का तथा गाय के सूखे गोबर की राख का स्थानिक लेप करना चाहिये।

सुश्रुत ने केवल मेदोज गलगण्ड के लिये ही शस्त्रकर्म का विधान किया है, अन्य एकदोषज गलगण्डों में केवल स्थानिक अथवा आभ्यन्तर ओषधि प्रयोग की ही चिकित्सा बतलाई है। शस्त्र के द्वारा उद्धरण करते हुए भी ग्रन्थि अथवा सौम्यार्बुदों की भाँति निःशेष निर्हरण का विधान नहीं दिया है। केवल विकृत हुए मेद के भाग को ही निकालने का उपदेश किया है। आधुनिक युग में भी

---

[1] मेदः समुद्धृत्य हिताय सीव्येत, शस्त्रेण वाऽऽपाट्य विदार्य चैनम्।

शस्त्रकर्म करते हुए केवल विकृत तन्तुओं (Pathological tis ही उत्कर्तन (Enucleation) होता है । और ग्रन्थि का ही सुरक्षित रखा जाता है जिससे ग्रंथि के उद्रेचन कर्म (Secretions) प्रकार की बाधा न पड़ने पावे ।

शस्त्रकर्म के अतिरिक्त 'आयोडिन' के यौगिक, 'अल्ट्रावायलेट' किर किरण आदि का प्रयोग होता है आयोडिन, विटैमिन्स (जीवतिक्ति) न्तर प्रयोग लाभप्रद होते हैं और अचिरजात एवं नये रोग ठीक भी हो परन्तु अतिवृद्ध अवस्था में यदि रोगी का स्वास्थ्य दुर्बल न हो तो एक मात्र चिकित्सा का साधन है ।

षोडश प्रकरण

वृद्धिनिदानचिकीत्सीयाध्याय

ब्रध्न या वृद्धि (Scrotal swelling)

वृद्धि शब्द से सामान्य अर्थ का ग्रहण किया जाय तो अर्थ होगा, बढ़ने वाला रोग । परन्तु वृद्धि रोग कहने से विशिष्टार्थ ग्रहण होकर कोष की आयाम की बढ़ती ही रूढि रूप में प्रसिद्ध है । चरक-संहिता को 'ब्रध्न' कहा गया है 'ब्रध्न वायु, पित्त आदि दोषों से उत्पन्न होकर लक्षणों से वृषण में शोथ पैदा करता है, अथवा आंत्र को बाहर या भीतर है, अथवा वृषणकोष को मूत्र से भर देता है अथवा मेद दोष प्रबल स्निग्ध, मृदु एवं कठिन शोथ पैदा करता है ।'[1]

व्याख्या और संप्राप्ति—उदर-गुहा के निचले हिस्से में प्रकुपित दोष वृषणकोष-वाहिनी में जाकर वृषण या वृषणकोष मोटा करता है, को वृद्धि कहते हैं । **हेतु और प्रकार**—वृद्धि के कारणों के अनुसार सात

---

१. ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च ।
मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत स्निग्धं च विद्यात कठिनं च शोथम् ॥

सभी का मूल हेतु वायु है, वैसे मूत्रवृद्धि एवं आन्त्रवृद्धि के साक्षात् कारण दूसरे होते हैं। अर्थात् वृद्धि रोगों में वायु, पित्त, कफ, मेद, रक्त से उत्पन्न वाली वृद्धियाँ, वृषणशोफ (orchitis) के ही अवस्था-विशेष (Acute-chronic) हैं। मूत्रवृद्धि बार-बार वृषण शोफ होने का परिणाम है और त्र वृद्धि-वायु प्रेरित आन्त्र का कोष में आ जाना है। जैसे—

१. वातज वृद्धि—Chronic Orchitis (चिरकालीन)
२. पित्तज वृद्धि—Acute Orchitis (तीव्र)
३. श्लेष्मज वृद्धि—Chronic or Tuberculer Orchitis (चिरकालीन)
४. मेदोज वृद्धि—Elephatiasis of scrotum (श्लैष्मिक) or Simple tumour
५. रक्तज वृद्धि—Haematocele (सिराविकृति)
६. मूत्रज वृद्धि—Hydrocele (वृषणकोष में जलसञ्चय)
७. आन्त्र वृद्धि—Hernia (आँत का कोष में उतरना)

हेतु—उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट है कि सात प्रकार की वृद्धि रोगों में से केवल त्रवृद्धि को छोड़कर शेष सभी विकार वृषण का शोफ या प्रकोप के अवस्था-ें हैं। वृषण कोप स्वतन्त्रतया अभिघात, उपसर्ग अथवा कई रोगों के उपद्रव में होता है। रोगों में वातरक्त सन्ततज्वर और पाषाणगर्दभ प्रधान हैं नके उपद्रव रूप में वृषण-वृद्धि होती है।

मूत्रवृद्धि इसको हाइड्रोसील (Hydrocele) कहते हैं। यह एक ऐसी वस्था है जिससे वृषणावरणों (Tunica vaginalis) के बीच जलसञ्चय ता है। जैसे जलोदर रोग में लसीकावाहिनियों से चूकर लसीका उदरगुहा में कत्रित हो जाती है, उसी प्रकार वृषणकोष की लसीकावाहिनियों से चूकर लसीका ण कोष इकट्ठी हो जाती है। इसके कारण कोष फूलता और जल-वृषण की वस्था पैदा हो जाती है। अभी तक इसके कारणों का ठीक-ठीक पता नहीं चला । सुश्रुत ने इसका कारण १. मूत्र-सन्धारण बतलाया है। २. कुछ लोग लीपदजन्य इस व्याधि को मानते हैं। ३. उपद्रवज—यदि अण्ड या उपाण्ड Testes & Epidedimis) में जीर्ण शोफ हो लसीका-सञ्चय होकर वृद्धि

हो जाती है। ४. दोषज—(Endamic) कुछ स्थानों में यह रो
से पैदा होता है।

सामान्य लक्षण—सामान्यतया सभी प्रकार के वृद्धि रोगों में नि
पूर्वरूप मिलते हैं—वस्ति, कटि, वृषण (मुष्क) और शिश्न में वेदना
का निरोध और वृषण में सूजन। यही लक्षण पश्चात् व्यक्त होकर
मसक की तरह फूला हुआ, और विना कारण पीड़ा युक्त हो
पित्तज में—पके गूलर के समान वर्ण का, ज्वर, दाह एवं ऊष्मा से युक्त,
वाला एवं पकने वाले वृद्धि रोग को करते हैं। कफज में--कठिन, अल्प
शीतल और कण्डूयुक्त लक्षण पैदा करते हैं। रक्तज में—काली फुन्सियां
हैं, पित्तज वृद्धि के अन्य लक्षण मिलते हैं। और इसमें वृषणकोष के
सञ्चित (Haematocele) हो जाता है। यह अवस्था आघा
मूत्रजवृद्धि में पानी निकालने या वृषण में घातकाबुंद की उत्पत्ति से हो
मेदोज-मृदु, स्निग्ध, कण्डूयुक्त अल्प पीड़ा करने वाली और पक्व
समान वृद्धि को मेदोवृद्धि कहते हैं, इस अवस्था को श्लैपदिक मुष्क
phatiasis scrotum) कह सकते हैं। मूत्रवृद्धि-वृषणावरण (
vaginalis) में लसीका का सञ्चय होने से यह अवस्था आती है
जल की राशि के अनुसार यह वृद्धि स्पर्श में कठिन या मृदु प्रतीत
चलते समय वह पानी से भरे मसक के समान थलथलाती है; मूत्र
में पीड़ा और शोफ उत्पन्न करती है। मूत्रवृद्धि की अवस्था में निदान
लिये एक विशेष परीक्षा-विधि होती है। वृषण के एक ओर दीप जला
जाय तो दूसरी ओर कुछ हल्का प्रकाश दिखलाई देगा तथा भीतर
ग्रन्थि का भी पता चलेगा। रोग पुराना होने पर कोष की दीवाल
पर यह 'दीपपरीक्षा' नहीं मिलती। सामान्यतया मूत्रवृद्धि रोगी
फिरने और गति करने में कुछ असुविधा के अतिरिक्त कोई विशेष
नहीं देती।

आन्त्रवृद्धि—ऊपर के छः प्रकार एक ही अङ्ग की विकृति
अवस्थायें हैं और एक दूसरे से सम्बन्धित हैं; परन्तु आन्त्रवृद्धि
एक पृथक् रोग है। अन्य वृद्धियों से इसी माने में समानता है कि यह
वृषणकोष में ही प्रतीति होती है तथा दोषज हेतुओं में वायु ही इसमें

है। इस विकार में न अन्त्र में वृद्धि होती है, न अन्त्र में अन्य कुछ ति उत्पन्न होती है। वल्कि अन्त्र उदरगुहा से अपना स्थान छोड़कर की ओर वृषणकोष में आ जाती है।

इस अवस्था को अंग्रेजी में 'हर्निया' कहते हैं। जब शरीर का कोई भी अङ्ग ी अपने स्थान के प्राकृत छिद्र से निकलकर वाहर किसी दूसरे स्थान में जाता है तो उस अवस्था को हर्निया कहते हैं।[1] व्यवहार में हर्निया शब्द सम्बन्ध केवल आन्त्र वाली हर्निया से ही है। अन्यथा हर्निया की अनेक स्थायें देखने को मिलती हैं। जैसे फुफ्फुस, मस्तिष्क और आन्त्र की हर्निया। त्र की वृद्धि में भी कई भेद हैं—१. और्वी २. वंक्षणीय और ३. नाभि की।

आयुर्वेदीय आन्त्रवृद्धि का वर्णन आधुनिक परिभाषा के अनुसार वंक्षणीय त्रवृद्धि है। जिसमें औदरिक अंग वंक्षणीय सुरंगा में से होकर फलकोष में रते हैं। यदि आन्त्र बहिर्वंक्षणीय छिद्र तक आकर ग्रन्थि के रूप में स्थित ा है तो अप्राप्तपलकोष वृद्धि कहते हैं। अर्थात् इसमें गिरा हुआ भाग ष तक नहीं आने पाता। आधुनिक परिभाषा में इस अवस्था को अपूर्ण वृद्धि Incomplete Hernia या Bubonocele) कहते हैं। यदि बहिर्वंक्षणीय द्र से होकर अण्डग्रन्थि के ऊपर तक आन्त्र पहुँच जाय तो उसको प्राप्त-लकोषवृद्धि कहते हैं। आधुनिक परिभाषा में इसको पूर्ण (Cemplete ernia) वृद्धि कहते हैं।

कोश के अङ्ग—वृद्धि में नीचे उतरने वाले निम्न अङ्ग पाये जाते हैं—न्त्र अन्य अन्त्रों की अपेक्षा अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त वपा, ूलान्त्र, विशेषतः उण्डुक, उण्डुकपुच्छ (Appendix), वस्ति, बीजग्रन्थि, ीजवाहिनी इत्यादि अङ्ग भी पाये जाते हैं। संक्षेप में आमाशय के अतिरिक्त दरगुहा का केई भी अङ्ग वृद्धि में नीचे उतर सकता है।

हेतु—आधुनिक ग्रन्थों में दो प्रकार के कारण बतलाये गये हैं। १. सहज और २. जन्मोत्तर। सहज कारणों में से अण्डग्रन्थि का देर से वृषण में उतरना, दर से वृषण तक जाने वाले छिद्र का बन्द न होना, उदर प्राचीर की पेशियों ा स्वभावतः दुर्बल होना, आन्त्र निबन्धिनी की लम्बाई अधिक होना इत्यादि।

---

[1] क्षुद्रान्त्रावयवं यदा स्वनिवेशादधो नयेत्।

२. जन्मोत्तर कारणों में आघात या शस्त्र कर्म के कारण उदर दुर्बलता, भारी बोझ उठाना, मलावरोध, ष्ठीलावृद्धि, मूत्रमार्ग संकोच, प्रकश इत्यादि के कारण मलमूत्र त्याग में बहुत बल का प्रयोग Strains) करना, पुरानी खांसी इत्यादि कारण होते हैं। सहायक होते हैं और जन्मोत्तर कारण साक्षात्। इन्हीं साक्षात्कारणों वृद्धि की उत्पत्ति में है, जिसका उल्लेख विस्तृत रूप से सुश्रुत- पाया जाता है।

'बोझ उठाना, बलवान् के साथ लड़ना, वृक्ष से गिरना इत्यादि परिश्रम के कारण अत्यन्त वृद्ध हुई वायु प्रकुपित होकर स्थूलान्त्र और के एक देश को संकुचित करके नीचे को जाकर वंक्षण-सन्धि में प्राप्त ग्रन्थि के रूप में (Bubonocele) स्थित होती है; और चिकित्सा न समय पाकर फलकोष में प्राप्त होकर वृषण में शोफ पैदा करती है।(lete Hernia)।

लक्षण तथा चिह्न—'फूले हुए मसक की भाँति वह शोथ फैला हु होता है। ऊपर को दबाने से शब्द करता हुआ गड़गड़ाहट के साथ ऊपर उदर के भीतर चला जाता है और छोड़ देने से फिर नीचे को आ जाता

पूर्ण वंक्षणीय आंत्र वृद्धि का अण्डे के समान दीर्घ वृत्त होता है। दिन उसका उत्सेध बढ़ता जाता है। जब रोगी खाँसता है तब वृद्धि में की गति मालूम होती है और उत्सेध बढ़ जाता है। जब रोगी खड़ा होक कुंथन करता है तब भी उसका आयाम बढ़ जाता है, वृद्धि पर अंगुलि-ताड़ से डिमडिम ध्वनि आती है। दबाने से वृद्धि गड़गड़ाहट (Gargling के साथ उदर के भीतर चली जाती है और उत्सेध नष्ट हो जाता है, दबा देने से पुनः उत्सेध स्पष्ट होने लगता है। वृद्धि रोग जीर्ण होने पर विबंध, उदर में पीडा प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा कोष की दीवा होकर बाहर के आवरणों के साथ संसक्त हो जाती है जिससे वृद्धि स्तंभित ऊपर के दोनों चिह्न मुश्किल से मिलते हैं।[२] यही लक्षण यदि वृद्धि में

---

१. प्रपीडितोन्तः स्वनवग्न् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः।

२. उपेक्षमाणस्य च मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीं सवायुः।

र केवल वपा (omental portion) होने पर मिलता है तो स्पर्श में खाँसने पर कम गति और ऊपर की ओर दबाने पर बिना शब्द के साथ भीतर जाती है और छोड़ देने से शनैः शनैः उत्सेध होने लगता है। अङ्गुलि-न से मन्द ध्वनि आती है।

साध्यासाध्यता—प्राचीनों के विचार से कोशप्राप्ता या प्राप्तफलकोषा था में वृद्धि असाध्य हो जाती है। उसके अतिरिक्त अन्य सर्व प्रकार के रोग साध्य हैं।

सामान्य चिकित्सा—(Treatment in ditferrent stages orchitis)।

आन्त्रवृद्धि के अतिरिक्त जो छः प्रकार की वृद्धियों का व्याख्यान हुआ है निम्नलिखित कर्म हानिकर हैं। अस्तु, उनका परिवर्जन करना ये। जैसे—

१. अश्वादियान (घोड़े की सवारी)। २. व्यायाम। ३. मैथुन। ४. वेग-ह (मल एवं मूत्रादि वेगों का धारण)। ५. अत्यासन (एक आसन पर क बैठना)। ६. चंक्रमण (भ्रमण)। ७. उपवास तथा ८. गुरु भोजन रिष्ठ पदार्थों का सेवन)।

विशेष चिकित्सा—

वातजवृद्धि—१. घृत, वसा, तैल आदि से स्नेहन करना २. स्वेदन करना। विरेचन—कोश, आस्र, तिल्वक, एरण्डफल के तैल का सेवन। एरण्डतैल -२ तो.) दूध में डाल कर एक मास तक पीना। ४. निरूहण—वातघ्न धियों के क्वाथ या कल्क से सिद्ध तैल के द्वारा या मुलैठी से सिद्ध तैल के। ५. प्रदेह (वातघ्न)।

यदि उपर्युक्त उपचारों से वृद्धि शान्त न हो और पूयोत्पत्ति हो जाय तो शस्त्र रा पूय का निर्हरण करके शोधन एवं रोपण की चिकित्सा व्रण के सदृश चाहिये।

पित्तजवृद्धि—१. यदि अपक्व हो तो पित्त-ग्रन्थि सदृश उपचार करे। दि पूयोत्पत्ति हो जाय तो ३. भेदन करे। ४. पश्चात् व्रण होने पर मधु

---

१. अश्वादियानं व्यायाभं मैथुनं वेगनिग्रहम्।
अत्यासनं चङ्क्रमणमुपवासं गुरूणि च॥

और घृत से शोधन करे और ५. तदनन्तर रोपण के लिये तैल या प्रयोग करना चाहिये।

रक्तज—१. जलौका से रक्तावसेचन। २. विरेचन—शर्करा के मिलाकर तथा अन्य पित्तग्रंथिवत् आम तथा पक्क दोनों अवस्थाओं में करना चाहिये।

श्लेष्मज—१. उष्णौषधियों को गोमूत्र से पीस कर लेप २. दारुहरिद्रा या देवदारु का कषाय गोमूत्र के साथ मिलाकर पीना। रोग में कफज-ग्रंथिवत् पूरी चिकित्सा की जाती है केवल विम्लापन नहीं ४. भेदन—यदि उसमें पाकोत्पत्ति हो जाय तो भेदन करे। पश्चात् ५. शो आरुष्कर, अंकोठ और सप्तपर्ण से सिद्ध तैल के द्वारा करे, ६. तदनन् करना चाहिये।

मेदोज—१. स्वेदन। २. सुरसादिगण की ओषधियों के द्वारा चाहिये। इस लेप में आवश्यकतानुसार शिरोविरेचन में प्रयुक्त द्रव्य भी मिला लेना चाहिये। सभी द्रव्यों को एकत्र करके सुखोष्ण लेप करना ३. शस्त्रकर्म—यदि इस उपक्रम से शोफ शान्त न हो तों शस्त्र अस्तु, शस्त्रकर्म के पूर्व रोगी को आश्वासन दे करके पूरे अण्डकोष करके चारों तरफ से वस्त्र के द्वारा आवृत करके रखे। यह आवरण का हो कि केवल भेदन के स्थान की त्वचा अनावृत रहै। पश्चात् वृद्धि के द्वारा दारण करना (Incision) चाहिये। दारण करने के बाद से विकृत भाग अर्थात् मेद भाग का ज्ञान करके उसको काट के नि चाहिये।[1] इस शस्त्रक्रिया में वृषणावरण के बाह्य आवरण का जाता है। मेद का समुद्धरण करके वहां कासीस और सैन्धव मि चूर्णन कर देना चाहिये। अवचूर्णन के अनन्तर यथोद्दिष्ट विधान के

---

[1] स्विन्नां चावेष्टय पट्टेन समाश्वास्य च मानवम्।
रक्षन् फले सेवनीं च वृद्धिपत्रेण दारयेत्॥
बध्नीयाच्च यथोद्दिष्टं शुद्धे तैलं च दापयेत्।
मनःशिलालवणैः सिद्धमारुष्करेषु च॥
(Excision of the Parietal Layer of the tunica)

न लगावे अर्थात् गोफणांबन्ध (Stump bandage) लगाना चाहिये। द मैनशिल, हरताल, सैन्धव, एवं भल्लातक से सिद्ध तैल के द्वारा शोधन रोपण करने की विधि है।

मूत्रवृद्धि चिकित्सा—इस अवस्था में जल का सञ्चय हो गया रहता है। क संशामक (Palliative treatment) उपचारों से कोई लाभ नहीं । इस लिये जल निकालने की चिकित्सा की इसमें आवश्यकता है।

आधुनिक युग में मूत्रवृद्धि में जल निकालने के शस्त्र कर्म के दो प्रकार होते शामक क्रिया (Palliative) तथा २. रोग का निर्मूलन (Radical)।

१ संशामक क्रिया—व्रीहिमुख शस्त्र और द्विद्वारा नाडी की सहायता से करके तरल निकाला जाता है। वेधन की क्रिया से तरल निकल जाता है, समय के लिवे असुविधा मिट जाती है, परन्तु रोग का मूलोच्छेद नहीं होने । क्योंकि तरल की वृद्धि पुनः होकर रोग की पुनरुत्पत्ति हो जाती है। लिये कई बार वेधन की आवश्यकता पड़ती है। विधि निम्नलिखित है—तरल निकालने के उद्योग से पूर्व वृषणकोष की दीप–परीक्षा के द्वारा वृषण स्थति का ठीक ज्ञान कर लेना चाहिये। रोगी को लेटा कर या कुर्सी पर कर क्रिया की जाती है एक सहायक मोमबत्ती या बिजली के लैम्प को रोगी प के पार्श्वं में रखता है। चिकित्सक अपने दाहिने हाथ से वृषण के चर्म दवाता और बायें हाथ को दीपक और वृषण के बीच में रखता है, जिससे क का प्रकाश सीधे उस स्थान पर नहीं पड़ने पाता। यदि अण्डकोष में केवल हो तो उसके भीतर की वस्तु प्रकाश के द्वारा लाल चमकती हुई दीखती उसके द्वारा कुछ प्रकाश पार करके दूसरी ओर पहुँचता हैं। यदि अण्डकोष शहीन दिखाई दे तो उसमें तरल का अभाव रहता है। इस प्रकार रोग का य करके वृषण के चर्म को शुद्ध करने के पश्चात् चिकित्सक अपने बायें हाथ प को पकड़ता है, और अंगूठे तथा अङ्गुलियों से उसको ऊपर और पीछे की दवाता है, इससे कोष के भीतर स्थित ग्रन्थियाँ ऊपर की ओर उठ जाती तत्पश्चात् चिकित्सक दाहिने हाथ में 'ट्रोकार और कैन्युला' को लेकर उसको में विशोधित स्थान के द्वारा पीछे और नोचे की ओर प्रविष्ट करता है। के भीतर चले जाने के पश्चात् शस्त्र को बाहर खींच लिया जाता है, जिससे

पड़े हुए 'केन्युला' (द्विमुखा नाड़ी) से तरल निकलने लगता है। निकल चुकने पर नाड़ी को बाहर करके छिद्र के ऊपर 'कोलोडियन' रुई का टुकड़ा लगा दिया जाता है।

कई बार तरल के निकलने के पश्चात् नाड़ी द्वारा कई औषधियाँ (टिक्चर आयोडीन, क्विनीन, सैलिसिलेट या सोडियममोरेट) वृष भर दिया जाता हैं।

१. रोग-निर्मूलन प्रक्रिया (शस्त्रकर्म)—आधुनिक युग में दो शस्त्रकर्मों का वर्णन मिलता है। १. वृषणावरण (Tunicavagin बाह्यस्थ परत (Parietal) का उत्कर्त्तन (Excision)—यह लाभप्रद होती है जब कि कोष बहुत मोटा हो, जैसे—मेदोज वृद्धि वृषणावरण कोष (Tunica) को खोलकर उसके भीतर के तरल उलटकर सीवन (Eversicn of the sac) कर देना। सामान्य निर्देश नीचे किया जायगा।

वृषण चर्म का विशोधन करके, चर्म और प्रावरणी को काटने कोष के स्तरों का भेदन किया जाता है। अन्त में भेदन द्वारा वृषणाव जल निकल जाता है, यह भेदन इतना बड़ा होना चाहिये कि कोष दावने पर अण्ड-ग्रन्थि उसके द्वारा बाहर निकल आवे। इस (वृषणावरण के) को पर्याप्त बढ़ा देना चाहिये। इस प्रकार अण्ड बाहर निकलने पर कोष उलट जायगा। अर्थात् कोष का जो पृष्ठ बाह भीतर हो जायगा और भीतर वाला बाहर आ जायगा, तत्पश्चात् हुए भागों को सी देना चाहिये। पश्चात् अण्ड-ग्रन्थियों के चर्म के वृषण कोष को भीतर करके चर्म के भेदन को सी देना चाहिये।

सुश्रुत ने मूत्रवृद्धि की चिकित्सा में केवल वेधन कर्म (Tapp ही आदेश किया है, अलबत्ते मेदोज वृद्धि में शस्त्र कर्म के द्वारा कोष का भेदन करके विकृत भाग को काटकर (Upto the layer of Tunica) दूर करने का उपदेश किया है—

'मूत्रवृद्धि की चिकित्सा में स्वेदन (वृषणकोष का बाहर से) कोष को वस्त्र से लपेटकर आवृत करना चाहिये। पुनः सेवनी को छो

र्व में और नीचे के भाग में व्रीहिमुख शस्त्र से वेधन करके द्विमुखा नाडी का ोजन करके जल का विस्रावण कर लेना चाहिये। पश्चात् नाडी को निकालकर और वस्त्र के सहारे स्थगिकाबन्ध (Stump bandage) लगाकर छोटे बने के रोपण का भी विधान करना चाहिये।"[1]

आन्त्र वृद्धि चिकित्सा—इसके शस्त्रकर्म का मूलभूत उद्देश्य होता है, कोष को बन्द करना तथा वंक्षणीय नलिका और उसके द्वार को संकुचित र मजबूत करना। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुरूप ही सुश्रुत ने 'वंक्षणस्था अथवा ाप्तफलकोषवृद्धि (Bubonocele) के लिये अर्धेन्दुवक्त्र यंत्र[2] से दाह ि को बतलाया है। इस दाह क्रिया के द्वारा मार्ग का अवरोध हो जाता है र आन्त्र का निकलना या गिरना बन्द हो जाता है'। यह एक स्थानिक या ात् दाह का प्रकार हुआ। इसके अतिरिक्त स्थानान्तरिक दाह की भी विधि लाई गई है—'त्वचा का भेदन करके अङ्ग-विपर्यय से अंगूठे के मांस में दाह ना' अर्थात् यदि वृद्धि बाईं ओर हुई तो दाह दाहिने अङ्गुष्ठ के और यदि हनी ओर हुई तो बायें अंगुष्ठ के मांस में दाह करने का नियम है।

शिरावेध—'शंख प्रदेश के ऊपर और कर्णान्त में यत्नपूर्वक सीवन को ते हुए व्यत्यास (अङ्ग-विपर्यय) से सिरा का वेध करना चाहिये। इसके ा आन्त्रवृद्धि नामक रोग से निवृत्ति हो जाती है।

आधुनिक युग में कई प्रकार से आन्त्र वृद्धि की शस्त्र क्रिया होती है–जिनकी पकों के अनुसार विभिन्न संज्ञायें हैं। यह भेद उनके शस्त्रकर्म करने के ढङ्ग ऊपर निर्भर है, अन्यथा उद्देश्य सभी के समान होते हैं १. कोष को काटना

---

१. मूत्रजां स्वेदयित्वा तु वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्।
सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु॥
अथात्र द्विमुखीं नाडीं दत्त्वा विस्रावयेद् भिषक्।
मूत्रं नाडीमथोद्धृत्य स्थगिकाबन्धमाचरेत्॥
शुद्धायां रोपणं दद्यात्…………। (सु० चि० १९)

२. तत्र या वंक्षणस्था तां दहेदर्द्धेन्दुवक्त्रया। सम्यग्मार्गावरोधार्थं कोषप्राप्तां तु वर्जयेत्॥
त्वचं भित्त्वाऽङ्गुष्ठमध्ये दहेच्चाङ्गविपर्ययात्। अनेनैव विधानेन वृद्धौ वातकफात्मिके॥
शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासाद्वा सिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥ (सु० चि० १९)

सीवन देकर बन्द करना । २. वंक्षणीय नलिका और उसके द्वारों को अवरुद्ध करना ।

आधुनिक युग के शस्त्रकर्म, दोनों अवस्थाओं में (प्राप्तफल वंक्षणस्था) वृद्धि में सफल पाये गये हैं । इन विधानों का उल्लेख पा में विस्तृत रूप से मिलता है । इनमें 'बासिनी' 'हाल्स्टीड' और 'गैरी' का विधान प्रशस्त माना गया है ।

उपदंश और श्लीपद में शस्त्र चिकित्सा—उपदंश तथा दोनों रोग अधिकतर काय-चिकित्सा से सम्बद्ध हैं । उपदंश एक रोग (Venereal Disease) है । दुष्ट योनि से सम्पर्क होने संक्रमित होता है । पुनः इससे संसृष्ट नवीन स्त्री होती है । फिर लैङ्गिक तथा यौन सम्बन्ध से प्रसरित होकर पुरुष तथा स्त्री दो फैल जाता है ।

चरकाचार्य ने पुरुषों में होनेवाले उपदंश को ध्वजभङ्ग नाम से है (च० चि० ३०) । आचार्य सुश्रुत ने इसका वर्णन उपदंश नाम (सु० नि० १२) । आधुनिक विद्वान् इसकी (Soft Chacre) समता करते हैं जिसकी उत्पत्ति में डूक्रे का दण्डाणु (Bacillus D करण माना जाता है ।

यह एक दारुण रोग है, जिसमें सम्यक् उपचार के अभाव में मांस कटकर गिरने लगता है, कृमियाँ पड़ जाती हैं केवल अण्डको रह जाता है । इसकी उत्पत्ति में तीन मुख्य कारण कहे जा सकते हैं:-

१. मैथुन २. क्षत ३. वेगविधारण ।

चिकित्सा में अधिकतर अन्तः प्रयोज्य औषधियाँ स्थानिक लेप कर होते हैं । सुश्रुत ने सिरावेध का भी विधान बतलाया है । श्लीप riasis) तो पूर्णतया काय चिकित्सीय रोग है । फिर भी उसकी स्थाओं में शिरावेध प्रशस्त माना गया है । इस कार्य के लिये सुश्रुत रोग का पाठ शल्य तन्त्र में किया है ।[1]

---

[1] हस्ताभिघातान्नखदन्तघातादधावनादत्यतिसेवनाद्वा ।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधापचारैः ॥ (मा० नि

उपदंश में (सिरावेध—) साध्य उपदंश के रोगियों में, स्नेहन और स्वेदन ाने के बाद, मेढ्र की सिरा का वेधन और जलौकावपातन के द्वारा रक्त-ावण का विधान है। इसके द्वारा पीड़ा और शोफ शान्त हो जाता है। रोगी दुर्बल हो, विरेचन न दिया गया हो तो दोषों के अत्यन्त बढ़ जाने अवस्था में निरूहण के द्वारा उपचार करना चाहिये।

अग्नि कर्म—यदि त्रिदोषज उपदंश हो तो उसमें दुष्टव्रण की चिकित्सा नी चाहिये। जाम्बवोष्ठ यन्त्र को रक्त तप्त करके दाह करना चाहिये। जब यक् दाह हो जाय तो मधु और घी का लेप कर देना चाहिये।

श्लीपद में शिरावेध—[1]वातिक श्लीपद में-गुल्फ के ऊपर की चार ल में स्थित सिरा का वेधन। पैत्तिक श्लीपद में—गुल्फाधः प्रदेश की सिरा वेध तथा श्लैष्मिक में अङ्गुष्ठ की सिरा का।

वातिक में सिरावेध के अतिरिक्त अग्निकर्म भी किया जाता है। पश्चात् ानुसार पथ्य का विधान करना चाहिये। सिरावेध के पूर्व स्नेहन—स्वेदन भी न का कर लेना चाहिये।

* * *

सप्तदश प्रकरण

भग्ननिदानचिकित्सीयाध्याय

(Diagnosis & treatment of Fractures & dislocations)

भग्न शब्द से एक सामान्य अर्थ में टूटने का ही ग्रहण है। यदि अस्थि टूट य तो उसको अस्थिभग्न या काण्डभग्न और सन्धि टूट जाये अर्थात् अपने त स्थान से च्युत हो जाये तो उसे संधिमुक्त कहते हैं। यद्यपि ये दोनों तन्त्र विकृतियां हैं—परन्तु कारण, लक्षण तथा चिकित्सा में साम्य होने के

कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधःप्रपन्ना वंक्षणोरुजानुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः काला-ण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति तं श्लीपदमित्याचक्षते। तत्त्रिविधं वातपित्त-निमित्तमिति। (सु० नि० १२)

[1] स्नेहस्वेदोपपन्ने तु श्लीपदेऽनिलजे भिषक्।
कृत्वा गुल्फोपरि सिरां विध्येत्तु चतुरङ्गुले॥
गुल्फस्याधः सिरां विध्येच्छ्लीपदे पित्तसम्भवे।

कारण प्राचीन ग्रन्थों में एक ही अध्याय में वर्णन मिलता है। वायु
तंत्र के ग्रन्थों में भी यही परिपाटी है। अंग्रेजी में अस्थिभग्न या
'फ्रैक्चर' तथा सन्धिमुक्त या सन्धिविश्लेष की अवस्था का 'डिसलो
दी ज्वायंट' कहते हैं।

हेतु—'गिर पड़ना (पतन), दब जाना (पीडन), चोट लगना (
हिंस्र और अहिंस्र पशुओं से दष्ट होना (मुँह से पकड़ जाना) प्र
प्रकार के अभिघातों से सन्धि, अस्थि में भग्न हो जाता है।

भग्न[1]

पूर्ण–अव्रण (Closed) / अपूर्ण–सव्रण (Open) —सन्धिमुक्त

[2]काण्डभग्न— (Co / सव्र / (Inco

१. उत्पिष्ट (Fraecture dislocation)
२. विश्लिष्ट (Sub laxation ar Incomplete dislocation)
३. विवर्तित (Lateral Displacement)
४. अवक्षिप्त (Downward Displacement)
५. अतिक्षिप्त (Complicated fracture)
६. तिर्यक्क्षिप्त (Complete dislocation)

१. कर्कट (Spiral)
२. अश्वकर्ण (Oblique
३. चूर्णित (Commin
४. पिच्चित (Compli
५. अस्थिच्छल्लित (Long
६. काण्डभग्न (Trans mplete fracture)
७. मज्जानुगत (Impac
८. अतिपातित (Comple cture)
९. वक्र (Green Stic
१०. छिन्न।
११. पाटित (Fissured)
१२. स्फुटित (Fissurd F

ये पतनादि कारण भग्न या विश्लेष के साक्षात् कारण होते हैं

---

१. भग्नं समासाद् द्विविधं हुताश-काण्डे च सन्धौ च हि तत्र सन्धौ।
उत्पिष्टविश्लिष्टविवर्त्तितञ्च तिर्यग्गतं क्षिप्तमधश्च षट् च॥

२. काण्डे त्वतः कर्कटकाश्वकर्णविचूर्णितं पिच्चितमस्थिछल्लिका।

के सम्बन्ध में कुछ अन्य कारण भी सहायभूत होते हैं। जैसे लिङ्ग, आयु, साय भी सन्धियों या अस्थियों की विकृति के गौण कारण होते हैं। उदाहरण लिये काण्डभग्न या सन्धिविच्युति भी बाल्य और वृद्धावस्था की अपेक्षा वस्था में तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक हुआ करते है। क्योंकि पुरुष ऐच्छिक तथा अनैच्छिक कार्य अधिक किया करते हैं। सन्धि-बंध या कमजोर होने से तथा सन्धि का गढा उथला होने से जरा सा जोर पर भी सन्धिमुक्त हो जाती है। वैसे ही अस्थिक्षय, अस्थिवक्रता, अस्थि ता, अस्थ्यर्बुद इत्यादि अस्थियों की स्थानिक विकृति से अथवा पक्षाघात, घात, फिरङ्गज मस्तिष्क विकृति से अल्प बल के पड़ने पर भी अस्थि टूट है।[1]

प्रकार—अभिघातों के अनुसार अस्थियों के अनेक प्रकार भग्नों का न आचार्य वर्णन करते हैं। उसी प्रकार सन्धि-च्युति में स्थिति के अनुसार भेद हो जाते हैं।

सामान्यतया सन्धि-विश्लेष में दो प्रकार हो सकते हैं। एक में केवलसन्धि विवर्त भर ही होता है, दूसरे में पूर्ण सन्धि-विभ्रंश हो जाता है। दौड़ने, और गिरने से जिस सन्धि पर अधिक जोर पड़ता है उस सन्धि के नों में से कुछ सूत्र टूट जाते हैं। कभी कभी बलवान् अभिघात से अस्थि वह भाग टूट जाता है जिस पर से सूत्रबन्धन लगे रहते हैं। सन्धि में हो जाता है, अंग की गति कराने में कठिनाई और पीड़ा होती है। अङ्ग फैलाते हुए पीड़ा बढ़ जाती है। इस अवस्था को अपूर्ण या विश्लिष्ट ublaxaion) हैं।

काण्डेषु भग्नं ह्यतिपातितञ्च मज्जागतञ्च स्फुटितञ्च वक्रम्।
छिन्नं द्विधा द्वादशधापि काण्डे स्रस्ताङ्गता शोथरुजातिवृद्धिः॥
सम्पीड्यमाने भवतीह शब्दः स्पर्शासहस्पन्दनतोदशूलाः।
सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत्॥
(मा० नि०)

[1] द्विविधं हि भग्नं सव्रणमव्रणञ्च।
भग्नं तु कण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामभिरेव तुल्यम्।
आदितो यच्च दुर्जातमस्थिसन्धिरथापि वा। (मधुकोष)

दूसरे प्रकार के सन्धिभ्रंश में अस्थियों के सिरे एक दूसरे से दूर साधारणतः अस्थियों के सिरे समीप में रहते हैं उनके ऊपर एक कोष है। यह कोष श्लैष्मिक कला का बना होता है। इस कोष को जाता है। सन्धिभ्रंश में अस्थि के सिरों को बांधने वाले बन्धन कभी-कभी सन्धिकोष का भी कुछ भाग टूट जाता है। ऐसी विकृ से होती है। इस अवस्था को पूर्ण अथवा तिर्यक् क्षिप्त (Compl cation) सन्धिभ्रंश कहते हैं।

इस प्रकारों के अतिरिक्त सव्रण (Open) विश्लेष और अव्रण विश्लेष ऐसे भी दो भेद हो सकते हैं। सव्रण में त्वचा विदीर्ण हो सम्बन्ध बाह्य वायु के साथ हो जाता है। अव्रण में त्वचा विदी सन्धि–विश्लेष का सम्बन्ध बाह्य वायु के साथ नहीं होता।

इनके सिवाय १. उत्पिष्ट जिसमें हड्डी पिस जाती है और हो जाते हैं २. विवर्त्तित जिसमें हड्डी बायें या दाहिने भाग में है। ३. अवक्षिप्त–जिसमें हड्डी नीचे को सरक गई है। ४. अति मांस, सिरा और धमनी आदि अङ्ग विदीर्ण हो गये हों।

सन्धि विश्लेष के समान भग्न भी सव्रण, अव्रण नाम से दो प्रका है। सव्रण भग्न में बाह्यत्वचा तथा भग्न के ऊपर मांसादि धातु वि वायु भीतर पहुंच जाती है। अव्रण भग्न में केवल भीतर की हड्ड है। भग्न पूर्ण और अपूर्ण भेद से फिर दो प्रकार का होता है। पूर्ण भ सम्पूर्ण रूप से टूट जाती है, अपूर्ण भग्न में कई बार तो लम्बी अस्थि सी उतर जाती है। पूर्ण भग्न के उदाहरण में अतिपातित (Co भग्न है। इसी प्रकार अपूर्ण भग्न तरुणास्थियों और कपालास्थियों देखने को मिलता है। नाक, कान, स्वर यन्त्र, टेंटुआ आदि स्था तरुणास्थियां होती हैं। बाल्यावस्था और गर्भावस्था में बहुत-सी अस्थि वस्था (Cartilage) में होती हैं अर्थात् उनमें अस्थियों के सम नहीं होती बल्कि लचक होती है। इसलिये आघात या प्रहार होने प दब जाती हैं या लचक जाती है। बाल्यावस्था में प्रायः भग्न 'वक्र stick) प्रकार के होते हैं। कपालास्थियां चौड़ी चपटी और हैं। इनके दो स्तर होते हैं, इनमें तो कभी-कभी ऊपर का ही

ा है कभी दोनों स्तर टूट कर नीचे की ओर दब जाते हैं जिनको अवनत epressed) भग्न कहते हैं[1] । कभी-कभी हड्डियां टूटती नहीं उनमें दरारें जाती हैं—इस अवस्था को पाटित या स्फुटित (Fissured Fracture) हैं। कई बार ऐसा होता है कि अस्थावरण बच जाता है परन्तु भीतर से ी टूट जाती है इस अवस्था को उपास्थि भग्न (Subpreiosteal cture) कहते हैं ।

अपूर्ण भेद के भीतर १. वक्र, २. अवनत, ३. पाटित, ४. उपास्थिभग्न; चार प्रकार के भग्नों का समावेश है ।

जब अस्थि चौड़ाई में पूर्णतया टूट जाती है तब उसको व्यत्यस्त (Transe fracture) अथवा काण्डभग्न कहते हैं। कई बार अस्थि तिरछे ी है इसको तिर्यक् (Oblique) भग्न या अश्वकर्ण भग्न कहते हैं। कभी-हड्डी लम्बाई में टूट जाती है उसे अनुदैर्घ्य (Longitudinal) अथवा च्छल्लित भग्न कहते हैं। बन्दूक की गोली लगने से बहुधा इस प्रकार के होते हैं। कभी-कभी अभिघात के कारण हड्डी के छोटे छोटे टुकड़े हो जाते उसको चूर्णित भग्न (Comminuted) कहते हैं। कभी-कभी हड्डी का टूटा दूसरे में प्रविष्ट हो जाता है उसको मज्जानुगत (Impacted) भग्न कहते कभी कभी रक्तवाहिनियों, नाड़ियों और पेशियों की भी भग्न में हानि होती उस अवस्था को पिच्चित (Camminuted) भग्न कहा जाता है। कई हड्डी अनेक स्थानों पर टूट जाती है, उस अवस्था को बहु भग्न (Mumle) कहते हैं ।

पूर्ण भेद के भीतर १. काण्डभग्न २. अश्वकर्ण ३. अस्थिछल्लित, चूर्णित ५. मज्जानुगत ६. पिच्चित और ७. बहुभग्न प्रभृति सात भागों का वेश है। सब मिलाकर (पूर्ण और अपूर्ण) प्राचीनों ने बारह भेद गिनाये हैं का प्रारम्भ में उल्लेख हो चुका है ।

सन्धिमुक्त के सामान्य लक्षण और चिह्न—

१. विषमाङ्गता—अङ्ग के रूप में विकार आने से सन्धिविश्लेष का होना

---

[1] तरुणास्थीनि नम्यन्ते भज्यन्ते नलकानि तु ।
कपालानि विभिद्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ॥

स्पष्ट हो जाता है। सन्धि में अस्थियाँ अपनी अस्वाभाविक स्थिति
हैं जिनसे स्वस्थ स्थान पर गड्ढा और दूसरे स्थान में उभार दिखा
परीक्षा करते समय विश्लिष्ट सन्धि की दूसरी ओर की स्वस्थ सन्धि
करनी चाहिये।

२. मर्यादित गति–प्रसारणाकुञ्चन, विवर्त्तन (इधर-उधर हिलाना)
की शक्ति का अभाव।

३. उग्ररुजत्व—तीव्र पीड़ा।

४. स्पर्शासहत्व।

'विशेष करके उत्पिष्ट सन्धि में दोनों तरफ शोथ, वेदना की उत्प
और विशेषतया रात में नाना प्रकार की वेदनायें होती हैं। विश्लिष्ट
सूजन अल्प, निरन्तर वेदना और सन्धि कार्य ठीक न होना ये लक्षण
विवर्त्तित सन्धि में पार्श्व की तरफ चली जाने से अङ्ग टेढ़ा हो जाता
पीड़ा होती है। अवक्षिप्त में सन्धिविश्लेष और तीव्र पीड़ा होती है।
में सन्धि की दोनों अस्थियाँ अधिक दूर हो जाती हैं और पीड़ा होती
क्षिप्त में एक हड्डी पार्श्व की तरफ चली जाती है और अत्यन्त पीड़ा

काण्डभग्न के लक्षण और चिह्न—

सामान्य स्थानिक—१. विषमाङ्गत्व (Deformity)-भङ्ग
शोथ होने से मांसपेशियों के विदीर्ण होने से तथा रक्तस्राव होने से
हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अस्थियों की स्वाभाविक स्थिति में परि
से भी भग्न की अवस्था में अङ्ग का आकार बिगड़ जाता है। कई
बिना तन्तुओं के खसकाये ही होता है, उस अवस्था में भी अङ्ग में
जाता है। कई बार अङ्ग छोटा हो जाता है।

२. स्रस्ताङ्गता या स्वकर्म-गुणहानि (Loss of Function)-
करने की शक्ति का नष्ट होना। भग्न स्थान पर अस्वाभाविक सक्रि(
mal of Preturnatural mobility) यानी अस्थिरता
जिससे यदि भग्न के दोनों छोरों को पकड़कर हिलाया जाय तो
स्वतन्त्र दिशा में हिलते हैं।

३. अवपीड्यमाने शब्दः (Crepitus or Grating)-

से हड्डी के दोनों टुकड़े आपस में रगड़ खाते हैं जिससे शब्द उत्पन्न है। जब ये दोनों टुकड़े दूर होते या आपस में संसक्त होते या दोनों के में मांसादि धातु आ जाते हैं तब शब्द नहीं होता।

४. सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभः—शोथ की अधिकता, हिलना-घुमना या सहन न होना (स्पन्दन, विवर्तन, स्पर्शासहिष्णुत्व) नाना प्रकार की वेद- के (Pain swelling & bruising) उत्पन्न होने के कारण रोगी को भी स्थिति में आराम नहीं मालूम होता। पीड़ा सबसे अधिक सीधे अभि- के कारण होने वाले रोग में होती है। सब अवस्थाओं में दर्द होने का मांसपेशियों का उद्वेष्टन होता है। यदि भग्न स्थान के समीप कोई बड़ी हो तो पीड़ा अधिक तीव्र और दूर तक हो सकती है।

सार्वदैहिक—स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त निम्न सार्वदैहिक प्रभाव भी में देखने को मिलते हैं। जैसे—१. मर्माभिघात (Shock)-आघात यदि हो, भग्न यदि मर्मस्थान पर हो, रोगी वातप्रकृति का हो, वेदना तीव्र हो, रोगी में गाढ़ी स्तब्धता आ जाती है। २. भग्नज्वर—प्रायः भग्न के दूसरे ज्वर आ जाती है, जो तीन दिनों तक रह कर जाता रहता है। यदि दूषित (Septic) न हुआ हो तो ज्वर १००° से अधिक नहीं चढ़ता। होने पर तीव्र ज्वर और जीवाणुमयता उत्पन्न हो सकती है। कम्पोन्माद elirium tremens)-शराबियों और दुर्बल रोगियों में यह घटना है। भग्न के पश्चात् तीसरे दिन लक्षण उत्पन्न होते हैं जिसमें निद्रानाश, नक स्वप्न शय्या से या खिड़की से कूदना, सारे शरीर में कम्प, उन्माद की वस्था, मलावरोध इत्यादि प्रधान लक्षण होते हैं। उन्माद की दशा समाप्त पर रोगी अवसन्न हो कर मर जाता है।

उपद्रव—उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त कई प्रकार के उपद्रव भग्नों के न्ध में देखने को मिलते हैं।

१. सन्धियों में—सन्धिमुक्ति, संसक्ति, परिमित गति प्रभृति सन्धि में उपद्रव जाते हैं।

१. प्रधानधमनियों में—रक्तस्राव, रक्त जम जाना (Thrombosis), का निर्जीवत्व, धमनीग्रन्थि (Aneurism)।

३. सिराओं में—रक्त का जम जाना, शोफ, रक्त के थक्के शल्यता।

४. नाड़ियों में क्षति होने से अङ्ग का सञ्चालन वन्द हो जाता है।

५. कोष्ठस्थ अङ्गों में—कोष्ठस्थ अङ्गों को क्षति पहुंचने से भग्न हो चिन्ताजनक स्थिति हो जाती है।

साध्यासाध्यता[1]—१. चूर्णित, छिन्न, अतिपातित और मज्जानुग साध्य होते हैं। (Comminuted and Impacted)

२. दुर्बल, वृद्ध, बालक, क्षतक्षीण, कुष्ठी और श्वास के रोगियों के भी कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं। (General bone deficieny)

३. कपाल और कटि के भिन्न (Punctured), सन्धिमुक्त तथा जघनसन्धि के उत्पिष्ट-भग्न की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। (

४. शिरःकपालों का सन्धिविश्लेष तथा चूर्णित और स्तन के शङ्ख प्रदेश का, पृष्ठ वंश का और सिर का भग्न हो तो त्यागना क्योंकि इनमें मर्माङ्गों का अभिघात (Brain spinal cord & होता है। क्रिया में सफलता नहीं मिलती। (Compound)

५. जो अस्थि या संधि पहले से ही विकृत हो, अथवा जो अस्थि ठीक-ठीक जोड़ने पर भी, अनुचित रखने से, अनुचित बन्धन से और खराब हुए हों उनको भी त्यागना चाहिये क्योंकि इन में अस्थियों सम्भव नहीं।

६. भग्न में पाकोत्पत्ति न हो इसके लिये सदैव प्रयास करना चाहिये पूयोत्पत्ति हो कर मांस, सिरा, स्नायु आदि के गल जाने से सन्धान कठिन हो जाता है।

---

[1] भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम्।
जघनं प्रतिपिष्टञ्च वर्जयेत्तच्चिकित्सकः॥
असंश्लिष्टकपालं तु ललाटे चूर्णितं च यत्।
भग्नं स्तनान्तरे शङ्खे पृष्ठे मूर्ध्नि च वर्जयेत्॥ (भग्ननिदान)
अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च। उपद्रवैर्वा युक्तस्य भग्नं कृच्छ्रेण सि
भग्नं नैति यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
पक्वमांससिरास्नायु तद्धि कृच्छ्रेण सिद्ध्यति॥ (सु. चि. ३)

७. अल्प भोजन करने वाले (Lack of nourishment.), अपथ्य सेवन वाले, अपतर्पण या प्रकृति के कारण रूक्ष अथवा वातात्मक शरीर वाले यों में शारीरिक दशा के निर्बल होने के कारण भग्न असाध्य हो जाते हैं। का सन्धान नहीं हो पाता है।

८. उपद्रवयुक्त भग्न भी कृच्छ्रसाध्य होते हैं। उपद्रव कई प्रकार के हो हैं—धमनी, सिरा, नाडी, मांसपेशी, कोष्ठस्थ अङ्गों की क्षति होने से शरीर भयङ्कर परिणाम हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त 'ज्वर' आध्मान, मूत्र, आदि की रुकावट' भी उपद्रव रूप में हो सकते हैं।

९ आयु के अनुसार साध्यासाध्यता—मध्यवय की चार अवस्थायें वर्णित की 'वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और हानि'। इनमें से पहली तीन अवस्थाओं सोलह से लेकर चालीस साल की उमर तक भग्न आसानी से जुड़ जाते वाल्यावस्था में भी भग्न आसानी से जुड़ जाते हैं। चालीस से लेकर वर्ष की आयु तक कृच्छ्रसाध्यता और उसके बाद असाध्यता उत्पन्न होती प्रथमवय, अल्पदोष और शिशिर ऋतु में भग्न सुसाध्य होते हैं।[1]

असंयोजन या विकृतसंयोजन के कारण
(Nonunion of Fractures)

१. अस्थि के रोग (आदितो यच्च दुर्जातम्)—भग्न होने के पहले ही हड्डी हो। अस्थिवक्रता, भङ्गुरता, मृदुता, अस्थ्यर्बुद इत्यादि—अथवा अस्थि-वर्त्ती अङ्ग की विकृति का परिणाम अथवा सार्वदैहिक विकृति में भी अस्थि राबी जैसे—पक्षाघात, मस्तिष्कगत फिरङ्गादि रोग।

२. दुर्न्यास—शरीर की दृष्टि से भग्न अङ्ग को योग्य स्थिति और orrect Position and alinement), दिशा में न रखने से।

---

[1] मध्यस्य वयसोऽवस्थास्तिस्रो याः परिकीर्त्तिताः।
तत्र स्थिरो भवेज्जन्तुरुपक्रान्तो विजानता॥
आदितो यच्च दुर्जातमस्थिसन्धिरथापि वा।
सम्यग्यमितमप्यस्थि दुर्न्यासाद् दुर्निबन्धनात्॥
संक्षोभाद्वापि यद् गच्छेद् विक्रियां तच्च वर्जयेत्।
वयसि त्वेवं भग्नं सुकरमादिशेत्। अल्पदोषस्य जन्तोस्तु काले च शिशिरात्मके॥

३. उचित सन्धान न होने से।

४. दुर्निबन्धनात्—कुशा (Splint) रुई तथा अन्य योग्य
उपयोग करके भग्न अङ्ग को मजबूत न बाँधने से।

५. संक्षोभ—संहित अङ्ग के दोनों टुकड़ों के आपस में रगड़
सन्धान करने के कुछ समय पश्चात् नई धातु का बनना आरम्भ हो
शुरू-शुरू में यह धातु अत्यन्त मृदु होती है। इसमें अस्थि की
होती है; इसलिये हड्डी के या अङ्ग के हिलने से इस नई धातु
पहुंचती है।

इनके अतिरिक्त तीन कारण और आधुनिक ग्रन्थ में बतलाये गये
संग्रह अप्रासंगिक नहीं।

६. रोगी की शारीरिक दुर्बलता (असाध्यता-सूचक लक्षणों में

७. अस्थियों के छोरों के बीच में पेशियों या स्नायुओं का आ

८. भग्न अस्थि की पोषक रक्तवाहिनियों में क्षति पहुंचने से
में रक्त का न पहुंचना। अर्थात् पोषक रक्त का अभाव।

अस्थि-संयोजन का सिद्धान्त और संयोजन के परि
हुए अस्थि-खण्डों को मिलाने के लिये प्रकृति इसमें रोहण की
करती है। नई रचना के लिये नये अंकुर उत्पन्न होते हैं। इनके
रक्तनलिकायें बन जाती हैं। इन रक्तनलिकाओं के चारों ओर
बन जाते हैं। ये सौत्रिक तन्तु धीरे-धीरे अस्थि तन्तुओं में बदल
समय इन तन्तुओं में अस्थि को बनाने वाले परमाणु (Cell) रहते
धीरे वहाँ पर चूने के समान द्रव्य एकत्रित होने लगते हैं और अस्थि
बनना आरम्भ हो जाता है। अस्थि के दोनों टुकड़ों के बीच में जो
बनती है, उसको संधान-वस्तु कहते हैं। प्रथम यह वस्तु अस्थि के
फैली रहती है; परन्तु धीरे धीरे संकुचित होकर आवश्यक अन्तराल
जाती है, कुछ समय पीछे अस्थि में यह वस्तु परिणत हो जाती है
पूर्व की भाँति पूर्ण अस्थि बन जाती है। बच्चों में यह क्रिया अधिक
और शीघ्रता से होती है। वृद्धों में बहुत धीरे-धीरे और कठिनाई से
इसी लिये इनका भग्न कृच्छ्रसाध्य अर्थात् देर से जुड़ने वाला माना

यदि अस्थि ठीक न-जुड़े तो उसके तीन परिमाण देखने को मिलते हैं। अस्थि का पूर्णतया असंयोजन (Absolute nonunion), २. सौत्रिक जन—दोनों खण्डों के बीच सौत्रिक धातु बनकर जुड़ना, ३. मिथ्या संधि।

निदान— यदि भग्न स्थान पर शोथ न हो और रोगी अभिघात के कुछ ही बाद तुरन्त आ गया हो तो निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोगी इतिवृत्त, विषमांगता, स्रस्तांगता, किसी भी अवस्था में आराम का न मिलना स्वकर्म-गुणहानि प्रभृति लक्षण परिज्ञान करा देते हैं। रोगी को यथाशक्ति वेचैन करते हुए तथा रुग्ण भाग को अधिक गति न कराते हुए अपने न का निश्चय कर लेना चाहिये। निदान को स्थिर करने के लिये पीडन के होने वाले शब्द–भग्नध्वनि का सुनना भी कभी आवश्यक होता है, विशे-अस्थिभग्न जब संधि के पास होता है।

अपने निदान का विनिश्चय करने के लिये तथा भग्न का रूप समझने के लिये से उत्तम साधन आधुनिक युग में 'क्ष किरण' (X-ray) का है। ये किरणें त्वचादि मृदु धातुओं के पार पहुँच जाती हैं; परन्तु अस्थि के पार नहीं जा तीं। इनके द्वारा भग्न को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है—अथवा स्थायी चित्र लिया जा सकता है। छाया चित्र को सामने और पार्श्व दोनों तरफ चाहिये, जिससे भग्न की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाय।

सामान्य भग्न चिकित्सा—[1]

१. पथ्य—शालि, मांसरस, क्षीर, घृत, सतीन (मटर) का घृत से संस्कृत तथा देहवृद्धिकर बृंहण अन्न-पान देना चाहिये। ऊर्ध्वकाय के भग्नों में शिरो- या तैल से कर्ण पूरण करना और शाखाओं के भग्न में अनुवासन देना ता है। नस्य और घृतपान भी कराना चाहिये।

अपथ्य—लवण, कटु, द्रव्य, क्षार, अम्ल (खटाई), मैथुन (स्त्रीसंग), धूप घाम तथा रूक्ष अन्नों का सेवन नहीं करना चाहिये।

२. कुशा (Splints)—महुआ, मूलर, पीपल, पलाश, अर्जुन, बांस, तथा वट वृक्ष की लकड़ी की बनी कुशाओं का संग्रह रखना चाहिये। अस्थि के

---

[1] ालिर्मांसरसः क्षीरं सर्पिर्यूषः सतीनजः। बृंहणं चान्नपानं स्याद् देयं भग्नाय जानता॥
वणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम्। व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षान्नमेव च॥

निबंधन के लिये कुशाओं का व्यवहार होता है। इस कार्य में के तार, धातु की पट्टी, हड्डी या हाथी दांत की कीलें, पेंच और वस्तुओं का भी व्यवहार होता है।

३. आलेप—मंजीष्ठा, मुलैठी, रक्तचन्दन, चावल पीसा हुआ को शतधौत (सौ पानी धोये घृत) में मिला कर लेप करना चाहिये।

४. परिषेक—न्यग्रोधादि कषाय के द्वारा शीतल परिषेक करे; वेदना अधिक हो तो पञ्चमूल से सिद्ध दूध के द्वारा सेक करना चाहि लिये तीसरा द्रव्य चक्र तैल है। काल एवं दोष की विवेचना और वि शीतल ही परिषेक या प्रदेह भग्न के हितकर होता है।

५. क्षीरपान—[2]प्रथम प्रसूता गौ का दूध और काकोल्यादि से सिद्ध करके शीतल होने पर लाक्षा डाल करके प्रातःकाल में प्रति चाहिये। निर्माण विधि यह है कि काकोल्यादि द्रव्य एक-एक कर्ष दूध और दूध से चतुर्गुण जल डालकर जब केवल दूध बच जाय तो ठण्डा करके उसमें लाक्षा और घृत प्रत्येक एक कर्ष डालकर पीना चा

७. यथास्थानानयन—'चल या अचल जितनी भी शरीर की उनके विश्लेष होने पर यदि सन्धि नीचे को हो गई हो तो ऊपर को ऊपर उठ गई हो तो नीचे को झुकावे, यदि अतिक्षिप्त हड्डियां हो गई स्थान पर ले आवे तथा अधोगत (नीचे गई) हड्डी को ऊपर उठावे।

इस प्रकार १ पीडन, २ ग्रहण, ३ नमन (नीचे करना), (उठाना) तथा ५ परिवर्त्त (घुमाना Rotaion) इन पाँच क्रि द्वारा च्युत हुई सन्धि अपने स्थान पर ठीक से बैठ जाती है।'

सन्धि को बैठाते समय अधिक जोर या बल की आवश्यकता इस में दक्षता की ही अधिक आवश्यकता है। जिस समय सन्धि जाती है—और अस्थि अपने स्थान पर आती है उस समय ए होती है। एक बार सन्धि का ठीक संयोजन हो जाने पर सुगमता से

---

१. पतनादभिघाताद्वा शुनमङ्गं यदक्षतम्।
शीतान् प्रदेहान् सेकांश्च भिषक् तस्यावचारयेत्॥

२. गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम्। शीतलं लाक्षया युक्तं प्रात

होता। सन्धि में एकत्रित हुई लसीका और रक्त शुष्क हो जाता है। टूटे बन्धन फिर से जुड़ जाते हैं। परन्तु कई व्यक्तियों में बन्धन बहुत ढीले हैं, जिससे बार-बार च्युति होने लगती है। इस अवस्था में बांधकर अङ्ग र्ण विश्राम देना चाहिये।

७. बन्धन—'अभिघात के दूर होने पर सन्धि स्वयं प्रकृत स्थान पर आ है जब अपने स्थान पर सन्धि आ जावे उसके ऊपर घृत–लिप्त वस्त्र से करना चाहिये। पश्चात् पट्ट (Bandage) के ऊपर कुशा लगा कर विधि बन्धन करके स्थिर कर देना चाहिये।' बन्धन नातिशिथिल, नातिगाढ समान होना चाहिये।'[1]

सन्धि के सन्धान करने में सब से आवश्यक वात सन्धियों का ढीला होना के लिये आकर्षण या विस्तार करने की आवश्यकता होती है। आकर्षण anipulation) और विस्तार (Extension) अङ्ग पर करने से शिथिल हो जाती हैं-और छोड़ने के साथ ही अस्थियाँ अपने स्थान पर जाती हैं। सार्वदैहिक संज्ञाहारक (Chloroform) द्रव्यों से पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं—और यथास्थानानयन में सुविधा होती है।[2]

यदि ठीक सन्धान न करके अस्थियों को वैसे ही रहने दिया जाय तो 'मिथ्या बन जाती है। अस्थियों के जो पृष्ठ आपस में मिलते हैं उनमें एक में बन जाता है दूसरे में गड्ढा बन जाता है। गोल उभार इस गड्ढे में है। सन्धि में जो पहले गड्ढा रहता है धीरे-धीरे भर जाता है। अङ्ग की गिता नष्ट हो जाती है।

तिशिथिलं बद्धे सन्धिस्थैर्यं न जायते। गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च॥
तस्मात् साधारणं बन्धं भग्ने शंसन्ति तद्विदः॥

नामितमुन्नह्येदुन्नतं चावपीडयेत्। आञ्छेदतिक्षिप्तमधोगतं चोपरि वर्तेत्॥
ः पीडनैश्चैव सङ्क्षेपैर्बन्धनैस्तथा। सन्धीञ्छरीरे सर्वांस्तु चलानप्यचलानपि॥
स्थापनोपायैः स्थापयेन्मतिमान् भिषक्। उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं सन्धिवैद्यो न घट्टयेत्॥
शीतान् परीषेकान् प्रदेहांश्चावचारयेत्। अभिघाते हृते सन्धिः स्वां याति प्रकृतिं पुनः॥
न पट्टेन वेष्टयित्वा यथाविधि। पट्टोपरि कुशान् दत्त्वा यथावद् बन्धमाचरेत्॥
स्य तु भग्नस्य व्रणं सर्पिर्मधूत्तरैः। प्रतिसार्यं कषायैस्तु शेषं भग्नवदाचरेत्॥
(सु. चि. ३)

यदि भग्न सव्रण हो (Fracture dislocation) अर्थात् साथ ही साथ धमनी, सिरा और नाडी अथवा त्वचा और मांस पहुँचा हो, तो शस्त्र कर्म करके (Open operation) सन्धि व्रणवद् उपचार करना चाहिये।

'सव्रण भग्न में व्रण को घी और मधु मिश्रित न्यग्रोधादि कषाय रण करते हुए भग्नवत् उपचार करना चाहिये।'

'उत्पिष्ट और विश्लिष्ट सन्धियों में घट्टन (चालन) नहीं इनमें शीत प्रदेह और परिषेक की क्रिया करनी चाहिये।'

८. उद्वर्त्तन और चालन—पश्चात् कर्म अंग को पूर्ण विश्रा मर्दन आदि कर्म प्रथम सप्ताह के बाद करना चाहिए। यह क्रिया (Passive) की होनी चाहिये तदनन्तर सक्रिय (Active) रोगी को करना चाहिये। संधान के पश्चात् कम से कम आठ या अंग को पूर्ण विश्राम मिलना चाहिये। पश्चात् उद्वर्त्तन आदि सकते हैं।

'यदि ऋतु सौम्य हो तो एक सप्ताह के पश्चात् पट्टी खोल करना चाहिये।'

यदि संधि की च्युति बहुत दिनों की हुई हो तो उसके स्थानान कठिनाई होती है। उसका स्नेहन और स्वेदन करके यथाविधि अनुसार उसको प्रकृतावस्था में लाना चाहिये।

संधान के बाद सन्धियों के स्थिर होने का काल—

प्रथम वय में	१ मास में संधियाँ स्थिर हो जाती		
मध्यमायु में	२ मास	,,	"
उत्तरायु में	३ मास	,,	"

अस्थिभग्न के सम्बन्ध में संधि के विश्लेष के सदृश ही—पीडन, उन्नमन, परिवर्तन आदि क्रियाओं के द्वारा अस्थि का यथास्थान और चालन कर्मों के द्वारा चिकित्सा होती है।

१. स्थानानयन (Reduction)—अस्थि के टूटे हुए भाग सम्भव पहले की स्थिति में एक सरीखी स्थिति (Correct ali में बैठाना चाहिये जिससे संधान शीघ्र और भली प्रकार से हो जाय।

ति में लाने के लिये अङ्ग का आकर्षण (Mainpulation) या प्रत्या-ण (Counter mainpulation) करना होता है—इन क्रियाओं के पेशियों का संकोच शिथिल हो जाता है और अस्थि अपने प्रकृत स्थान पर जाती है।

आधुनिक युग में संज्ञाहर द्रव्यों के द्वारा यह कार्य और सरलता से होता स्थानिक संज्ञाहर पदार्थ (नोवोकेन २%) का घोल भग्न के चारों ओर सूची-के द्वारा दे दिया जाता है। अथवा सार्वदैहिक संज्ञाहर पदार्थ (क्लोरोफार्म) रिये भी यही कार्य होता है। मांसपेशियों का संकोच दूर होकर भग्न का नास्थापन हो जाता है।

२. बंधन या अंग का स्थिरीकरण—अंग को स्थिर रखने के लिए कई र के कुशाओं का प्रयोग किया जाता है। ये कुशायें (Splints) लकड़ी, की खप्पच, नमदा, चर्म, गटापरचा, लोहे की शलाका आदि वस्तुओं के ये जाते हैं। साधारणतः लकड़ी और लौह की पट्टी की बनी कुशायें कार्य रती जाती हैं। अंग के अनुरूप इस प्रकार के वने होते हैं ताकि अङ्ग के ऊपर बैठ जाय। कई बार कुशाओं को अङ्ग के बाहर और भीतर दोनों ओर ने की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में भीतर वाला फलक वाह्यफलक अपेक्षा छोटा होता है। इन कुशाओं के द्वारा अंग पर रगड़ न पड़े इस-अङ्ग पर लेप करके या रुई रख के बाँधना चाहिये। अङ्ग पर कुशाओं को कर उसको स्थिर रखने के लिये, ऊपर से पुनः रुई रखकर बाँध देना चाहिये। पट्टी न तो बहुत ढीली हो न बहुत कसी हो, समान होनी चाहिये।[1] जिससे क स्थान पर रहे और रक्तसंचार में किसी प्रकार की बाधा न होने पावे। ही कुशा इस प्रकार बँधी होनी चाहिये कि उसके द्वारा भग्नस्थल के ऊपर र नीचे वाली संधियाँ भी स्थिर हो जायें।

'सौम्य ऋतुओं में पट्टी को एक सप्ताह के अन्तर से खोलना चाहिये। ारणतया हर पाँचवें दिन पट्टी खोलकर उपचार किया जाता है—आग्नेय तुओं में या व्याधि के दोषानुसार प्रति तीसरे दिन भी किया जा सकता है।[2]

तत्रापि शिथिले बन्धे संधिस्थैर्यं न जायते। गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च॥
तस्मात् साधारणं भग्ने शसन्ति तद्विदः॥

सप्ताहादथ सप्ताहात् सौम्येष्वृतुषु बन्धनम्। साधारणेषु कर्त्तव्यं पञ्चमे पञ्चमेऽहनि॥

आधुनिक युग में हड्डी को वैठाने के बाद पेरिस का प्लास्टर (
of Paris) से बन्धन करना सर्वोत्तम माना जाता है। यह एक
चूर्ण होता है, जिस समय अंग कुछ समय के लिये स्थिर रखना हो
डुले नहीं तब इसका उपयोग किया जाता है। जिस अंग पर
लगाना होता है। उस भाग के बालों को साफ करके उस पर बारी
की पट्टी लपेट देनी चाहिये। फिर एक मोटे कपड़े की पट्टी लेकर इस
प्लास्टर की बनी लेई लपेट देनी चाहिये। सारी पट्टी पर लेई लग
उसको लपेटकर एक बर्तन में इस लेई के अन्दर डुबो देना चाहिये।
बुलबुले निकलते रहें तब तक इसको वाहर नहीं निकलना चाहिये।
के लिये प्लास्टर को गरम पानी में घोलना चाहिये। जब प्लास्टर
तैयार हो जाय तब इसको उस पट्टी के ऊपर बाँधना चाहिये। बांधे
पट्टी को बहुत कसना नहीं चाहिये। पट्टी बँध जाने पर इसके ऊपर
लेई का लेप कर देना चाहिये। पीछे से ५–७ मिनट तक पट्टी को
चाहिए। सूखने के पश्चात् पट्टी कड़ी बन जाती है।

प्लास्टर शुष्क होकर अङ्ग को दबाये नहीं इसके लिये दूसरे दि
पर गोंद का अथवा अण्डे की सफेदी का लेप कर देना चाहिए।
प्लास्टर के ऊपर स्पिरिट में मिली वार्निश लगा देते हैं जिससे की
से यह गीला नहीं होता। उतारने के लिये प्लास्टर को पानी से
भिगो देना चाहिये। इससे ढीला होकर सुगमता से उतर जाता है।
इसको विशेष प्रकार के शस्त्र से काटकर उतारना चाहिये। प्राचीन
छोटी संन्धियों और अस्थियों के भग्नों में चावल की पिष्टि के द्वारा
स्थिरीकरण किया जाता था। ‘चूर्णित हुई नखसन्धि में रक्त के भर
आरा शस्त्र से मथकर रक्त निकाले पश्चात् चावलों को पीसकर
बनाकर उसके ऊपर से लेपकर दे।[1]

३. उद्वर्त्तन या चालन—बहुत समय तक अङ्ग के बन्धन में प
उसकी गति बन्द हो जाती है। मांसपेशियों में फिर वह गति आरम्भ
इसके लिये अङ्ग पर मालिश और चालन करा चहिये। मालिश तै

आग्नेयेषु त्र्यहाद कुर्याद् भग्नदोषवशेन तु ॥

[1] नखसन्धि समुत्पिष्टं रक्तानुगतमारया। अवमथ्य स्रुते रक्ते शालिपिष्टे

ों प्रकार के अङ्ग के अनुलोम करनी चाहिए। चालन का कार्य परिचारक के ये प्रथम करना चाहिये। परिचारक को चाहिये कि रोगी के अङ्ग को पकड़ धीरे-धीरे दायें-बायें, ऊपर या नीचे करता रहे। इस प्रकार (Passive vement) थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिन करने से अङ्ग में गति आ जाती है और पूर्व की भाँति कार्य करने लगता है। साधारणतः भग्नों में पाँचवें दिन से लन कार्य प्रारम्भ करना चाहिये।

'यदि भग्न सव्रण हो तो सर्पि, मधु और न्यग्रोधादि कषाय के द्वारा व्रण का न करने के बाद शेष भग्नवत् उपचार करना चाहिये।'

कई बार अस्थिभग्न का सन्धान शस्त्रकर्म के द्वारा करना होता है। विशेषतः स्थियों के प्रवर्द्धनों के भग्न में, ऐसे भग्नों में जिनमें किसी सन्धि के भीतर स्थि टूट गई हो, ऐसे भग्न जिनमें नाडी, धमनी और शिरा आदि को विशेष ति पहुँची हो अथवा संक्षेप में ऐसे भग्न जिनमें बाहरी उपक्रमों से अस्थि का नास्थापन या सन्धान कठिन या असम्भव होता है। 'व्रण-भग्नवत् उपचार में किया जाना चाहिये।[1]

त्यङ्ग-भग्न के अनुसार भग्न के उपचार-विधियों का वर्णन—

१. नखसन्धि—'यदि सन्धि चूर्णित हो और दुष्ट रक्त हो तो आरा शस्त्र द्वारा अवमंथन करके रक्त विस्रावण करके चावल के आटे के साथ लेप के कड़ा कर छोड़ देना चाहिये।' इस से अङ्ग स्थिर हो जायगा तथा अस्थि संयोजन ठीक हो जाता है।

२. अङ्गुलिसन्धि—(Metacarpal & Metatarsal) यथास्थान स्थापित करके पतले वस्त्र से (अणुना) वेष्टित करके शालिपिष्ट का लेप के सुखा लेना चाहिये। पश्चात् घृत का लेप करे। इसके द्वारा भी स्थिरीकरण हो जाता है—क्योंकि चावल की पिष्टि सूख जाने से प्रस्तर जैसे कड़ी हो जाती है। जैसे पेरिस प्लास्टर के सम्बन्ध में देखा गया है।[2]

---

[1] कल्पयेन्निर्गतं शुष्क व्रणान्तेऽस्थिसमाहितः। सन्ध्यन्ते वा क्रियां कुर्यात् सव्रणे व्रणभग्नवत् ॥
काण्डभग्ने प्ररूढे तु विषमोल्वणसंहिते। आपोथ्य समयेद्भग्नं ततो भग्नवदाचरेत्।
(सु. चि. ३)

[2] २. भग्नां वा सन्धिमुक्तां वा स्थापयित्वाऽङ्गुलीं समाम्।
अणुनाऽऽवेष्ट्य पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥ (सु. चि. ३)

३. तलभग्न (Carpal & Tarsal bones or Ankle joint)—केल भग्न वालों में घृत का अभ्यङ्ग करके कुशा लगा वस्त्र के द्वारा पट्टी बाँधनी चाहिये। विशेष वर्णन अगले दसवें सूत्र में

४. जङ्घा और ऊरु का भग्न (Knee joint)—जङ्घा और ऊरु को सुसमाहित करके न्यग्रोधादि शीत वृक्षों के छाल देकर बन्धन करना चाहिये।

५. ऊर्वस्थि यदि निर्गत हो गई हो या जघनोपरि आघात ग्रीवा द्वारा ऊर्वस्थि के सिर पर पहुँचता है। इस दवाव से पीछे एवं नीचे का भाग फट जाता है। और सिर बाहर निकल आता से फिसल कर सिर जघनास्थि के गात्र पर पहुँचता है।

इस में रोगी को भूमि पर लेटा देते हैं। उस की जङ्घा को ऊरु पर को उदर पर मोड़ते हैं फिर चिकित्सक अपने दोनों अग्रबाहुओं को नीचे लगा कर उसको बाहर की ओर घुमाता है। साथ ही साथ प्रकार घुमाना चाहिये कि ऊरु प्रान्त अपने अक्ष पर घूम जाय। ऐसे जंघा तनिक भीतर की ओर मुड़ती है और ऊर्वस्थि का सिर सन्धि पर आ जाता है। सन्धि की पेशियां भी ढीली हो जाती हैं, फिर को सामने की ओर लाकर दूसरे अङ्ग के समानान्तर कर देना चाहिये विधि से ऊर्वस्थि का सिर वंक्षणोदूखल में चला आता है। इसी विधि बर्णन मिलता है—

'बुद्धिमान् चिकित्सक को चक्र योग से अर्थात् अचानक घुमा हुए उर्वस्थि के सिर को स्थान पर ले आना चाहिये। स्फुटित और भग्नों में भी इसी प्रकार की क्रिया करनी चाहिये।' बन्धन के लिये लाकार कुशा होनी चाहिये।

६. कटिभग्न (जघनास्थि का भग्न)—ऊर्ध्वंगत अस्थि को निम्नगत अस्थि को ऊपर उठाकर यथास्थान स्थापन करके बन्धन करे बस्ति कर्म का विधान करना चाहिये। यदि कपाल का भेद हो चिकित्सा व्यर्थ होती है, परन्तु यदि सन्धिमुक्त या सन्धिच्युति को तो चिकित्सा से लाभ होता है।

७. पर्शुकाभग्न (Ribs)—यदि पर्शुकास्थियों का भग्न हो तो रोगी छाती और पीठ पर घृत अभ्यङ्ग कर दाहिनी या बाईं ओर की मांसनिवन्धनी जुओं का अच्छी तरह से मर्दन कर लेना चाहिये। पश्चात् छोटी-छोटी वस्त्र की लिका गद्दी बना कर ऊपर से वेष्टन से बाँध देना चाहिये। अथवा तैल से नौका या कटाह में (Tub) रोगी का छाती का भाग डुबा कर रखना हिये। इसके द्वारा अस्थि का सन्धान हो जाता है।[1]

८. स्कन्ध का भग्न (Shoulder joint)—अंससन्धि के विश्लेष पर उसको मूसल के जरिये ऊपर उठा कर यथास्थान को ले आना चाहिये। चात् स्वस्तिक बन्ध से बांध देना चाहिये।

९. कूर्पर सन्धिभग्न (Elbo)—सन्धि को अङ्गुष्ठ से अनुमार्जन करना हिये—पुनः हस्तकौशल से आकर्षणादि के द्वारा पेशियों को शिथिल करके त हुए कूर्पर को पीडन करके ठीक करना चाहिये। इस प्रकार प्रसारण और कुञ्चन की क्रिया से सन्धि को ठीक करके हाथ को मोड़कर स्थिति में रखना हिये। यथाविधि स्नेह और सेक करे। पश्चात् सन्धि का उद्वर्त्तन और चालन रे। यही विधि जानु, गुल्फ तथा मणिवन्ध सन्धि के सम्बन्ध में भी रतनी चाहिये।

१०. तलभग्न (Metatarsal, Metacarpel Tarsal & arpal bones)—तल भग्न की चिकित्सा में कुशा के द्वारा चिकित्सा करने वर्णन हो चुका है। अब दूसरा विधान बतलाया जा रहा है। मणिवन्ध की स्थियों, करभास्थियों तथा अङ्गुल्यस्थियों के भग्न या विश्लेष हो जाने में यह धि हितकर है। दोनों तल को समान करके एक का दूसरे के साथ ठीक लान करके बांधना चाहिये। दोनों हस्ततल, दोनों पादतल अथवा एक र हस्ततल, दूसरी ओर के पादतल के साथ बाँध कर रखना चाहिये तथा च्चे तैल से परिषेक करते रहना चाहिये। जब भग्न ठीक हो जाय तो उद्वर्त्तन

---

[1] पर्शुकास्वथ भग्नासु घृताभ्यक्तस्य तिष्ठतः।
दक्षिणास्वथवा वामास्वनुमृज्य निवन्धनीः॥
ततः कवलिकां दत्त्वा वेष्टयेत्सुसमाहितः।
तैलपूर्णं कटाहे वा द्रोण्यां वा शाययेन्नरः॥ (सु. चि. ३)

(Passive movement) करने के लिये मृत्पिण्ड (मिट्टी का लवण पिण्ड (सेंधानमक का टुकड़ा) धारण करना चाहिये । और बल आजाय तो पाषाण-धारण, चालन (Acitve movement) लिये करना चाहिये ।[1]

११. अक्षक विश्लेष या भग्न (Clavicle)—जो भा गया हो, उसको ऊपर उठावे, यदि ऊपर उठ आया हो तो नीचे करे। छोटे मूसल के जरिये सुविधा से होता है । पश्चात् यथास्थान बन्धन लगावे ।

१२. बाहु भग्न (Upper Arm)—इस की चिकित्सा ऊरु के करनी चाहिये ।

१३. ग्रीवा भग्न (Cervical region)—यदि ग्रीवा टेढ़ी या नीचे को धस गई हो, तो अवटु या हनु को पकड़ कर उठावे । कौशल से यथास्थान स्थापन करके कुशा देकर बंधन करे । सात सप्ताह) तक उसको एक ही स्थिति में पड़े रहने दे तथा रोगी सुलाना चाहिये ।

१४. हनुसंधि-विश्लेष (Mandible)—हनु के संधिस्थल पर करके—मुख विवृत किये हुए व्यक्ति के मुख के भीतर अंगूठों को डाल को दबावे, इस क्रिया से पेशियाँ शिथिल हो जायंगी पश्चात् अनामिका यों से जरा सहारा देकर चिबुक उठाना चाहिये इससे हनु अपने लग जाती है । संधि संहित हो जाती है । पश्चात् पंचाङ्गी बंध लगाकर देना चाहिये ।

वातघ्न भद्रदार्वादि और मधुर विदारिगंधादि द्रव्यों से पक्व घृत और नस्य देना चाहिये ।[2]

---

[1] उभे तले समे कृत्वा तलभग्नस्य देहिनः । बध्नीयादामतैलेन परिषेकं च कारये
मृत्पिण्डं धारयेत् पूर्वं लवण च ततः परम् । हस्ते जातबले चापि कुर्यात्पाषाण
(इ

[2] व्यात्ताननं हनुस्विन्नमङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च ।
अनामिकाभ्यां चोन्नम्य चिबुकोन्नामनं हितम् ॥ (चरक)

१५. **अभग्न और चलित दन्त**—(Injury of the Teeth)। यदि घात के कारण दाँत टूटे न हों प्रत्युत हिल गये हों तथा रोगी युवक हो तो कित्सा करनी चाहिये। परन्तु यदि रोगी वृद्ध हो तो चिकित्सा नहीं करनी हिये क्योंकि उनमें सफलता की आशा नहीं होती। क्रम यह है कि रक्त लते हुए दाँतों को दबाकर उनके स्थानों पर स्थिर कर दे। बाहर से शीतल ों का लेप करे, पुनः न्यग्रोधादिवर्ग की ओषधियों का कषाय, कल्क या चूर्ण कर संधानीय द्रव्य मधु तथा घृत के साथ मिलाकर दांतों का परिषेक करना हिये। पीने के लिये रोगी को केवल दूध देना चाहिये। दांतों पर किसी र का बल न पड़ने पावे इसलिये कमलनाल की नलिका (Tube) से दूध ाना चाहिये।

१६. **नासाभग्न चिकित्सा** (Fracture of the Nasal Bones)—अभिघात के कारण नासा (नाक) भीतर की ओर धँस गई हो अथवा त या वक्र हो गई हो तो नासाछिद्रों में पृथक्-पृथक् द्विमुखा नाडियों को डाल पूर्व स्थिति में लाने का अर्थात् सीधी करने का तुरन्त यत्न करना चाहिये। : वस्त्र से वेष्टित करके घृत का सेक करना चाहिये।

१७. **कर्ण भग्न**—(Injuries of the Ears) यदि चोट के कारण टेढ़ा या अन्तः प्रविष्ट हो गया हो तो उसको समान करके पूर्व स्थिति में ले ना चाहिये। घृत का लेप करना या मधु-घृत का अभ्यङ्ग और शीतल परि- क करना चाहिये।

१८. **नेत्रबहिर्गत**—(Exopthalmos) नेत्र-गोलक से बाहर आ गया उस अवस्था में यथा—स्थान स्थापन के बाद अभ्यंग कर्म करते रहना चाहिये।

१९. **कपालास्थियों के भग्न** (Fracture of the Soull Bones)—यदि कपालास्थियों का भग्न हो और उससे मस्तिष्क के धातुओं स्राव न होता हो तो उसके ऊपर से मधु और घृत का लेप करके एक प्ताह तक बांध कर रखना चाहिए। एक सप्ताह तक घृत पिलाना चाहिये।

हन्वस्थिनी समानीय हनुसन्धौ विसंहते।
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पञ्चाङ्गीं वितरेद्भिषक्।
वातघ्नमधुरैः सर्पिः सिद्धं नस्ये च पूजितम्॥ (सु० चि० ३)

यदि मस्तिष्क के धातुओं का स्राव होता हो तो वालवर्त्ति का
चाहिये जैसा कि सद्योव्रण चिकित्सा में उल्लेख है।

२०. जंघा या ऊरु का भग्न, श्रोणि, पृष्ठवंश, वक्ष और
सन्धिविमोक्ष या भग्न—(Fracture & Dislocations of
Hip Bones & Thoracic & Lumbar vertibrae)
चिकित्सा प्रायः कठिन होती है। संयोजन बहुत धीमा होता है। रोगी
दिनों तक शय्या पर एक स्थिति में पड़ा रहना पड़ता है। छः से
बाद उद्वर्तन या चालन आरम्भ किया जाता है। इस अवस्था की
भी मुख्यतया चार सिद्धान्त हैं।

१. सतत प्रसारण—बहुत काल तक (Extension)।

२. बन्धन। ३. बहिर्नयन। ४. उद्वर्त्तन और चालन।

आधुनिक युग में होजिन (Hodgen) या थामस (Thoms)
प्रसारण के लिये व्यवहृत होती हैं। इन फलकों में यह सुविधा रहती
टांग को घुटने पर मोड़ सकता है। प्रसारण करने के पीछे अङ्ग को
जाता है, इसके लिये बाल्कन बीम (बाल्कन फ्रेम) का उपयोग
ऊर्वस्थि के भग्नों में प्रायः अस्थि को बाहर की ओर खींच कर रखना
इसके लिये बाल्कन बीमे का ही प्रयोग करना चाहिये। इन बीमों को
बीच में रखकर किनारों पर रखना चाहिये। इसमें अङ्ग को लटका
बाहर की ओर खिंचा रहता है।

जानुसन्धि को ढीला रखकर उसको गति कराते रहना चाहि
सन्धिजाड्य उत्पन्न न हो। जहां तक हो उद्वर्त्तन और चालन शीघ्र
करना चाहिये। इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुये प्राचीनों
स्पष्टतया समझ में आ जाता है।

कपाट शयन—'जंघा और ऊर्वस्थि के भग्नों में रोगी के लिये
की विधि हितकर है।'[1] रोगी के प्रसारण और बन्धन के लिये
कीलकों (खूटियों) को लेना चाहिये। यदि जंघा के नीचे का भग्न हो

---

[1] अथ जंघोरुभग्नानां कपाटसयनं हितम्। कीलका बन्धनार्थं च पञ्च कार्या
यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा। सन्धेरुभयतो द्वौ द्वौ तले चैक

न्धि के दोनों तरफ दो-दो खूटियां और पैर के तलवे के नीचे एक खूटी लगाकर र करे । यदि जङ्घास्थियों के ऊपर के भाग में अथवा ऊर्वस्थि के नीचे के ग में भग्न हो, तो जानु सन्धि के दोनों तरफ दो-दो कीलें ठोककर पैर के वे के नीचे एक कील ठोककर स्थिर करना चाहिये । यदि ऊर्वस्थि के ऊपर का ग, जघनास्थि या कटि या श्रोणि की अस्थियों का भग्न हो तो वंक्षण सन्धि के नों तरफ दो-दो कीलक और पादतल में एक कीलक देकर अङ्ग को स्थिर ना चाहिये । इस प्रकार प्रत्येक दशा में पांच कीलकों की ही आवश्यकता ती है । परन्तु यदि उभय भग्न हो, जैसे जङ्घास्थि और ऊर्वस्थि का एक साथ भग्न हो, तो सात कीलकों को आवश्यकता पड़ती है । दो गुल्फ पर, दो जानु और दो वंक्षण सन्धि पर तथा तल में एक । इस विधि से भग्न का प्रसारण र स्थिरीकरण करना करना चाहिये । आवश्यकतानुसार सन्धियों का बीच में लन किया जा सकता है ।'

गन्धतैल—बहते हुए पानी में काले तिल को भिगावे । दिन में उनको कालकर गाय के दूध में भावित करके सुखावे । इस प्रकार एक सप्ताह तक ल को भिगाना, दूसरे सप्ताह भर गाय के दूध में भावना देकर सुखाना चाहिये । सरे सप्ताह में मुलैठी के क्वाथ की भावना दे । फिर चतुर्थ सप्ताह मे दूध की वना देकर पश्चात् सुखाकर चूर्ण कर ले । पश्चात् इस प्रकार बना तिल चूर्ण न भाग और काकोल्यादि गण की औषधियां, मुलैठी, मजीठ, सारिवा, कूठ, लरस, जटामांसी, देवदारु, चन्दन, सौंफ प्रभृति वनस्पतियों का चूर्ण एक भाग लाकर दूध में पाक करके स्विन्न कर लेना चाहिये । फिर इस स्विन्न किये ए चूर्णों का पीडन (कोल्हू से पेरना) करके तेल निकालना चाहिये । स्विन्न रने के पूर्व दूध को सर्वगंध द्रव्य (एला प्रभृति) के द्वारा शृत कर लेना चाहिये ।

अब इस प्रकार पीडन से उत्पन्न हुए तैल का पुनः संस्कार करना चाहिये । विधि यह है कि तैल से चतुर्गुण मात्रा में दूध डाल दे और निम्न लिखित ओषधियों को समान भाग मे लेकर कुल मिला कर तैल की चौथाई परिमाण में हो, कल्क बना लेना चाहिये । इलायची, शालपर्णी, तेजपात, जीवक, तगर, लोध,

---

श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा ।
भग्नसन्धिविमोक्षेषु विधिमेनं समाचरेत् ॥ (सु० चि०)

प्रपौण्डरीक, कालानुसारी (तगर दो बार कहने का अर्थं द्विगुण होना
कटसरैया, क्षीरविदारी, गुडूची, मधूलिका (मर्कटतृण-विशेष),
(सिंघाड़ा) प्रभृति द्रव्यों के कल्क से तैल का पाक करना चाहि
जानने वाले को इन द्रव्यों के द्वारा मृदु अग्नि पर तैल का पाक कर लेना
'निरन्तर नीचे ऊपर को चलाते हुये मृदु आंच पर तेल का पाक
बतलाते हैं—इसी विधि से तैल का पाक होता है, अन्यथा तैल जल

यह भग्न की चिकित्सा में सर्व कर्मों में प्रशंसित है। इसके अति
पक, पक्षाघात, तालुशोष, अर्दित, मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कर्णशूल,
बाधिर्य. तिमिर तथा व्यवायशोषी रोगियों में सदा पथ्य है। इसका प्र
के लिये, अभ्यङ्ग, नस्य, बस्ति और भोजन के लिये किया जाता है। इ
से प्रयोग करने पर ग्रीवा, स्कन्ध और उरःस्थल की वृद्धि होती है।
लेप करने से चेहरा कमल जैसा खिला हुआ और गंधयुक्त हो जाता है।
का नाम गन्धतैल है—सभी प्रकार के वायु रोग इससे शान्त हो जाते
राजाओं के योग्य तैल है। प्रजा के कल्याण के लिये राजाओं को सदैव
तैयार रखना चाहिये।

त्रपुसादि तैल—खीरा, विभीतक, प्रियाल और काकोल्यादि
यथालाभ प्राणियों की वसा डाल करके तैल पाक कर लेना चाहिये।
ही उत्तम तैल है, इसके द्वारा भग्न का संधान शीघ्र हो जाता है। इस
पान, अभ्यङ्ग, बस्ति, नस्य और सेक के लिये करना चाहिये।

सम्यग्रूढ सन्धि या अस्थि की पहिचान—जब सन्धि
समान हो जाय, पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जाय, अङ्ग छोटा या बड़ा न
अङ्ग की रचना उबड़-खाबड़ न रहे, आकुंचन और प्रसारण प्रभृति कर्म
पूर्वक होने लगें तो समझना चाहिये कि भग्य का सन्धान या जोड़ (U
ठीक हो गया है[1]।

* * *

---

[1] भग्नं सन्धिमनाविद्धमहीनाङ्गमनुल्वणम्। सुखचेष्टाप्रसारं च संहितं सम्य

अष्टादश प्रकरण

अर्शनिदानचिकित्सीयाध्याय

Diagnosis & treatment of Polypus & Haemorrhoids)

विविध दोषों के कारण पाये जाने वाले अधिमांस-विकार या मांसाङ्कुरों को कहते हैं[1] जो कर्ण, नासा आदि विविध अङ्गों में या त्वचा में उत्पन्न होते सामान्य अर्थ में अर्श का ग्रहण किया जाय तो उसको अंग्रेजी का 'पोलीपस' सकते हैं। परन्तु जब ये मांसाङ्कुर गुदा में उत्पन्न होते हैं, और गुदामार्ग का ध करके रोगी के प्राण को अरिवत्, हिंसा करते हैं तो एक विशिष्ट अर्थ के क होते हैं—और अंग्रेजी का 'हेमोरायड्स' अथवा 'पाइल्स' की समता करते इस अध्याय में साधारण और विशेष दोनों अर्थों का ग्रहण करके दोनों र की व्याधियों का निदान एवं चिकित्सा बतलायी जायगी। प्रथम विशेष अर्थ ग्रहण करके अर्श का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है।

अर्श (Piles) का हेतु और सम्प्राप्ति—'व्रणप्रश्नाध्यायोक्त प्रकोपक रणों से तथा विरुद्धाशन, अध्यशन, अतिस्त्रीसेवन, उत्कटुकासन (गुदा और के सहारे बैठना), घोड़े, बैल या ऊँट आदि की पीठ पर सवारी करना, विधारण, वेगोदीरण, प्रवाहण की जिनमें आवश्यकता हो ऐसे विकार-जैसे निरोध, मूत्राश्मरी, ष्ठीलावृद्धि आदि रोग अथवा यकृत् विकार, यकृद्दाल्युदर, दर, जीर्ण विबन्ध इत्यादि कारणों से अर्श उत्पन्न होते हैं। स्त्रियों में इनके तिरक्त, बहुप्रसव, सगर्भावस्था, गर्भाशय के अर्बुद, गर्भाशय भ्रंश आदि कारण बार्शोत्पत्ति में सहायक होते हैं।

र्शांसीति अधिमांसविकाराः। अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्तीत्यर्शं इति पृषोदरादि-त्रिरुक्तिमाहुः। गुदपार्ष्णिसमायोगः प्राहुरुत्कटुकासनम्।

समासतस्तु द्विविधान्यर्शांसि सहजानि जन्मोत्तरकालजानि (अ. सं.) षडर्शांसि भवन्ति। कसाविभेदाच्च।

तश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदुः। प्रस्रावीणि तथार्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च॥

रिवत् प्राणिनो मांसकीलका विशसन्ति यत्। अर्शांसि तस्मादुच्यते गुदमार्गनिरोधतः॥

दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्।
मासङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगु॥ (अ. हृ. नि. ७)

'इन कुपथ्यों से कुपित हुए अनात्मवान् (जिनको अपने शरीर न रहते हुए केवल अपनी इन्द्रियों की लोलुपता का ही ध्यान रहता है के दोष पृथक् पृथक् , दो-दो, तीनों अथवा रक्तसहित चारों मिलाकर से फैलते हुए प्रधान धमनियों में प्रवेश करके नीचे की ओर गुदस्थान होते हैं, गुदा की त्रिवलि को दूषित करके मांस-प्ररोह (मस्से) उत्पन्न इन मांस-प्ररोहों की उत्पत्ति मन्द अग्नि वाले पुरुषों में अधिक हुआ करती

आधुनिक ग्रंथों में भी यही सम्प्राप्ति मिलती है। अर्श मलाशय की विकृति माने गये हैं। आंत्र की शिरायें चौड़ाई में होती हैं, परंतु की शिरायें लम्बाई की ओर होती हैं। इसके अतिरिक्त उनमें कपाट तथा उनके चारों ओर कोई मजबूत आधार भी नहीं होता। अतः मल पहले और पीछे प्रवाहण करते समय उपर्युक्त कारणों से उनमें रक्त करता है और शिराओं के नीचे वाले भाग कुछ फूल जाते हैं। क्रम चिरकाल तक चलता रहे तो शिरायें अधिक फूल कर मस्से ले लेती हैं।

'ये अङ्कुर बहुत छोटे होते हैं, परन्तु तृण, काष्ठ, पत्थर, ढेला, वस्त्र के रगड़ से अथवा ठण्डे जल, शीत या आर्द्र धूमि आदि के संस्पर्श परिवृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं और बड़े होकर कष्ट देने लगते हैं। चार्य अर्श (अथवा बवासीर) कहते हैं।

अर्श स्थान या गुद की रचना—शरीर में स्थूलांत्र के अन्तिम मिला हुआ साढ़े चार अंगुल प्रमाण की गुदा है। अर्थात् रोमान्त से अंगुल लम्बाई का महास्रोत का अन्तिम भाग। प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि गुदौष्ठ (Anus), गुदनलिका (Anal canal) और मलाशय का इञ्च भर का हिस्सा समाविष्ट होता है। उसमें डेढ़-डेढ़ अङ्गुल के अन्तर

---

१. तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्रीप्रसङ्गोत्कटुकासनपृष्ठया रणादिभिर्विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता प्रसृताः प्रधानधमनीमनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य गुदवलीं मांसप्ररोहान् विशेषतो मन्दाग्नेः, तथा तृणकाष्ठोपललोष्टवस्त्रादिभिः शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दा मासादयन्ति तान्यर्शांसीत्याचक्षते। (सु. नि. २)

प्रवाहिणी, विसर्जनी और संवरणी नाम की तीन वलियां (झुर्रियां Trans- efolds called Huston's valve) हैं।

इनमें संवरणी अधस्तन भाग में अवस्थित है। गुदौष्ठ से यदि चला जाय तो वलि यहीं मिलेगी, इसका विस्तार गुदौष्ठ से एक अङ्गुल ऊपर को है। से दूसरी अर्थात् संवरणी से विसर्जनी (Sphinctre ani) डेढ़ अङ्गुल विसर्जनी से प्रवाहणी डेढ़ अङ्गुल की है। इस प्रकार वलियों का स्थान लम्बाई में चार अंगुल का होता है। इस चार अङ्गुल के स्थान में अर्श होते हैं। इसलिये अर्शोयन्त्र की लम्बाई सर्वदा चार अङ्गुल की बतलाई है। परिणाह में अंतर जरूर होता है—स्त्री का छः अङ्गुल परिधि का और में पांच अङ्गुल की परिधि का होता है।

सब वलियां मिलकर आयतन यानी लम्बाई में चार अङ्गुल दीर्घ, तिरछी, अंगुल उभरी हुई और शंखावर्त्त के सदृश एक के ऊपर एक होती हैं। वर्ण में हाथी के तालु के समान होती हैं। गुदसमीपवर्त्ती बालों के रों से गुदौष्ठ डेढ़ यव के अन्तर पर होता है। गुदौष्ठ से एक अंगुल के अंतर प्रथमा वलि संवरणी होती है।[1]

इस चार अंगुल के स्थान में जो शिरायें होती हैं, वेही रचना-विशेषता के विकृत हो जाती हैं और अर्श उत्पन्न होता है।

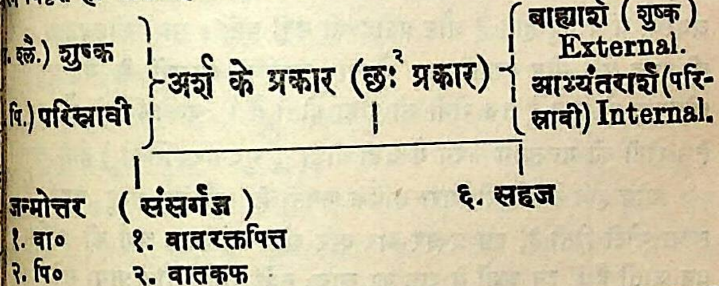
बाह्यार्श (शुष्क) External.
आभ्यंतरार्श (परिस्रावी) Internal.
. श्लै.) शुष्क
पि.) परिस्रावी
अर्श के प्रकार (छः[2] प्रकार)
जन्मोत्तर
(संसर्गज)
६. सहज
१. वा०
२. पि०
१. वातरक्तपित्त
२. वातकफ

---

[1] गुदः स्थूलान्त्रसंश्रयः।
अर्धपञ्चाङ्गुलस्तस्मिंस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलाः स्थिताः॥
वल्यः प्रवाहिणी तासामन्तर्मध्यविसर्जिनी। बाह्या संवरणी तस्या गुदौष्ठो बहिरङ्गुले॥
यवाध्यर्धप्रमाणेन रोमाण्यत्र ततः परम्। (अ० हृ० नि० ७०)

[2] अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा दोषद्वयस्य च।

जन्मोत्तर	संसर्गज
३. क०	३. पित्तकफ
४. शो०	४. वातरक्त
५. स०	५. पित्तरक्त
	६. कफरक्त

पूर्वरूप—अन्न खाने में श्रद्धा न होना, कष्ट से अन्न का खट्टी डकारें आना, जलन, पेट अफरना, प्यास, टांगों में थकावट, पे गुडाहट होना, शरीर का कृश होना, उद्गारों का बहुत आना, आंखों आंत्रकूजन (गुड़गुड़ाहट), गुदा में कतरने की सी पीड़ा होना, रोग, ग्रहणी और उदर रोग की शंका होना; कास, श्वास, तन्द्रा, निद्रानाश और इन्द्रियों की दुर्बलता इत्यादि लक्षण अर्श के होते हैं।

रूप—अर्श उत्पन्न हो जाने पर यही लक्षण और अधिक व्यक्त हैं। व्यवहार की दृष्टि से अर्श में दो ही प्रकार के रूप या लक्षण मि

१. शुष्कार्श—ये अर्श गुदौष्ठ के चारों ओर पहिये के आरे की हैं। प्रत्येक अंकुर के मध्य में एक सिरा होती है। उसके चारों ओ तन्तु होते हैं जो चारों ओर से त्वचा से ढके रहते हैं। सामान्यतया अवस्था में ये मृदु होते हैं और प्रतीत भी नहीं होते। जब कोष्ठबद्ध की रगड़ और सीड़ स्थानों पर बैठना इत्यादि कारणों से ये शोथयुक्त हो जाते हैं तब रोगी को पीड़ा होती है। चलने-फिरने में है। रोगी को मलत्याग करने में बड़ी पीड़ा (गुदपरिकर्त्तिका) होने

शोथ होने से भीतरी शिरा अधिक फूलती है, सौत्रिक तन्तु बढ़ते त्वचा मोटी होती है, इस प्रकार बार-बार शोथ होकर अर्श की बन जाती हैं। इन अर्शों से रक्त का स्राव नहीं होता और प्रायः सूखे इसलिये इनको शुष्कार्श कहा गया है। इनमें वायु और कफ की मानी गई है। इनके मस्से बाहर से दिखाई पड़ते हैं या बाह्य वलि में

संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः ॥
पृथग् दोषैः समस्तैश्च शोणिताच्च सहजानि च।
अर्शांसि षट् प्रकाराणि विद्याद् गुदवलित्रये। (मा० नि०)

है इसलिये बाह्यार्श (Ext.) भी कहा गया है। इसी को देहाती बोली में बवासीर कहा जाता है।

२. परिस्रावी—ये गुदौष्ठ के भीतर होते हैं इसीलिये इनको अभ्यन्तरीय ternal) अर्श भी कहा गया है। इनके भीतर भी शिरायें होती हैं, से सौत्रिक धातु बनकर गांठदार रचना बनती है और सबसे ऊपर मक कला का आवरण होता है। प्रारम्भ में ये मृदु होते हैं, गुदा में अंगुलि से दब जाते हैं; परन्तु कुछ काष्ठ के पश्चात् रगड़ से या अनेक बार त होने से ये भी कड़े हो जाते हैं। शौच के समय दबाव पड़ने पर ये र की ओर निकल आते हैं। इन से श्लेष्मा और रक्त का अधिक स्राव है इसलिये इनको परिस्रावी अर्श या रक्तार्श (Bleeding piles) हते हैं।

दोष-निरपेक्ष अर्श में दो प्रकार के लक्षण प्रधानतया मिलते हैं उनको दो में बाँट सकते हैं—

स्थानिक— मलावरोध, विष्टंभ, आटोप, मन्दाग्नि, उद्गार, गुदपरिकर्तन, स्राव, वेदना प्रभृति लक्षण होते हैं।

सार्वदेहिक—रक्त का अधिक स्राव होने से या आंत में मल सड़ने के उत्पन्न हुए विष (Auto intoxications) के परिणाम या उपद्रव में वाले विकार जैसे कमजोरी, इन्द्रियदौर्बल्य, तन्द्रा अथवा पाण्डुरोग, श्वास, , बलहानि प्रभृति होने लगते हैं।[1]

दोषानुसार अर्श के उपर्युक्त सामान्य लक्षणों का ज्ञान—

वातार्श—सूखा हुआ, स्रावहीन, रक्त वर्ण या विवर्ण, रूक्ष, कदम्बपुष्प , वनकपास के फल सदृश, नाड़ी के पुष्प-मुकुल सदृश अथवा सूई के मुख होते हैं। इन से पीड़ित मनुष्य तीव्र पीड़ा के साथ मल-त्याग करता है, के 'कटि, पृष्ठ, पार्श्व, शिश्न, गुदा और नाभि-प्रदेशों में पीड़ा होती है। ों के कारण उसको गुल्म, ष्ठीला और प्लीहा वृद्धि भी होती है। उसको त्वचा,

---

[1] अर्श के कई स्थानिक उपद्रवों के वर्णन आधुनिक ग्रन्थों में मिलते हैं—
Proctitis, Inchio rectal Abscess, Analfissure
Prolapse & strangulation, Cancer etc.

नख, नेत्र, मुख और दांत काले पड़ जाते हैं। मूत्र और मल का रं
हो जाता है।

पित्तार्श—अग्र भाग में नीले, कृश, फैलने वाले, किंचित्
यकृत् के समान चमकीले, तोते की जिह्वा के आकार के, मध्य में
मुख के समान होते हैं। इनसे स्राव होता रहता है। इनसे पीड़ि
जलन और खून के साथ दस्त होते हैं; ज्वर, दाह, तृषा और मूर्
उत्पन्न होते हैं। उसकी त्वचा, नख, नेत्र, दांत, मुख, मूत्र, मल
जाते हैं।

श्लेष्मार्श—श्वेत, जड़ में मोटे, कठिन, गोल, चिकने, पाण्डु
कटहल के बीज या द्राक्षा के आकार के होते हैं—न वे फटते हैं न
ही स्राव होता है। इनमें कण्डू अधिक होती है। इनसे पीड़ित हुआ
युक्त, मांसधावन के समान अधिक राशि में मल का उत्सर्ग करता
कारण उसको शोथ, शीत ज्वर, अरुचि, बदहजमी, सिर में भारी
होता है। उसकी त्वचा, नख, नेत्र, दांत, मुख, मूत्र और मल
हो जाते हैं।

रक्तार्श—वट-प्ररोह, प्रवाल या गुंजा के समान और लक्षणों में
अर्श के समान होते हैं। जब कड़े मल से रगड़ जाते हैं तब जोर से
खूब उत्सर्ग करते हैं। रक्त के अधिक उत्सर्ग होने से शोणितातियोग
उत्पन्न होते हैं। प्रारंभ में इनसे अल्प रक्त का स्राव होता है—
अधिक होने लगता है। पाण्डु, हृद्दौर्बल्य-प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं।

सन्निपातज अर्श सर्व दोष के लक्षणों से युक्त होते हैं। यद्यपि
त्रिदोषज होते हैं क्योंकि 'कोई भी रोग एक दोष से उत्पन्न नहीं
अस्तु हठबल जीने प्रायः सभी अर्शों को त्रिदोषज माना है।

'अर्श में वायु के पाँचो भेद (प्राणोदानसमानव्यानापान
आत्मायें, पित्त और कफ, तथा तीनों गुदवलियाँ सभी प्रकुपित हो
अस्तु, अर्श का रोग कभी-कभी बिना तीनों दोषों के सन्निपात के
होता। उपर्युक्त जो दोषानुसार गणना की गई है—वह तर-तम
अर्थात् दोष-विशेष की कल्पना के अनुसार किया गया है।'

आधुनिक युग में पित्तार्श और रक्तार्श को अभ्यंतरीय अर्श या रक्तस्रावी
Bleeding piles) अर्श के भेद में और वातार्श तथा श्लेष्मार्श को बाह्य
External piles) के भीतर ग्रहण करेंगे। प्राचीनों ने एक विशेष प्रकार के
का वर्णन किया है जिसका प्रमाण या उल्लेख आधुनिक ग्रन्थों में नहीं मिलता
को सहजार्श (Congenital or Heriditary piles) कहते हैं, माता-
ा के बीज दोष के कारण उत्पन्न होते हैं, उनका भी वर्गीकरण और
कत्सा दोषों के लक्षणों के अनुसार करनी चाहिये। ये अर्श विशेषतः सूक्ष्म
भयंकर होने के कारण दुर्दर्शन, धूसर, दारुण और अंतर्मुख होते हैं। इससे
त मनुष्य कृश और अल्प भोजन करने वाला होता है, उसके अंगों पर
ाओं का जाल प्रकट रूप से दिखाई पड़ता है, उसके सन्तान कम होते हैं
वीर्य होता है; आवाज मंद होती है; क्रोधी होता है और मन्दाग्नि युक्त
ा है, नासा, सिर, नेत्र और कान के रोगों से पीड़ित होता है—सदा आंतों
गुड़गुड़ाहट, आटोप, हृदयोपलेप (भारीपन), अरुचि इत्यादि से व्याप्त
ता है।

सहजार्श के कुछ विशिष्ट लक्षण शिरा-संतति (Distended veins),
ा, सिर और कान के रोगों से पीड़ित होना आदि बतलाये गये हैं। पाश्चात्य
ों में कुलज प्रवृत्ति अर्श की नहीं बतलाई गई है। परन्तु इतना तो सत्य है कि
प्रकार की सिरा कुटिलता (Varicosity) अर्श में होती है उस प्रकार की
रा विकृति उत्पन्न होने के लिये परम्परा प्राप्त सिराओं की रचना और सिराओं
दीवाल की कमजोर आदि कारण हो सकते हैं। प्राचीनों ने शुक्र-शोणित
जन्य आदि बल-प्रवृत्त कुष्ठ और अर्श प्रभृति व्याधियों को माना है।[1]

साध्यासाध्यता १. स्थानानुसार—बाह्य और मध्य वलि में उत्पन्न अर्श साध्य
। सबसे भीतर की वलि में स्थित अर्श को असाध्य समझ कर चिकित्सा करे।

२. त्रिदोषजन्य परन्तु थोड़े लक्षणों से युक्त अर्श याप्य समझना चाहिये।
दोषजन्य दूसरी (मध्यम) वलि में स्थित हुए, एक साल के अधिक पुराने
ं कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं। त्रिदोषज और सहज अर्श असाध्य होते हैं।

---

[1] हस्ते पादे मुखे नाभ्यां मुखे वृषणयोस्तथा।
शोथो हृत्पार्श्वशूलञ्च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः॥
हृत्पार्श्वशूलं सम्मोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः। तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम्॥

३. जिन मनुष्यों की गुदा की सारी वलियाँ अर्शों से पीड़ित हैं नीचे की ओर अर्शों से अवरुद्ध हुई अपान वायु उलटी ऊपर की ओर और पश्चात् व्यान वायु से मिल कर मनुष्यों की ज्योति का नाश क जिससे रोगी हीनप्रतिभ हो जाता है।

४. हाथ, पैर, गुदा, नाभि, मुख और वृषण पर जिनके शोथ हों, पार्श्व में शूल होता हो तो अर्श असाध्य हो जाता है। हृदय की शूल, वमन, अंग में पीड़ा और ज्वर होने लगे, तृष्णा और गुदा का लक्षण होने लगे तो अर्श घातक होता है। ये लक्षण विषमयता होते हैं।[1]

अन्य अंगों के अर्श—

१. **लिङ्गार्श**—प्रक्षुभित हुए दोष शिश्न में प्राप्त होकर मांस को दूषित करके खाज पैदा करते हैं। जब खुजलाने से घाव हो जाता है शिश्नमणि पर या यदि घाव शिश्न चर्म पर हो तो शिश्नचर्म पर बाल के समान कड़े मांसाङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। इनसे लसदार र बहने लगता है। ये शिश्न का नाश करते और पुंस्त्व का उपघात कर

२. **योन्यर्श**—स्त्रियों की योनि में प्राप्त हुए वातादि प्रकुपित और शोणित को दूषित करके कोमल दुर्गन्धयुक्त लसदार रक्तयुक्त स्राव छत्र के समान के अङ्कुर उत्पन्न करते हैं; वे योनि को खराब कर आर्त नाश कर देते हैं।

उपर्युक्त रोगों में आधुनिक परिभाषा के अनुसार पेपीलोमा (Pap वार्ट (Wart) कण्डाइलोमा (Condyloma) ग्रेनुलोमा (Gran पोलीपस (Polypus) आदि विकारों का समावेश है।

३. **नाभ्यर्श**—नाभि में प्राप्त हुए दोष से कोमल, दुर्गन्धयुक्त, लस के मुख के समान अङ्कुर उत्पन्न करते हैं। वे ही दोष ऊपर आकर नि रोगों को पैदा करते हैं।

---

[1] सहजानि दुष्टशोणितशुक्रनिमित्तानि, तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्त्तं तानि दुर्दर्शनानि परुषाणि पांसूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् गात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निप्राणः परमलसश्च तथा घ्रा साक्षिरोरोगी, सततमन्त्रकूजनाटोपहृदयोपलेरोचकप्रभृतिभिः पीड्यते। (सु. नि.

४. कर्णार्श (Ear polypus)—कान में बाधिर्य, शूल और दुर्गन्ध होती है।

५ नेत्रार्श (Eye polypus)—वर्त्म की गति में रुकावट, पीड़ा, का स्राव होना, दृष्टि का न्यूनाधिक नाश होता है।

६. नासार्श (Nasal polypus)—प्रतिश्याय, अत्यधिक क्षवथु (छीकों ाना), श्वासकृच्छ्र (कठिनाई से सांस लेना), नासा में दुर्गन्ध, अनुनासिक ज और शिरःशूल उत्पन्न होता है।

७. मुखार्श (Oral polypus or Adenoids)—कण्ठ, होठ, तालु से किसी एक पर होने से शब्दोच्चारण में रुकावट, रसज्ञान का नाश और मुखरोग उत्पन्न होते हैं।

८. व्यानार्श या चर्मकील (Warts)—प्रक्षुभित हुई व्यान वायु के उत्पन्न होकर, बाह्य त्वचा पर स्थिर होकर जो जल्दी नहीं बढ़ते ऐसे कील न मस्से उत्पन्न होते हैं। ये चर्मकील अथवा त्वगर्श कहलाते हैं।

लक्षण—उन चर्मकीलों में वात दोष से पीड़ा उत्पन्न होती है, कफाधिक्य से सवर्णत्व या समानवर्णत्व और ग्रंथित्व (गाठदार रचना) होती है। और रक्तदोष यदि प्रबल हो तो उन चर्मकीलों में कालापन या लाली होती फाधिक्य होने से स्निग्धता और वातातिरेक होने से खरत्व (परुषता) जाता है।[1]

भेषज—चरक ने ओषधि के योग से अर्श की चिकित्सा करने को सर्वोत्तम न माना है तथा उसकी अधिकार-पूर्ण प्रशंसा की है। कायचिकित्सा के म समर्थक होने के कारण उन्होंने अपने साधन को सुखोपाय और अदारुण और समूल निवृत्ति का साधन बतलाया है—प्रत्युत दूसरों की चिकित्सा-द्धति जिसमें शस्त्र क्षार अथवा अग्नि के द्वारा साधनोपाय बतलाया है उनकी टकी ली है।[2]

---

[1] वातेन तोदपारुष्य पित्तादसितरक्तता। श्लेष्मणा स्निग्धता तस्य ग्रथितत्वं सवर्णता॥

[2] तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम्। दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना॥
अस्त्येतद् भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा। क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुणम्॥
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः। आध्मानं दारुणं शूलं व्यथा रक्तातिवर्त्तनम्॥

'कुछ लोगों का कहना है कि अर्श के मस्सों को शस्त्र से काट चाहिये, दूसरे क्षार के द्वारा जलाने की सलाह देते हैं और दूसरों द्वारा दाह करने का विधान बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं कि ये स आचार्यों के हैं तथा तन्त्र-सम्मत हैं—साथ ही कर्म करनेवाले वैद्य औ और दृष्टकर्मा या प्रत्यक्षाभ्यासी होते हैं—और तीनों प्रकार की क्रि के प्रतिकार रूप में प्रचलित हैं। परन्तु निजी अनुभव में इन क्रियाओं कई प्रकार के उपद्रव होते देखे गये हैं जैसे—दारुण गुदभ्रंश (Pro पुंस्त्वोपघात (Impotency), गुदशोथ (Proctitis), वेगोर मूत्र के), आध्मान, दारुण शूल, व्यथा, रक्तातिस्राव (Haemor अर्श की पुनरुत्पत्ति (Relapse), गुदा का क्लेद (क्लिन्न रह शस्त्र, क्षार और अग्निकर्म करते हुए कहीं असावधानी हो शीघ्र मृत्यु तक हो जाती। इसलिये जो कर्म सुविधापूर्वक किया जा दारुण न हो पावे, जिनमें भ्रंश की सम्भावना ही न रहे या अल्प रहे के कर्मों का उल्लेख हम करेंगे जिनसे अर्श जड़ के साथ नष्ट हो जावें।

चिकित्सा—

चार प्रकार के साधनोपाय बतलाये गये हैं—

भेषज	क्षार	अग्नि	श
(अचिर कालजात अल्पदोष लिङ्ग उपद्रवों से युक्त)	(मृदु प्रसृतावगाढ) उच्छ्रित	(कर्कश स्थिर) पृथु कठिन	(तनु
(भेषज साध्य और अदृश्य अर्शों में)	(वातश्लेष्मज अथवा रक्तपित्तज	(वातश्लेष्मज)	(सर्व दोषज

पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च। मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्नि
यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम्। तदर्शसां प्रवक्ष्यामि समूलानां निवृत्तये।
(सु०

चिकित्सा में कई प्रकार के स्थानिक लेप, धूपन, अनुवासन वस्ति आदि म और अन्य भी अभ्यन्तरीय प्रयोगों का वर्णन किया है। सुश्रुत के र कुछ योगों का नीचे संग्रह किया जायगा।

ानिक आलेप—

१. स्नुही-क्षीर से युक्त हरिद्रा चूर्ण का लेप।

२. कुक्कुट पुरीष, गुञ्जा, हरिद्रा पिप्पली चूर्ण—गोपित्त या गोमूत्र-पिष्ट लेप"।

३. दन्ती, चित्रक, सुवर्चिका, लाङ्गली के कल्क का गोपित्त के साथ पीस कर लेप।

४. पिप्पली, सैन्धव, कुष्ठ, शिरीषफल का स्नुही अथवा अर्कक्षीर में कल्क बनाकर लेप।

५. कासीस, सैन्धव, हरिताल, अश्वमार, विडङ्ग, पूतीक, कृतवेधन, जम्बु, उत्तमारणी, दन्ती, चित्रक, अलर्कप्रभृति द्रव्यों का स्नुहीक्षीर के साथ का पाक करके अभ्यङ्ग करने से अर्श के मस्से कटकर गिर जाते हैं।

अभ्यन्तरीय प्रयोग—१. प्रातः प्रातः गुड और हर्रें का सेवन २. ब्रह्म-ुर्वक रहकर एक द्रोण गोमूत्र में सौ फल हरीतकी का लेकर स्वेदन करके ःप्रातः मधु के साथ सेवन ३ अपामार्ग मूल चावल के धोवन के साथ र प्रत्यह सेवन। (रक्तार्श में शतशोऽनुभूत) ४. दूध के साथ शतावरीमूल कल्क पीना ६. चित्रक का चूर्ण सीधु के साथ श्रेष्ठ है ७. मट्ठा के साथ ातक चूर्ण ८. मट्ठा के साथ सत्तू का घोल ९. जिस वर्त्तन में क के कल्क का लेप किया गया हो और उसमें दही जमाकर खट्टा मीठा मट्ठा बनाकर पीना और भोजन में व्यवहृत करना चाहिये। . इसीप्रकार का तक्र बर्त्तन में भारङ्गी, आस्फोता, यवानिका, आमलकी, गुडूची कल्क का लेप करके। ११. पिप्पली. पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, बिडङ्ग, शुंठी, तकी चूर्ण के योग से बने तक्र का निरन्न होकर एक मास तक सेवन करना। . शृङ्गवेर (अदरक), पुनर्नवा, चित्रक के काढ़े से सिद्ध दूध का सेवन। १३. जमूल-त्वक् छः पल और सौ पल मधु मिलाकर सेवन। १४. इसी प्रकार १ नं०) पिप्पल्यादि चूर्ण छः पल और सौ पल मधु एकत्र मिला कर लेप ना। १५. वातव्याधि-चिकित्सा में कथित हिंग्वादि चूर्ण का सेवन करना

तथा तक्र का सेवन करना चाहिये अथवा केवल क्षीराहार पर रहे लवणों पर रहे। १६. चित्रक मूल और क्षारोदक से सिद्ध यव का १७. चित्रकमूल और क्षारोदक से सिद्ध दूध का सेवन करना। १७. से सिद्ध किये हुए यव के भात की सेवन (कुल्माष)। १८. पाटला, बृहती और पलाश-क्षार का सेवन–विधि यह है कि–क्षार की मात्रा अर्ध पल या एक पल होवे, उसमें क्वाथ की विधि से षोडश गुण या जल देखकर खौलावे जब अर्धावशिष्ट जल बाकी रहे तो उसमें एक में घी डालकर सेवन करना–चाहिये। जब घृत जीर्ण हो जाय तो मधुर रस का सेवन करना–क्योंकि क्षार की अधिक मात्रा से भय रहता है। १९. कुटज और बन्दाकमूल का कल्क तक्र के चाहिये। २०. चित्रक, पूतीक, नागर (शुण्ठी) का कल्क पूतीक सेवन करना। २१. पूतीकादि क्षारोदक की एक आढक की मात्रा पाटलादि क्षार की एक आढक की मात्रा लेकर एक प्रस्थ घी पश्चात् पिप्पल्यादि चूर्ण (११) का घृत की चौथाई मात्रा में घृत को पी जाना चाहिये। इसके सेवन के बाद भी भोजन घृत, मधुर रस से युक्त होना चाहिये क्योंकि क्षार खर और तीक्ष्ण स्वभाव है। २२. काले तिल का एक प्रसृत या प्रकुञ्च मात्र प्रतिदिन प्रातः जल के साथ सेवन करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रयोगों के द्वारा अग्नि बढ़ती है–और 'कारण के नाश से नाश' सिद्धान्त के अनुसार अर्श के मस्से शान्त हो जाते हैं।

द्विपञ्चमूल्यरिष्ट–अथवा (तन्त्रान्तरों में दन्त्यरिष्ट)–

द्विपञ्चमूली, दन्ती, चित्रक और हरीतकी का समभाग में पल। चार द्रोण जल में पाक करे। चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ को लेकर जाने पर एक तुला गुड मिलाकर पुराने घृत के बर्तन में रखकर गाड़ दे। (अधिवासनार्थं इसमें धातकीपुष्प भी दो या तीन पल डालना चाहिये। एक मास के बाद सन्धान खोलकर प्रातः २ सेवन ग्रहणी, पाण्डु, उदावर्त्त, अरुचि दूर होती और अग्नि दीप्त होती है।

पिप्पल्यरिष्ट—पिप्पली, मरिच, विडङ्ग, एलवालुक और लोध्र

क का दो पल, इन्द्रवारुणी पांच पल, कपित्थ-मज्जा दस, पल हर्रे का ा आधा प्रस्थ, आँवले का छिल्का एक प्रस्थ—इनको एकत्र करके-चार जल में पकावे, चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनावे फिर उसको छान कर ठण्डा के पश्चात्—गुड को दो तुला की मात्रा में मिला कर रखे। घृतलिप्त पात्र लकर जौ की राशि में सन्धान करे। एक पक्ष के बाद निकाले। पश्चात् के अनुसार प्रातः प्रातः सेवन करे। यह अरिष्ट प्लीहा, अग्निमान्द्य, अर्श, ी, हृद्रोग, पाण्डुरोग, शोफ, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग, कृम्युदर प्रभृति रोगों तकर होता है। इससे बल, वर्ण भी बढ़ता है।

सामान्यतया वाताधिक्य युक्त अर्श में वमन, विरेचन, स्थापन और अनुवा- का निषेध नहीं है, पित्तप्राय में विरेचन तथा रक्तज में संशमन, कफजों द्रंक और कुलत्थ का उपयोग तथा सर्वदोषज अर्शों में सर्वदोषहर दोषघ्न) द्रव्यों का उपयोग या त्रिदोषघ्न द्रव्यों से सिद्ध क्षीर का प्रयोग ा चाहिये।

भल्लातक-विधान—'अनुपहत वीर्य पक्व भल्लातक का संग्रह करे, उसमें लेकर उसके दो तीन या चार टुकड़े-करके कषाय बनाने की विधि से य से अष्टगुण जल डाल अष्टमांशावशिष्ट करना) पकावे। फिर इस कषाय क शुक्ति की मात्रा में ले ले—जब वह बिल्कुल ठण्डा हो जाय तो रोगी के , जिह्वा, और ओष्ठ में घृत चुपड़ कर प्रतिदिन (ताजा बनाकर) प्रातःकाल वे, अपराह्न में रोगी के लिये घृत, दूध और चावल का भात खाने को दे। दिन एक-एक भल्लातक की मात्रा बढ़ाता चले जब तक पांच की संख्या न जावे (फलतः क्वाथ-जल और अवशिष्ट क्वाथ की भी मात्रा बढ़ती चलेगी)। पांच भल्लातकों की मात्रा पच जावे तो क्रमशः प्रतिदिन पांच बढ़ाना करे—जब सत्तर भल्लातक की मात्रा पहुंच जाय तो कल्प की मात्रा का वर्धन समाप्त कर प्रत्युत अपचय (घटाना) शुरू करना चाहिये। प्रति दिन -पांच कम करते हुए पांच भल्लातकों की मात्रा पर आना चाहिये—उसके र एक एक घटाते हुए एक पर आकर के प्रयोग को स्थगित करना चाहिये। विधान के अनुसार कुल एक हजार की खुराक भिलावे का सेवन करने से ी प्रकार के कुष्ठ और अर्श से रोगी विमुक्त हो जाता है एवं मनुष्य नीरोग र बलवान् होकर सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है।'

इस प्रयोग के सम्बन्ध में तन्त्रान्तरों से कई अन्य महत्वपू
श्यक हैं। जैसे—१. ग्रीष्मकाल में भल्लातक पूर्ण रस वीर्य होते हैं
उनका ग्रहण करे। २. उष्णवीर्य होने के कारण उनका उपयोग
प्रयोग के लिये हेमन्त ऋतु में ही करना चाहिये—ग्रीष्म ऋतु में फलों
जौ की राशि में रखे और चार मास के पश्चात् निकालकर
३. भल्लातक से टीकाकार भल्लातकास्थि का ग्रहण करते हैं
४. सहस्र भल्लातक कल्प कुल पेंतीस दिनों में समाप्त होता है।
कल्प तीन प्रकार के होते हैं—(क) बल-कालानुसार क्रमशः
संख्या तक पहुँचाना यह श्रेष्ठ है। (ख) क्रमशः सत्तर की संख्या
(सुश्रुतोक्त) मध्यम माना गया है। (ग) क्रमशः बढ़ाकर केवल
तक पहुँचाना हीन प्रयोग बतलाया गया है। ६ उपर्युक्त विधि
दो सहस्र तक की संख्या पहुँच जाती है। ७. जैसे भल्लातकों की
जाती है क्वाथ्य जल की भी मात्रा बढ़ती है तथा अवशिष्ट जल
त्सक को अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पना कर लेनी चाहिये।

भल्लातक के कुछ अन्य प्रयोग—१. पाताल यन्त्र से भल्लातक
निकाल कर एक शुक्ति की मात्रा में प्रातःकाल सेवन करना चाहिये
घृताभ्यक्त तालु, जिह्वा पूर्ववत् होना चाहिये। अमृतभल्लातक,
आदि योगों का भी उपयोग अर्श में लाभ प्रद रहता है।

२. भल्लातक की मज्जा से पीडन के द्वारा तेल निकालकर भी
जा सकता है। उसका विधान है कि जब रोगी का दोष अपहरण
तब तेल में अष्टमांश मधु और तैल से द्विगुण घृत डालकर जब तेल
यवाग्वादि भोजन में मिलाकर पिला दे। इस तेल को पीते वक्त भी
और जिह्वा घृत से लिप्त होना चाहिये। बल और काल के अनुसार
मात्रा या एक प्रकुंच या एक प्रसृति होनी चाहिये (एक पल या दो
चाहिये। घृत के जीर्ण हो जाने पर दूध, घृत और चावल का भात
लिये देना चाहिये। यह क्रम घृत पिलाने के प्रति नवें दिन करना
प्रकार एक मास तक उपयोग करके तीन मास तक रोगी को
रहना चाहिये। क्रोधादि उत्तेजक मानोभावों का परिहार करना
प्रयोग नौवें दिन न करके प्रतिमास (महीने में एक बार) भी किया
यदि दस महीने सविधि कल्प का सेवन मनुष्य करता रहे तो आयु

क की हो सकती है । पूर्व के प्रयोग के द्वारा (प्रति नवें दिन स्नेह का एक मास तक) करने से भी एक सौ वर्ष तक आयु की वृद्धि हो जाती है। प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं, मनुष्य बलवान् , वर्णवान् , सुनने-समझने वद्या को उपस्थित रखने की मेधा से सम्पन्न होकर शतायु बनता है।

जिस प्रकार खदिर और तुवरक सर्व प्रकार के कुष्ठ को नष्ट कर देते हैं भल्लातक (वायु—श्लेष्मज) और कुटज (रक्त-पित्तज) सभी प्रकार के ग का नाश करते हैं । साथ ही हरिद्रा का सामान्य प्रयोग जैसे साध्य (वातज चार मेहों को छोड़कर) प्रमेहों को बढ़ने नहीं देता अर्थात् नष्ट कर देता है वैसे ही क्षार और अग्नि दिखलाई पड़ने वाले गुदजाओं ल निवृत्त कर देता है ।[1]

पर लिखे गये योगों के अतिरिक्त अन्य भी विविध प्रकार के दीपनीय लेह, लौह के यौगिक (नवायस लौह), आसव और अरिष्टों का प्रयोग सार किया जाता है ।

अपथ्य—वेग-विधारण, स्त्री-सङ्ग, अश्वादि की सवारी, गुदा और पार्ष्णि कर बैठना (उत्कटुकासन), दोषोत्पादक अन्न आदि का परिवर्जन चाहिये ।[2]

स्त्र, क्षार और अग्नि चिकित्सा—क्षारादिकर्म बड़े तीक्ष्ण होते हैं ये बहुत सावधानी के साथ गुदा—प्रदेश में प्रयोग करना चाहिये । असाव- के कारण यदि अर्श के अरिरिक्त स्थलों पर पातन (विभ्रम या दुर्योग) होने ण्डय, शोफ, दाह, मद, मूर्च्छा, आटोप, आनाह, अतिसार तथा प्रवाहिका दि उपद्रव हो जाते हैं; मृत्यु तक भी हो सकती है ।

---

[1] यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ ।
तथैवार्शांसि सर्वाणि वृक्षकारुष्करौ हतः ॥
साध्या नाप्यतिवर्त्तन्ते प्रमेहा रजनीं यथा ।
क्षाराग्निं नातिवर्त्तन्ते तथा दृश्या गुदोद्भवाः ॥
घृतानि दीपनीयानि लेहायस्कृतयः सुराः ।
आसवांश्च प्रयोक्तव्या वीक्ष्य दोषसमुच्छ्रितिम् ॥ (सु॰ चि॰ ६)

[2] वेगावरोधस्त्रीपृष्ठयानान्युत्कटुकासनम् ।
यथास्वं दोषलं चान्नमर्शःसु परिवर्जयेत् ॥ (सु. चि. ६)

इन तीनों कर्मों में पूर्वकर्म और पश्चात् कर्म सदृश होते हैं,
में अन्तर पाया जाता है । अस्तु, एक ही प्रकार के वर्णन से
कर्मों को समझ लेना चाहिये ।

पूर्वकर्म—रोगी को बलवान् होना चाहिये अर्थात् अत्यन्त
होकर सत्त्वभूयिष्ठ होना चाहिये । फिर ऐसे अर्श से पीडित रोगी का
स्वेदन कर लेना चाहिये । इस क्रिया के द्वारा रोगी की वातिक
होती हैं, रोगी स्वस्थचित्त हो कर्म करते समय होने वाली पीड़ा
लेता है । सामान्यतया मुख और गुदा के रोगियों में बिना
किया जाता है; परन्तु अर्श की चिकित्सा करनी हो तो रोगी को
और ऊष्ण किंचिन्मात्रा में अन्न-सेवन करा लेना चाहिये, जिससे रोगी
मूर्च्छादि उपद्रव न होने पायें ।

शस्त्रकर्म समान आस्तीर्ण शय्या पर या ऊँचे फलक (Table
कर करे । ऋतु आत्ययिक न हो, सामान्यतया जब आकाश स्वच्छ
से हीन हो (शरद्, हेमन्त और वसन्त ऋतुओं में), कर्म करने
(गृह, गुदा स्थान, शस्त्र, रुई) शुचि युक्त (Sterilized) होना

रोगी को फलक पर इस प्रकार लेटावे कि उसकी गुदा सूर्य
अर्थात् जिधर से प्रकाश पूर्णतया मिल सके । रोगी एक परिचारक
रहे अर्थात् उसके सिर और पीठ का भाग परिचारक की गोद में
आगे का भाग सामने रहना चाहिये अर्थात् चित लेटना चाहिये (
उसकी कटि को किंचित् उन्नत रखने के लिये कमर के नीचे कपड़े या
गद्दी बनाकर रख देना चाहिये । ग्रीवा से लेकर पैरों तक यंत्र
देना चाहिये । साथ ही रोगी के शरीर को स्थिर करने के लिये और
स्पंदनहीन करने के लिये अन्यान्य परिचारकों को रोगी को
पकड़ कर रखना चाहिये । (Lihotomy position)

पश्चात् अर्शोयंत्र (Rectoscope) अणुमुख करके
रोगी की गुदा में प्रविष्ट करे । रोगी को प्रवाहण करते रहना चाहिये
खोल कर लम्बी लम्बी सांस लेते रहना चाहिये । जब अर्शोयन्त्र का
हो जाय तो वहां पर अर्श की स्थिति का ठीक प्रकार से ज्ञान करे

त्र का प्रवेश करने के पूर्व घृताभ्यक्त (स्निग्ध) होना आवश्यक है, इससे में सरलता आती है।

प्रधानकर्म—यदि अर्श के अनेक मस्से हों तो पहले दाहिने वाले पर क्रिया जब दाहिने वाला व्रण रूढ हो जाय तो बायें तरफ के पार्श्व पर, पश्चात् का (पृष्ठज) और सबसे बाद में आगे की तरफ का कर्म करना चाहिये। न्यतया एक सप्ताह का अन्तर देकर कर्म करने का नियम है।

तरीका यह है कि अर्शोयन्त्र के छिद्र के द्वारा अर्श को ठीक से देख कर उसी के ऊपर क्षार को डालना चाहिये। अर्श के ऊपर पातन करने वाले को रुई और कपड़े के (पिचुवस्त्रयोरन्तरेण) सहारे डालना चाहिये।[1] अर्श को ा के द्वारा ऊपर उठा लेना चाहिये। क्षार की मात्रा के सम्बन्ध में यह रखना चाहिये कि तीन प्रकार की मात्रायें होती हैं—(१) आद्या मात्रा सेध प्रमाण (२) मध्या मात्रा द्विगुण और (३) महती त्रिगुण होती है। यदि पैत्तिक अर्श हो तो पहली (छोटी) मात्रा, श्लैष्मिक हो तो मध्या यदि वातिक अर्श हो तो महती मात्रा का उपयोग करना चाहिये।[2] पातन के पूर्व अर्श के मस्से के ऊपर किंचित् लेखन कर लेना चाहिये। क्षार के पातन हो जाने के बाद 'वाक्शतमात्र' सौ तक गिनती गिनने पर्यन्त ा सौ अक्षिनिमेष तक यंत्र का मुख बन्द करके प्रतीक्षा करनी चाहिये। फिर को कपड़े या रूई से पोंछ ले। फिर क्षार को व्याधि के विचार से पुनः आव-ता जान पड़े तो इसी विधि से और भी पातन किया जा सकता है।

जब अर्श सामान्यतया पक्व जामुन के सदृश वर्ण, मुरझाया हुआ (अवसन्न) तनिक नीचे को झुका हुआ (ईषन्नमित) हो जाय तो सम्यग्दग्ध जानकर को बंद करना चाहिये। पुनः क्षारलिप्त स्थल को धान्याम्ल, दधि, मस्तु, या अन्य किसी फलाम्ल (Vegetable acid) के द्वारा प्रक्षालन करना

र का पातन कई पदार्थों के जरिये होता है—दर्वी (चम्मच), कूर्चक (Brush), लाका (Rod or metal Probe) में से अन्यतम पदार्थ के द्वारा करे। यदि रोगी गुदभ्रंश हो तो बिना यंत्र की सहायता लिये ही सीधे क्षार का लेप किया जा सकता है।

ारमात्रा नखोत्सेधप्रमाणाऽऽद्या प्रकीर्त्तिता। द्विगुणा मध्यमा मात्रा त्रिगुणा महती मता।
पित्ते श्लेष्मणि वाते वा यथासंख्यं प्रयोजयेत् ॥ (सु० चि० ६)

चाहिये। पश्चात् मुलेठी के चूर्ण और घृत के द्वारा स्थान पर लेप इसके बाद रोगी के यंत्रण को दूर करे। अर्शोयंत्र को बाहर निकाले

पश्चात् कर्म—रोगी को गर्म जल के ऊपर उठाकर बैठाना ठंडे या गर्म जल से छींटे देकर शरीर को पोंछ लेना चाहिये। पुनः ले जाकर रखें और आहार-विहार के संबन्ध में उपदेश करना चाहि

शालि, षष्टिक, यव, गोधूम के बने भोजन, घृत से स्निग्ध करके साथ ही साथ निम्बयूष, पटोलयूष तथा दोषानुसार वास्तुक, तण्डुलीय अश्वबला, छोटी मूली, पालकी, असन, चिल्ली, चुच्चु, कलाय प्रभृति कारी शाक देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त अन्यान्य जो स्निग्ध, अग्निदीपक, अर्शोघ्न मूत्र को साफ करने वाले-अन्न, फल या शाक हों, उनका सेवन करना

क्षार या अग्नि से दग्ध हुए अर्श के रोगियों में अग्नि को प्रज्व लिये, वायु के कोप से बचाने के लिये स्नेह के सामान्य और विशे करना चाहिये। ऐसे घृत जो वातघ्न ओषधियों से सिद्ध हों, हिंग्वा जिनमें प्रक्षेप पड़ा हो, सेवन करना चाहिये। पैत्तिक अर्शों में पर्ण्यादि द्रव्यों से सिद्ध और दीपनीय द्रव्यों के प्रतीवाप-युक्त हितकर होता है। शोणितार्शों में मंजिष्ठा और मधुशिग्रु आदि पदा घृत तथा सुरसादि द्रव्यों से सिद्ध घृत का श्लेष्मार्शों में उपयोग होना

इसी प्रकार का पश्चात्-कर्म सामान्यतया सभी प्रकार के अर्शों या अग्नि की क्रिया करने के बाद किया जाता है। प्रधान कर्म में थो है—वहाँ पर उपर्युक्त विधि का क्षार न डालकर साक्षात् अग्नि (cautery) के द्वारा दाह किया जाता है।

यदि रोगी प्राणवान् और मजबूत हो, उसके अर्श का शस्त्र के करके अग्नि कर्म के द्वारा मूल का दाह कर देना चाहिये। दाह दाहकर्मोक्त यंत्रों के द्वारा यंत्र को रक्त तप्त करके जला देना चाहिये यदि मस्से बाहर की ओर निकले हों और बहुत दोष पूर्ण हों तो यन्त्र को माध्यम बनाये भी दाह किया जा सकता है।

सम्यग् दग्ध के लक्षण—यदि अर्श पर क्षार या अग्नि की हो गई है तो वायु का अनुलोमन होता रहता है, अन्न में रुचि जगती

त होती है, लघुता का अनुभव होता है, बल और वर्ण की उत्पत्ति होती है रोगी का चित्त प्रसन्न हो जाता है।

दग्ध हुए अर्श का वर्ण सामान्यतया पक्व जामुन के सदृश हो जाता है परन्तु नुसार विशिष्ट लक्षणों को देखा जाय तो वातार्श का दग्ध होने पर वर्ण पक्व न या गम्भारी के फल सदृश, पित्तज का भृंग और मयूर के कंठ के वर्ण का कफार्श का बृहती के पुष्प-सदृश वर्ण का हो जाता है[1]।

अतिदग्ध में गुदावदारण (Anal fissures), दाह, मूर्छा, ज्वर पिपासा, तातिप्रवृत्ति तथा तन्निमित्त अन्यान्य उपद्रव होने लगते हैं।

हीनदग्ध होने पर मस्से का वर्ण साँवला, व्रण का छोटा होना, खाज डू), वातवैगुण्य, इन्द्रियों में प्रसन्नता का अभाव तथा विकार का नष्ट न ये लक्षण होते हैं।

इन उपद्रवों की चिकित्सा रोग और दोष के बलाबल के अनुसार करनी हिये; जैसे रक्तातिप्रवृत्ति होने पर रक्तपित्त के विधान से, भिन्नपुरीष होने पर सार के विधान से, कोष्ठबद्धता होने पर स्नेह-पानादि उदावर्त्त के विधान से कित्सा करनी चाहिये। अद्यतन शस्त्रकर्म विधि– आधुनिक युग में अर्श के कर्म के लिये चार प्रकार की विधियाँ प्रचलित हैं—१. सूचिकाभरण, ंधन, ३. छेदन, ४. सन्दंशन और दाह।

सबसे एक सामान्य और सरल विधि यह है कि रोगी को मेज पर संकुचित -कूर्पर आसन (सुश्रुतोक्त) 'लिथोटामी पोजीशन' (Lithotomy ition) में लेटा दिया जाता है। वाह्य गुदसंकोचनी पेशी का विस्फार, यंत्र सहायता से किया जाता है ताकि अर्श को भलीभाँति देखा जा सके कि कौन कर्म उसकी अवस्था के योग्य है। फिर अर्श के अग्र को एक सन्दंश orcep) से पकड़ लेते हैं—उसको नीचे और बाहर की ओर खींच लेते फिर इस अर्श की श्लैष्मिक कला में चीरा देकर अर्श के मूल को स्नायु Catgut) के द्वारा बाँध देते हैं। स्नायु के बंधन के ऊपर पड़े भाग को ष को) पीछे कैंची के द्वारा काट लेते हैं। यदि उचित प्रतीत हो तो

---

[1] पक्वं जाम्बवकाश्मर्यवर्णं दग्धेऽनिलार्शसि। पित्तजे भृंगमायूरकण्ठवर्णं विनिर्दिशेत्॥
बृहतीपुष्पवर्णत्वं सम्यग्दग्धे कफार्शसि॥

कटी हुई श्लैष्मिक कला को वहाँ पर सी देना चाहिये। इससे व्र
जाता है।

छेदन विधि में गुदा की परिधि में श्लेष्मकला और त्वचा के
ऊपर से एक गोलाई में भेदन (Incision) किया जाता है।
श्लैष्मिक कला को खींच लेते हैं साथ ही साथ यन्त्रों को सहायता से
अर्शाङ्कुर का क्षेत्र होता है निकाल दिया जाता है। जब तक अविकृ
अवशिष्ट रह जाता तब तक पूर्णरूप से उपश्लेष्मल (Submuco
की विकृति को दूर करते हैं और भी सिराविकृति या सिराकुटिलता
को दूर करके पश्चात् पहले की निकली हुई स्वथ्य श्लेष्मल कला के
दिया जाता है और उसी को गुदा के उपत्वक् (Periltal skin)
सीवन लगा कर दृढ़ कर देते हैं।

सन्दंशन और दहन करते हुए अर्श को पोडित करके उसके
भाग को काट कर साफ कर लेते हैं—पश्चात् अवशिष्ट अंश को मंद
(Dull red heat) के द्वारा जला देते हैं। (Actual caute

सूचिकाभरण विधि—मृदु आभ्यन्तरार्शों में यह क्रिया लाभ
है। इसमें कार्बोलिक एसिड का पाँच प्रतिशत का घोल लेकर उसमें
तैल मिलाकर एक योग बना लेते हैं और सूई (Injection) के
सी. सी. की मात्रा में लेकर अर्श में प्रविष्ट कर देते हैं। इसके ऐसे
सूचिकाभरण की सप्ताह अथवा पक्ष-पक्ष के अन्तर से आवश्यकता
इस विधि में सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि रोगी की चिकित्सा के
शय्या पर लेट कर रहने की आवश्यकता नहीं होती और अधिकतर
सन्तोषजनक लाभ पाया जाता है। कई बार क्विनीन और यूरिया का
इस कार्य में व्यवहृत होता है।

सूचिका-वेध के द्वारा अर्श की चिकित्सा का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में
शेष अन्य विधियाँ छेदन, क्षार और अग्नि के द्वारा दाह आदि
युग में भी प्रचलित रहे जिनका वर्णन ऊपर में देख चुके हैं।

* * *

एकोनविंश प्रकरण

भगंदरनिदानचिकित्सीयाध्याय

(Diagnosis & treatment of Fistula in ano)

व्याख्या—(Clasical Definition) १. जो रोग भग, गुदा और प्रदेश का दारण करते हैं, वे भगन्दर कहलाते हैं। वे ही जब तक अपक्व हैं पिडिक कहलाते हैं और जब पक कर फूट जाते हैं तो भगन्दर कहलाने हैं।[१]

२. गुदा के दो अंगुल के क्षेत्र में जो पिडिका होती है उसको अपक्वावस्था डिका की संज्ञा दी जाती है, जब वह पिडिका फूट के बह जाती है और बन जाती है तो भगन्दर हैं।[२]

३ चारों तरफ से भग, गुद या बस्ति के विदारण से उत्पन्न हुई नलिका-नाडीव्रण को भगन्दर कहते हैं—अथवा जिसमें भगवद्दारण हो उसको दर कहते हैं।[3]

नाडीव्रणों का वर्णन करते हुए प्रसंगवश भगन्दर शब्द की आधुनिक व्याख्या बतलाई जा चुकी है 'ऐसे नाडीव्रण जो किसी आशय से संबन्ध रखे या दो यों को मिलावे।' इस व्याख्या के अनुसार भगन्दर (Fistula) एक रण विकृति हो जायगी जिसमें गुद का विकार गुदन्दर, बस्ति का विकार न्दर और भग का विकार भगन्दर इन सब का समावेश हो जायगा। तु एक विशिष्ट अर्थ में भगन्दर इस संज्ञा की रूढ़ि हो गई है—जो केवल गुदा-न्धित नाडीव्रण (Fistula in ano) का ही द्योतक है। अन्य विकृतियों नाडी के भीतर ही समाविष्ट समझना चाहिये। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार विदार (Anal Fissure) नामक विकृति का भी भगन्दर संज्ञा के भीतर वेश हो सकता है; परन्तु चिकित्सा की दृष्टि से विचार किया जावे इसका अंतर्भाव अर्शरोग में ही होगा। गुद विदार में अर्शवत् चिकित्सा लाभप्रद ी है।

---

[१] ते तु भगगुदप्रदेशदारणाच्च भगन्दरा इत्युच्यन्ते।
अपक्वाः पिडिकाः पक्वास्तु भगन्दराः॥

[२] गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकार्तिकृत्। भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः।

[३] भगं परिसमन्ताच्च गुदं बस्तिं तथैव च। भगवद्दार्यते यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः॥

भगन्दर के हेतु और सम्प्राप्ति—अपथ्य सेवन करने वाले और सन्निवृत्त हुई वायु गुदा के चारों ओर स्थिर होकर एक या दो मांस और रक्त को दूषित करके लाल वर्ण की फुड़िया उत्पन्न करती है। शूल तथा अन्य प्रकार की वातनुरूप वेदनायें उत्पन्न करती है। उपायों द्वारा प्रतीकार न करने पर वह फुड़िया पक जाती है, पक है और व्रण बन जाता है। मूत्राशय के समीप होने के कारण वह गीला हुआ चलनी की भाँति छोटे-छोटे छिद्रों से युक्त होकर भरा रह वे छिद्र सदैव स्वच्छ, झागदार, काफी स्राव स्रवते रहते हैं। व्रण भेदन, छेदन और सूचीवेधन की सी पीड़ा होती है, गुदा विदरित और अधिक उपेक्षा करने पर उन छेदों में से वायु, मूत्र, मल और स्राव होता है।[1]

भगंदर के प्रकार—

सुश्रुत के अनुसार (५)	वाग्भट के अनुसार (८)	आधुनिक
१. वातिक—(शतपोनक)	६. वातपित्तज (परिक्षेपी)	१. द्विमुख (
२. पैत्तिक (उष्ट्रग्रीव)	७. वातकफज (ऋजु)	२. अंतर्मुख
३. श्लैष्मिक (परिस्रावी)	८. कफपित्तज (अर्शोभगंदर)	३. बहिर्मुख
४. सान्निपातिक (शम्बूकावर्त्त)		
५. आगन्तुक (उन्मार्गी)		

वाग्भट के दोषों की अंशांश-कल्पना के अनुसार सुश्रुतोक्त पांच जन्य के अतिरिक्त भी तीन भेद और गिनाये हैं। ये सभी द्विदोषज है वात और पित्त से होने वाला भगन्दर जिसमें गुदा के चारों तर (Horse shoe shaped fistula) जैसी रचना बन जाती है। और कफ दोषों से ऋजु मार्ग का अनुसरण करके नाड़ी बनती भगन्दर कफ पित्तज अर्शों के परिणाम-स्वरूप ये भगन्दर होते हैं। इन्हें अर्शोभगन्दर कहा गया है। इनसे स्राव बहुत (अजस्र) होता

---

[1] सु० नि० ४।

[2] कफपित्ते तु पूर्वोत्थे दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः।
अर्शोमूले ततः शोफः कण्डूदाहादिमान् भवेत॥

आधुनिक ग्रन्थों में स्थान और आकृति के अनुसार इनके अनेक प्रकार के बतलाये गये हैं। फिर भी तीन प्रधान भेद मिलते हैं—पूर्ण या द्विमुख omplete) जिसका एक मुख मलाशय के भीतर मलाशय में और दूसरा ष्ठ के पास बाहर त्वचा पर खुलता है। और दूसरा प्रकार अन्ध अपूर्ण lind) का होता है जिसमें भगन्दर अन्तर्मुख रहता है, इसमें केवल एक और भीतर मलाशय में खुलता है, दूसरा बहिर्मुख होता है। इसमें एक मुख होता है। और बाहर की ओर गुदौष्ठ पर खुलता है। इनमें प्रथम की इण्ड इन्टर्नल' और द्वितीय को 'ब्लाइण्ड एक्सटर्नल' अंग्रेजी में कहते हैं। सुश्रुत ने भी व्यवहार की दृष्टि से चिकित्सास्थान में दो ही प्रधान-बहिर्मुख lind External) और अन्तर्मुख (Blind Internal) बतलाये हैं। यि शब्दों में उन्होंने एक पराचीन और दूसरे को अवाचीन बतलाया है।[1]

पूर्वरूप—रथादि पर सवारी करने से अथवा मलोत्सर्ग करने से गुदा में ज, पीड़ा, जलन, शोफ आदि लक्षण तथा गुदा और कटि में पीड़ा—ये न्दर रोग के पूर्वलक्षण होते हैं।

लक्षण—दोषानुसार पांच प्रकार के अर्शों में पांच प्रकार के लक्षण मिलते । जैसे—

१. **शतपोनक**—वातिक लक्षणों से युक्त बहुनाडीयुक्त भगन्दर (Multiple stula) है। सम्प्राप्ति में इसी की विशेष सम्प्राप्ति बतलाई गई है।

२. **उष्ट्रग्रीव**—वायु से नीचे की ओर प्रेरित और प्रकुपित पित्त पहले की ति ही गुदा के चारों ओर एक अंगुल या दो अंगुल ऊपर स्थित होकर लाल र्ण को छोटी उभरी हुई ऊंट की ग्रीवा के आकार की फुड़िया उत्पन्न करता है। ह फुड़िया दाह तथा अन्य प्रकार की पित्तानुरूप वेदनायें उत्पन्न करती है। तिकार न करने पर पक जाती है। फूटने पर उत्पन्न हुआ व्रण अग्नि और

स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन् मूलमर्शसः।
स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शो भगन्दरः॥
वातपित्तात्वरिक्षेपी परिक्षिप्य गुदं गतिः। जायते परितस्तत्र प्राकारं परिखेव च॥
ऋजुवातकफादृज्व्या गुदो गत्याऽत्र दीर्यते। (वा० उ० २८)

[1] भगन्दरं समीक्ष्य पराचीनमवाचीनं वा। (सु० चि० ८)

क्षार से जलता सा मालूम पड़ता है, और उससे बदबूदार गरम है, तथा उपेक्षा करने पर उस छिद्र से वायु, मूत्र, मल और निकलता है ।

३. परिस्रावी— वायु से नीचे की ओर प्रकुपित हुआ श्लेष्मा ओर गुदान्त से एक या दो अंगुल ऊपर की ओर स्थित होकर वर्ण की स्थिर कण्डूयुक्त फुन्सी उत्पन्न करता है। वह फुन्सी कफानुरूप वेदनाओं को उत्पन्न करती है। प्रतिकार न करने से फूटने पर उत्पन्न हुआ व्रण कड़ा, शोथयुक्त, अधिक खाजवाला पिच्छिल (लसदार) स्राव स्रवता है। अधिक दिनों तक उपेक्षा मूत्र, मल और वीर्य निकलता है ।

४. प्रकुपित हुई वायु, प्रकुपित हुए पित्त और कफ को ग्रहण ओर गमन करके गुदा के चारों ओर गुदौष्ठ से एक दो अंगुल ऊपर होकर पैर के अंगूठे के प्रमाण की बड़ी सर्वदोषों से युक्त लक्षणों को पैदा करती है। यह फुड़िया वेदना, जलन, कण्डू इत्यादि वेदनायें उत्पन्न करती है। प्रतिकार न करने से पक जाती है और होकर नाना प्रकार के वर्ण के स्राव होने लगते हैं। उसमें पूर्ण नदी होने वाले तरंगों के भंवर के समान या शम्बूक के आवर्त्त के प्रकार की पीडा (Boring pain) उठती है और आवर्त पाये जाते

५. मांसलुब्ध मूर्ख से भोजन के साथ खाया हुआ अस्थि का टुक जब गाढ़े मल में मिलकर अपान वायु से नीचे को प्रेरित होकर गुदा आड़ा (असम्यक् आगत) आता है तो, गुदा में घाव पैदा कर वहाँ घाव के कारण सड़ाव (कोथ) पैदा होता है; उस पीप और हुए मांस के कोथयुक्त व्रण में जैसे-कीचड़ में कृमि पड़ जाते हैं वैसे उत्पन्न होते हैं। गुदमांस-भक्षण करके वे कृमि अनेक दिशा में गुदा को करते हैं; तब रोगी के कृमिकृत उन मार्गों से वायु, मूत्र, मल निकलने लगते हैं ।[1]

---

[1] घोराः साधयितुं दुःखाः सर्वे एव भगन्दराः । तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च
Spontaneous cure is very rare'

साध्यासाध्यता—दोषानुसार— १. प्रायः सभी भगन्दर दुःखदायक र कष्टसाध्य होते हैं । इसके चार कारण हैं १. अशुद्ध स्थान–होने की वजह ार-बार जीवाणु का पुनः पुनः उपसर्ग होता रहता है । २. नाडीमार्ग में त्रिक तन्तुओं की अधिकता होने से कड़ापन आजाता है। ३. विकृत अङ्ग को आराम नहीं मिल पाता । ४. नडीव्रण होने से पूर्ण शोधन का अभाव ा है। त्रिदोषज और क्षतज भगन्दर तो आसाध्य ही होते हैं।

२. स्थानानुसार–प्रवाहणी वलि तथा सेवनी के आश्रय में पाये जाने वाले भगन्दर असाध्य हो जाते हैं। (अ. सं.)

३. लक्षणानुसार–जिन भगन्दर के छिद्रों से वायु, मूत्र, पुरीष, कृमि और क का निकलना जारी हो जाय वे असाध्य हो जाते हैं।[1]

४. नामानुसार–शम्बूकावर्त्त और उन्मार्गी भगन्दर असाध्य और शेष य कृच्छ्रसाध्य होते हैं । सुकुमार और भीरु रोगियों में शतपोनक भी ाध्य होता है।[2]

५. नव्य मतानुसार–कुफ्फुस या आन्त्र की राजयक्ष्मा में जो भगन्दर त्पन्न होता है वह शरीर की प्राणशक्ति की हीनता के कारण आसाध्य जाता है।

चिकित्सा—अर्श के सदृश भगन्दर रोग में भी भेषज, शस्त्र, क्षार और ग्नि प्रभृत चार उपक्रमों के द्वारा चिकित्सा की जाती है । भेषज का सम्बन्ध धिकतर कायचिकित्सा से सम्बन्धित अभ्यन्तरीय प्रयोगों से है–कतिपय स्थानिक उपचारों का ही यहाँ पर वर्णन कर देना पर्याप्त होगा ।

१. आरग्वध, हरिद्रा और अहिंस्रा इनका चूर्ण बनाकर मधु और घृत में मिलाकर वर्ति बनाकर छिद्र के भीतर देने से व्रण का शोधन होकर भगन्दर का रोपण हो जाता है। यह योग गति (Sinus) को ऐसे नष्ट कर देता है जिस प्रकार वायु मेघ–समूह को। (आरग्वधादि वर्त्ति)

२. कदलीमृग, लोपाक (शृगाल-भेद), प्रियक (कोई चिकना अजगर) इन

---

[1] वातमूत्रपुरीषाणि क्रमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात् स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥ (सु. नि. ४)

[2] सुकुमारस्य भीरोर्हि दुष्करः शतपोनकः ।

पशुओं के चर्म का शाल्वण बनाकर उपनाह करने से वात-श्लैष्मिक भगन्दर के रोगियों में हो तो शान्त हो जाती है।

३. त्रिकटु, वचा, हिंगु, लवण, चित्रक इन द्रव्यों का चूर्ण सुरा, सौवीरक और कुल्थी के अनुमान से देना चाहिये। इसे शान्त होती है।

४. भगन्दर के व्रणों में शोधन के लिये ज्योतिष्मती, लाङ्गली, दन्ती, त्रिवृत्, तिल, कूठ, सौंफ, दूब, तिल्वक (लोध), गिरिकर्णी, और कङ्कुष्ठ का प्रयोग करना चाहिये।

५. त्रिवृत्, तिल, नागदन्ती, मञ्जीठ को दूध या घृत में मिलाकर करने से भी भगन्दर व्रणों में लाभ होता है।

६. रसौंत, हल्दी, आमाहल्दी, मञ्जीठ, नीम की पत्ती, त्रिवृत्, दन्ती प्रभृति द्रव्यों का कल्क अथवा कूठ, त्रिवृत्, तिल, दन्ती, माग मधु, हल्दी, त्रिफला, तुत्थ इनके योगों से भगन्दर के व्रणों का शोधन सम्भव है।

७. मागध्यादि तैल—पिप्पली, मुलैठी, लोध, कूठ, एला, हरे धातकी, सारिवा, दोनों हल्दी, प्रियंगु, राल, पद्मक, कमल का केसर, कलिहारी, मोम, सेंधानमक—इन द्रव्यों के कल्क से पकाया हुआ तैल गण्डमाला, मण्डल, प्रमेह–पिडिका और भगन्दर व्रणों में विशेषतः रोपण प्रयुक्त होता है। तैल पाक करने में कल्क तैल से चतुर्थांश और तैल से द्रव (अनुक्त होने से यहाँ पर जल लेना चाहिये) मंद आँच पर लेना चाहिये।

८. न्यग्रोधादि गण की ओषधियाँ शोधन और रोपण में प्रशस्त मा इन्हीं से पक्व तैल या घृत का प्रयोग भगन्दर में भी प्रयुक्त होता है।

९. त्रिवृतादि तैल—त्रिवृत्, हरिद्रा, अर्कमूल, अगर, कनेर, त्रिफला, थूहर और आक का दूध, मधूच्छिष्ट इन द्रव्यों को एकत्र तैल पाक की सामान्य विधि से तैल बनाकर प्रयोग करे। यह योग विशेष लाभप्रद होता है।

१०. चित्रकादि तैल—चित्रक अर्क, त्रिवृत्, पाठा, काठोदुम्बर, स्नुही, वच, कलिहारी, सप्तपर्ण, सुवर्चिका, ज्योतिष्मती इन द्रव्यों के

तैल को स्यन्दन तैल कहते हैं। इसका भगन्दर में प्रयोग करना चाहिये। शोधन, रोपण और सवर्ण कारक होता है।

शस्त्राग्नि क्षार आदि की सामान्य चिकित्सा विधि—

भगन्दर-पिडिका—जब तक पिडिका अपक्व हो उसमें अपतर्पण से लेकर न पर्यन्त शोफशामक उपचारों को बरतना चाहिये। अपतर्पण से लेकर न पर्यन्त ग्यारह उपक्रम होते हैं, जिनका द्विव्रणीय चिकित्सा के अधिकार लेख हो चुका है।

जब पक्व होकर फुड़िया (पिडिक) फूट जाय और गतिमान व्रण हो जाय अथवा भगन्दर की अवस्था में आये हुए रोगी का, शस्त्रकर्म करना चाहिये। लिये सामान्य विधान है—**पूर्वकर्म और प्रधान कर्म—**

रोगी का स्नेहन और स्वेदन करने के अनन्तर शय्या या फलक पर लेटा र्श के समान यन्त्रण कर अर्थात् संकुचित जानुकूर्पर (Lithotomy ition) में रखकर शस्त्रकर्म करना चाहिये। तत्पश्चात् गुदा के छिद्र में दर यन्त्र (विशेष प्रकार का 'रेक्टलस्पेकुलम्') डालकर भगन्दर के छिद्र का ज्ञान करना चाहिये। भगन्दर बहिर्मुख (पराचीन) अन्तर्मुख (अवाचीन) सका ज्ञान करने के लिये एषणी डालनी चाहिये। उसके द्वारा व्रण का मार्ग ना चाहिये। फिर उस एषणी को और ऊपर उठा के शस्त्र के (Probe inted Bistoury) द्वारा मलाशय के साथ ही काट लेना चाहिये। यदि न्दर अन्तर्मुख हो तब भी ऐसे ही भन्दगर यन्त्र को लगाकर ऊपर से शयगत छिद्र के द्वारा एषणी को डालकर शस्त्रपातन करे। आवश्यकतानुसार या क्षार का भी पातन किया जा सकता है'।[1] इस प्रकार से एक मान्य विधि का उल्लेख हुआ, इसके बाद विशेष प्रकार के भगन्दरों में विशेष र की क्रियाओं का उल्लेख यथास्थान किया जायगा।

आधुनिक युग में उपर्युक्त विधि से ही क्रिया की जाती है अतः गुदसंकोचनी ी को कटने से बचाना होता है—बहिर्गुदसंकोचनी को एक से अधिक बार

---

[1] भगन्दरं समीक्ष्य पराचोनमवाचीनं वा ततः प्रणिधायैषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरे- स्त्रेण। अन्तर्मुखे चैवं सम्यग्यन्त्रं प्रणिधाय प्रवाहमाणस्य भगन्दरमुखमासाद्यैषणीं दत्त्वा खं पातयेत्। आसाद्य वाग्नि क्षारञ्चेति। एतत् सामान्यं सर्वेषु॥ (सु० चि० ८)

नहीं काटा जाता है। तथा नाड़ीव्रण का लेखन (Curette) क जाता है—प्राचीन युग में क्षार, अग्नि के द्वारा यह कार्य किया जाता

विशेष—शतपोनक में अनेक छिद्रयुक्त भगन्दर होता है। मध्य नाडी की चिकित्सा पहले करनी चाहिये। जब एक का रोहण दूसरे की चिकित्सा करे।

'यदि भगन्दर में एक दूसरे से सम्बद्ध नाडीव्रण बने हों तो तरफ से अनेक प्रकार से छेदन किया जाता है; परन्तु यदि नाड़ियाँ से अभिसंबद्ध न हों तो एक वार भी बड़ा छेदन होने से हानि की रहती है।' सामान्यतया यह नियम है कि अन्तः गुदसंकोचनी spincter) न कटने पावे—और बाह्य गुदसंकोचनी (Ext. spinc भी तो एक बार से अधिक नहीं कटने पावे अन्यथा उनकी संकोचन अभाव में 'व्रण विवृत होकर गुदविदारण, विवृत मार्ग उसके द्वारा का अजस्र निकलना, आटोप, गुदशूल, गुदभ्रंश आदि उपद्रव होने गलती अधिगत-तन्त्र व्यक्तियों से भी हो जाती है। इसलिये इन बातों रखते हुए व्रण को अति विवृत नहीं करना चाहिये।'[1]

यदि बहुत से छिद्र हों तो शतपोनक में कई प्रकार के छेदन (E की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—

१. √ अर्धलाङ्गलक छेद[2]—लाङ्गलक हल को कहते हैं अर्धला मतलब हुआ-आधा हल के सदृश।

२. √ लाङ्गलक[3]—पूर्ण हल की आकृति का। संभवतः आधुनि आकार का भेदन है।

३. सर्वतोभद्रक[4]—सर्वतोभद्र एक आसन विशेष होता है। या गोल छेदन होता होगा।

---

[1] गतयोऽन्योन्यसम्बद्धा बाह्याश्छेद्यास्त्वनेकधा। नाडीरनभिसम्बद्धा मश्छिनत्त्येकधा भिषक्। स कुर्याद् विवृतं जन्तोर्व्रणं गुदं

[2] द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदो लाङ्गलको मतः।

[3] ह्रस्वमेकतरं यच्च सोऽर्द्धलाङ्गलको मतः॥

[4] सेवनीं वर्जयित्वा तु चतुर्धा दारिते गुदे। सर्वतोभद्रकं छेदमाहुश्छेदविदः

४. गोतीर्थक¹—इसके कई अर्थ टीकाकारों ने बतलाये हैं। गोतीर्थक—गोमूत्र गति सदृश टेढ़ा-मेढ़ा। अथवा गोयोनि-सदृश अण्डाकार (Oval)। ा गोतीर्थ उस प्रकार पानी के हौज को कहते हैं जो पशुओं के पीने के लिये ा जाता है। उसकी विशेष आकृति होती है।

तन्त्रान्तरों में इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की मिलती है। 'दोनों से समान भाग काट दिया जाय तो उसको लाङ्गलक, एक पार्श्व का और दूसरे का लम्बा काटा जाय तो अर्द्धलाङ्गलक, यदि सेवनी को बचाते ुदा को चार भाग में (स्वस्तिकाकृति) काट दिया जाय तो उसको सर्वतोभद्रक पार्श्वगत छिद्र से टेढ़ा-मेढ़ा काटना गोतीर्थक कहलाता है।'

पश्चात् कर्म—१. शस्त्रकर्म के बाद सभी स्रावयुक्त भागों का अग्नि से करना चाहिये।

२. रुजा और स्राव को दूर करने के लिये स्वेदन शीघ्र करना चाहिये। तिल- और उड़द की कृशरा बनाकर अथवा दूध और चावल के पकाये खीर से न करना चाहिये। इसके अतिरिक्त नाडी-स्वेदन भी करना चाहिये इसके ग्राम्य, आनूप और औदक जीवों के मांस, लावादि विष्किर-पक्षियों के मांस, क, पञ्चमूल (बृहत्) इन द्रव्यों का कषाय बनाकर स्नेहयुक्त कुम्भ में र नाड़ी का योग करके व्रण का स्वेदन करना चाहिये। इसी प्रकार पञ्च- और अम्लवर्ग की ओषधियों को किसी डेकची में रखकर उसके बाष्प को द्वारा व्रणस्थान पर देकर स्वेदन किया जा सकता है। इन कर्मों के द्वारा और स्राव कम होकर भगन्दर व्रण का रोपण शीघ्र होता है।

३. स्वेदन के बाद रोगी को पीने के लिये—कूठ, लवण, वच, हिंगु, अजमोद र्णों के समान भाग में घृत मिलाकर दे।

४. मृद्वीका, काञ्जिक, सुरा, सौवीरक, मधुकतैल (मुलेठी सिद्ध तैल), इङ्गुदी तैल इन द्रव्यों के द्वारा व्रण का परिषेक करना चाहिये। ये सभी तैल वातिक ा को शान्त करते हैं।

उपर्युक्त कर्मों के द्वारा मल-मूत्र अपने-अपने मार्ग से प्रवृत्त होने लगते हैं न दीप्त होती है तथा अन्यान्य उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

---

[1] पार्श्वगतेन च्छिद्रेण च्छेदो गोतीर्थको भवेत्॥

उष्ट्रग्रीव—पूतिमांस के सड़े गले भागों को दूर करने के पातन करना चाहिये। अग्निकर्म करना इस दशा में प्रशस्त नहीं

पश्चात् कर्म—घृत संसृष्ट तिल का लेप करना चाहिये। का परिषेक करके बन्धन (Bandaging) करना चाहिये। पट्टी खोलकर व्रण का शोधन और रोपण करना चाहिये।

परिस्रावी—स्राव के मार्ग को काटकर साफ करके पश्चात् कर्म करना चाहिये। अणुतैल का सुखोष्ण (गुनगुना) गर्म करके सेक मूत्र और क्षार से समन्वित उपनाह और प्रदेह करना हितकर है। धियों के क्वाथ से भी परिषेक किया जा सकता है।

शस्त्रकर्म के विधान—परिस्रावी भगन्दरों में जब स्राव जाय तथा व्रण मृदु हो जाय, पीडा अल्प हो जाय तो गति का करना चाहिये। ये छेदन कई प्रकार के हो सकते हैं[1]।

खर्जूरपत्रक[2]—खर्जूरपत्र के समान मध्य नाडी का सीधा तिर्यक्छेद से ऐसी रचना होती है।

अर्द्धचन्द्र–मध्य की वक्र नाडी का अनुलोम-च्छेदन करना। की आकृति का। (Semi circular)

चन्द्रचक्र-(Circular)

सूचीमुख-भीतर के मुख की तरफ तो मोटा परन्तु मूल की तरफ

अवाङ्मुख-नीचे की ओर मुख वाला छेदन। कुछ लोग अवाङ्मुख मानते हैं।

इन छेदनों के पश्चात् भी व्रणस्थान की अग्नि या क्षार के द्वारा मृदु शोधन और रोपण की व्यवस्था करनी चाहिये।

उन्मार्गी—इस प्रकार का व्रण आगन्तुक होता है, इसमें नाडी द्वारा काट कर जाम्बवोष्ठ यन्त्र के द्वारा अथवा शलाका के सहारे

---

[1] गतिमन्विष्य शस्त्रेण च्छिन्द्यात् खर्जूरपत्रकम्।
चन्द्रार्धं चन्द्रचक्रं च सूचीमुखमवाङ्मुखम्॥

[2] बहिरन्तर्मुखश्चापि शिशोर्यस्य भगन्दरः। तस्या हितं विरेकाग्निशस्त्रक्षारावचा
यद्यन्मृदु च तीक्ष्णं च तत्तत्तस्यावचारयेत्। (सु० चि० ८)

करना चाहिये। साथ ही साथ यदि शल्य हो तो उसका अपनयन और न उपचार करना चाहिये। त्रिदोषज या शम्बूकावर्त्त भगन्दर असाध्य होता लतः उसकी चिकित्सा का वर्णन नहीं मिलता। **शैशवीय भगन्दर**—कई बार में द्विमुख या पूर्ण भगन्दर पाया जाता है जिसमें उसके बाहर और भीतर ओर मुख होता है। उन रोगियों में विरेचन-अग्नि, क्षार अथवा शस्त्रकर्म सामान्य चिकित्सा अहितकर सकती है, फलतः इन कर्मों का निषेध है। नाति उष्ण-शीत क्रिया करनी चाहिये। पूर्वोक्त आरग्वधादि वर्त्ति का करना चाहिये, उसीसे व्रण भर जाता है।

उपद्रवों की चिकित्सा—यदि शस्त्रपातन की वजह से स्थानिक पीडा बढ़ जाय तो—

१. अणुतैल का परिषेक।

२. वातघ्नौषध-युक्त डेकची के ऊपर रोगी को बैठाकर बाष्पस्वेदन नक करे।

३. उपर्युक्त बाष्पों से नाडी के संयोजन द्वारा स्वेदन।

४. उष्णोदक में रोगी को बैठाना। इन कर्मों से वेदना तत्काल शान्त ाती है।

स्वस्थवृत्त—भगन्दर के व्रण का रोपण हो जाने के पश्चात् भी रोगी को एक तक व्यायाम, मैथुन, गुरु पदार्थों का सेवन, पशुओं की पीठ पर सवारी क्रोध करना छोड़ देना चाहिये[1]।

विंश प्रकरण

उदररोगनिदानचिकित्सीयाध्याय

(Diagnosis treatment of Abdominal Swellings)

उदररोग—यह एक व्यापक शब्द है, जिसके भीतर अनेक उत्सेध (उभार) उदर के रोगों का समावेश है। उदररोग इस एक शब्द के भीतर अनेक ों के कहने के चार कारण हैं १. तात्स्थ्य सभी रोग औदरिक अङ्गों

---

[1] व्यायामं मैथुनं कोपं पृष्ठयानं गुरूणि च। संवत्सरं परिहरेदुपरूढव्रणो नरः॥ (सु. चि. ८)

(Viscra) में ही होते हैं, २. तद्धर्मता–सबों में एक प्रधान लक्षण उदर उभार का धर्म होता है, ३. तत्समीपता–उदररोगों के अधिकार में व्याधियाँ एक दूसरे के समीप अथवा उदर के समीप पाई जाती हैं। साहचर्य–सभी में समानता और साहचर्य होता है[1] ।

यदि एक शब्द में उदररोग की व्याख्या करें तो कहेंगे 'व्यापक वृद्धि या उत्सेध (Generalised Abdominal Enlargement) उदर का उत्सेध कई कारणों के प्रायः होता है । जैसे—

१. मेदोवृद्धि—इससे उदर फूलता है, परन्तु नाभि के गर्त में कोई नहीं आता । उदर के साथ-साथ अन्य स्थानों में भी शरीर के मेद का पाया जाता है, जैसे स्फिक्, स्तनादि । पार्श्व कम फूले होते हैं, उदर के पर पीडन करने से गर्त्त नहीं बनता, अङ्गुलिताड़न करने पर निनादित (R nant) ध्वनि मिलती है । इस विकार का वर्णन मेदोरोग में अन्यत्र मिल

वायु—(Gases)—आन्त्र में वायु का सञ्चय होने से भी उदर है, इस अवस्था को आध्मान कहते हैं । अङ्गुलिताडन करने पर पूर्ण निनादित ध्वनि निकलती है । करवट बदलने से ध्वनि में कोई परिवर्तन होता । 'आध्मान' का वर्णंग प्राचीन आचार्यों ने वातव्याधिनिदान में रूप से किया है ।

उदररोगों में जहाँ पर आध्मान स्वतंत्र व्याधि न होकर एक आनुषंगिक के रूप में जिन रोगों में पाया जाता है, उन्हीं का वर्णन मिलेगा; जैसे इसमें आध्मान का एक लक्षण मिलता है और अङ्गुलिताडन करने पर पूरे पर फूले हुए मसक पर आघात करने के समान अर्थात् ढोलवत् ध्वनि होती है । कई बार मन्दाग्नि, आन्त्र की कमजोरी, आमावरोध इत्यादि कारणों में भी आध्मान लक्षण मिलता है—वे सभी रोग उदर-रोगों के में भी आते हैं । जैसे-बद्धगुदोदर, क्षतोदर प्रभृति ।

बद्धगुदोदर में आन्त्रावरोध होकर आध्मान होता है, आन्त्र की में गति दिखाई पड़ती है, कई बार आन्त्र और आमाशय का छेद होकर उदरावरण की गुहा में इकट्ठी हो जाती है । इसमें उदर अधिक

---

[1] तात्स्थ्यतद्धर्मताभ्यां च तत्समीपतयाऽपि च । तत्साहचर्यं शब्दानां वृत्तिरेषा चतुर्विधा।

वातध्वनि अधिक ऊंची होती है, रोगी अवसन्न होकर अल्पकाल में र जाता है ।

३. जल—उदरावरण-गुहा में जब जल इकट्ठा होता है तब उसको ोदर कहते हैं । इसमें नाभि उभर आती है, उदर पर अङ्गुली के पीडन से ा पड़ता है, दोनों पार्श्व और बस्ति प्रदेश में सूजन होती है । विशेण लक्षण े के वर्णनों में पाया जायगा ।

४. मल—जीर्ण विबन्ध से भी उदर फूलता है, इसमें टटोलने से मल और की गांठें प्रतीत होती हैं, दबाने पर वे दब जाती हैं या विभक्त हो जाती । इसके अतिरिक्त शिरःशूल, मन्दाग्नि, अरुचि, आलस्य, आध्मान इत्यादि लक्षण होते हैं । कई बार विरेचन या आस्थापन बस्ति के द्वारा मलसञ्चय होकर रोग की निवृत्ति हो जाती है ।

५. उदरस्थ अङ्गों का आयाम बढ़ना—उदर के भीतर के एक अङ्ग की से पूरे उदर का परिमाण नहीं बढ़ता है; परन्तु बस्ति, गर्भाशय, बीजकोष, त और प्लीहा का परिमाण अत्यधिक बढ़ने से समस्त उदर फूला सा दिखाई ा है । बस्ति-मूत्र के रुक जाने से बस्ति का आयाम बढ़ जाता है । भगास्थि ऊपर का उदर का मध्य भाग फूलता है पर अंगुलीताडन करने से द ध्वनि मिलती है परन्तु पुष्पनेत्र (Rubber catheter) से मूत्र यदि ाला जाय तो सारा उभार कम हो जाता है । इस रोग का वर्णन आचार्यों ने जठर या वातबस्ति करके मूत्र के संस्थान के रोगों में स्वतन्त्र किया है । गर्भा- -गर्भवृद्धि के कारण गर्भाशय सबसे अधिक बढ़ता है, कभी गर्भोदक की प्रचु- ा होने पर गर्भाशय जलोदर-सा मालूम होता है । इस अवस्था को जलगर्भ Hydramnios) बतलाया गया है । यह कोई विकृति न होकर प्राकृत स्था है, जिसके निदान में कठिनाई नहीं होती । मासिक स्राव का बन्द होना, नों का कालापन, क्रमिक मासानुक्रमबृद्धि, गर्भस्पन्दन प्रभृति लक्षणों से स्थिर या जा सकता है । इस लिये प्राचीनों ने इन रोगों का वर्णन उदररोगों के बन्ध में करना अनुचित समझा और अवशिष्ट प्लीहोदर और यकृद्दाल्युदर ोों का वर्णन आगे मिलेगा ।

६. अर्बुद—गर्भाशय एवं बीजग्रन्थि के अर्बुद, यकृत् से सम्बन्धित बहुत

बड़ी ग्रन्थि (Hydatid cyst) और उदरावरण के कैनसर (रक्तार्बु मांसार्बुद) भी उदर में उत्सेध पैदा कर निदान में कठिनाई पैदा करे परन्तु इन रोगों का केवल सापेक्ष रोगनिश्चिति में ही महत्व है। ये स विकार हैं जिनका उदररोग से कोई सम्बन्ध नहीं।

उदररोग आठ प्रकार के होते हैं—

१. वातोदर
२. पित्तोदर
३. श्लेष्मोदर
४. सन्निपातोदर (दूष्योदर)
५. प्लीहयकृद्दाल्युदर (Spleenic & hep cenlargeme
६. बद्धगुदोदर (Intestinal obstructio
७. क्षतोदर (Perforation of bowel peritoni
८. दकोदर (Ascites)

हेतु और सम्प्राप्ति—शोथ की सामान्य सम्प्राप्ति का ज्ञान करने के लसीका या अन्नरस की क्रिया जानने की आवश्यकता है। प्राकृतावस्था में स्रोतों (रक्तवाहिनियों) की दीवाल से चूकर धातुओं का पोषण करके पुनः कावाहिनियों के द्वारा रक्त में मिल जाता है। यदि किसी कारण से स्रोत दीवाल की स्रवणक्षमता (Permeability) बहुत बढ़ जाती है। तब लिङ्ग शोथ उत्पन्न होता है। यह स्रवणक्षमता की अधिकता स्रोतोदुष्टि से होती है। अतः स्रोतोदुष्टि शोथोत्पत्ति का एक प्रधान कारण है। स्रोतोदुष्टि अतिरिक्त रक्तभाराधिक्य शोथोत्पत्ति में सहायता करता है। चरक ने दो बातों को कारण माना है 'आम से स्रोतसों का दूषित होना तथा संशो अति पूरण (भरा) होना।'

'अहितकर भोजन सेवन करने से अथवा सूखा बासी, सड़ा अन्न करने से अथवा स्नेहन, स्वेदन तथा वमनादि पञ्चकर्म के आचरण करने से जाठराग्निवाले मनुष्य के बढ़े हुए दोष कोष्ठ में प्राप्त होकर गुल्म के समान और प्रकट लक्षणयुक्त घोर उदररोग उत्पन्न करते हैं।' ये सामान्य हेतु रोगों के बतलाये गये हैं, विशेष हेतुओं का उल्लेख उनके विशिष्ट वर्णनों साथ होगा।

'वायु के वेग से प्रेतित हुआ अन्नरस दुष्ट होकर उपस्नेह की भांति को

ङ्गों से उदरगुहा में निस्तृत (Filtered) होकर त्वचा को उन्नत करके रे-धीरे सब ओर बढ़कर जठर (उदर) रोग पैदा करता है।'[1]

यह शोफ जब त्वचा–यकृतादि अङ्गों में होता है, तब शोथ कहलाता है। ही जब किसी अवकाशयुक्त स्थान में हो जाय तब उस स्थान के साथ जल शब्द प्रयोग करके संयुक्त नाम से पुकारते हैं। जैसे–यदि उरोगुहा में जलसञ्चय हो जलोरस, उदरगुहा में जल का संचय हो तो जलोदर आदि।

चरक ने उदररोगों के हेतु-संबन्ध में 'दोषों का अतिसञ्चय, पापकर्म और दाग्नि' को भी कारण माना है।[2]

पूर्वरूप—[3] १. बलविनाश–कमजोरी, अल्प चेष्टा पर भी सांस फूलने ती है। २. वर्णविनाश–स्वाभाविक वर्ण में परिवर्तन हो जाता है। ३. आका- क्षाविनाश–अन्न की इच्छा नष्ट हो जाती है। ४. जठर में राजियां–उदर में वट होने की वजह से फूली हुई सिरायें व्यक्त (Distended super- ial veins) हो जाती हैं। ५. जीर्ण का अपरिज्ञान–अन्न पचा या नहीं का ज्ञान न होना। ६. विदाह–गले में जलन। ७ बस्ति में पीड़ा और पादगत शोफ ये लक्षण उदररोग के पूर्वलक्षण हैं। वलीविनाश, अग्निमान्द्य उदर के ऊपर प्रकृतावस्था में पाई जाने वाली (त्रिवलि) रेखाओं का मिक नाश होना भी पाया जाता है। इस चिह्न को प्राचीनों ने 'वलि-विनाश' द से वर्णन किया है। उदर के फूलने की वजह उदर के ऊपर की स्वाभाविक रयाँ नष्ट हो जाती हैं।

---

[1] कोष्ठादुपस्नेहवदन्नसारो निःसृत्य दुष्टोऽनिलवेगनुन्नः। त्वचः समुन्नम्य शनैः ताद् विवर्धमानो जठरं करोति ॥ (सु० नि० ७)। बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक् नि संदूषयतीह वायुः। तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति ॥ ० चि० १२)। स्रोतसां दूषणादामात संक्षोभादतिपूरणात्। (च० चि० १३)

[2] अतिसञ्चितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम्। उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥ (च० चि० १३)

[3] तत्पूर्वरूपं बलवर्णकाङ्क्षावलीविनाशो जठरे हि राज्यः।
जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो बस्तौ रुजः पादगतश्च शोफः ॥ (सु० नि० ७)

नानाप्राण्यङ्गशमलविरुद्धौषधिभस्मनाम्। विषाणां चाल्पवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ॥
कृत्रिमं गरसंज्ञं तु क्रियते विविधौषधैः। (अ० हृ० उ० ३५)
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा, दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति। (सु० क० २)

वातोदर—कुक्षि, पेट, पीठ और नाभि इनका आश्रय करके, कृष्ण शिराओं जाल से युक्त शूल, आध्मान, उग्रशब्द (गुडगुडायन), तोदन और भेदन पीडा से युक्त होकर तो उदर बढ़ता है, इसको वातजन्य समझना चाहिये।

पित्तोदर—जो चोष, दाह और प्यास से युक्त हो, जिसमें वर्ण पीला शिरायें भी पीली भासती हों; मुख, नेत्र, मूत्र, मल और नख भी पीले पड़ हों वह पित्तजन्य उदर है। इसकी वृद्धि बड़ी शीघ्रता से होती है।

कफोदर—जो स्पर्श में शीतल हो, श्वेतवर्ण की शिराओं से युक्त कठिन और स्थिर हो, जिसमें नख और मुख सफेद हो, जो चिकना और शोथयुक्त हो, जिसमें अंग की ग्लानि हो वह कफोदर है। वह बहुत दिनों में को प्राप्त होता है।

सन्निपातोदर अथवा दूष्योदर—दुष्ट स्त्री-पुरुष या शत्रु जिसको वाल, मूत्र, मल और आर्त्तव युक्त अन्न तथा विष खिला देते हैं उसके अथवा दूषीविष और दूषित जल के सेवन से शीघ्र ही रक्त तथा वातादि दूषित होकर त्रिदोषज लक्षणों से युक्त घोर उदररोग उत्पन्न करते हैं। यह वायु और बादल इनसे युक्त दुर्दिनों में विशेष करके कुपित होता है और उत्पन्न करता है। इस प्रकार के सन्निपातोदर से पीडित रोगी निरंतर रहता है, पाण्डुर वर्ण और कृश हो जाता है, प्यास बहुत लगती है और की जगह से मुख सूख जाता है। यह भयंकर दूष्योदर है।

भेलसंहिता में दूषीविषोत्पन्न 'दूष्योदर' का स्वतंत्र, उल्लेख मिलता है सन्निपातोदर का पृथक् वर्णन मिलता है। अन्य ग्रंथकारों ने दोनों को ए (सदृश) लक्षण होने की वजह से एक में ही मिलाकर वर्णन किया है।

प्लीहोदर, यकृद्दाल्युदर—विदाहजनक और अभिष्यंदजनक प सेवन में रत हुये मनुष्य का अत्यन्त कुपित हुआ रक्त और कफ प्लीहा को न्तर बढ़ाता है, उसे प्लीहोदर कहा जाता है। यह प्लीहा बायें पार्श्व में है और इसमें रोगी मन्दज्वर, मन्दाग्नि, कफ और पित्त के उपद्रव, दु और पाण्डुरोग इनसे युक्त होकर दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जाता है।

प्लीहोदर को 'स्प्लीनोमिगैली' (Spleenomegaly) अंग्रेजी में हैं। इस रोग में प्लीहा आकार बढ़कर बहुत बड़ा हो जाता है। आ वैज्ञानिक खोजों से यह सिद्ध हुआ है कि प्लीहा का रक्त के साथ अत्यन्त

स्थ है। प्लीहा के निम्नलिखित प्रकृतावस्था के कार्य माने जाते हैं—१. कणों की उत्पत्ति करना, २. श्वेत कणों को बनाना, ३. जो लाल कण अपना कर चुके हैं तथा जिनकी आयु पूरी हो चुकी है उनका नाश करना, ४ का सञ्चय करना, ५. शरीर में प्रविष्ट हुए विकारी जीवाणुओं से मुकाबला के उनसे रक्षा करना। जिन परिस्थितियों में ये सब कार्य अधिक होने लगते लीहा का कार्य बढ़ जाता है, इस बढ़े हुए कार्य को पूर्ण करने के लिये उसकी धीरे-धीरे वृद्धि होती चलती है। इसी अवस्था को प्लीहोदर कहते हैं।

कई प्रकार के रक्त के रोग तथा जीवाणुजन्य रोगों में प्लीहावृद्धि होती है[1]।

यकृद्दाल्युदर—दाहिने पार्श्व में यकृत् के प्रदुष्ट होने से वही प्लीहोदर ल्युदर कहलाता है। प्राचीन ग्रन्थों में तुल्य हेतु, लक्षण और चिकित्सा से प्लीहोदर और यकृद्दाल्युदर को एक ही विकार माना गया है। इसी न से चिकित्सा में यकृद्दाल्युदर का स्वतन्त्र उल्लेख नहीं मिलता; केवल इतना न्तर बताया गया है कि प्लीहोदर उदर के भीतर ऊपर बायें ओर को है और यकृद्दाल्युदर ठीक उसी के विपरीत दशा में दाहिने ओर को है।

बद्धगुदोदर—जिसकी आन्त्र पिच्छिल अन्न, बाल या कङ्कड़ (Due hard & bulky faeces) से खूब भरी हुई है, उसकी आंत में कूड़ा की भांति धीरे-धीरे दोषों के साथ मल इकट्ठा होता है। और उसको में मल अँटक कर बहुत थोड़ा-थोड़ा निकालता है, हृदय और नाभि के में धीरे-धीरे उदर फूलता है, मल के समान गन्ध का वमन होता है, उसे दयुक्त समझना चाहिये।'[2] (सु.)

'अन्न के साथ यदि पक्ष्म, बाल मिश्रित होकर चले जायँ या गुदा का

---

[1] प्लीहोदर के कारण—Leukaemia, Spleeno medullary Leukaemia phatic or Mixed, Spleenic anaemia Pernicous anaemia, जीर्ण ज्वर, कालाजार, हाचकिन के रोग फिरङ्ग आदि। कई बार अर्बुदों के कारण की वृद्धि हो सकती है।

[2] यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत्। सञ्चीयते तत्र मलः सदोषः नाड्यामिव सङ्करो हि॥ निरुद्ध्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्प- । हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तच्चोदरं विट्समगन्धिकञ्च। प्रच्छर्दयन् बद्धगुदो यः। (सु० नि० ७)

मार्ग रुद्ध हो जाय (Stricture of anus), उदावर्त्त (Spas the anal Sphincter) अथवा अर्श (Haemorrhoid) आ आन्त्रसम्मूर्छन या आन्त्रपरिवर्त्तन (Volvulus), स्थूलान्त्र घात (Par tic ilias)-आदि कारणों से अपान वायु का अनुलोमन-अधोगमन-नह पाता। आत्ममार्ग में रुकावट होने के कारण कुपित हुई यह (व वायु धात्वग्नि को नष्ट करके मल, पित्त और कफ को रोक करके बद्ध नामक उदररोग को पैदा करती है।' (चरक. चि. १३.)[1]

यह एक उदररोग की तीव्रता (Acute) अवस्था है। इसके आधुनिक वर्णनों के अनुसार दो रोगों का समावेश हो जाता है। १. ब (Pelvi Rectal Stasis) और २. आन्त्रसम्मूर्छनजन्य बद्ध (Acute intestinal obstruction) तीव्र आन्त्रावरोध कहते हैं।

आन्त्र के भीतर विशेषतः लघ्वन्त्र के भीतर अवरोध होकर मल के का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, वायु आन्त्र में उलटी गति पैदा करती है। आन्त्र स्थित सभी पदार्थों का अनुलोमन न होकर ऊर्ध्वगति होने लगती पहले आमाशय आदि ऊपर भाग के पदार्थ (Content) गिरते हैं, अन्त में वमन में मल की उपस्थिति और गन्ध मिलती है। इसी को वि गन्धिक छर्दि कहते हैं। यह मलगन्धि वमन क्षुद्रान्त्र में ऊपर की ओर होने पर बहुत शीघ्र और बहुत अधिक हुआ करती है, और यदि स्थूलान्त्र में हो तो बहुत देर से और कम हुआ करती है। 'वेगवान् शकृद्गन्धी या चन्द्रिकायुक्त छर्दि' असाध्यता के सूचक होते हैं।

परिस्राव्युदर—'अन्न के साथ सेवित और टेढ़ा आया हुआ शल्य के आन्त्र को चीर देता है उसके आन्त्र से चुआ हुआ पानी का स्राव द्वारा निकलता है। कुछ स्राव उदरगुहा में प्रविष्ट होने से नाभि के उदर फूलता है, तीव्र पीड़ा और जलन होती है; इस अवस्था को परिस्रा कहा जाता है।'

---

१. पक्ष्मबालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायते गुदे। उदावर्त्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसम्मूर्च्छनेन वा। अपानो मार्गसंरोधाद्धत्वाऽग्निं कुपितोऽनिलः। वर्चःपित्तकफान् रुद्ध्वा जनयेदुद
(च० चि

अस्थिकंटक और सुई इत्यादि शल्य अन्न के साथ आन्त्र में प्रविष्ट होने र यदि सरल भाव से नीचे चले जायँ तब आन्त्रच्छेद (Perforation) की कोई संभावना नहीं होती, परन्तु टेढ़े होने पर छेद हो जाता है। कई बार म्भण या अत्यशन से भी आन्त्रच्छेद हो जाता है; ऐसी दशा तभी होती है ब आन्त्र पहले से ही व्रणित रही हो।

आंत्रच्छेद होने पर कुछ स्राव आंत्र का मार्ग लेकर गुदा से निकलता है ोर कुछ भाग छिद्र से निकल कर उदावरण में संचित होता है; इसी से नाभि के ाग में बढ़ना शुरू हो जाता है। आंत्र से उदरगुहा में प्रविष्ट हुआ रक्त रस ां पर (Peritonium) में शोथ पैदा करता है जिससे कारण तोद, दाह, ास, श्वास, हिक्का, तृष्णा प्रभृति लक्षण होने लगते हैं।[1]

जलोदर और परिस्राव्युदर में बस इतना ही फरक मालूम होता है कि परि-ावी में 'जलात्मकता' (जल-संचय) आशु (शीघ्र) होती है और इसमें ांत्रच्छेद होता है।

परिस्राव्युदर के ही दूसरे पर्याय-छिद्रोदर तथा क्षतोदर हैं। इस प्रकार यह ाग एक तरह से आंत्रच्छेदजन्य उदरावरण (Peitonitis due to per-ration of the bowel) शोफ है।

दकोदर या जलोदर—

'जिसने स्नेह, अनुवासनबस्ति, वमन, विरेचन अथवा निरूह बस्ति का सेवन क्या है वह यदि इन क्रियाओं के पीछे तत्काल ठंडे पानी का सेवन करे तब सके उदकवह स्रोतस् दूषित हो जाते हैं। इस कारण से अथवा स्रोतस् के नेहोपलिप्त होने की वजह से पहले की भाँति जदोलर उत्पन्न होता है। वह लोदर स्निग्ध, मोटा, संपरिवृत्तनाभि और अत्यन्त फूला हुआ रहता है; तथा से पानी से भरी हुई मशक पूर्णतया क्षुभित होती है, कांपती और शब्द किया रती है वैसे वह जलोदर भी करता है।'[2]

---

[1] शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा।
तस्मात् स्रुतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाशः स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः॥
नाभेरधश्चादरमेति वृद्धि निस्तुद्यतेऽतीव विदह्यते च। एतत् परिस्राव्युदरं प्रदिष्टम्।
(सु० नि० ७)

[2] यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोप्यथवा निरूढः।

जिस प्रकार ऊपर के वर्णन में परिस्राव्युदर में आंत्र से रस चूकर उद में इकट्ठा होता है उसी प्रकार जलोदर में भी। जलोदर वह अवस्था है उदरावरण के भीतर द्रव इकट्ठा हुआ हो। इस अवस्था को अंग्रेजी में 'एशा (Ascites) कहते हैं। इसके कई प्रकार के विशेष चिह्न होते हैं; **संपरिवृत्तनाभि**—जिसमें नाभि का गर्त प्रायः नष्ट होकर सपाट हो ज नाभि उल्टी होकर बाहर निकल आवे। इन दोनों अवस्थाओं में कारण ए है—उदरगुहा में इकट्ठे हुए जल का दबाव पीछे से नाभि के ऊपर प यदि दबाव कम हो तो नाभि सपाट हो जाती है और जब अधिक दबा जाता है तो नाभि बाहर की ओर निकल (Protude) आती है।

दृतिवत् क्षोभ या कम्प—१. कंपनपरीक्षा (Fluctuation tes इसमें उदर के एक पार्श्व में आघात करने से समस्त उदर थलथल क और आघात की ओर से उदर का कम्पन दूसरी ओर को चल पड़ २. क्षोभपरीक्षा (Purcussiontest):—इसमें उदर के एक ओर रखकर दूसरी ओर आघात करने से वह क्षोभ पहले हाथ को मालूम हो इसको तरंग-प्रतीति कहते हैं।

दृतिवत् शब्द—शब्दपरीक्षा (Purcussion):—जलपूर्ण म ऊपर जिस प्रकार मन्द या भद्दा (Dull) शब्द उत्पन्न होता है उसी प्र का शब्द जलोदर में भी आघात करने पर होता है। इसके अतिरिक्त ज रोगियों में दर्शनपरीक्षा (Inspection) में नानावर्ण की सिराजाल वि देखने को मिलती है, जिसके बारे में उल्लेख उदररोग के सामान्य पूर्व हो चुका है। पाश्चात्य ग्रन्थों में जलोदर के प्रधान छः कारण बतलाये गये

१. यकृद्वृद्धि या यकृद्बाह्य अङ्गों की वृद्धि के कारण प्रतिहारिणी मह (Portalvein) के रक्त-सञ्चार में अवरोध होना।

२. वृक्करोग

३. हृद्रोग

४. उदरावण शोफ—(जीर्ण)

५. रक्तदोष—

६. रसप्रवाह में बाधा उत्पन्न होना।

पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवापि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभिर्भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च॥
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्। (सु० नि० ७)

जलोदर व्याधि को एक प्रकार से उदररोगों की अन्तिम अवस्था समझनी चाहिये। क्योंकि प्रायः 'सभी प्रकार के उदररोग कालपरिणाम से सलिलभाव (जलयुक्तावस्था) को प्राप्त हो जाते हैं। यह एक प्रकार से उदररोग की रमावस्था है।'[1] उसमें रोगी का यापन भर करना होता है अर्थात् जब तक रोगी पथ्य और औषधि के ऊपर रहता है तब तक उसका जीवननिर्वाह होता रहता है, उसके अभाव में प्राणों का भी अभाव हो जाता है। इसी लिये सुश्रुत ने से रोगियों की चिकित्सा नहीं करने को कहा है। करे भी तो प्रत्याख्यान करके सा कि आगे चिकित्सा के प्रकरण में बतलाया जायगा।

सभी उदररोग अन्त में जलभाव को परिणमित हो सकते हैं—यह अनुभव-द्ध बात है। वास्तव में प्रारम्भ के चारों उदर के प्रकार (वा. पि. श्ले. स.) लोदर के ही प्रारम्भिक रूप हैं। जलोदर में जल होता ही है, क्षतोदर में जल ा ही जाता है। बद्धगुदोदर में भी यदि रोगी अधिक काल तक जीता रहे तो म्भव है उसका विपरिणाम भी जलोदर हो, क्योंकि हेतु और सम्प्राप्ति में सभी उदररोगों में उदकवह स्रोतसों की दुष्टि होती है।

सामान्य लक्षण—सभी प्रकार के उदररोगों में आध्मान; चलने की शक्ति का अभाव, कमजोरी, मन्दाग्नि, शोथ, अङ्गों की थकावट (सदनमङ्गानाम्), अधोवायु और मल का खुलकर न आना, जलन तथा तृष्णा करती है।[2]

साध्यासाध्यता—आठ उदररोग बतलाये गये हैं—उनमें परिस्रावी और बद्धगुद असाध्य होते हैं, शेष कृच्छ्रसाध्य होते हैं—सभी में प्रत्याख्यान करके ही चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये। कृच्छ्रसाध्य उदररोगों में तर-तम भेद से कृच्छ्रतर और कृच्छ्रतम समझना चाहिये। 'वातोदर से बढ़कर पित्तोदर, पित्तोदर से बढ़कर श्लेष्मोदर, श्लेष्मोदर से बढ़कर सन्निपातोदर और उससे भी बढ़कर दकोदर या जलोदर कृच्छ्रतम होता है।'[3] इनमें प्रथम चार भेषज-

---

१. अन्ते सलिलभावं हि भजन्ते जठराणि तु। सर्वाण्येव परीपाकात्तदा तानि विवर्जयेत्॥
(विद्ध्येत्त्यजेत वा, पाठान्तरम्) (सु० नि० ७)

२. आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता। शोफः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः॥
दाहस्तृष्णा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि। (सु. नि. ७)

६. वातात् पित्तात् कफात् प्लीह्नः सन्निपातात्तथोदकात्।
परं परं कृच्छ्रतरमुदरं भिषगादिशेत्॥ (च० चि० ६१)

साध्य हैं अर्थात् अभ्यन्तरीय ओषधियों के प्रयोग से अच्छे हो जाते हैं। शस्त्रसाध्य व्याधियों में भी जैसे क्षतोदर, जलोदर और बद्धगुदोदर रोगियों में काल-प्रकर्ष से अधिक समय बीतने पर असाध्यता आ जाती है उनकी चिकित्सा हाथ में नहीं लेनी चाहिये; उनका परिवर्जन करना चाहिये।

सामान्य चिकित्सा—

१. **पथ्य**—शालि, षष्टिक, जौ, गोधूम और नीवार का सेवन चाहिये। 'आस्थापन विरेचन सर्वदैव हितकर है। सभी उदररोगियों में तथा पान के लिये शृत-शीत क्षीर और जाङ्गल पशुओं के मांसरस होवे हैं।[1] दोषों से कुक्षि भरा रहता है, इस लिये प्रायः सभी उदररोगि अग्नि मन्द हो जाती है। इस लिये ऐसा भोजन जो अग्नि का दीपन करने लघु हो, उसे देना चाहिये। जैसे लाल चावल, मुद्ग, जाङ्गल पशु पक्षियों मांसरस, गाय का दूध, गोमूत्र, आसव, अरिष्ट, सीधु, सुरा आदि का प्रयोग जा सकता है।

२. **अपथ्य**—गुरु, अभिष्यन्दी, रूक्ष, विदाही, अतिस्निग्ध मांस, परि अवगाहन का परिवर्जन करना चाहिये। व्यायाम, अध्वगमन, सवारी चलना, दिन में सोना, उष्ण, अम्ल, लवण और अधिक जल का पीना रोग में अहितकर है।

३. **त्रिदोषशामक उपचार**—सभी उदररोग प्रायः दोषसङ्घातज हैं, इस लिये त्रिदोषशमनी क्रिया करनी चाहिये।

४. **बहुशः अनुलोमन**—सर्वोदररोगों में वायु की प्रधान विकृति है और मल-सञ्चय होता है, इसलिये अनुलोमक औषधियों का प्रायः प्र करना चाहिये।[2]

---

[1] आस्थापने चैव विरेचने च पाने तथाऽऽहारविधिक्रियासु।
सर्वोदरिभ्यः कुशलैः प्रयोज्यं क्षीरं शृतं जाङ्गलजं रसं वा॥ (सु० चि० १४)

[2] सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसंघातजं मतम्।
तस्मात्त्रिदोषशमनीं क्रियां सर्वेषु कारयेत्॥ (च० चि० १३)
कुपितानिलमूलत्वात्सञ्चितत्वान्मलस्य च।
सर्वोदरेषु शंसन्ति बहुशस्त्वनुलोमनम्॥ (सु० चि० १४)

५. कुछ सामान्य योग—१. जल का त्याग करके दो मास तक प्रतिदिन डतैल को गोमूत्र या गोदुग्ध में मिलाकर सेवन करना। २. निराहार रह- एक सप्ताह तक महिष मूत्र और क्षीर का सेवन। ३. अन्न और जल को ङकर उष्ट्रीक्षीर का एक पक्ष तक सेवन। ४. अथवा पूर्वोक्त विधान से पिप्पली र्द्धमान) का एक मास तक सेवन। ५. सैन्धव और अजमोद के प्रक्षेप से युक्त ी तैल का सेवन। ६. आर्द्रक और सोंठ का सौ पल स्वरस लेकर तिल तैल कर सेवन करना। ७. आर्द्रक के रस से पकाया हुआ दूध का सेवन। ८. और सोंठ के कल्क अथवा सरल, देवदारु और चित्रक कल्क अथवा मुरङ्गी, पर्णी, श्यामा, पुनर्नवा आदि द्रव्यों के कल्क अथवा काकमर्दनिका के फल कले तैल से सिद्ध क्षीर का सेवन करना। हिंगु एक माशा और सर्जिकाक्षार माशा दूध में मिलाकर पीना। इन योगों को एक पक्ष या एक मास तक करना होता है। ९. हरीतकी और गुड़ मिलाकर खाना। १०. जितने में हो सके स्नुही के दूध से इक्कीस बार भावित पिप्पली का एक हजार की में सेवन करना। ११. हर्रे और पिप्पली के चूर्ण को स्नुहीक्षीर में डालकर का बनाकर सेवन करना। १२. हरीतकीचूर्ण का एक प्रस्थ लेकर, एक घृत में डालकर अङ्गारों पर पिघलाकर एक मथनी से मथकर, किसी में रखकर ढककर एक पक्ष तक जौ की राशि में गाड़ दे। फिर उसको लकर घृत को छानकर उसके घृत की चौगुनी मात्रा हरीतकीक्काथ, दधि और ी (प्रत्येक का चतुर्गुण घृत से) पाक करे। इस योग को बलानुसार १ मास आधे मास तक सेवन करे। १३. गाय के दूध में थूहर का दूध डालकर करे। पक्व हो जाने पर उतारे। ठण्डा होने पर मथनी से मथकर नीत निकाले पुनः उस नवनीत को थूहर का दूध डालकर पकावे। इस को यथायोग्य मात्रा में मास या पक्ष तक सेवन करना चाहिये। १४. , चित्रक, दन्ती, अतीस, कूठ, सारिवा, त्रिफला, अजमोद, हरिद्रा, शङ्खिनी, ोय और कुटकी इन द्रव्यों का आधा कर्ष, अमलतास की गुद्दी का आठ कर्ष, ह के दूध का दो पल, गोमूत्र और गोक्षीर का पृथक्-पृथक् आठ पल लेकर प्रस्थ घृत में पाक करे। इस योग को मात्रानुसार मास या अर्द्ध मास तक वे। १५. इसी योग में वातव्याधि की चिकित्सा में कथित तिल्वकघृत थ प्रयोग किया जा सकता है। इस घृतविधान से उदर, गुल्म, विद्रधि,

ष्ठीला, आनाह, कुष्ठ, उन्माद और अपस्मार में उपयोग करना लाभप्र है। इसके द्वारा रेचन होता है। १६. सेहुण्ड का दूध मिलाकर मूत्र, अरिष्ट, सुरा आदि अभीक्ष्ण सेवन हितकर होता है। १७. त्रिवृतादि विरे का कषाय-सोंठ, अद्रंक और देवदारुचूर्ण का प्रक्षेप डालकर सेवन करना

आनाहवर्त्ति क्रिया—वमन, विरेचन (संशोधन संशमनीयाध्यायोक्त) य द्रव्यों के पलिक भाग में पिप्पल्यादि, वचादि और हरिद्रादि (द्रव्यसंग्र ध्यायोक्त) द्रव्यों का महीन चूर्ण मिलाकर तथा सैन्धवादि द्रव्यों को यो गण में डालकर पकावे उसमें स्नुहीक्षीर को भी एक प्रस्थ डाल देना च कलछुल से चलाते हुए मंद आंच पर पाक करना चाहिये। इसमें कल्क न पावे ऐसा ध्यान रखना चाहिये। जब ठीक तरह से पाक हो जाय तो उता ठंडा करे। इसमें एक एक अक्ष की गुटिका बना ले। इसकी एक, दो या गुटिकाओं को बल के अनुसार तीन या चार मास तक सेवन करता रहे।

यह आनाहवर्तिक्रिया है, इसके सेवन से कोष्ठज क्रिमियों का नाश हो कास, श्वास कृमि, कुष्ठ, प्रतिश्याय, अरोचक, अविपाक उदावर्त्त प्रभृति नष्ट होते हैं—विशेषतः इसका उपयोग महाव्याधियों में होता है।

गुदवर्त्ति (Suppository)—मदनफल-मज्जा, कुटज, देवदाली, महाकोशातकी, त्रिवृत्, त्रिकटु, सर्षप और पंचलवण इन द्रव्यों को चूर्ण सेहुण्ड के दूध और गोमूत्र में पीसकर अंगूठे जितनी मोटी वर्त्ति बना चाहिये। आनाहयुक्त उदर के रोगियों में—गुदा में तेल और सैन्धव नमक अभ्यंग करके, एक या दो को गुदा की नलिका में देना चाहिये।[1]

इसका उपयोग वात, मूत्र, पुरीष के उदावर्त्त (Spasm of anal urethral sphincters) में करना चाहिये। बद्धगुदोदर या आंत्राव भी इन गुर्वतियों का प्रयोग लाभप्रद रहता है। आज कल की 'सोप' और रीन 'गुदवर्त्ति की प्रतीक है परन्तु इनकी क्रिया बहुत हल्की होती है। गुदवर्त्तियों की क्रिया तीव्र होती है। ऊंचाई पर स्थित आंत्रावरोध को समर्थ होती हैं।

विशिष्ट चिकित्सा वातोदर—१. विदारीगन्धादि घृत से स्नेहन २. तिल्वक घृत से अनुलोमन करके ३. विदारीगन्धादि कषाय में चित्राद डालकर स्थापन अनुवासन करना चाहिये। ४. शाल्वण के द्वारा (Fomentation) स्वेदन करे ५. पश्चात् विदारीगन्धादि द्रव्यों से

---

[1] सु० चि० १४।

र और जाङ्गल रस पीने को देना चाहिये । ६. स्वेदन खूब करना चाहिये । ुनिक युग में भी चिकित्सा के इन्हीं सिद्धान्तों का पालन अविकल वातोदर Tympanitis) में होता है । ओषधिद्रव्यों में उदर के स्वेदन के लिये न्टाइन स्टूप' का व्यवहार होता है । स्वेदन के लिये गर्म पानी की बोतल या (Hot water bag) दिया जा सकता है । वातानुलोमक तथा सङ्कोच- ओषधियों का भी मुख से सेवन कराना चाहिये ।

पित्तोदर— १. काकोल्यादिगण की ओषधियों से सिद्ध घृत के द्वारा स्नेहन यामा, त्रिवृत , त्रिफलादि से सिद्ध घृत के द्वारा अनुलोमन ३. न्यग्रोधादि य में शर्करा, मधु और घृत डालकर स्थापन और अनुवासन ४. दूध में े पायस के द्वारा उदर पर उपनाह ५, विदारीगन्धादि से सिद्ध दूध पीने के देना चाहिये ।

श्लेष्मोदर— १. पिप्पल्यादि के कषाय से सिद्ध घृत से स्नेहन, २ स्नुही सिद्ध घृत से अनुलोमन ३. मुष्ककादि कषाय में त्रिकटु, मूत्र और क्षार का देकर स्थापन और अनुवासन ४. शण, अतसी, धातकी, किण्व, सर्षप, मूली ीज के कल्क से उदर का उपनाह ५. निरन्तर उदर का स्वेदन ६. कुलत्थयूष ायस में त्रिकटु का प्रक्षेप डालकर देना चाहिये ।

दूष्योदर—प्रथम प्रत्याख्यान कर देना चाहिये १. सप्तला, शङ्खिनीस्वरस द्ध घृत के द्वारा एक पक्ष या मास तक विरेचन कराना अथवा स्नुही के दूध, और गोमूत्र के द्वारा सिद्ध घृत के द्वारा रेचन कराना चाहिये । २. शुद्ध हो जाने पर उसे मद्य में मिलाकर कनेर, गुञ्जा, काकादनी की जड़ का पिलाना चाहिये । ३. इक्षुकाण्ड को कालसर्प से कटा कर या ककड़ी को कराकर देना चाहिये । सर्पविष का प्रयोग करना दारुण कर्म है यह बहुत होकर करना चाहिये । चरकाचार्य ने इस प्रयोग का बड़ा समुचित और द वर्णन किया है—

'यदि त्रिदोषज उदर रोग हो और किसी प्रकार से शान्त न होता हो, रोगी के परिवार के व्यक्तियों, मित्रों, स्त्री, ब्राह्मण, राजा और गुरु सबको कर सूचित करे कि यदि चिकित्सा नहीं होती है तो रोगी मर जायगा र यदि इस क्रिया को करता हूं तो मुझे सफलता में सन्देह है । यदि इस

प्रकार कहने पर सब की अनुमति प्राप्त हो जाय तो रोगी के पेय या भोज के साथ सर्पविष दे, अथवा कोई इसी प्रकार से फल के माध्यम से जिस काट कर अपना विष छोड़ दिया हो उसको खिलाना चाहिये। इस प्र द्वारा विष के आशु प्रमाथी गुण होने के कारण विमार्गगत दोष जो लीन और स्थिर होकर पड़ा रहता है, वेग के साथ निकलता है। विष का निर्हरण हो जाने पर रोगी को दूध या यवागू या मण्डूकपर्णी का रस चाहिये। 'सुश्रुतने सर्पविष के अतिरिक्त मूल या कन्द विषों का भी सेव लाया है। 'विषं विषघ्नमुक्तम्' सिद्धान्त के अनुसार या रोगी रोगमुक्त जाता है या मर जाता है।

प्लीहोदर—स्नेहन और स्वेदन के बाद वाय बाहु की कूर्पर की आ सिरा का वेधन करना चाहिये। हाथ से प्लीहा को रगड़ते रहना ताकि अधिक से अधिक रक्तस्राव हो सके। फिर शुद्ध देह होने पर समु और शुक्तिकाक्षार दूध में डालकर पिलाना चाहिये। हिंगु, सौवर्चल-शृत, क्षार, यवक्षार, किंशुक-क्षारोदक-शृत क्षीर का प्रयोग करे। अथवा पारिजात मखाना, अथवा अपामार्गक्षार का प्रयोग करे। तैल में मिला कर शोभां कषाय। पिप्पली, सैन्धव, चित्रकचूर्ण युक्त, पूतिकरंज का क्षार। कण्टकी क्षार आधा पल, षड्गुण अम्लकांजिक में बहुत बार स्रावित करके और पिप्पली का प्रक्षेप डाल कर सेवन करना चाहिये।

षट्पल सर्पि—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, शृंगवेर, यवक्षार सैन्धव प्रत्येक एक एक पल लेकर उसमें एक प्रस्थ घृत और एक प्रस्थ दूध एकत्र करके पाक करना चाहिये। कुछ लोग इस घृत में कोल, कुलत्थ और रोहिणी का भी क्वाथ दो प्रस्थ डालकर पाक करते हैं। इस विधि से पके को षट्पल घृत कहते हैं। इस योग का उपयोग प्लीहा, गुल्म, उदावर्त, पाण्डुरोग, कास, श्वास, प्रतिश्याय, ऊर्ध्ववात और विषम ज्वर में लाभप्र है। यदि अग्नि मंद हो तो इसी घृत में हिंग्वादि चूर्ण का प्रक्षेप डाल क

यकृद्दाल्युदर—यकृद्दाल्युदर में भी प्लीहोदर की ही चिकित्सा चाहिये केवल शिरावेध बायें कूर्पर में न करके दाहिने कूर्पर की सिरा का करना चाहिये।

प्लीहा और यकृत् वृद्धि— इसमें शरदाह, कर्म-मणिबन्ध को नीचे की र झुकाकर वामाङ्गुष्ठ के समीप की सिरा की दिशा में, एक शर को रक्त तप्त के दाह करना चाहिये। इससे प्लीहा शान्त हो जाती है। इसकी विपरीत ा में यकृत् में करना चाहिये'[1]।

शस्त्रकर्म चिकित्सा— बद्धगुद, परिस्रावी और जलोदर के रोगियों में कर्म के द्वारा चिकित्सा की जाती है। बद्धगुद और परिस्रावी उदर के गियों में 'लेप्रेटामी' (Lapratomy) और जलोदर में 'टैपिङ्ग' Tapping) नामक शस्त्रक्रिया के द्वारा चिकित्सा की जाती है। सुश्रुत के में ये कर्म किये जाते रहे उसका अविकल वर्णन नीचे दिया जाता है।

'बद्धगुद (A. Intestinal obstruction) और परिस्रावी Acute Diffuse peritonitis due to perforation of the wel) नामक उदर के रोगियों में—

पूर्व कर्म—स्नेहन और स्वेदन करके २. स्थानिक अभ्यङ्ग नाभि के के भाग में करे।

प्र० कर्म—१. नाभि के नीचे (Below unbelicus) के भाग में, र के मध्य रेखा के चार अङ्गुल की दूरी पर बायें तरफ उदर का पाटन Incision) करे। उदर को एक विशेष प्रकार के शस्त्र से खोलना चाहिये था शस्त्र का प्रयोग अनुलोम करना चाहिये। २. फिर वहाँ पर भेदन चार ङ्गुल का करना चाहिये और उसी चार अङ्गुल की दूरी में ही आन्त्र को छी तरह से निकाल कर निरीक्षण करना चाहिये। २. फिर आन्त्र में जिस ान पर आन्त्र का अवरोध करने वाले पदार्थ, कङ्कड़, काल या मल का ही ष्ट हो उसे आन्त्र के चिरा देकर खोलकर निकाले और साफ करके ४. तों को मधु और घी से लेप करके पुनः यथास्थान यथास्थिति करके ५. र के बाह्य व्रण का भी सीवन करे।'[2]

---

१. मणिबन्धं सकृन्नाम्य वामाङ्गुष्ठसमीरिताम्।
दहेत्सिरां शरेणाशु वैद्यः प्लीहः प्रशान्तये॥ (सु० चि० १४)

२. बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्याधोनाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय मराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणमन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यान्त्ररोधकरमश्मानं वालं वाऽपोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थानं पयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत्। (सु० चि० १४)

आधुनिक युग में भी उदर को खोलते हुए नाभि के नीचे और पेशियों में ही भेदन किया जाता है। (Open Abdomen below cus through rectus incisions) पुनः उदरगुहा के अनावृत हो पश्चात् पूरी आंत की दशा को उण्डुक से आरम्भ करके देख जाते हैं- कारण के अनुसार कार्य करते हुए विकृति को दूर करते हैं। यदि शल्य के कारण आन्त्रों में अवरोध हो जैसा कि सुश्रुत ने वर्णन किया तो अवरोध के स्थल पर (Open bowel & remove the Cause obstruction) आन्त्र को चीरकर अवरोध कर दूर करना होता है।[1] 'लेम्बर्ट' की विधि से सीवन देकर व्रण का मुख बन्द कर देते हैं।

परिस्रावी में भी पूर्वकर्म में कोई अन्तर नहीं आता। प्रधान कर्म में भी १. 'उदर का पाटन मध्य रेखा के चार अङ्गुल की दूरी पर बायें तरफ जाता है। २. आन्त्रगत शल्य को निकालना ३. आन्त्र के स्रावों का करना चाहिये। ४. तत्पश्चात् पूर्ण शोधन हो जाने के पश्चात् आन्त्र के सन्धान करके आन्त्र को घी, मधु और मुलैठी के लिप्त करके यथास्थान करके, उदर के बाहरी व्रण का भी पूर्ववत् सीवन कर व्रण को बन्द चाहिये। ५. पश्चात् उदर पर मुलैठी और बारीक पिसी काली मिट्टी का करके बन्धन कर देना चाहिये।'[2]

आधुनिक युग में भी सद्रव उदरावरण शोफ में उपर्युक्त क्रिया ही जाती है इसमें मध्य रेखा के समीप में लम्बा भेदन (Incision vertical near the middle line) देकर उदर को खोलते हैं। के अनुसार उस विकृति को दूर करते हैं। यदि आन्त्र छिद्र की वजह परिस्राव्युदर हो तो स्थान को निःशल्य करके वहाँ के स्रावादि को दूर और आवश्यकतानुसार उदरावरण का प्रक्षालन भी करते हैं। पश्चात् वहाँ धातु यदि स्वस्थ हों तो छिद्र को कैटगट के सूत्रों से सन्धित कर यथास्थान करके पश्चात् उदर के प्राचीर के बाहरी व्रण को सीवन को टाँकों से मुख बन्द कर देते हैं।

---

[1] १. चरक ने बद्धगुद के कारणभूत आन्त्र-सम्मूर्छन (Volvulus) नामक भी ठीक करने को बतलाया है। आगे की टिप्पणी देखें।

[2] २. परिस्राविण्यप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान् संशोध्य, तच्छिद्रमन्त्रं समाधाय। (सु० चि०

उपर्युक्त शस्त्रकर्मों में दो प्रकार की सीवन की स्पष्टतया आवश्यकता पड़ती । एक ऐसी सीवन जिसका आन्त्रों के संधान में व्यवहार किया जा सके जिसके उदर के भीतर पड़े रहने पर भी कोई हानि शरीर को न पहुँच । निश्चित रूप से वह सीवन सेन्द्रिय (Organic) होनी चाहिये जिससे र में कालान्तर में वह शोषित हो जाय और शल्यवत् बाधक न हो। निक युग में 'कैटगट' के सीवन इसी उद्देश्य के साधक हैं। आन्त्र की सीवन के द्वारा की जाती है।

प्राचीन युग में इसके अभाव में आचार्यों ने बड़ा उत्तम विधान किया है। है 'काल[1] पिपीलिका'—काले बड़े चीटें। आन्त्रगत छिद्र को एक सीधी में ठीक से मिलान कर उन चीटों के अंकुशमुख से दंश कराया जाता है। करते समय वह जोर से दबाकर पकड़ लेता है। इस प्रकार कई चीटों के कटवा कर पूरी आन्त्र छिद्र को ढक देना चाहिये। जब ये चींटे अच्छी से पकड़ लें तब उनके धड़ का भाग काटकर निकाल देना चाहिये, सिर ही पड़ा रहेगा जिससे दंश के द्वारा संधान स्थायी बना रहे। सद्योव्रण त्सा में भी इस विधि का उल्लेख मिलेगा।

पश्चात् कर्म—

१. तत्पश्चात् निवातागार में रोगी को ले जाकर रखे और उसके लिये र विहार की व्यवस्था कर दे।

२. आध्मान, मर्माभिघात (Shock) इत्यादि से रोगी को रक्षा करने के तैल से भरी या घृत से भरी द्रोणी में रोगी को रखना चाहिये।

३. रोगी को खाने के लिये दूध और मांसरस का विशेष प्रयोग ना चाहिये।[2]

जलोदर का शस्त्रकर्म (Tapping of the Abdomen)[3]

च्छिद्रमन्त्रं समाधाय कालपिपीलिकाभिर्दंशयेत्, दष्टे च तासां कायानपहरेत् न शिरांसि। र्ववत् सीव्येत् संधानञ्च यथोक्तं कारयेत्। यष्टीमधुकमिश्रया च कृष्णमृदावलिप्य नोपाचरेत् ॥ (सु. चि. १४)

ततो निवातमागारं प्रवेश्याचारिकमुपदिशेद् वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा पयोवृत्तिमिति। (सु० चि० १४)

उदकोदरिणस्तु वातहरतैलाभ्यक्तस्योष्णोदकस्विन्नस्य स्थितस्याप्तैः सुपरिगृहीतस्या-

पूर्वकर्म—१. वातघ्न तैलों का अभ्यङ्ग और उदर पर उष्णज स्वेदन। २. स्थिर करके सदाचारी परिचारकों के द्वारा शरीर को निश्चे रखना। ३. अक्षक के नीचे से आरम्भ करके नाभि के नीचे के भाग तक व के द्वारा परिवेष्टित करके रखना।

प्र. कर्म—१. नाभि के नीचे के भाग में मध्य भाग से चार अंगु दूरी पर बायें तरफ व्रीहिमुख शस्त्र के द्वारा अंगुष्ठ के उदर के परिमाण में गहराई में (अवगाढ़) वेधन करे। २. पश्चात् उसमें पित्तल प्रभृति धातुओं बनी नाड़ी (Canula) या अन्य किसी द्विद्वारा नाड़ी या पक्षियों के की बनी नाड़ी के सहारे दोषोदक को निकालना चाहिये। ३. पश्चात् दोषोदक की निर्दिष्ट मात्रा निकल जाय तो व्रण स्थान पर तैल और लवण का अभ्यङ्ग करके व्रण का बन्धन कर देना चाहिये। ४. एक ही दि सम्पूर्ण दोषोदक नहीं निकलना चाहिये; क्योंकि सहसा (भार का) कम करने से तृष्णा, ज्वर, अंगमर्द, अतीसार, श्वास, पाददाह, इत्यादि उपद्रव लगते हैं। वायु के द्वारा सम्पूर्ण उदर आनाहयुक्त होकर सद्यः प्राण (Collapse of the heart) हो जाता है। ५. अस्तु तृतीय, पञ्चम, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश और षोडश दिनों के अन्तर से दो (acumulated fluid) को थोड़ा थोड़ा करके निकालना चाहिये। ६. दो निःसृत हो जाने पर भी उदर को महीन वस्त्र-आविक या रेशम अथवा द्वारा पट्टी बाँध कर वेष्टन करके रखना चाहिये। इस प्रकार के बन्धन यह होता है कि वायु के द्वारा आध्मान नहीं होने पाता।[1]

कक्षात् परिवेष्टितस्याधोनाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदर मवगाढं विध्येत्, तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोद सिञ्चेत्। ततो नाडीमपहृत्य तैललवणेनाभ्यज्य व्रणं बन्धनेनोपाचरेत्। (सु. चि. १४)

[1] वामं कुक्षिं मापयित्वा नाभितश्चतुरङ्गुलम्। मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् मूर्च्छनाद्यच्च सम्मूढमन्त्रं तत्र विमोक्षयेत्। छिद्राण्यन्त्रस्य तु स्थूलैर्दंशयित्वा पिपीलि बहुशः संगृहीतानि ज्ञात्वा छित्त्वा पिपीलिकान्। प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं प्रेयैः सीव्येद् व्र तथा जातोदकं सर्वमुदरं व्यधयेद् भिषक्। वामपार्श्वे त्वधोनाभेर्नाडीं दत्त्वा च गाढ निःस्राव्य च विमृज्यैतद्वेष्टयेद्वाससोदरम्। तथा बस्तिविरेकाद्यैर्म्लानं सर्वञ्च वेष्टयेत्॥
(च॰ चि॰ १३

पश्चात् कर्म—१. रोगी को निवातागार में ले जाकर आराम से शय्या रखे तथा आहार और आचार का यथोद्दिष्ट विधान करे।

२. व्याधित को छः मास तक दूध पर रखे अथवा जङ्गली पशु और पक्षियों मांसरस पर रखे।[1]

३. उसके बाद तीन मास तक दूध में आधा जल मिलाकर दूध पीने को इस काल में उसे फलाम्ल और जाङ्गल पशुओं के मांसरस का प्रयोग जल साथ किया जा सकता है।

४. अवशिष्ट अन्त के तीन महीनों में लघु और हित अन्न का सेवन रोगी सकता है। इस प्रकार जलोदर की चिकित्सा में पूरे एक वर्षका समय लगता पश्चात् रोगी रोगमुक्त हो जाता है।

आधुनिक युग में भी नवीन ग्रन्थों में व्रीहिमुख शस्त्र और नाडी (Tror & canula) का व्यवहार उदरवेधन (Tapping of the abdoen) में होता है, परन्तु वह क्रिया अल्पकालीन आराम (Temporary lief) के लिये होती है। इससे रोगी निरोग नहीं हो पाता। यदि चरक या त के मतानुसार उसको एक वर्ष की अवधि तक कड़े पथ्य (Restricted-et) पर रखा जाय तो, वह निश्चितरूप से रोगमुक्त हो सकता है।[2]

* * *

नचैकस्मिन्नेव दिवसे सर्वं दोषोदकमपहरेत् सहसा ह्यपहृते तृष्णाज्वराङ्गमर्दातिसारश्वासपाददाहा उत्पद्येरन्नापूर्यते वा भृशतरमुदरमसंजातप्राणस्य, तस्मात्तृतीय चतुर्थपञ्चमषष्ठाष्टमदशमद्वादशषोडशरात्राणामन्यतममन्तरीकृत्य दोषोदकमल्पाल्पमवसिञ्चेत्। निःसृते च दोषे गाढतरमाविककौशेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरं तथा नाध्मापयति वायुः। (सु. चि. १४)

षण्मासांश्च पयसा भोज्येज्जाङ्गलरसेन वा। ततस्त्रीन्मासानर्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जाङ्गलरसेन वा। अवशिष्टं मासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेत। एवं संवत्सरेणागदो भवति। (सु. चि. १४)

एकविंश प्रकरण

अश्मरीनिदानचिकित्सीयाध्याय

(Diagnosis & Treatment of Vesical calculus)

व्याख्या—नये घड़े में रखे हुए स्वच्छ जल में भी जैसे कुछ पश्चात् कीचड़ (अवक्षेप=Precipitate) जम जाता है वैसे ही वस्तिस्थ (मूत्रके अवक्षेपों से) कुछ काल के पश्चात् अश्मरी की उत्पत्ति होती।[1]

जैसे आकाशस्थ जल को वायु और बिजली की अग्नि बांध कर देती है वैसे बस्तिस्थान में प्राप्त हुए कफ को वायु से युक्त पित्त जमाकर बना देती है।[2]

ऊपर की दोनों व्याख्याओं में अश्मरी की उत्पत्ति की व्याख्या की आधुनिक शास्त्रज्ञ भी उपर्युक्त सिद्धान्त से सहमत हैं। वृक्कस्थ नलियों द्वारा किसी कारण से मूत्र में यूरिक एसिड, यूरेट्स, आक्जेलेट्स इत्यादि अधिक मात्रा में उत्सर्जित होते हैं, तब मूत्रस्थ जलांश में इनका विलयन कठिन हो जाता है इसलिये उनका कुछ सूक्ष्म स्फटिक के रूप में वृक्क में, के ऊर्ध्व भाग में या बस्ति में अवक्षिप्त हो जाता है और उसके चारों ओर के कण सङ्गठित होकर अश्मरी बनती है। कभी-कभी लवणों के श्लेष्मा, जमे हुए रक्त का थक्का या कृमियों के अण्डे (Ova of Bilhar केन्द्र रूप में पाये जाते हैं एवं उनके ऊपर विविध प्रकार के लवणों का होकर अश्मरी बन जाती है। लवणों के अवक्षेपण में मूत्र की प्रतिक्रिया सहायता देती है। मूत्र की प्रतिक्रिया विशेष अम्ल होने पर पित्ताश्मरी (acid stone) और विशेष क्षारीय होने पर श्लेष्माश्मरी (Phosp stone) बनती है।

'वायु अनुकूल होने पर बस्ति में मूत्र की ठीक ठीक प्रवृत्ति हो और प्रतिकूल होने पर विविध विकार होते हैं। मूत्राघात, प्रमेह,

---

१. अप्सु स्वच्छास्वपि यथा निषिक्तासु नवे घटे।
कालान्तरेण पङ्कः स्यादश्मरीसम्भवस्तथा॥ (सु. नि. ३)

२. संहन्त्यपो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः।
तद्वद् बलासं बस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः॥ (सु. नि ३)

या अन्यान्य मूत्र-विकार अश्मरी प्रभृति बस्ति में रोग वायु के विगुण होने से होते हैं।[1]

अश्मरी को भाषा में पथरी, अंग्रेजी में 'कैल्कुलस' (Calculus) कहते । इन अश्मरियों में अवस्थान के अनुसार विभिन्न अवस्थायें हो सकती हैं, जैसे क्काश्मरी, गवीन्यश्मरी तथा बस्त्यश्मरी। आगे का वर्णन विशेषतः बस्तिगत री (Vesical calculus) से ही सम्बन्धित है। अश्मा (पत्थर) के मान कठिन होने से व्याधि को अश्मरी या पथरी कहते हैं।

हेतु और सम्प्राप्ति—अश्मरियाँ मलरूप श्लेष्मा को अधिष्ठान अर्थात् केन्द्र के उत्पन्न होती हैं। (श्लेष्माधिष्ठान)—आधुनिक काल में अश्मरी का व्यत्यस्त न करके यह बात सिद्ध हुई है कि अधिकतर अश्मरियों का केन्द्र (Nucleus) े हुए श्लेष्मा या 'म्युकस' का बना होता है। कभी-कभी केन्द्र में रक्त का ा जीवाणु या कृमियों के अण्डे भी मिलते हैं। इसी केन्द्र के ऊपर से लवण ठित हो जाने से अश्मरीबनती है।

अश्मरी की उत्पत्ति में प्रकार-भेद से कारण भी अनेक हो सकते हैं तथापि शोधन का अभाव और आहार-विहार का अपथ्य में ही दो प्रधान कारण मान्यतया मिलते हैं।[2]

'पंचकर्मों से शरीर का संशोधन न करने वाले तथा कुपथ्य से रहने वाले ुष्य का कुपित हुआ कफ मूत्र में मिलकर बस्ति में प्रविष्ट होकर अश्मरी को दा करता है।'

संशोधन का अभाव तथा विहार-आहार का अपथ्य—

१. अधिक देर तक मूत्र के वेगों का धारण। २. कड़ी धूप में अधिक देर तक श्रम करने से, कम पानी पीने से या स्वेद के कारण अधिक जलांश के नष्ट हो ने से मूत्र में घने पदार्थों की राशि का बढ़ना। ३. गरिष्ठ पदार्थों का अति वन, मिष्टान्न का सेवन। ४. दूध की कमी। ५. मंदाग्नि। ६ विबंध। ७. व्याया- भाव। ८. क्षारीय पदार्थों का—जैसे हरे शाक-सब्जी अथवा लवण का सेवन न

मारुते प्रगुणे बस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्त्तते। विकारा विविधाश्चापि प्रतिलोमे भवन्ति हि॥ (सु. नि. ३)

'दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धगुरुमधुराहारप्रियत्वाद्।' (सु. नि. ३)

करना, इनके अभाव में मूत्रल और मृदु रेचन की क्रिया द्वारा शोधन नहीं पाता। ९. पीने के पानी में खटिक की मात्रा का अधिक होना। इसके अति मस्तिष्क दौर्बल्य और वातरक्त के रोगियों में पथरी का विकार अधिक देखा है। १०. आयु के अनुसार–यह रोग बच्चों और युवकों में अधिक पाया है। ११. लिङ्गानुसार–स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। १२. नुसार–शीत प्रदेशों की अपेक्षा उष्ण प्रदेशों में अधिक पाया जाता है।

अश्मरी की उत्पत्ति सूक्ष्म रूप से प्रथम वृक्क या गवीनी में ही होती वह छोटी अश्मरी बस्ति में पहुंच कर यदि बाहर मूत्र के द्वारा न निकल पाये वही स्थिर होकर केन्द्र का कार्य करती हैं। इसके चारों ओर मूत्रस्थ खनि कणों के स्तर संगठित होकर पूर्ण अश्मरी बन जाती है।

बस्तिगत अश्मरी रोग का पूर्वरूप—बस्ति स्थान में पीडा, मूत्र का त्याग, बस्ति, वस्तिशिर–(Internal urethral orifice) और शिश्न में वेदना, मूत्रकृच्छ्र के कारण ज्वर और कमजोरी तथा उन्मत्त बकरे की सी गन्ध आती है।

अश्मरी के पूर्वरूप में मनुष्य दोषानुसार वेदना और वर्णयुक्त, दूषित दार एवं मैला मूत्र कष्ट से त्याग करता।

सामान्य लक्षण या रूप—[1] अश्मरी के पूर्ण हो जाने पर उपर्युक्त और स्पष्ट मिलने लगते हैं। मूत्र त्याग करते समय नाभि, बस्ति, सेवनी, इन अंगों में से कहीं न कहीं पर वेदना होती है। मूत्र-मार्ग में अश्मरी के रुकावट होने मूत्र की धारा रुक (संग) जाती है। अश्मरी की रगड़ होने से मूत्र में रक्त आने लगता है। अवरोध के कारण मूत्र की धार टेढ़ी है। गोमेदक के समान स्वच्छ मूत्र सिकता के साथ निकलता है। दौड़ने, तैरने, सवारी करने और मार्ग में चलने से रोगी के बस्ति-विभाग में पीडा होती

श्लेष्माश्मरी—अत्यन्त श्लेष्मलाहार करने वाले का श्लेष्मा संगठित यथोक्त वृद्धि को प्राप्त होकर तथा बस्तिमुख में अवस्थित होकर मूत्रमार्ग

---

[1] सामान्यलिङ्गं रुङ्नाभिसेवनीबस्तिमूर्धसु। विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधी तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम्। तत्संक्षोभात् क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्
(भा० म० खि

क देता है । मूत्रमार्ग के बंद हो जाने पर अधिक राशि में संचित हुए मूत्र के तिघात के कारण बस्ति विदीर्ण हुआ और व्यथित हुआ सा होता है । कई र बस्ति विशीर्ण हुई सी मालूम होती है । बस्तिस्थान भारी और ठंडा मालूम ता है । इसमें पथरी, सफ़ेद, चिकनी, बड़ी, मुर्गे के अण्डे (कुक्कुटाण्ड प्रती-शा) अथवा महुए के फूल के वर्ण की होती है ।

कफाश्मरी के रंग रूपादि का विचार करने पर इसका मेल आधुनिक स्फेटिक कैलकुलस' से होता है । प्रायः यह अश्मरी, अमोनियम्, मैग्नेशियम र चूने के फास्फेट से बनी वर्ण में श्वेत और स्पर्श में चिकनी कफाश्मरी की ति होती है ।

पित्ताश्मरी—पित्तयुक्त श्लेष्मा संगठित और यथोक्त परिवृद्धि को प्राप्त कर बस्तिमुख में अधिष्ठान करके मूत्र मार्ग को रोक देता है । इस रुकावट से त हुए मूत्र के प्रतिघात के कारण बस्ति मानो तप रहा है, झुलस रहा है, रहा है ऐसा प्रतीत होता है । साथ ही उष्णवातवत् मूत्र में जलन होती है । अवस्था में पथरी लालिमा और पीलापन लिये काली भल्लातक की गुठली-या शहद के रंग की होती है ।

पित्ताश्मरी के रंग-रूपादि का विचार करने पर इसका सादृश्य अंग्रेजी के रिक एसिड कैल्कुलस' से होता है । यह अवस्था जब मूत्र में अम्ल प्रतिक्रिया त बढ़ जाती है, तब आती है । जब मूत्र में यूरिक एसिड, अमोनियम यूरेट ति घने लवण उत्सर्जित रहते हैं । शरीर में जलांश की मात्रा कम होने पर अश्मरी अधिक बनती है ।

वाताश्मरी—वातयुक्त श्लेष्मा संगठित और परिवृद्धि को प्राप्त होकर, स्ति मुख में अधिष्ठान करके मूत्र को रोक देता है; मूत्र की रुकावट के कारण गी को तीव्र वेदना होती है । तीव्र वेदना से प्रेरित हुआ रोगी दाँतों को पीसता नाभि को दबाता है, शिश्न को मसलता है, गुदा को छूता है; कराहता है विशर्धते), परितप्त रहता है, मूत्र-त्याग करते समय अधोवात, मूत्र तथा मल कठिनाई से निकलता है । वाताश्मरी श्याव वर्ण, कड़ी, टेढ़ी, खुरदरी और म्ब-पुष्प के सदृश कंटकों से व्याप्त (कंटकाचिता) होती है ।

वाताश्मरी का मेल अंग्रेजी के 'आकजलेट कैलकुलस' से है । यह अश्मरी भी

वाताश्मरी सदृश श्याव, विषम और कंटकाचित होती है। इसकी
आधुनिक लेखकों ने शहतूत से की है जिसकी सुश्रुत ने 'कदम्बपुष्प'
उपमा दी है।

शुक्राश्मरी—मैथुन के अभिघात से या अत्यन्त मैथुन करने से
स्थान से चलायमान शुक्र जब बाहर निकल कर उल्टा गमन करने लगता है,
उसे वायु पकड़कर शिश्न और वृषण के बीच में इकट्ठा करती है। जब
करके सुखाकर कड़ा कर देती है, तब अश्मरी बन जाती है। वह अश्मरी
मार्ग को रोक देती है। मूत्रकृच्छ्र, बस्तिविभाग में पीडा और वृषण पर
पैदा करती है, दबाने पर उसी प्रदेश में विलीन हो जाती है। इन लक्षणों
युक्त अश्मरी को शुक्राश्मरी (Spermolith) कहते हैं।[1]

अश्मरी के प्रकार—ऊपर में अश्मरी के चार प्रकार बतलाये
उनमें तीन तो दोषानुसार पृथक्-पृथक् दोषों से और चौथा दूष्य
बनती है। आधुनिक ग्रन्थों में रासायनिक सङ्गठन के आनुसार अश्मरियों
भेद किये जाते हैं। इनकी आकृति, वर्ण और स्पर्श के आधार पर
तुलना प्राचीन वर्णनों के साथ की गई है।

अश्मरी

प्राचीन **अर्वाचीन**

१. वाताश्मरी Calcium oxalate calculus (मूत्र की क्षारीय प्रति
२. पित्ताश्मरी Uric acid calculus (मूत्र की अम्ल प्रतिक्रिया में)
३. श्लेष्माश्मरी Phosphatic calculus (मूत्र की क्षारीय प्रतिक्रिया
४. शुक्राश्मरी Spermolith

---

१. मैथुनाभिघातादतिमैथुनाद्वा शुक्रं चलितमनिर्गच्छद्विमार्गगमनादनिलोऽभि
मेढ्रवृषणयोरन्तरे संहरति संहृत्य चोपशोषयति, सा मूत्रमार्गमावृणोति, मूत्रकृच्छ्
वेदनां वृषणयोश्च श्वयथुमापादयति पीडितमात्रे च तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रविलयमा
शुक्राश्मरीमिति विद्यात् । (सु. नि. ३)

इनमें उपर्युक्त तीन प्रकार की अश्मरियाँ अकसर बच्चों में ही हुआ करती । क्योंकि अश्मर्युत्पादक हेतु, बच्चों में अधिक सुलभ हैं। जैसे दिन में सोना, ाहित संयुक्त आहार का सेवन, अध्यशन, शीतल, स्निग्ध, गरिष्ठ (Proti- ous substances) और मधुर आहार का सेवन इत्यादि वस्तुयें बालकों को धिक प्रिय होती हैं। उनकी बस्ति तथा शरीर के छोटा होने से तथा बस्ति के ले होने से अश्मरियों का यन्त्र के द्वारा ग्रहण तथा आहरण सहज ही में हो कता है। परन्तु शुक्राश्मरी केवल बड़े उमर के आदमियों में ही मिलती है।

अश्मरी के कुछ अन्य प्रकार (शर्करा)[1]—अश्मरी से पीड़ित रोगियों मूत्र के साथ कई प्रकार के गाढ़े कणदार पदार्थ उत्सर्जित होते रहते हैं। यदि रोगियों के मूत्र को किसी काँच-जैसे पारदर्शक पात्र में संग्रह किया जाय नीचे में कुछ तलछट (Sediments) मिलते हैं। ये तलछट कई प्रकार हो सकते हैं। परन्तु वर्णतः उनको तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। कई बार ये वर्ण के, कभी-कभी ईषत् श्वेत श्याम वर्ण के और कई वार कृष्ण भस्म (राख के रङ्ग के) होते हैं। इन्हीं को क्रमशः शर्करा, सिकता, भस्मकमेह गया है। ये तीनों मेह अश्मरी के ही विकृति कहे गये हैं। इस प्रकार के को एक शब्द में शर्करा (Passing of gravel) कहते हैं।

अश्मरी तथा शर्करा—स्वरूप और लक्षण में अश्मरी और शर्करा को ान जानना चाहिये। अश्मरी और शर्करा का उपादान एक होने से दोनों का स्वरूप भी एक सा होता है। तथा दोनों के लक्षण भी एक समान होते हैं। श्मरी ही वायु से विदीर्ण होने पर शर्करा कहलाती है।' बस्तिगताश्मरी मूत्र की गुरुता अथवा "प्रतिक्रिया में फर्क आने पर अपने आप विदीर्ण हो ती है और क्रमशः मूत्र के साथ निकलती रहती है तो इस अवस्था में उसको र्करा कहते हैं।

अश्मरी के हेतु और सम्प्राप्ति में हम लोग देख चुके हैं कि सूक्ष्माश्मरियां वृक्क गवीनी में बनती हैं और वे समय-समय पर मूत्राशय में आकर मूत्र से उत्स- हो जाती हैं। यदि वे संगृहीत होकर बड़ी अश्मरी का (बस्तिस्थ) रूप न

---

[1] शर्करा सिकतामेहो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम्। एवमेव प्रवेशेन वातः पित्तं कफोऽपि वा। मूत्रयुक्त उपस्नेहात् प्रविश्य कुरुतेऽश्मरीम् ॥ (सु० नि० ३)

ले लें तो शर्करा ही कहलायेंगी। फलतः शर्करा और अश्मरी एक ही प्र की व्याधियाँ हैं, उनमें केवल अवस्था का अन्तर है।

भेद केवल इतना ही है कि 'वायु अनुकूल होने पर शर्करा मूत्र के स अल्प मात्रा में निकलती रहती है और वायु प्रतिकूल होने पर अँटक जाती परन्तु अश्मरी वायु के अनुकूल होने पर भी नहीं निकल सकती।'[1]

शर्करा के लक्षण—हृदय में पीड़ा, अधःशाखा में थकावट क साथ कुक्षिशूल, प्यास, ऊर्ध्ववात, कृशता, दौर्बल्य, शरीर का पाण्डुवर्ण हो अरुचि और अजीर्ण शर्करा से पीड़ित रोगियों में होता है।

ये लक्षण बड़े तीव्र स्वरूप के हैं जब शर्करा वृक्क और गवीनी में स्थि तो ऐसे लक्षण मिलते हैं, परन्तु यदि शर्करा बस्ति में आ गई हो तो लक्षण तीव्र नहीं होते। जितना ही स्थान संकीर्ण और अश्मरी की बनावट खुर होगी उतनी ही वेदना अधिक होती है।

मूत्रमार्गप्रवृत्ता अश्मरी के लक्षण—मूत्रमार्ग से यहाँ पर बस्ति नीचे का स्रोत (urethra) या प्रसेक अथवा बस्ति के ऊपर का अर्थात् वृक्क वस्ति तक आने वाला स्रोत (ureter) या गवीनी दोनों का ग्रहण हो है। मूत्रमार्ग में नीचे की ओर उतरने के लिये प्रवृत्त होने पर रास्ता तंग हो कारण जब शर्करा अँटकती है तब कमजोरी, अवसाद, कृशता, कुक्षि में शूल, अरुचि शरीर में फीकापन, बराबर रक्त के साथ बूंद बूंद करके मूत्र करना, तृष्णा, हृदयप्रदेश में पीड़ा और वमन प्रभृति उपद्रव होते हैं।

इस प्रकार का तीव्र शूल वृक्कस्थ अश्मरी में होता है। यह शूल जब नीचे की ओर वृक्क से बस्ति की ओर गवीनी के मार्ग से जाने लगती है होता है। इसमें एक तरफ में कुक्षिशूल होना एक प्रधान लक्षण है। वह कुक्षि प्रदेश में एक ही ओर से प्रारंभ होकर नीचे की ओर उसी तरफ के

---

[1] अश्मर्याः शर्करा ज्ञेया तुल्यव्यञ्जनवेदना। पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विदे
(प्रतिलोमे विबध्यते अ०
सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते। (सु० नि० ३)

शर्करा में कई प्रकार के Deposits या Sediments आ जाते हैं जैसे Brick deposit, phosphate, uric acid urates, casts. etc.

चला जाता है । जब शर्करा कंटकावृत या खुरदरी होती है, तब शूल इतना होता है कि रोगी उससे व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाता है । कभी कभी घात (Suppression of urine) भी हो जाता है । जब शर्करा बस्ति आ जाती है । पुनः जब मूत्र प्रसेक द्वारा शर्करा बाहर आने लगती है तो अल्प होती है ।

इस प्रकार के तीव्र पीडायुक्त शूल को वृक्कशूल (Renal colic) कहते । इसी शूल का विशेष लक्षण सुश्रुत ने उत्तरतंत्र में मूत्रकृच्छ्र प्रतिषेध नामक याय में किया है—'उन छोटी गुडिकाकृति शर्करा या अश्मरियों के द्वारा र्छा और दारुण मूत्राघात होता है, मूत्र के वेग के मोक्ष हो जाने पर पीड़ा त हो जाती है और तब तक शान्त रहती है जब तक कोई दूसरी गुडिका में न अँटक जावे ।"[1]

कुछ लोगों ने वातरोगाधिकार में पठित तूनी व्याधि को भी वृक्कशूल Renal colic) बतलाया है जिसमें 'वेदना वर्चाशय और मूत्राशय से उठ नीचे की ओर गुदा और उपस्थ तक जाती है ।'[2] यह वेदना निश्चितरूप से स्वरूप की होती है जो सम्भवतः वस्तिगत अश्मरी में जब उनके कण मूत्र-ं (urethra) से प्रवृत्त हो कर मूत्रकृच्छ्र और गुदा तथा मेढ्र प्रदेश में ा करते हैं—उस अवस्था का वर्णन है ।

अश्मरी-चिकित्सा—'अश्मरी एक बड़ी दारुण व्याधि है जो यमराज के स कष्ट देती है । यदि वह तरुण हो अर्थात् तत्काल उत्पन्न हुई हो तो औषधि प्रयोग से ठीक हो जाती है, अन्यथा बहुत बढ़ जाने पर उसका एक मात्र त्र कर्म ही उपाय है ।[3] कुछ ऐसी अश्मरीघ्न औषधियाँ (Lithotriptic) ती हैं जिनके आभ्यन्तर प्रयोग से मूत्र की गुरुता कम हो जाती है तथा मूत्र की क्रिया बदल जाती है, जिसके परिणामस्वरूप छोटी छोटी या बड़ी नवजात मरियाँ विदीर्ण (Spontaneous Fracture) हो जाती हैं । जैसे वरुण,

---

[1] ताभिर्भवति मूर्च्छा च मूत्राघातश्च दारुणः । मूत्रवेगनिरस्तासु तासु शाम्यति वेदना ॥ (सु० उ० ५९)

[2] अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता । भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः ॥ (सु० नि० १)

[3] अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः । औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति ॥ (सु० चि० ७)

कुश, काश, पाषाणभेद, यवक्षारादि । यदि इनके प्रयोग से भी अश्मरी वि
हो तो शस्त्रक्रिया करके मूत्राशय में अश्मरी का भञ्जन करके निकालना हो

कई बार अश्मरी के पूर्वरूप के द्वारा भविष्य में अश्मरी के बनने का
हो जाता है, उस अवस्था में केवल स्नेहादि क्रम के द्वारा ही चिकित्सा
जाती है। स्नेहन और स्वेदन के कर्म से ही यदि अश्परी बनने के पूर्व
हो गया हो तो उसका अपचय हो कर रोग समूल नष्ट हो जाता है।

वाताश्मरी में अश्मरीघ्न द्रव्य—पाषाणभेद, वकपुष्प, मर्कटतृण,
न्तक, शतावरी, गोक्षुर, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, कपोतवङ्का, आर्त्तगल,
(कवहक मालव प्रसिद्ध) (पाठा० अर्जुन), उशीर, गुञ्जा, वन्दाक (वृक्षा
सोनापाठा, वरुण, शाकफल, यव, कुलत्थ, निर्मली, अतसी (अतसी के
को लेकर पानी में भिगो देना चाहिये फिर उसको कूंट कर उसका रस नि
सेवन करना चाहिये। यह विधि शुष्क तृणों के सम्बंध में है यदि ताजा
जावे तो उस का स्वरस अश्मरी में लाभप्रद पाया जाता है।) ऊपकारि
वाप—ये वनौषधियां वाताश्मरी का सद्योभेदन करती हैं।

उपर्युक्त ओषधियों से कृत क्वाथ, क्षार, यवागू, यूष तथा सिद्ध क्षीर एवं
अथवा भोजन का प्रयोग करना चाहिये। ये सभी प्रयोग वातघ्न होने चाहि

पित्ताश्मरी में अश्मरीघ्न द्रव्य—कुश, काश, सर, गुन्द्रा, उत्कट
मूल, पाषाणभेद, शतावरी, विदारी, वाराही, धान की जड़, गोखरू,
पाटला, पाठा, शरबालिका, शरबालिका भेद (कुरण्टिका,), पुनर्नवा, शिरी
द्रव्यों, के क्वाथ अथवा इनसे सिद्ध घृत का प्रयोग। शिलाजीत, मुलैठी,
के बीज, ककड़ी और खीरा के बीज का प्रक्षेपरूप में प्रयोग करने से पित्त
अश्मरी का क्षिप्र भेदन हो जाता है। इनके अतिरिक्त पथ्यरूप में क्षार,
यूष, कषाय, क्षीर और भोजन जो पित्तघ्न हो ऐसा प्रयोग करना चाहिये।

श्लेष्माश्मरी में अश्मरीघ्न द्रव्य—वरुणादिगण की वनस्
गुग्गुलु, एला, हरेणु, भद्रदार्वादि गण की ओषधियाँ, मरिच, चित्रक, देवदारु
परूषकादि गण के द्रव्य—इन द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग क्षिप्र भेदन
है। यह घृत यदि अजा का हो तो अधिक श्रेष्ठ है। इनके अतिरिक्त श्ले
क्षार, यवागू, यूष, कषाय, क्षीर और भोजन का प्रयोग करना चाहिये।

शुक्राश्मरी—शुक्राश्मरी में कफाश्मरी की ही चिकित्सा करते हैं।

और शुक्र दोनों तुल्य गुण वाले माने जाते हैं। कुछ शर्करा-शामक तथा र्करा-पातक सामान्य योग हैं, इन योगों का विशेषतः शर्करा में प्रयोग होता है, न्तु अश्मरी की चिकित्सा में इनका दोषनिरपेक्ष उपयोग हो सकता है।

१. कार्पासफल, अङ्कोल, निर्मली, इन्दीवरफल (कमलगट्टा) इन द्रव्यों के के समान भाग में गुड मिला कर पीना चाहिये । ऊपर से पानी पी लेना हिये। चूर्ण के साथ गुड की मात्रा का यह सामान्य नियम है—'यदि चूर्ण ही ा हो तो समान भाग में गुड मिलावे और यदि मोदक बनाना हो तो गुड की ा चूर्ण से द्विगुण होना चाहिये।'[1]

२. क्रौंचपक्षी, ऊँट और गदहे की अस्थि, गोक्षुर, मुसली, अजमोद, कदम्ब-और शुण्ठी का समान भाग में बनाया हुआ चूर्ण सुरा अथवा उष्ण जल के सेवन करने से शर्करा का भेदन हो कर पातन हो जाता है।

३. गोखरू के वीज का चूर्ण बना कर मधु के साथ मिलाकर भेंड़ (अवि) दूध के साथ एक सप्ताह तक सेवन करने से अश्मरी का भेदन और शर्करा शमन हो जाता है।[2]

४. उपर्युक्त घृत सिद्ध करने की जो ओषधियाँ बतलाई गई हैं—उनका क्षार के मूत्र में स्रुत करके प्रयोग करना अथवा ग्राम्य पशुओं के मल के बने क्षार पृथक्-पृथक् या संयुक्त प्रयोग तथा उनमें त्रिकटु प्रभृति द्रव्य या ऊषकादि ीवाप का उपयोग अश्मरी, गुल्म और शर्करा का भेदन करता है।

५. तिल, अपामार्ग, कदली, पलाश और यव के कल्क के बने क्षार को भेंड दूध के साथ पीने से शर्करा नष्ट होती है। यह प्रयोग शर्करा में बड़ा उत्तम है।

६. पाटला और करवीर के क्षार का आविक मूत्र के साथ सेवन । श्वदं-ष्ट्रका, यष्टिका, ब्राह्मी कल्क का मिश्रण एक अक्ष की मात्रा को मूत्र के अनुपान लेना भी शर्करा में हितकर होता है।

७. कपोतवङ्का के मूल का काञ्जिकादि या सुरा के अनुपान से सेवन अथवा डायुक्त अवस्था में उन्हीं द्रव्यों से सिद्ध दूध का पीना भी हितकर है।

८. त्रिफलासिद्ध घृत का प्रयोग पैत्तिक वेदनायुक्त पथरी या शर्करा में और नर्नवामूलसिद्ध घृत वात–कफज व्याधियों में करना चाहिये।

---

[1] चूर्णे चूर्णसमो देयो मोदके द्विगुणो गुडः।

[2] त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम्।
अविक्षीरेण सप्ताहमश्मरीभेदनं पिबेत्॥ (सु. चि. ७)

९. सामान्यतया वीरतर्वादिगणमें पठित ओषधियों का घृत, क्षीर, भोजन, अवगाहन एवं स्वेदन में प्रयोग सर्वथा और सर्वदा हितकर है।

अश्मरी का छेदन कर्म—यदि घृत, क्षीर कषाय, क्षार और उत्तर के उपर्युक्त विविध प्रयोगों के करने के बावजूद भी अश्मरी का भेदन नहीं हो अर्थात् अश्मरी विदीर्ण न होकर मूत्रमार्ग से निकल न जाती हो तो श के द्वारा उसका भंजन करना चाहिये।

इस उपकम को जघन्य बतलाया गया है।[1] क्योंकि हर एक प्रकार से की क्रिया में कुशल और शास्त्र में निश्चित और निष्णात होने पर भी चिकि में सफलता-प्राप्ति अध्रुव होती है। अर्थात् शस्त्रक्रिया के बाद रोगी पूर्ण स्वस्थ जायगा और सफलता (Guaranteed cure) ध्रुव मिलेगी ऐसी नहीं है। फिर भी यदि शस्त्रकर्म किया जाय तो रोगी को मर्मोपघातक होकर मृत्यु हो जाती है, और यदि कर्म किया जावे तो फल में संशय रहता इसलिये साधु चिकित्सक को चाहिये कि रोगी के अभिभावक (ईश्वर) से मति ले ले। उसके संरक्षक की स्वीकृति मिलने पर ही शस्त्रकर्म करे।[2]

सुश्रुत ने अश्मरी के दो प्रकार की स्थिति में पृथक्-पृथक् शस्त्रकर्म निर्देश किया है। १. बस्तिगत अश्मरी (Vesical calculus)-जब अ वस्ति (Bladder) में पड़ी हो। २. दूसरी स्थिति मूत्रमार्ग-प्रवृत्त या मूत्र प्रवृत्त–जब अश्मरी या शर्करा मूत्रप्रसेक (Urethra) में पड़ी हो।

सामान्य पूर्वकर्म—रोगी का स्नेहन, स्वेदन कराके उसका वमन विरेचन के द्वारा ऊर्ध्वाधः शोधन कर लेना चाहिए। पुनः स्थानिक स्नेहन स्वे कराके रोगी को खिलाकर फलक (Operation table) पर ले चाहिये। इसके अतिरिक्त रोगी के कल्याण के लिये बलि मंगल, स्वस्तिवा प्रभृति आस्तिक आध्यात्मिक उपचार, जैसा कि अग्रोपहरणीयाध्याय में बता गया है, करना चाहिये। अन्यान्य विविध सामग्रियाँ यथावश्यक प्रयोग के

---

१. कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रुवा। उपक्रमो जघन्योऽयमतः स परिकी
(सु० चि०

२. अक्रियायां ध्रुवं मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्।
तस्मादापृच्छ्य कर्त्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा॥ (सु० चि० ७)

कत्रित करके रख लेनी चाहिये । सभी सम्भार जब पूर्ण हो जावे तब रोगी को ुर वचनों से आश्वासन करते हुए फलक पर लेटाना चाहिये । यम फलक जानु समान ऊंचाई का होना चाहिये ।

रोगी को आसन पर लेटाने के पहले एक स्वस्थ और बलवान् पुरुष को क पर बैठा देना चाहिये—इस पुरुष की गोद में रोगी लेटेगा । रोगी पीठ के पर लेटता है और उसका सामने का भाग ऊपर रहता है, उसके कटि के े कपड़े की गद्दी रखकर कटि को किञ्चित् उन्नत कर लेना होता है । रोगी के ु और कूर्पर संकुचित और एक दूसरे के द्वारा सूत्र (रस्सी) या शाटक के िये आपस में बंधे रहते हैं (Lithotomy position) ।

प्रधान कर्म—तदनन्तर चिकित्सक को अपने हाथों से रोगी के नाभिप्रदेश तैल के द्वारा अभ्यंग करना चाहिये । विशेषतः यह मर्दन नाभि के नीचे बस्ति-ग के ऊपर कुछ बायें तरफ में होना चाहिये । फिर वहाँ पर मुट्ठी बाँधकर ातार नीचे की तरफ को पीडन करना चाहिये । इस क्रिया का उद्देश्य अश्मरी बस्ति के नीचे ले आना होता है । क्रमशः अश्मरी नीचे की ओर आने ती है ।

पश्चात् बायें हाथ की प्रदेशिनी (Index) और मध्यमा (Middle) ुलियों को एक साथ स्नेह से अभ्यक्त कर गुदा में डालना चाहिये । इन अंगु-यों का नख कटा हुआ, स्नेहलिप्त, चिकना होना आवश्यक है । इन अंगुलियों के ारे सेवनी का अनुसरण करते हुए (In the course of median raphe) त्न और बलपूर्वक किंचित् अधोमार्ग-प्रवृत्त अश्मरी की ओर नीचे की तरफ आना चाहिये । जब अश्मरी पायु और मेढ्र के (Anus & Penis) बीच आ जावे, तो बस्ति की दशा देखनी चाहिये । बस्ति को निर्वलीक (त्वक्-ङ्कोच रहित), अविषम (निम्नोन्नतत्व-रहित), अनायत (अदीर्घ) प्रकृतरूप में थर कर लेना चाहिये । पश्चात् दोनों अंगुलियों को और जोर से नीचे को दबाना ाहिये जब तक कि गांठ के समान उभार युक्त होकर वह शल्य न दिखाई ड़ने लगे ।

इस तरह अश्मरीशल्य को ग्रहणयोग्य अवस्था में लाना चाहिये । इस थति में पहुंचने पर कई रोगियों में सांघातिक लक्षण के चिह्न उपस्थित हो

जाते हैं; जैसे[1] विवृताक्षता—आखें खुली हुई चौड़ी (Without reflex), विचेतनता–संज्ञानाश (Comatose condition), मर्म के अभिघात के समान, निर्विकारता-निश्चेष्टता-इन्द्रियों की अभाव, लम्बशीर्षता–शिर का लटक जाना और मृतोपम हो जाना मर्महत के लक्षण (Shock symptoms) होने लगते हैं। इनमें शस्त्रकर्म अर्थात् शल्य का निर्हरण नहीं करना चाहिये क्योंकि शस्त्रकर्म से रोगी निश्चितरूप से मर जाता है। यदि ये लक्षण रोगी में न मिलें तभी अश्मरी शल्य का निर्हरण करना चाहिये, अन्यथा नहीं।

पश्चात् बायें तरफ सेवनी को एक जौ छोड़कर जितनी बड़ी अश्मरी उसके अनुसार शस्त्र का अवचारण करना चाहिये। यदि क्रिया में सरलता पड़े तो आवश्यकतानुसार दहिने तरफ भी भेदन किया जा सकता है। लिये प्रयत्न करना चाहिये कि वह टूटने न पावे अथवा उसका चूर्ण पावे, क्योंकि अल्पमात्रा में अवशिष्ट रहा चूर्ण भी पुनः वढ़कर पूर्ववत् अश्मरी का रूप ले लेता है। अस्तु, पूरी अश्मरी को एक ही साथ में शस्त्र के द्वारा पकड़कर निकाल लेना चाहिये।

शस्त्रावचारण के समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्त्रियों में पार्श्व में समीप ही गर्भाशय रहता है यदि गहराई में शस्त्र चला जाता बाहारी त्वक् मांस के साथ ही साथ भग और गर्भाशय के भी कटने का रहता है-जिससे भगान्तर मूत्रस्रावी व्रण होने का भय रहता है। पुरुषों में मूत्रप्रसेक (Urethral Sphicter) के कटने का भय रहता है उत्सङ्गवत् (उत्तान Superficial) शस्त्र का पातन करना चाहिये। कि वैतरण ने कहा है—[2]"स्त्रियों में भग के नीचे में बस्ति और गर्भाशय होता है; गर्भाशय और बस्ति महास्रोत के आश्रित होते हैं, बस्तिभाग को किञ्चित् ऊपर उठाकर और अश्मरी को नीचे की ओर ले

---

[1] स चेद् गृहीतशल्ये तु विवृताक्षो विचेतनः । हतवल्लम्बशीर्षश्च निर्विकारो
न तस्य निर्हरेच्छल्यं निर्हरेत्तु म्रियेत सः । विना त्वेतेषु रूपेषु निर्हर्तुं
(सु.

[2] भगस्याधः स्त्रिया बस्तिरूर्ध्वं गर्भाशयः स्थितः। गर्भाशयश्च बस्तिश्च महास्रोतः
बस्तिभागं समुन्नम्यावनम्याप्यश्मरीं बुधः । स्फिगग्रे भेदनं तासां हितमन्यत्र

क् के अग्रभाग में उसका भेदन करना चाहिये। अन्यथा करने से दोष न्न होता है।'

बस्ति का भेदन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बस्ति मर्म है जिसके कटने पर घातक परिणाम हो सकते हैं। यदि अश्मरी का व्रण ते समय एक बार के भेदन में ही अश्मरी का आहरण हो सके तो व्रण की ध्यता होती है। अस्तु, एकधा भिन्न करने का ही प्रयास करना चाहिये। यदि स्ति में दो बार भेदन हो जाय तो अश्मरी के आहरण के बाद भी असाध्यता ती है, और व्रण नहीं भरता। यदि आघातादि कारणों से बस्ति का भेदन हो है (अश्मरी-व्रण के अतिरिक्त) तो यह घाव शस्त्रकृत न होने से नहीं ता। कहने का तात्पर्य यह है कि बस्ति का शस्त्रकृत एकधा भेदन साध्य, द्विधा भेदन या आघातादि कारणों से भिन्न बस्ति हो गई हो तो असाध्यता-क लक्षण होते हैं।[1]

इसका कारण यह है कि—१. क्रियाभ्यास—उष्णोदक, स्नेह, स्वेद, क्षीर, रीवृक्ष-कषायादि क्रियाओं का योग शस्त्र के द्वारा किये गये अश्मरी के व्रणों में ता है। इन रक्षक उपक्रमों (Preventive measures) के रहते अनिष्ट आशङ्का नहीं रहा करती। २. शास्त्रविहितच्छेद—अश्मरी के प्रमाणमात्र ही भेदन (Incision) करके व्रण का मुख बनाया जाता है। साथ ही न एक विशेष दिशा और स्थान 'सीवन के बायें तरफ एक जौ की 'दूरी' पर ता है। सद्योव्रण में या द्विधाभेद होने में इस दिशा और स्थान की परि-तता नहीं हो सकती। ३. शल्य का निस्यन्द से पुनर्वृद्धि हो जाना—शास्त्र अविहित और बिना क्रम का छेदन होने पर अनवरत मूत्र का स्राव नाडी द्वारा होने लगता है, जिससे शल्य का व्रण पुनः पुनः उपसर्गित होकर रोपित हीं होता अथवा शल्य का पूरी तौर से अपहरण नहीं हो पाता, जिससे शल्य ः बढ़कर बाधा करने लगता है और असाध्य हो जाता है।

जब शल्य निकल जाय तो रोगी को तत्काल गर्म जल से भरी हुई द्रोणी

---

[1] अश्मरीव्रणादृते भिन्नो बस्तिरेकधा न भवति, द्विधा भिन्नबस्तिराश्मरिको न सिद्ध्यति। अश्मरीव्रणनिमित्तमेकधा भिन्नबस्तिर्जीवति–क्रियाभ्यासात् शास्त्रविहितच्छेदात् निस्यन्दपरिवृद्धत्वाच्च शल्यस्येति। (सु० चि० ७)

या नौका (Tub) में फलक पर से उतार कर रखना चाहिये। इस परिणाम यह होता है कि रक्तस्राव बन्द हो जाता है और रोगी का रक्त से नहीं भरने पाता। यदि कहीं बस्ति रक्तपूर्ण हो जाय तो क्षीरिवृ कषायों के द्वारा पुष्पनेत्र (उत्तरबस्ति or catheter) के संयोजन से का प्रक्षालन करना चाहिये।

क्षीरिवृक्ष के कषाय से प्रक्षालन प्रत्येक अश्मरी के शस्त्रकर्म के करना चाहिये क्योंकि इसके द्वारा बस्तिगत जमा हुआ रक्त तथा अश्म अवशिष्ट चूर्ण बहकर निकल जाते हैं। साथ ही क्षारी वृक्षों के रक्तस्कंदन (Styptic action) के द्वारा रक्त का बहना बन्द हो जाता है। इस कार्य को यथासम्भव शीघ्र करना चाहिये।[1]

मूत्रमार्गप्रतिपन्न अश्मरी का प्रधान कर्म—यदि दैवात् कहीं या शर्करा या शुक्राश्मरी मूत्रप्रसेक (Urethra) में आकर अटक तो उसको उसी मार्ग के द्वारा प्रवृत्त कराके निकालना चाहिये। यदि किसी उपाय से न निकले तो मूत्रनलिका का शस्त्र के द्वारा विदारण करके ब (Hooks) से पकड़कर निकाल लेना चाहिये। पश्चात्कर्म पूर्ववत् करना चा

पश्चात्कर्म—

शोधन-रोपण—अश्मरी और शर्करा-निर्हरण के अनन्तर व्रण पर और घृत का अभ्यंग करना चाहिये। पश्चात् प्रक्षालन के लिये क्षीरिवृक्षकषा प्रयोग करना चाहिये। व्रणस्थान पर लोध, मुलेठी, मंजीठ, और प्रपौण्डरीक द्रव्यों के कल्क का लेप करे। इन्हीं द्रव्यों में हल्दी का और योग करके या घृत सिद्ध करके व्रण पर रोपण के लिये प्रयोग करना चाहिये। यदि ब रक्त जम गया हो तो उत्तरबस्ति (Urethral syringe) के द्वारा प्रक्षालन करने का प्रबन्ध करना चाहिये। आम तौर से एक सप्ताह के मूत्र अपने स्वमार्ग से आने लगा हो तो व्रण पर अग्निकर्म के द्वारा यथा दाह कर देना चाहिये। यदि मूत्र का मार्ग ठीक हो जाय तो आ

---

[1] क्षीरिवृक्षकषायस्तु पुष्पनेत्रेण योजितः। निर्हरेदश्मरीं तूर्णं रक्तं बस्तिगतञ्च

(सु० चि०

नुसार उत्तर बस्ति, आस्थापन, अनुवासन और मधुर कषायों का प्रयोग रना चाहिये।

पथ्य— अश्मरी के रोगियों में जिनका शस्त्रकर्म के द्वारा अश्मरीनिर्हरण किया या है, मूत्रमार्ग के विशोधन के लिये गुडवासित चावल का भात खाने को देना ाहिये। मूत्रल और मूत्र-विशोधनीय द्रव्यों से सिद्ध उष्ण यवागू, घृत या घृत-थ यवागू का दिन मे दो बार करके तीन दिन (त्रिरात्रों) प्रयोग करना चाहिये। न दिन के बाद चौथे दिन से अधिक गुड़ डालकर दूध और चावल का मुला-म भात (मृद्वोदन) दस दिन तक खिलाना (दशरात्रन्) चाहिये। इस पथ्य द्वारा रक्त और मूत्र की शुद्धि तथा व्रण-प्रक्लेदन होता है। दस दिन के बाद गी को फलाम्ल (Fruit juice) अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का योग करना चाहिये। दस दिन तक रोगी के पथ्य तथा व्रणस्थान पर स्नेहन ीर स्वेदन तथा शोधन का विशेष ध्यान रखना चाहिये। व्रणस्थान पर हमेशा हस्वेद या द्रवस्वेद करते रहना चाहिये।

आचार या विहार— रोगी को पूर्ण विश्राम से रखना चाहिये, जब तक व्रण का रोपण पूर्णतया न हो जाये। व्रण के रोहण हो जाने के बाद भी— ीप्रसंग, अश्वारोहण, हाथी पर सवारी करना, पहाड़ पर चढ़ना, पेड़ पर चढ़ना, ानी में तैरना और गरिष्ठ पदार्थ (Protienous substances) का सेवन क वर्ष तक रोगी को नहीं करना चाहिये।

अश्मरी का शस्त्रकर्म केवल पटु और अनुभवी चिकित्सकों को ही करना ाहिये; क्योंकि कर्म का स्थान बड़ा ही सङ्कीर्ण और चारों ओर कई महत्त्व के ङ्गों और रचनाओं से घिरा हुआ है। शस्त्रकर्त्ता की थोड़ी सी असावधानी से रिणाम साङ्घातिक हो सकते हैं। इसी लिये महर्षि ने उसके नाम और उनके टने से होने वाले उपद्रवों का विशद वर्णन किया है, जिसका उल्लेख नीचे या जा रहा है। ऐसी महत्त्व की रचनायें आठ हैं और उन्हें मर्माङ्ग लाया गया है—[1]

१. मूत्रवह (Ureter)— इसके छेदन से बस्ति मूत्र से भर जाती है र मरण तक हो सकता है।

---

[1] सेवनी शुक्रहरिणी स्रोतसी फलयोर्गुदम्। मूत्रसेकं मूत्रवहं योनिर्वस्तिस्तथाष्टमः॥
कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रुवा। (सु० चि० ७)

२. शुक्रवह (Seminal Vasical or vasdeferens)— छेदन से मरण या क्लैब्य हो जाता है।

३. मुष्कस्रोत (Spermatic cord Ejaculatory duc (Testes)—इसके उपघात से ध्वजभंग हो जाता है।

४. मूत्रप्रसेक (Urethral Sphincter)—इसके कटने से मू अनवरत स्राव होता रहता है।

५. सेवनी (Perineal raphe)
६. योनि (Vagina)
} इनके छेदन से पीड़ा हो
७. गुद (Annal cannal)
८ बस्ति (Bladder)

आधुनिक युग में बस्तिगत अश्मरी के निर्हरण को दो विधियाँ प्रचलि १. एक में अश्मरी का पूर्णतया आहरण किया जाता है (Lithoto २. और दूसरी विधि में अश्मरी का बस्ति में चूर्णन करके पश्चात् प्रक्षालन चूर्ण को निकाल दिया जाता है। इस कर्म को अश्मरीभंजन (Lithalo xy or Lithotrity) कहा जाता है। इन दोनों कर्मों को करने के पूर्व को स्थिति, वय, बल, लिङ्ग और रोग की परिस्थिति आदि बातों का कर जो कर्म आवश्यक होता है, उसकों करते हैं। कर्म करने के साथ के अनुसार विविध विधिभेद हो जाते हैं।

अश्मरीभञ्जन[1] (Lithalopaxy or Lithotrity)—एक हो में बस्ति में पड़ी हुई अश्मरी को तोड़कर चूर्ण करके निकाल दिया जाता बस्ति में चार से पांच औंस तक एक विशेष शक्ति के घोल (१: ५००० सायनायड आफ मर्क्यूरी) जो पारद का यौगिक होता है, पुष्पनेत्र के योग दिया जाता है, फिर अश्मरीचूर्णक या अश्मरीभञ्जक (Lithotrite) यत्र को प्रविष्ट करते हैं। मूत्राशय के अन्दर पहुंचने पर यंत्र के दोनों खोलकर अश्मरी को उसके अंदर लेकर दबा कर चूर्ण कर दिया जाता है। अश्मरीचूर्णक या भंजकयंत्र को निकाल उसके स्थान पर 'विल्लो आफ इवैकु जोड़ दिया जाता है, उसके द्वारा टूटी हुई अश्मरी के टुकड़े बहकर बाहर जाते हैं। मूत्रनलिका में एक रबर का कैथेटर लगाकर कुछ दिनों तक रखना चाहिये।

---

[1] Perinealor wrethral Lithotapaxy.

छोटे बच्चों में भी यह क्रिया की जा सकती है; परन्तु उनमें कुछ असुविधा ती है। परन्तु यदि ष्ठीलावृद्धि, जीर्ण वस्तिशोथ हो, पथरी बहुत बड़ी या कठिन हो या वस्ति में अंटकी हो (Sacculated) तो दूसरी विधि अश्मरी का समग्र आहरण करना चाहिये।

अश्मर्याहरण—कई विधियां प्रचलित हैं—

१. अपत्यमार्ग से। (Vaginal)

२. मूत्रमार्ग से (Urethral)

३. भगोर्ध्वभेदन से (Supra pubic)।

३. गुदप्रदेश का उपसीवनच्छेदन या मध्यमूलाधारपीठच्छेदन (Median rineal Lithotomy)

महर्षि सुश्रुत ने उपर्युक्त चतुर्थ प्रकार से अश्मर्याहरण विधान बतलाया है। कर्म को अंग्रेजी में 'मिडियन पेरिनियल लिथोटामी' या 'पेरिनियल सिस्टोमी' (Perineal cystotomy) कहते हैं। यह एक बड़ा उत्तम शस्त्र- है, जिसका निम्नलिखित लेख से अनुमान लगाया जा सकता है।

'शस्त्रकर्म की विधि	संख्या	मृत्यु	मृत्युका प्रतिशत प्रमाण
Perineal lithotomy	२५२	११	४·३६ प्रतिशत।
Suprapubic lithotomy	११६	११	१४ ६५ ,,
Vaginal lithotomy	१	०	
Rapid dilatation of urethra	३	०	
Lithalopaxy	९८६	२८	२·५३ ,,

'रोलैण्ट और टर्नर की सर्जरी के द्वितीय भाग षष्ठ प्रकाशन ६३१ पृष्ठ से उद्धृत किया गया है।

यह शस्त्रकर्म आजकल विरलता से किया जाता है। कई दोष औ इनमें पाये जाते हैं।

दोष—१, स्थान सङ्कीर्ण होने से बड़ी अश्मरियों के निकालने में क होती है। २. व्रण छोटा बनता है जिससे शस्त्रकर्त्ता सुविधानुसार अपनी लियों को मूत्राशय के भीतर डालकर पूरी बस्ति का अन्वेषण नहीं कर केवल बस्ति में आधारभाग तक ही पहुँच होती है—जिससे कहीं आवर्त्त में पड़ी हुई, अश्मरी का ग्रहण भी नहीं हो सकता। कई वार सहायता लेनी पड़ती है। ३. इसमें मलाशय और मूत्रस्रोत (Bulb) के छेदन का भय रहता है। ४. कई बार भयङ्कर रक्तस्राव होता है। ५. (·Sphincter) प्रसेक-सङ्कोचनी का क्षत (Laccration) हो निरन्तर मूत्रस्रावी व्रण बन (Incontinence of urine) जाता है।

गुण—१. व्रण का रोपण अपेक्षाकृत बहुत शीघ्र (Extern rapid recovery) हो जाता है। २. मूत्र स्वमार्ग से प्रवृत्त होने लग ३. इस कर्म के द्वारा अल्पतम धातुओं का नाश होता है; बशर्ते कि बहुत बड़ी न रही हो। इन्हीं गुणों के कारण श्री 'जैकोब्सन' इस कर्म वय के व्यक्तियों में, जिनमें पथरी अपेक्षाकृत छोटी हो और अश्मरीभञ्ज न हो, इस शस्त्र को योग्यतम बतलाते हैं। विशेष करके यदि अश्मरी मूत्रमार्ग (Prostatic urethra) में अंटकी हो तो यह शस्त्रकर्म होता है। वृद्ध रोगियों में जब ष्ठीलावृद्धि के साथ बस्तिगत अश्मरी हो कर्म और भी प्रशस्त है, क्योंकि उस अवस्था में अश्मरी-आहरण के ही साथ ष्ठीलाच्छेदन (Perineal prostatectomy) भी कि सकता है।

शस्त्रकर्म की आधुनिक विधि—१. शोधन करके मलाशय को कर लेना चाहिये। २. सङ्कुचितजानुकूर्परासन (Lithotomy positi रोगी को लेटा देना चाहिये। ३. सहायक वृषणकोष को आगे की तरफ रहता है जिससे कर्म में बाधा न हो। ४. शस्त्रकर्त्ता, मूलाधार पीठ की तरफ करके बैठता है और मध्य में एक-दो इञ्च लम्बा भेदन करता है, जिस की सीमा मलद्वार के एक इञ्च ऊपर तक रहती है। जिससे स्रोत और ब

की हानि न हो सके। भेदन के और गहराई में जाने पर मूलाधार पीठ की यों और गुदसङ्कोचनी का सम्मिलन (meeting) दिखलाई पड़ेगा। इस स्था में एक व्यत्यस्त भेदन (Transverse incision) देकर बाह्य-मार्गसङ्कोचनी (External sphincter) को तथा मूत्रवाहिनी-काओं (Ejaculator urinae) को पृथक् कर देना चाहिए। (Bnlb) को आगे की ओर खींच कर मूत्रमार्ग के श्लेष्मलकला वाले भाग स्पष्ट कर लेना चाहिये। बाईं तर्जनी से मूत्रमार्ग का निर्णय कर लेना हिये। एक पतले फलक वाले वृद्धिपत्र से मूत्रमार्ग का भेदन छैलिक भाग तक लेना चाहिये। वृद्धिपत्र को हटाकर एक शंक्वाकृति एषणी डाल देना चाहिये। onical probe pointed director)। फिर इस एषणी के सहारे बायें की तर्जनी भीतर में प्रविष्ट करके अन्वेषण करना चाहिये। बस्ति की गहरी र सकरी ग्रीवा के द्वारा एक सीमित दूरी तक ही मूत्राशय (उसके आधार) में अंगुलि प्रवेश पा सकती है। यदि अंगुलि पूर्णतया प्रविष्ट होने में मर्थ रहे तो विभिन्न परिणाह के संदंशों के प्रवेश से मार्ग को चौड़ा कर ना चाहिए। कई बार छोटी अश्मरियां तो ताल (Sccop) से निकल ती है और यदि निकल न पावे तो अश्मर्याहरण सन्दंश या अग्रवक्र सन्दंश (Lithotomy forcep) जिसका वृन्त लम्बा हो, पकड़ कर निकालना हिये। यदि पथरी बहुत लम्बी हो और इस उपाय से भी न निकल पाती तो बस्ति की ग्रीवा में एक छोटा पार्श्वगत छेदन (Bilateral cut) रना चाहिये। यहां पर विशेष ध्यान मूत्रप्रसेक (Urethral Sphincter) रखना, जिसमें वह न नष्ट होने पावे।

अश्मरी के आहरण के बाद एक रबर की नाडी को लेकर मूत्राशय में विष्ट कर लेना चाहिये और मूलाधार पीठ के चर्म को सीवन के द्वारा सी देना हिये। दो दिनों तक उसी स्थिति में छोड़ देना चाहिये।

मृत्यु संख्या—श्री. पी. जी. फ्रेयर नामक सर्जन ने इस विधि से २५२ न-कर्म किया था, जिनमें ५२ युवक रहे, उनमें २० प्रतिशत की मृत्यु गई थी तथा दो सौ बच्चों में किया, जिनमें ५ प्रतिशत मृत्यु की संख्या रही।

प्राचीन और अर्वाचीन विधि में केवल आधार का अन्तर है। प्राचीनों गुदामार्ग में वायें हाथ की तर्जनी डालकर उससे मार्ग और कर्म में सहा और सुविधा प्राप्त की थी; आजकल परिखायुक्त किसी शलाका के मा (A curved Staff with a wide groove) से वही कार्य किया जाता है।

* * *

द्वाविंश प्रकरण

प्रमेहपिडिकानिदानचिकित्सीयाध्याय

(Carbuncle)

'जिसका शरीर वसा और मेद से व्याप्य है तथा जिसके धातु दोषों से आक्रान्त हुए हैं, उनको दस प्रकार की पिडिकायें उत्पन्न होती (सु०)।' जैसे—

१. शराविका—शराव के समान (तस्तरी or dinner plate), के आकर की, मध्य में नीची होने वाली बड़ी पीडिका शराविका होती है।

२. सर्षपिका—यह पिडिका अपेक्षाकृत कुछ छोटी होती है (नातिमह पाक शीघ्र होता है, पीडा अधिक रहती है और सरसों के आयाम वाली फुन्सियों और सूक्ष्म छिद्रों से युक्त होती है।

३. कच्छपिका (कूर्मसंस्थाना)—जो पीडिका गहरी धातुओं में अवस्थि बहुत बडा थल्ला वाली (महावास्तुपरिग्रह), चिकनी और कच्छपृ सदृश हो।

---

१. शरावमात्रा तद्रूपा निम्नमध्या शराविका।
गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सार्षपी॥
सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः।
जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता॥

महती पिडिका नीला पिडिका विनता स्मृता। महत्यल्पाचिता ज्ञेया पिडिका तु पुत्रिणी॥ मसूरसमसंस्थाना ज्ञेया सा तु मसूरिका। रक्ता सिता स्फोटवती दा रवल्की भवेत्॥ विदारीकन्दवद् वृत्ता कठिना च विदारिका। विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता विद्रधिका बुधैः। (सु. नि. ६)

४. जालिनी— यह पीडिका स्तब्ध जाल जैसे·रचना की अनेक सूक्ष्म फुन्सियों र छिद्रों से से युक्त, स्निग्ध स्राव, अनेक मुखों के स्रवने वाली, बड़े स्थान को रने वाली और वातिक वेदना से युक्त होती है।

५. विनता— बड़ी और नीलवर्ण की पिडिका होती है।

६. पुत्रिणी— छोटी-छोटी अनेक फुन्सियों से युक्त बड़ी पिडिका।

७. मसूरिका—मसूर के आकार की फुन्सियों से युक्त पिडिका।

८. अलजी—अलजी सदृश अनेक फुन्सियों से युक्त बड़ी पिडिका, जिसमें न के समान अहर्निश दाह होता रहता है। और यह विसर्पणशील होने पूरे शरीर भर में फैल सकती है। यह रक्तवर्ण या कृष्णवर्ण की होती है। के लक्षण भयङ्कर होते हैं।

९. विदारिका—विदारीकन्द के समान गोल और कठिन विदारिका होती है।

१०. विद्रधिका— सामान्य विद्रधि के लक्षणों से युक्त पिडिका।

व्याख्या—उपर्युक्त लक्षणों पर विचार किया जावे तो स्पष्ट हो जाता है प्रमेहपिडिका नाम से वर्णित पिडिका त्वचा और अधस्त्वक् भाग (Sub-taneous) में अवस्थित होने वाला विशाल घेरे (महावास्तुपरिग्रह) का ड़ा है जिसमें जाल सदृश अनेक सूक्ष्म छिद्र होते हैं और एक फोड़ा अनेक टी फुन्सियों का बना होता है। इस प्रकार के फोड़े को अंग्रेजी में कार्बङ्कल Carbuncle) कहते हैं। आधुनिक परिभाषा में यह 'अधस्त्वक् धातुओं Subcutaneous tissues) का बिक्षेष प्रकार के पूयजनक जीवाणुओं के सर्ग से होने वाला एकदेशीय औपसर्गिक निर्जीवाङ्गत्व (Localised infec-ve gangren) माना जाता है।'

हेतु और सम्प्राप्ति— इस प्रकार की पिडिका का एक प्रधान कारण प्रमेह जीर्णप्रमेह या मधुमेह माना जाता है। इसी लिये इन फोड़ों को प्रमेह-डिका कहते हैं। प्रमेहों में भी तीन मेह— मधुमेह, वसामेह या इक्षुमेह ख्यतया हेतुभूत होते है। 'मधुमेह की चिकित्सा न करने से अर्थात् क्षा करने से ये पिडिकायें होती हैं।' (चरक)[1]

---

[1] उपेक्षयाऽस्य जायन्ते पिडिकाः सप्त दारुणाः। मांसलेष्ववकाशेषु मर्मस्वपि च संधिषु॥
विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः। (च० सू० १७)

प्रमेह त्रिदोषजन्य होते हैं। परन्तु व्यपदेश से जो दोष अधिक होगा उस दोष के अनुसार प्रमेह की संज्ञा दी जाती है। अस्तु, प्रमेह के कारण पिडिकायें उत्पन्न होंगी वे भी सामान्यतया त्रिदोषजन्य, परन्तु एकदोषोल्ब रहेंगी। उदाहरणार्थ—वातमेह में वातपिडिका, पित्तमेह में पित्तपिडिका औ कफमेह में कफपिडिका।

कभी-कभी ये पिडिकायें प्रमेह के अतिरिक्त कमजोरी पैदा करने ज्वरादि से भी उत्पन्न होती हैं, इसलिये चरकाचार्य ने लिखा है कि प्रमेह के भी पिडिकायें, मेद की विकृति के कारण मेदस्वी व्यक्तियों में होती

आधुनिक ग्रन्थों में पाकोत्पत्ति के दो हेतु बतलाये जाते हैं-१. सहा कारण—मधुमेह, शुक्लीमेह (Albuminuria), चिरकालीन ज्वर आदि कारण शरीर की रोग निवारक-क्षमता या प्राणशक्ति का घट जाना।

२. साक्षात् कारण—एक विशेष प्रकार का जीवाणु (Staphylo ous pyogenes aureus) का उपसर्ग। ये जीवाणु गुच्छ में रहते हैं सुवर्ण वर्ण का पूय पैदा करते हैं।

पिडिका का अवस्थान—ये पिडिकायें प्रायः ग्रीवा के पश्चाद्भाग, अंस, चूतड़, होंठ या चेहरे पर होती हैं। प्रमेहपिडिकायें प्रायः उर्ध्वकाय उत्पन्न होती हैं। परन्तु यदि रासायनियों की दुर्बलता हो तो प्रमेहियां के ऊपर की ओर नहीं उठ पाते, जिससे मधुमेह के रोगियों में वे पिडिकायें अ काय में (शरीर के नीचे के और पीछे के भाग में) निकलने लगती हैं। प्रदेश (Perineum), हृदयप्रदेश (Cardiac region), शिर (चेहरे पर), पृष्ठप्रदेश (पीठ पर ही अधिकतर ये फोड़े होते हैं) तथा अन्य मर्मस्थ पर भी पिडिकायें निकलती हैं। यदि रोगी दुर्बल हो तो अचिकित्स्य होती है

पिडिका के लक्षण तथा चिह्न और प्रकार—वास्तव में प्रमेहपि एक विकार है; परन्तु दोषों के लक्षणों के अनुसार उनके विविध भेद हो हैं। उदाहरण के लिये चरक ने सात, भोज ने नौ और सुश्रुत ने दस भेद बत हैं। इससे भी अधिक प्रकार हो सकते हैं—जैसे वर्ण के अनुसार—रक्त, श्वेत, कृष्ण, पाण्डुर, भस्मवर्ण, मेचकवर्ण (चितकबरा) इत्यादि। स्पर्श अनुसार—मृदु, कठिन, स्थूल, सूक्ष्म आदि। पीडा और विसर्पण के अनुसार

न्दवेग, महावेग, स्वल्पशूल, महारुजा वाली इत्यादि। इनमें केवल दोष तथा के अनुसार उनके हेतु और लक्षणों का विचार करके उपद्रव पैदा होने के ही शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिये।[1]

दोष-निरपेक्ष सभी पिडिकाओं में सामान्यतया दाह, पीडा, ताप, रक्तिमा, र्शनाक्षमता आदि शोफ के लक्षण प्रारम्भ में होते हैं। पिडिका अवगाढ शराव- (Dinnerplate) सीमित होकर बड़ा-सा घेरा बना लेती है। पश्चात् त्पत्ति होकर अनेक मुख से सुवर्णवर्ण पूय स्रवित होता रहता है। जब मवाद Slough) निकल जाता है तो मांसाङ्कुर बनकर रोहण करा देते हैं। सार्व- हिक लक्षणों में विषमयता (Toxaemia) के चिह्न प्रबल होते हैं।

साध्यासाध्यता—(Prognosis) १. यदि पिडिकापिडित रोगी मधुमेह, मेह आदि चिरकालीन विकारों की वजह दुर्बल हो गया तो चिकित्सा कठिन ती है।[2] २. आमतौर से मुख, ग्रीवा के पश्चात् भाग और मर्माङ्गों पर अव- त पिडिकायें कृच्छ्रसाध्य होती हैं। ३. शराविका से लेकर विदारिका तक कही तो पिडिकायें यदि मृदु, अल्प पीडा वाली, कम गहराई में अवस्थित हों और गी की प्राणशक्ति प्रबल हो तो चिकित्सा में सफलता मिलती हैं, अन्यथा नहीं। दसवीं पिडिका विद्रधिका, जैसी, अन्य भी पिडिकायें जिनमें शीघ्रता से पाक उत्पत्ति और भेद (फूट कर बहना) होता है, वे चिकित्सा में साध्य होती हैं।

चिकित्सा—व्यवहार की दृष्टि से प्रमेहपिडिका चिकित्सा के दो भागों में टा जा सकता—सार्वदैहिक (General) और स्थानिक (Local)।

'उनसे उपद्रुत रोगियों में सर्वप्रथम प्रमेह की ही चिकित्सा करनी चाहिये।' 'इसलिये पूर्वरूप में ही १. अपतर्पण (उपवासादि), २. वनस्पति-कषाय (वटादि क्वाथ), ३. बस्तमूत्र (छागमूत्र) का प्रयोग करना चाहिये। ऐसा नहीं रने से रोगी मधुर आहार का सेवन करता चलेगा और उसके मूत्र, स्वेद, और भी-कभी मधुर हो जायेंगे, फलतः प्रमेह का लक्षण अधिक व्यक्त हो जायेगा।

---

[1] तां बुद्ध्वा मारुतादीनां यथास्वैर्हेतुलक्षणैः। ब्रूयादुपचरेदाशु प्रागुपद्रवदर्शनात्॥

[2] गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मणि चोत्थिताः। सोपद्रवा दुर्बलस्य पिडिकाः परिवर्जयेत्॥
पिडिकापीडितं गाढमुपसृष्टमुपद्रवैः। मधुमेहिनमाचष्टे स चासाध्यः प्रकीर्त्तितः॥
(सु० नि० ७)

यदि मधुमेह का रूप व्यक्त हो जावे तो रोगी का तत्काल ४. वमन और वि द्वारा उभयतः शोधन करना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय तो दोष होकर मांस और रक्त को दूषित करके शोफ उत्पन्न करते हैं, साथ ही अन्य भी उपद्रव करते हैं, उस समय में इन दोषों के निराकरण का उपाय है—५. सिरा यदि सिरामोक्षण न किया जाय तो शोफ अत्यधिक बढ़कर अत्यधिक पीड़ा, आदि लक्षणों को पैदा करता है, उस अवस्था में—६. शस्त्रप्रणिधान (शस्त्र करना चाहिये और साथ में व्रणवत् चिकित्सा करनी चाहिये। यदि पूय निर्हरण और व्रण का शोधन भली प्रकार नहीं हो पाया तो पूय आभ्यन्तर होकर फैलता है और उत्सङ्ग (Pus pockets) और महान् अवकाश (आन्तरल (Cavities) पैदा कर देता है और असाध्य हो जाता है। इस प्रारंभ से ही प्रमेह की चिकित्सा करनी चाहिये।'

इस सूत्र में कार्यकारणभाव से प्रमेहपिडिका-सम्प्राप्ति और तदनुकूल कारों का वर्णन है। और इस बात को स्पष्ट करने के लिये कि पिडिका-चिकि में सार्वदैहिक चिकित्सा का कितना महत्त्व है, शास्त्रकार ने पूर्वरूप से चिकित्सा प्रारम्भ कर देने का विधान किया है।

धान्वन्तरघृत—भल्लातक, बिल्व, अम्बु, पिप्पलीमूल, उदकीर्या, पुनर्नवा, चित्रक, शटी, स्नुही, वरुण, पुष्कर, दन्ती, हरीतकी इन द्रव्यों में प्रत्येक का दस-दस पल; जौ, कोल और कुत्थी इनका एक-एक प्रस्थ लेकर द्रोण पानी में डालकर क्वाथ बनाना चाहिये। जब चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ जावे तो इस क्वाथ में त्रिवृत्, काम्पिल्लक, भारङ्गी, निचुल, सोंठ, गजपि विडङ्ग, लोध्र, शिरीष इन द्रव्यों में से प्रत्येक को एक-एक पल लेकर कल्क कर डाल दे। फिर उपर्युक्त क्वाथ और कल्क को एक कडाही में डालकर एक प्रस्थ की मात्रा में घृत डाल कर विधिपूर्वक पाक कर ले।

यह धान्वन्तर घृत है। इसका प्रयोग प्रमेह, शोथ, कुष्ठ, गुल्म, उदर अर्श, प्लीहा और विद्रधि तथा पिडिका का नाशक होता है।[1]

---

[1] जेज्जटाचार्य ने धान्वन्तर घृत का पाठ अपनी टीका में नहीं दिया है। अस्तु, ने इसको अनार्ष प्रयोग बतलाया है। फलतः उपलब्ध प्रकाशित संहिताओं में इसका प्रक्षिप्त मानना चाहिये। सम्भवतः मौलिक संहीता में इसका पाठ नहीं रहा हो।

सालसारादि लेह— शालसारादिवर्ग (द्रव्यसंग्रहणीयाध्याय) की ओषधियों मिलाकर सौ पल की मात्रा में लेकर सोलहगुने जल में खौलाकर चतुर्भागा-शिष्ट क्वाथ बना ले। इस क्वाथ को छानकर एक दूसरे वर्त्तन में लेकर पुनः ाँच पर पकावे—जब गाढ़ा होने लगे तो उसमें आमलक, लोध्र, प्रियङ्गु, दन्ती, णलौह और ताम्रचूर्ण (दोनों का भस्म लेना अधिक निरापद रहेगा) इन यों में से प्रत्येक का एक-एक पल का प्रक्षेप डालना चाहिये। जब वह लेह की वस्था में आ जावे तो उतार कर ढक देना चाहिये। पुनः यथावश्यक अनुपान साथ इस अवलेह का सेवन करे। यह अवलेह सभी प्रकार के मेहों का नाश ता है।

त्रिफलालौह (नवायसचूर्ण)—त्रिफला, त्रिकटु, चित्रक, विडङ्ग और मुस्तक नौ द्रव्यों में से प्रत्येक को समान भाग में लेकर, उस चूर्ण के बराबर कृष्णा-चूर्ण (कृष्ण लौहभस्म) मिलाकर एक योग बना ले, यथायोग्य मात्रा में मधु र घृत के अनुपान से सेवन करने से अग्नि प्रदीप्त होती है, मन्द हुई जठराग्नि प्रज्वलित होती है। अर्श, शोफ, पाण्डु, कुष्ठ, अविपाक, कास, श्वास और ेह नहीं होने पाता। इस योग का नाम 'नवायस' है।

लौहारिष्ट—शालसारादि गण की ओषधियों का उपर्युक्त विधि के अनुसार तुर्भागावशिष्ट क्वाथ बना ले। पुनः उसको छानकर जब शीतल हो जाये तो मधु दे (कुछ लोग 'मधुमाक्षिक' शब्द से केवल मधु का ग्रहण करते हैं तथा अन्य मधु से मद्य और माक्षिक से मधु दो चीजों का ग्रहण करते हैं और दूसरे ासव का प्रक्षेप बतलाते हैं)—प्रक्षेप डालने के बाद जब वह कुछ गाढ़ा ाणितीभाव-प्राप्त) हो जाय तो उसमें शुद्ध गुड़ पचास पल की मात्रा में डाल दे। ब इस द्रव को घृत से लिप्त घड़े में रखे और उसमें पिप्पल्यादि गण की षधियों का बारीक चूर्ण (पच्चीस पल की मात्रा में) डाल देना चाहिये। इन ेपों के अतिरिक्त उसमें कान्तलौह के पत्तरों का भी पच्चीस पल की मात्रा में ेप दिया जाता है। ये लौह के पत्तर खदिर के कड़े अङ्गारे के ऊपर रक्त-तप्त र उस द्रव में डालना चाहिये। घड़े को भीतर से मधु, घृत और पिप्पली के र्ण से लिप्त कर लेना आवश्यक होता है।

पश्चात् उस घड़े के ऊपर ढक्कन देकर कपड़े और मिट्टी के जरिये अच्छी

प्रकार से संधान करके जौ की राशि के बीच में तीन या चार महीने तक चाहिये, जब तक कि लोह का उसमें विलयन न हो जाय। (यदि लौह भस्म डाला जाय तो अपेक्षाकृत शीघ्र विलयन हो जाता है।) क्योंकि में अम्ल बहुत अल्पशक्ति का होता है।

जब अरिष्ट तैयार हो जाय तो रोगी और व्याधि के बल और काल के सार प्रातःकाल सेवन करना चाहिये, यथायोग्य आहार का भी क्रम रखना

इस अरिष्ट के द्वारा मेदस्वी व्यक्ति कृश हो जाते हैं, मन्दाग्नि जाती है। शोफ, गुल्म, मेह, पाण्डु और कुष्ठ रोग नष्ट हो जाते हैं। विष और तज्जन्य प्लीहावृद्धि ठीक हो जाती है, मूत्र की आविलता या नष्ट होकर कुछ काल तक सेवन करने से प्रमेहरोग नष्ट हो जाता है। महागुणवान् लोहारिष्ट है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार पाश्चात्य चिकित्सा ग्रंथों में भी पिडि चिकित्सा (स्थानिक) करते हुए सार्वदैहिक उपचार चलते-रहते हैं। जैसे- कर भोजन, जीवतिक्तियुक्त पदार्थों का (Ample vitamin cont प्रचुर सेवन, स्वच्छ वायु. सूर्य–प्रकाश प्रभृति आहार-विहारों के साथ-साथ रोगी के मूत्र से शर्करा उत्सर्जित होती हो तो उसके शामक 'इन्सुलीन' का भी करना चाहिये। विशेष प्रकार के आजकल मधुमेह को नष्ट करने वाले प्रकार के मुख से सेवन करने योग्य सल्फा योग (I'ol Butamide, Di nese etc,) भी चलने लगे हैं। इनके सेवन से भी पर्याप्त लाभ होता रक्तगत शर्करा की मात्रा के नियंत्रण के लिये पिडिका रोग में इनका भी किया जा सकता है।

शोधन—मधुमेह से पीडित पिडिका वाले रोगियों में विरेचन देना होता है, क्योंकि उनका शरीर मेदस्वी होता है और वायु मेदा से आवृत है. इसलिये हल्के शोधन से इनका कार्य नहीं चलता; इनके लिए तीव्र औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

मधुमेह शब्द का यहां पर प्रयोग एक विशेष अर्थ में हुआ है। यदि से पीडित रोगियों में उपद्रव होने लगे और उनके मूत्रादि में मधुरता का होने लगे या मूत्र से मधु का गन्ध आने लगे तो उनकी सामान्य परि मधुमेह की कर लेनी चाहिये और उपचार मधुमेह-पिडिकावत् करना

देना चाहिये। चिकित्सा के क्रम को ठीक रखने की दृष्टि से ही त ने सभी मेहों की एक विशेष अवस्था में मधुमेह की पारिभाषिकी ा दी है।[1] आज के युग में मूत्र की रासायनिक विधियों से परीक्षा कर के मता से मधुमेह का निदान कर लेना संभव है।

स्वेदन का निषेध—यों तो सभी प्रकार के प्रमेहियों में स्वेदन का निषेध न्तु मधुमेह में और विशेषतः इस प्रकार की पिडिका से पीडित रोगियों में स्वेदन बड़ा ही हानिकारक होता है। इसका कारण यह है कि इन रोगियों के ीर में मेद का आधिक्य होता है और स्वेदन होने से सारा शरीर ढ़ीला हो ता है, दोष सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं।

स्थानिक उपचार—

अपक्वावस्था—इस अवस्था में शोफवत् चिकित्सा करनी चाहिये।

पक्वावस्था—इस अवस्था में व्रणवत् उपचार करना चाहिये। सड़ा गला तना भी भाग हो, उसको काट (उत्कर्त्तन) कर साफ कर देना चाहिये।[2] चात् प्रारम्भ से ही रोपण का प्रयास करना चाहिये। प्रमेह-पिडिका में यह शेषता अन्य व्रणों में प्रथम शोधन पर्याप्त करने के बाद रोपण का उपक्रम ता है, परन्तु इनमें प्रारम्भ से ही रोपणतैल का प्रयोग करना चाहिये। इसका प यह है कि इन अवस्थाओं में ओज, शर्करा और शुक्ली प्रभृति धातुओं के श के कारण शरीर की प्राणशक्ति का अधिक नाश हो जाने से व्रणों के भरने में फी देर लग जाती है।

१. मिश्रक अध्यायोक्त रोपण द्रव्यों से सिद्ध तैल का व्यवहार करना, २. आरग्वधादि कषाय से उत्सादन करना, ३. शालसारादि कषाय से प्रक्षालन ौर परिषेक की क्रिया, ४. साथ ही रोपण शीघ्रतर होने के लिये कुछ आभ्यंतर योगों को खीचलाते रहना चाहिये। जैसे—पिप्पल्यादि कषाय का पान और ोजन में प्रयीग अथवा पाठा, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा, क्षुद्रा, बृहती, सारिवा, सोम-वल्कल, सप्तपर्ण; आरग्वध, कुटजमूल-चूर्ण को समभाग में मिला कर एक कर्ष की मात्रा[3] में सेवन करते रहना चाहिये। इन द्रव्यों के प्रयोग से कोष्ठशुद्धि भी होती

---

[1] सर्वे एव प्रमेहा मूत्रादि माधुर्ये मधुगन्धसामान्यात पारिभाषिकीं मधुमेहतां लभन्ते। (सु.)

[2] (Eree excision of the necrotic tissues.

[3] कर्षश्चूर्णस्य कल्कस्य गुटिकानाञ्च शर्वशः।
द्रवशुक्त्याऽवलेढव्यः पातव्यश्च चतुर्द्रवः॥

चलती है-जिस शोधन का मेह की चिकित्सा में बहुत बड़ा स्थान है

आधुनिक ग्रन्थों में भी उपयुक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही चिकित्सा को है, प्रक्षालन के लिये क्षारीय द्रव्यों (Phenol or caustic lotion) व्यवहार तथा व्रणोपचार, मैगसल्क के बने श्लक्ष्ण लेप (Cream magsu paste, magmag, su-mag) का प्रचुर उपयोग किया जाता है। चिकि जगत् के उच्चतम खोज 'पेनीसिलीन' का व्यवहार भी बहुलता से होने ल इसके द्वारा पूयोत्पत्ति कम होकर व्रण का रोपण शीघ्र होता है।

क्षयज, या मधुमेहज व्रणों में क्षेत्रप्रधान चिकित्सा ही लाभप्रद होत यदि रोगी की मधुमेह की दशा में अन्तर आया और मूत्र से उत्सर्जित होने धातुओं में कमी हुई तभी व्रण भरते हैं, अन्यथा उच्चतम आविष्कार भी अस ही रहते हैं। अस्तु 'ताभिः पिडिकाभिरुपद्रुतं प्रमेहिणमुपचरेत्'।

* * *

त्रयोविंश प्रकरण

क्षुद्ररोगनिदानचिकित्सीयाध्याय

व्याख्या—

१. **लघ्वर्थ—**क्षुद्ररोगों का सामान्य अर्थ छोटे रोगों से है, परन्तु अधिकार में रोहिणी, वल्मीक प्रभृति रोगों का भी वर्णन मिलेगा। फिर भी छोटे, हेतु, लक्षण और चिकित्सावाले रोगों का ही वर्णन बहुलता से है, इस बड़े रोगों का व्यपदेश से ग्रहण समझना चाहिये। जैसे बहुत से छाते व्यक्तियों का एक समूह जा रहा हो, उनमें यदि एकाध बिना छाते के भी हों व्यपदेश से उनकी भी गणना छातावालों में हो जाती है और 'छातेवाले रहे हैं' ऐसे कहा जाता है। उसी प्रकार क्षुद्ररोगाधिकार में छोटे हेतु, ल और चिकित्सावाले रोगों का ही वर्णन बहुलता से होगा।

२. **तीक्ष्णार्थ—**कुछ लोगों ने क्षुद्ररोगों का तीव्र पीडादायक रो का वर्णन माना है अर्थात् यद्यपि इस वर्ग में पठित रोग सीमित लक्षणों वाले हैं परन्तु इनमें पीड़ा तीव्र होती है। अस्तु, इनका स्वतन्त्र उल्लेख हुआ है। इ रोगों का वर्णन दोष-दूष्यादि का विस्तृत रूप से विवेचन करते हुए संक्षेप में

या गया है, फिर भी रोहिणी इत्यादि रोगों के लक्षण तीव्र (Acute) ते हैं ।

४. परिशिष्टार्थ—कुछ लोगों ने क्षुद्ररोग निदान को परिशिष्ट अथवा शिष्ट निदान माना है । जिन रोगों का वर्णन अन्यत्र किसी विशेष वर्गीकरण में हीं हो पाया, उन सबों को एकत्र करके एक अध्याय में संग्रह कर दिया गया । अस्तु, इनके पर्याय में परिशिष्ट रोगनिदान कहना अधिक सार्थक होगा ।

४. परिभाषार्थ—कुछ टीकाकारों ने यह बतलाया है कि—यह एक रिभाषिक संज्ञा है, जिसके भीतर कुछ विशेष संख्यक रोगों का वर्णन ग्रन्थकार गों ने किया है ।

५. निर्हेतुक संज्ञा—डल्हणाचार्य ने अपनी टीका में क्षुद्र रोगों के य में लिखा है—यह बिना किसी हेतु की संज्ञा है अर्थात् ऐसा नामकरण सी विशेष कारण से नहीं किया गया है, बल्कि परम्परा का निर्वाह करने के ये एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप में क्षुद्ररोगों का वर्णन है । पूर्ववर्ती जितने चार्य हुए हैं, उन सभी लोगों ने एक अध्याय इस नाम का अपने बनाये थ में दिया है । उसका कोई विशेष उद्देश्य होगा ।

यदि उपर्युक्त मतों पर एक दृष्टि दी जाय तो स्पष्ट मालूम हो जाता है कि स वर्ग के अन्दर दोष, दूष्य, हेतु' लक्षण और चिकित्सा की दृष्टि से संक्षेप में ीत अधिकतर छोटे रोगों का एक संग्रह है । इस अधिकार के विकार अधिकर त्वग्रोग हैं ।

रोगों की संख्या—वाग्भट ने छत्तीस, माधवनिदान ने तैंतालीस और श्रुत ने चौवालीस क्षुद्ररोगों का वर्णन किया है । यह गणना-भेद वर्गीरण के भेद से हुआ है । जैसे वाग्भट ने इन्द्रलुप्त, पलित, दारुणक, अरूंषिका भृति सुश्रुत के क्षुद्ररोगाधिकारोक्त रोगों को अपने ग्रन्थ में शिरोरोगों में पढ़ा है, रिवर्त्तिका, अवपाटिका और निरुद्धप्रकश का गुह्यरोगाधिकार में वर्णन या है । अनुशयी, रकसा, पाददारिका, वृषणकच्छु और गुदभ्रंशप्रभृति ई रोगों का तो वर्णन ही नहीं किया है । कई रोगों का पर्याय नाम से वर्णन लता है । जैसे इन्द्रविद्धा को विद्धा, अन्धालजी को अलजी, मशक को माष र न्यच्छ को लांछन कर दिया गया है । कई रोगों को वाग्भट ने जोड़ भी

दिया है—जैसे १. गर्दभी[1]— मण्डलाकार, लालिमा लिये विपुल उभार की पि
२. गंधनामा[2]—पित्त से होने वाली सूक्ष्म आकार की घनी पिटिकायें (फुन्सि
लाज (लावा) के आकार की होती हैं, उन्हीं में एकाध बड़ी भी हो सक
३. राजिका[3]—धूप और पसीने के कारण ग्रीष्मऋतु में जो घनी फुन्सियाँ
शरीर की त्वचा पर निकलती हैं और जो आकार, वर्ण, प्रमाण एवं संस्
राजिका (राई के बराबर) की तरह होंती हैं, उन्हें राजिका (Lich
tropicus) कहते हैं ४. प्रसुप्ति—वायु से उदीरित हुआ श्लेष्मा त्व
आकर शुष्क हो जाता है, पश्चात् त्वचा पाण्डुवर्ण होकर क्रमशः चेतन
(anaesthetic) हो जाती है। इस सुप्त स्थान में अल्प कण्डू होती
स्थान क्लिन्न नहीं होता, सुन्नता होने से इसको स्वाप या प्रसुप्ति (Lo
anaesthesia or Numbness) कहते हैं। ५. इरिवेल्लिका[4]—जत्रु के
उत्तमाङ्ग में होने वाली वृत्ताकार, उग्रपीडा और ज्वर वाली पिडिका होती है
पिडिका त्रिदोषज होती है, इस लिये सर्व लक्षणों से (त्रिदोषज) युक्त होती
६, ७. उत्कोठ तथा कोठ—असम्यक् वमन होने से उदीर्ण पित्त, श्लेष्मा
अन्न का आमाशय में निग्रह होता है। कोष्ठ की शुद्धि नहीं हो पाती।
दोष बाहर आकार त्वचा मण्डलाकार अत्यन्त कण्डूयुक्त, लालिमायुक्त
बहुसंख्यक छोटे बड़े चकत्तों को पैदा करता है। उस व्याधि को उत्कोठ
अनुबुद्ध होने पर कोठ कहते हैं। इन मण्डलों (wheels) की यह विशे
होती है कि ये शीघ्रता से उत्पन्न होते और शीघ्रता से मिट भी जाते हैं।
अंग्रेजी में 'अर्टिकेरिया' (Urticaria or Angioneurotic oede
कहते हैं। ये अनूर्जता (Allergy) नामक एक अवस्था के लक्षण
प्रकट होते हैं। कई बार क्वीनीन, संखिया आदि पित्तकर औषधियों के
आन्त्रस्थ गण्डूपद (केंचुए) की उपस्थिति, शरीर में खटिक (Calcium)

---

[1] मण्डला विपुलोत्सन्ना सरागपिटिकाचिता।

[2] पित्ताद् भवन्ति पिडिकाः सूक्ष्मा लाजोपमा घनाः।
तादृशी महती त्वेका गन्धनामेति कीर्तिता॥

[3] घर्मस्वेदपरीतेऽङ्गे पिटिकाः सरुजो घनाः।
राजिकावर्णसंस्थानप्रमाणा राजिकाह्वयाः॥ (वा. उ. ३१)

[2] त्रिलिङ्गा पिटिका वृत्ता जत्रूर्ध्वमिरिवेल्लिका।

मी 'विटामीन सी' की कमी और मानसिक उत्तेजनायें भी शीतपित्त, कोठ, कोठ, उदर्द प्रभृति रोगों के उत्पादन में कारणभूत होती हैं ।

माधवनिदान में रकसा का वर्णन नहीं है, मसूरिका और विस्फोट का तन्त्र वर्णन किया गया है । पामा और विचर्चिका का कुष्ठ में, चर्मकील का में पाठ है । गर्दभिका, इरिवेल्लिका, गन्धमाला, नीलिका और वाराहदंष्ट्र क्षुद्ररोग अधिक वर्णन में आये हैं । इनमें से पहले तीनों का वर्णन ऊपर हो का है, शेष नीलिका—मुख के अतिरिक्त स्थान के व्यङ्ग (झाईं) को कहते । वाराहदंष्ट्र—दाह के साथ रक्त पर्यन्त त्वक् का पाक होता हैं, तीव्र वेदना, ली और ज्वर होता है । इस व्याधि को शूकरदंष्ट्र कहते हैं ।[1]

१. **अलजी**—स्निग्ध, सवर्ण, ग्रथित (गाँठदार), पीडाहीन, मुद्ग के ाण की, कफ और वात से होने वाली बालकों की पिडिकाओं (फुड़ियों) कहते हैं ।

चिकित्सा—१. आमावस्था में जलौका-कर्म; २. शुक्ति, स्वर्जिका और क्षार के द्वारा प्रतिसारण; ३. श्यामा. लाङ्गलकी और पाठा के कल्क से लेप रना और ४. पक्कावस्था में व्रण बनाकर व्रणवदुपचार ।

२. **यवप्रख्या**—कफ और वात से मांस में उत्पन्न हुई, जौ के आकार , बीच में स्थूल और दोनों ओर नुकीली, कठिन और गांठदार पिडिकायें होती हैं ।

३. **अन्वालजी**—कठिन, मुखरहित, ऊपर को उठी हुई, गोल और अल्प युक्त, कफ और वात से होने वाली पिडिका हो जाती है ।

४. **कच्छपी**—कफ और वात से उत्पन्न हुई, कछुए के पीठ के समान त, कठिन, पाँच या छः ग्रन्थियों के समूह को कच्छपी समझना चाहिये ।

५ **पनसी या पनसिका**—कान के ऊपर, आस-पास या पीठ पर तीव्र डायुक्त, कमलकन्द (शालूक) के समान कठिन, वात और कफ से उत्पन्न हुई डिका को पनसिका समझना चाहिये । माधव ने केवल कान के भीतर होने ली पिडिका को ही पनसिका (Furunculosis) बतलाया है ।

---

[1] सदाहो रक्तपर्य्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः ।
कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्याच्छूकरदंष्ट्रकः ॥ (वा. उ. ३१)

६. पाषाणगर्दभ—हनुसन्धि में उत्पन्न हुए, वायु और कफ-जन्य, अ
पीडायुक्त, स्थिर शोफ को पाषाणगर्दभ कहा जाता है।

पाषाणगर्दभ, कर्णकमूलिक-लालाग्रन्थि (Parotid gland) का
चिरकालीन प्रकार का शोफ है।[1] कुछ विद्वानों ने ग्रन्थि पर अवस्थित को
(Adenona Fibroma or endothilioma) माना है;
चिकित्सा-वर्णन देखते हुए वह अर्बुद न हो कर पैरोटिड ग्रन्थि का शोफ
होता है। इसी शोफ का एक प्रकार औपसर्गिक कर्णमूलिकशोथ (Epide-
parotiditis or mumps) होता है। जिनमें पित्त का अनुबन्ध होने
ज्वर भी हो सकता है, पीडा अल्प होती है।

चिकित्सा—अन्धालजी, यवप्रख्या, पनसी, कच्छपी और पा
गर्दभ में समानता है। क्योंकि सबों में वायु और श्लेष्मा हो उत्पादक
होते हैं। आमावस्था में—१. सामान्यतया सभी में स्वेदन, २. मनःशिला,
ताल, कुष्ठ, देवदारु इनके कल्क का लेप, ३. दशाङ्गलेप का उपनाह
चाहिये। जब पाकोत्पत्ति हो जाय तो ४. उसका छेदन करके व्रणवत् उप
करना चाहिये।

पाषाणगर्दभ की अवस्था में यदि ज्वर हों तो हिङ्गुलेश्वर का आ
प्रयोग करना लाभप्रद होता है। एक से दो रत्ती दिन में तीन या चार
शिग्रुस्वरस और मधु से देना चाहिये। शिग्रु की छाल का स्थानिक ले
करना चाहिये। दशाङ्गलेप को पीसकर गुनगुना गर्म करके शोथ के ऊप
करने से भी लाभ होता है।

७. विवृता—चौड़े मुँह वाली, अत्यन्त जलन और ज्वर करने वाली,
दुम्बर सदृश वर्ण की, गोलाकार, पित्तजन्य पिडिका को विवृता समझे।

८. इन्द्रवृद्धा—पद्मबीजकोष की भांति जो छोटी-छोटी फुन्सियों में
होती है, उसको वात और पित्त से उत्पन्न हुई पिडिका समझे।

९. जालगर्दभ—विसर्प के समान फैलने वाला, दाह और ज्वर
वाला, ईषत् पाकयुक्त, पित्तयुक्त प्रबल दोषों से उत्पन्न हल्का सा शोथ

---

[1] वातश्लेष्मसमुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिजः।
स्थिरो मन्दरुजो ज्ञेयः स्निग्धः पाषाणगर्दभः॥
कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम्। (मा. नि.)

भ में होता है। भोज ने इसी को विसर्प कहा है—'पित्तप्रधान तीनों दोष कर त्वचा का आश्रय करके श्याव या रक्त वर्ण का पतला शोफ पैदा करते जिनमें वेदना अधिक होती है, परन्तु पाक नहीं, वह शोफ विसर्पणशील ता है—फैलता जाता है—अतः इस रोग को विसर्प कहा जाता है, जिसको रे जालगर्दभ भी कहते हैं।'

१०. कक्षा—बाहु, पार्श्व, अंस और कक्षा इन स्थानों में पित्तप्रकोप से न्न हुए, पीडायुक्त, काले रङ्ग के फोड़े को कक्षा कहते हैं।' इस वर्णन से ऐसा पड़ता है कि बगल के आस-पास के स्थान में पित्त-प्रकोप से उत्पन्न हुआ एक ही फोड़ा है जिसको कक्षा (कखौरी) कहते हैं। इसलिये कक्षा के लसीकाग्रन्थिशोथ (Acute lymphadenitis of axillary glands) बोधक होता है। कक्षा की लसीका ग्रन्थियों का शोथ होने से धीरे-धीरे वह पार्श्व, अंस और बाहु की ओर फैलता है। सम्भवतः वाग्भट और वनिदान ने इसी को गन्धनामा पिडिका के नाम से वर्णन किया है।

चरक और वाग्भट को कक्षा सुश्रुतोक्त ऊपर के कक्षारोग से भिन्न प्रकार विकृति है। उसमें वायु और पित्त दोनों दोषों का उत्पादन में संसर्ग होता है अनेक छोटी छोटी फुन्सियाँ निकलती हैं। 'यज्ञोपवीत के सदृश उसको दिशा छाती और पीठ में बहुत सी फुन्सियों के दाने पित्त और वायु से निकलते ' (च) 'कक्षा के समीपस्थ चारों तरफ के स्थान में वातप्रधान पित्तदोष से के समान बहुत सी छोटी-छोटी घनी पिडिकायें निकलती हैं, जिन्हें कक्षा हैं।' (अ. सं) इस व्याधि को अंग्रेजीपरिभाषा में 'हर्पिस जोस्टर' कहा है। ये पिडिकायें अधिकतर पर्शुकान्तरीय नाडियों (Intercostal rves) के मार्ग पर छोटी-छोटी और अनेक संख्या में उत्पन्न होती हैं; ये पवीत की दिशा (Intercostal nerves के मार्ग) में होती हैं।

११. विस्फोटक—शरीर के किसी एक भाग में या सारे शरीर में रक्त-

---

१. यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनिता तु कक्षा। (चर०)
कक्षेति कक्षासन्नेषु प्रायो देशेषु सानिलात्।
पित्ताद् भवन्ति पिटकाः सूक्ष्मा लाजोपमा घनाः॥
(अ. सं.)

पित्त से उत्पन्न हुए, ज्वरयुक्त, अग्निदग्ध के समान स्फोट विस्फोट कहलाते इनका विस्तृत वर्णन माधवनिदान ने किया है। कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, विदाही, रूक्ष, क्षार, अजीर्ण, अध्यशन, धूप तथा ऋतुदोष से पवनादि कुपित होकर त्वचा का आश्रय करके रक्त, मांस और अस्थि को दूषित ज्वरपुरःसर विस्फोट निकालते हैं। दोषभेद से वा०, पै०, श्लै०, वा० पि०-क०, वा०-क०, सा० और रक्तज आठ प्रकार के होते हैं जिनमें सान्नि और रक्तज असाध्य होते हैं। अंग्रेजी में विस्फोटक को 'बुलसएरप्शन 'पैम्फीगस' और सान्निपातिक तथा रक्तज को उन्हीं की तीव्र अवस्था कहते

चिकित्सा—विवृता, इन्द्रवृद्धा, गर्दभी, जालगर्दभ, इरिवेल्ला, गन्ध कक्षा और विस्फोटक सभी पित्तदोषप्रधान होते हैं, इसलिये इनकी चिकित्सा सामान्य है— १. पित्तजविसर्पवत् चिकित्सा करे, २, मधुरौषधियों (काको द्रव्यों) से सिद्ध क्षीर या घृत के द्वारा शोधन और रोपण करे।

कक्षा में दाह और पीड़ा दो लक्षण मिलते हैं, उसके शमन के लिये प्रवाल, एस्प्रिन, कैफीन इनका प्रयोग किया जाता है तथा स्थानिक उप अवधूलन (Dusting powder) और अवचूर्णन के द्वारा फुन्सियों के को रूखा रखते हैं।

१२. वल्मीक—'हस्ततल, पादतल, संधि और ग्रीवा में तथा जत्रु के प्रदेश में जो विकृति दीमक के वल्मीक के समान धीरे-धीरे नई-नई होकर जाती है, पश्चात् उन ग्रन्थियों के पक के फूट जाने पर व्रण में पीडा, स्राव और कण्डू होती है। ऐसे अनेक व्रणों से स्थान व्याप्त हो जाता है। य चिरकालिक त्रिदोषज विकार है, जिसकी चिकित्सा कठिन (निष्प्रत्यनीक)

इस विकार का सादृश्य आधुनिक युग में दो रोगों से मिलता है-१. नोमायसिस' और २. 'मदुरापाद'। इनमें एक विशेष प्रकार का पीले रङ्ग का

---

१. Pemphigus Acutus malignus—सान्निपातिक और रक्तज वि
'न ते सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि'।

२. ग्रीवांसकक्षाकरपाददेशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः।
ग्रन्थिः स वल्मीकवदक्रियाणां जातः क्रमेणैव गतः प्रवृद्धिम् ॥
मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भिर्विसर्पवत्सर्पति चोन्नताग्रैः।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात् ॥

र स्राव होता रहता है। इस रोग का हेतु 'एक्टिनोमायसी' नामक जीवाणु है। ह रोग पादतल, हस्ततल, जानुसन्धि, हनुसंधि, शंखक (जत्रूर्ध्व) आदि स्थानों होता है तथा आकार में वल्मीक के समान होता है। अत्यन्त मन्दगति से सर्प के समान सन्निधि से फैलने वाला, निष्प्रतिक्रिय, अनेक पूययुक्त, नाड़ीव्रणों व्याप्त होता है। मर्मस्थानों पर प्रसार होने से परिणाम घातक होते हैं। रोग थानिक होता है, उसमें सार्वदैहिक लक्षण नहीं होते।

चिकित्सा—१. शस्त्र के द्वारा उत्कर्त्तन, २. तदनन्तर क्षार और अग्नि का योग, ३. अर्बुदवत् उत्कर्त्तन करके शोधन और रोपण। ४. यदि वल्मीकरोग वजात हो और मर्मस्थान में अवस्थित न हो तो संशोधन करके रक्तविस्रावण रना चाहिये। ५. लेप—कुलथी का मूल, गुडूची, लवण, किरमालकमूल, दन्ती-ल, श्यामामूल, मांस और सत्तू इन द्रव्यों का कल्क बनाकर लेप करे। अन्य स्निग्ध उपनाहों का प्रयोग हो सकता है। यदि पक्वावस्था उन शोफों में जाय तो उसका छेदन करके अग्नि से दाह करना चाहिये, दुष्ट और विकृत ांसभाग का शोधन करके क्षार से प्रतिसारण करना चाहिये, फिर जब व्रण का ोधन हो जाथ तो व्रण के रोपण का उपाय करना चाहिये। ६. निम्बतैल—मेली, गेठवन (ग्रन्थि), भल्लातक, मनःशिला, कृष्णसारिवा, छोटी इलायची, न द्रव्यों से निम्बतैल को सामान्य तैलपाक की विधि से पकाकर रोपण में प्रयोग रना चाहिये। इस प्रकार से सिद्ध हुआ निम्बतैल वल्मीक नामक व्याधि के ोपण में बहुत प्रशस्त है।

असाध्य—यदि हाथ और पैर के ऊपर अनेक छिद्रों से युक्त और अत्यधिक शोफयुक्त अवस्था हो जाती है तब असाध्य हो जाता है। चिकित्सा करने र भी लाभ नहीं होता। आधुनिक युग में पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में भी चिकित्सा के प्राचीन सिद्धान्तों का ही अनुसरण करते हुए प्रतीकार किया जाता है। जैसे-१ उत्कर्त्तन (Free excision), २. दाहकर्म (Cautrizatios), ३. क्ष-किरण (X-Ray)।

१३. **अग्निरोहिणी**—कक्षाप्रदेश में प्रदीप्त अग्नि के समान अन्तर्दाह और ज्वर करने वाले, मांस को विदीर्ण करने वाले जो विस्फोट उत्पन्न होते हैं, उनको अग्निरोहिणी कहते हैं। वे सात दिन में, दस दिन में, पन्द्रह दिन में रोगी को मार देते हैं, यह व्याधि सन्निपातज होती है। फलतः असाध्य होती है।

चिकित्सा—यद्यपि वल्मीक और अग्निरोहिणी ये दोनों व्याधियां मानी गई हैं तथापि 'जब तक उच्छ्वास लेता रहे तब तक प्रतिक्रिया रहना चाहिये, क्योंकि दैवयोगात् कभी-कभी अरिष्टलक्षण से युक्त रोगी भी जाते हैं।[1] अग्निरोहिणी में पूरी पित्तविसर्पवत् चिकित्सा की जाती है। लोगों ने इस व्याधि की तुलना 'प्लेग' से की है।

१४. **चिप्प**—[2]नखमांस का आश्रय करके वात और पित्त वेदना, और पाक उत्पन्न करते हैं; उसे चिप्पव्याधि कहते हैं। वही क्षतरोग तथा भी कहलाता है।

इस रोग में नखमांस (Nail matrix) में पाक होता है—इसकी परिभाषा ओनीकिया पुरुलेण्टा (Onychia Purulanta) है। में जो क्षतरोग का वर्णन है उसमें नख और चर्म की सन्धि पकती है 'नख के बीच के स्थान में मांस और रक्त दूषित होकर अत्यन्त पाकयुक्त हैं।' इस अवस्था को 'पेरीओनीकिया' (Perionychia) कहते हैं। का भी यही अर्थ है 'नख समीपवर्त्ती भाग का पाक' (Whitlow)।

१५. **कुनख**—चोट लग जाने से नख दूषित होकर रूखा, काला खुरदरा हो जाता है, उसको कुनख समझना चाहिये। वही कुलीन (Onygryphosis) भी कहलाता है।

चिकित्सा—चिप्प और कुनख में सामान्यचिकित्सा की जाती है। १. विस्रावण—चिप्प को उष्णोदक से सेक कर तत्काल रक्तविस्रावण करना २. पश्चात् चक्रतैल से अभ्यङ्ग, ३. सर्जचूर्ण का अवचूर्णन (Dusting) बंधनोपचार। यदि इन विधानों की सहायता के बावजूद भी व्याधि न सके तो ५. अग्निकर्म करे, ६. पश्चात् काकोल्यादि गण की ओषधियों से तैल के द्वारा रोपण करे।

---

१. यावदुच्छ्वसिति प्राणी तावत्कार्या प्रतिक्रिया।
कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति॥
२. नखमांसमधिष्ठाय वायुः पित्तं च देहिनाम्।
करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत्॥
तदेव क्षतरोगाख्यं तथोपनखमिति। (सु० नि० १३)

१६. **अनुशयी**—गहरी, अल्पशोथयुक्त, सवर्ण, मस्तक के ऊपर स्थित हुई, फजन्य, भीतर में पकने वाली पिडिका को अनुशयी समझना चाहिये।

चिकित्सा—श्लेष्मविद्रधिवत्।

१७. **विदारिका**—कांख और वंक्षण की संधियों में विदारीकन्द के समान ोल, रक्तवर्ण, सर्वदोषजन्य और सर्वदोषों के लक्षणों से युक्त गांठ को विदारिका मझना चाहिये।[1]

इस व्याधि (विदारिका) में कक्षा और वंक्षण की लसीकाग्रन्थियों का शोथ ोता है। सन्निपातज होने पर भी यह साध्य होता है, क्योंकि इसमें पित्त का ल्पबल होता है। इसमें कुछ ज्वर भी होता है। इस प्रकार के रोग को ंग्रेजी में 'ब्युबो' (Bubo) कहते हैं, जो कई कारणों से हो सकता है। जैसे—ाघात, फिरङ्ग और प्लेग आदि। यहाँ का वर्णन सामान्य (Climatic Bubo) से मिलता-जुलता है, विशिष्ट प्रकार के रोगों के उपद्रवरूप में पाये ाने वाले 'ब्यूबों' से नहीं।

चिकित्सा—१. 'अभ्यङ्ग, स्वेद, विम्लापन, २. जलौका के द्वारा रक्त-विस्रावण, ३. सर्ज और शटीमूल का पीसकर कोष्ण लेप अथवा जिंगिनी, पुनर्नवा ौर बला के मूल का लेप। यदि उपर्युक्त शोफशामक उपचारों से शोफ शमन ो न प्राप्त हो तो ४. पाचन करना। ५. व्रण बनाकर पूय का निर्हरण करना ाहिये। ६. पटोल और निम्बपत्र के क्वाथ से प्रक्षालन करके व्रण का शोधन रना चाहिये। ७. रोपण के लिये कषाय और मधुर द्रव्यों से सिद्ध तैल का योग करे। शोधन के लिए क्षीरीवृक्ष और खदिरकषाय भी व्यवहृत होते हैं।

१८. **शर्करार्बुद**—कफ, मेद तथा वायु मांस, सिरा और स्नायु में प्राप्त होकर ग्रन्थि उत्पन्न करते हैं। वह फटने पर मधु, घृत और चरबी के समान ाव करती है। उस भिन्नग्रन्थि में प्रवृद्ध हुई वायु मांस को सुखा करके फिर ांठदार शर्करा को उत्पन्न करती है। तब उसकी सिरायें दुर्गन्धयुक्त, क्लेदयुक्त ाना प्रकार के वर्ण का स्राव एकाएक स्रवती हैं। इस व्याधि को शर्करार्बुद कहा जाता है।[2]

---

[1] विदारीकन्दवद् वृत्तां कक्षावंक्षणसन्धिषु। रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम्॥

[2] तमेव भिन्नं दुर्गन्धं घृतमेदोनिभं सिराः। स्रवन्ति स्रावमनिशं तं विद्याच्छर्करार्बुदम्॥

यह एक प्रकार छोटा सा अर्बुद यानी गांठदार रचना की विकृति है, सम्भवतः स्वेदग्रन्थियों के ऊपर बनता है। इस विकृति को (Sadaceo harn) कहते हैं। इसमें जब उपसर्ग हो कर पूयोत्पत्ति होती है तो होने पर 'दुर्गन्धित घृत या मेद के समान वर्ण का स्राव होता है।'

चिकित्सा—मेदोर्बुद के सदृश।

१९. पामा (Scabies)
२०. विचर्चिका (Eczyma)
} क्षुद्रकुष्टों में इन त्वक्-रोगों का वर्णन जाता है। पामा से खुजली या खश विकार, विचर्चिका से उकवत का किया जाता है।

२१. रकसा— इनका वर्णन कुष्ठाधिकार में होता है।

चिकित्सा—इनमें रक्तशोधक चिकित्सा कुष्ठवत् करनी चाहिये। लेप के लिये सिक्थ (मोम), शताह्वा, गौरसर्षप, वचा, दार्वी, सर्षप (सफेद) अमल्ताश इन द्रव्यों का कल्क लेना चाहिये। तैल—सारतैल का अभ्यङ्ग चाहिये। सारतैल पकाने के लिये—शिशपा, अगुरु-सरल और देवदारु ओषधियों का योग किया जाता हैं। इनमें पिप्पल्यादि कटु द्रव्यों का भी कर लेना चाहिये।

२२. पाददारी—जो अधिक परिभ्रमण करने वाले व्यक्ति होते हैं, वायु परिभ्रमण के कारण अत्यन्त रूक्ष हुए पांवों के तलवे में आश्रित हो पीडायुक्त दरार (Rhagades) पैदा करती है।[1]

चिकित्सा—१. सिरावेध करना–स्नेहन और स्वेदन करके पैर की सि ओं का वेध करके रक्त-विस्रावण करना चाहिये। २. मधूच्छिष्टादि लेप— चरबी, मज्जा, राल का चूर्ण, घृत, यवक्षार और गैरिक को मिश्र करके पाद पर लेप करना चाहिये। यह प्रयोग इस अवस्था में बहुत ही लाभप्रद है।

२३. कदर—कङ्कड़–पत्थर से कुचले हुए या कण्टकादि से क्षत हुए म के पांव में मेद और रक्त के अनुगत दोषों से कीलवत् कड़ी, नीचे को हुई (निम्न मध्य) या ऊपर को उठी हुई (उन्नत), बेर के समान, पीड स्राव करने वाली गांठ उत्पन्न होती है, उस विकृति को कदर कहा जाता है।

---

[1] परिक्रमणशीस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः। पादयोः कुरुते दारीं पाददारीं तमादिशे

[2] शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः।

इस रोग को अंग्रेजी में कार्न (Corn) कहते हैं। अत्यधिक पीडन के रण उस स्थान की त्वचा के उपरितन स्तर के कोष (Cell) बढ़कर कड़े र्बुद की भांति होकर कदर का रूप लेते हैं।

चिकित्सा—१. कदर को काट कर मूल से निकाल देना चाहिये (उत्क-न) २. पश्चात तप्त तैल से उस स्थान का दाह कर देना चाहिये ।[1]

२४. अलस—खराब कीचड़ का अधिक काल तक संसर्ग होने से जब दोनों रों की अङ्गुलियों के बीच में गीलापन, खाज, जलन और पीड़ा होती है। इस ग को अलस कहा जाता है। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'चिब्लेन' (Chib-in) कहते हैं ।[2]

चिकित्सा—१. पैर का आरनाल (काञ्जी) से प्रक्षालन; २. निम्ब, ल, कासीस, हरताल, सैन्धव, लाक्षारस, हरें आदि द्रव्यों का कल्क बनाकर न करना; ३. रक्तमोक्षण; ४. कण्टकारी के स्वरस से सिद्ध सर्षप तैल का अभ्यङ्ग ौर ५. कासीस, हल्दी, मैनशिल के चूर्णों के द्वारा अवचूर्णन या प्रतिसारण Dusting) करना।

आमतौर से अलसक रोग कारण (कीचड़, दुष्ट जल प्रभृति) के अभाव होने र स्वयं अच्छा हो जाता है। यदि चिकित्सा की आवश्यकता पड़े तो स्थान को स कर वहां पर शुष्क चूर्णों का अवधूलन सर्वोत्तम होता है। शुद्ध टङ्कण, शदभस्म (Zinc oxide) और मैदे का आटा मिलाकर एक अवधूलन चूर्ण नाया जाता है—उसका प्रयोग भी इस अवस्था में लाभप्रद है।

२५. इन्द्रलुप्त—रोमकूपों में प्राप्त हुआ पित्त वायु के साथ मिलकर बालों ो गिरा देता है। तत्पश्चात् रक्त के साथ मिला हुआ कफ रोमों के छिद्रों के न्द करता है, जिससे दूसरे बालों की उत्पत्ति नहीं होने पाती। इसी रोग को न्द्रलुप्त, खालित्य या रुज्या भी कहते हैं ।[3]

ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते कदरं हि तत् ॥

[1] उत्कृत्य दग्ध्वा स्नेहेन जयेत्कदरसंज्ञकम् ।

[2] क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुजान्वितौ ।
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विभावयेत् ॥

[3] रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥

वाग्भट ने इन्द्रलुप्त और खालित्य में थोड़ा भेद बतलाया है। इन्द्रलु बाल सहसा गिरते हैं, और खालित्य में धीरे–धीरे। रुज्या को अष्टाङ्गहृदय 'रुज्या' और माधवनिदान में 'रुद्धा' कहा गया है। इन तीनों के अतिरि वाग्भट ने इसका पर्याय 'चाच' भी दिया है 'रसी इन्द्रलुप्त को कुछ लोग 'रु और दूसरे 'चाच' भी कहते हैं।' माधवनिदान को मधुकोष की व्याख्या आचार्य कार्त्तिक का मत दिया गया है, जिसमें उन्होंने 'इन्द्रलुप्त श्मश्रु में हो है, खालित्य सिर में होता है और रुह्या सर्व देह में' ऐसा लिखा है, प किसी भी संहिताकार ने ऐसी व्याख्या नहीं की है। अंग्रेजी ग्रन्थों में इस को 'एलोपेशिया' (Alopecia) बतलाया गया है। यदि वह पूरे शरी केशों के साथ सम्बन्धित हो, अर्थात् पूरे शरीर के केश गिर रहे हों तो सार्व (Alopecia universalis) कहते हैं।

चिकित्सा—१. स्नेहन, स्वेदन करके सिर की सिराओं (यदि सि खालित्य हो) का वेधन करना चाहिये। १. मरीच, मैनशिल, कासीस, के कल्क का लेप अथवा तगर और देवदारु के कल्क का लेप। ३. स्था गहरा प्रच्छान करके गुञ्जा के कल्क का लेप। ४. व्याधि के कृच्छ्रसाध्य होने वजह से विविध रसायनों का भी प्रयोग किया जा सकता है। ४. मालती मालती, करवीर, चित्रक, अमल्ताश इन द्रव्यों से पक्व तैल का प्रयोग इन्द्रलु प्रशस्त होता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने कैन्थरायडिन 'लायकर अमोनिया फोर्ट' प्रभृति का प्रयोग या उनसे सिद्ध तैल का प्रयोग खालित्य में बतलाया है। आव एक अनुभूत तैल का योग 'इन्द्रहुप्तनाशन तैल' नाम से प्राप्त होता है। व पाया गया है।

२६. दारुणक—[1] कफ और वात के दोष से जब केशों के स्थान की खाजयुक्त, रूखा और दरारयुक्त होता है; जब उसको दारुणक समझना चाहि आचार्य वाग्भट ने इस रोग का उल्लेख क्षुद्र रोगों के प्रकरण में न करके शि रोगाधिकार में किया है। इसमें केश गिरते हैं, सुन्नता होती है और द

रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसम्भवः।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुज्येति च विभाव्यते॥

[1] दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते।

हुत सूक्ष्म होते हैं। 'कण्डू, केशों का झड़ना, सुन्नता, रूक्षता, त्वचा का फटना, तले-पतले दरारों का होना—कफ और वायु के कारण होता है, इस व्याधि ो दारुणक कहते हैं।' और अंग्रेजी में इस रोग को (Pityriasis apitis) कहते हैं।

चिकित्सा—१. स्नेहन और स्वेदन करके शिर की सिराओं का वेधन। . अवपीडन। ३. शिरोवस्ति। ४. तैल या घृत का अभ्यङ्ग। ५. सिर के धोने लिये कोदों के तृण के बने क्षार से प्रक्षालन करना चाहिये।

२७. अरुंषिका—कफ, रक्त और कृमियों के प्रकोप से मनुष्यों के सिर में नेक मुखवाले और स्राव युक्त गीले व्रण होते हैं, उनको अरुंषिका समझना ाहिये। यह एक प्रकार की विचर्चिका (Eczyma of the face & calp) है, जो सिर पर होती है।[1]

चिकित्सा—१. रक्तविस्रावण। २. निम्बक्वाथ से प्रक्षालन करके वाजिविष्ठा ा रस, सेंधानमक मिलाकर लेप करना चाहिये। ३. हरताल, हल्दी, नीम की ाल, पटोल, मुलैठी, नीलोत्पल, एरण्ड और भृङ्गराज इन द्रव्यों को पीसकर ल्क बनाकर लेप करना चाहिये। ४. पुराना पिण्याक (तिल की खली), ुर्गों का विट दोनों को गोमूत्र के साथ पीसकर लेप करने से अरुंषिका में शीघ्र ाभ होता है।

२८. पलित—'क्रोध, शोक और परिश्रम से उत्पन्न हुई शरीर की गर्मी और पित्त सिर में प्राप्त होकर बालों को पकाता है—उससे पलित रोग उत्पन्न होता है।'[2] पलित रोग से केशों का अकाल में पकना समझना चाहिये। (Premature Grey hair or Canities)—इसका प्रधान कारण क्रोध, शोक और परिश्रम है। प्रधान कारणभूत दोष पित्त होता है, आनुषंगिकरूप में

कण्डूकेशच्युतिः स्वापो रौक्ष्यकृत्स्फुटनं त्वचः ॥
कफवातप्रकोपेण विद्याद्दारुणकं तु तम् ।
सुसूक्ष्मं कफवाताभ्यां विद्याद् दारुणकं तु तत् ॥ (वा.)

[1] अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्ध्नि च ।
कफासृक्क्रिमिकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम् ॥

[2] क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।

वायु और कफ भी होते हैं, क्योंकि बालों के सफेद करने का काम पित्त है। चरक ने खालित्य और पालित्य एक ही रोग की अवस्था-विशेष मान 'तेज वायु आदि दोषों के साथ मिलकर केशभूमि को जलाकर खालित्य क है—और यदि अल्प दाह होता है तो पालित्य भर होकर रह जाता है, जि हरित प्रभा के केश हो जाते हैं।[1]

चिकित्सा—**नीलीतैल**—नीली का पत्ता, भृङ्गराज, अर्जुन की छाल, फूल का मैनफल (पिण्डीतक), लौह का बुरादा, त्रिफलाचूर्ण, वीजक और यक का फूल इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर एकत्र करके नील कमल जड़ के कीचड़ के साथ मिलाकर एक कलश में या लोहे के घड़े में डाल उसका मुँह ढककर एक पक्ष तक छोड़ दे। एक पक्ष के बाद इस कल्क को नि कर उसके साथ तैल का पाक करना चाहिये। विधि—सामान्य परिमाण अनुसार तैल का चौथाई कल्क और तैल का चौगुना द्रव अर्थात् त्रिफला भृङ्गराज का स्वरस डालना चाहिये। जब तैल का पाक समीप आ जावे उसकी परीक्षा के लिये बलाका (बगले) की एक पांख डाल देनी चाहि जब वह पङ्ख भ्रमराङ्ग के समान वर्ण में काली हो जाय तब तैल को पक्व जा उसे एक पात्र में रख लेना चाहिये। यह पात्र भी कृष्ण लौह का ही बना चाहिये। एक मास तक उस पात्र में तैल को पड़ा रहने दे। पश्चात् उ प्रयोग करे। केश कृष्ण वर्ण के होकर पलित दूर हो जाता है।[2]

सैरेयकादि तैल—सैरेय, जामुन, अर्जुन, गाम्भारी के फूल, तिल, भृङ्गराज, की गुठली, पुनर्नवा, कंटकारी, पद्मिनीमूल का पङ्क (कीचड़), कासीस, फल, असनसार, त्रिफला, लौह, रसाञ्जन, मधुयष्टि, उत्पल, सारिवा और यन्ती (मल्लिका) या असनसार के क्वाथ से सभी द्रव्यों का समान लिया

पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥ (सु०)

[1] तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्यात्खलतिं नरस्य।
किंचित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरित्प्रभत्वं च शिरोरुहाणाम् ॥ (च.)

[2] आसन्नपाके च परीक्षणार्थं पत्रं वलाकाभवमाक्षिपेच्च।
भवेद्यदा मद् भ्रमराङ्गनीलं तदा विपक्वं विनिधाय पात्रे ॥
कालायसे मासमवस्थितं तदभ्यङ्गयोगाद पलितानि हन्ति। (सु. चि. २२)

स कर कल्क बना ले। एक सप्ताह तक असनसार के क्वाथ में रखना चाहिये। था बीच-बीच में आलोडित करते रहना चाहिये। फिर दस दिन तक इस कल्क ो मुंहबन्द लोहपात्र में रखे। पुनः लोह की कड़ाही में विभीतकतैल डाल कर सका कल्क के साथ पाक करे। मन्द आंच पर प्रयत्नपूर्वक चतुर्गुण जल डाल र पाक करना चाहिये। तैल का पाक ठीक हो जाने पर उतार कर उसको एक सरे लोह के ही वर्तन में रख लेना चाहिये।

इस तैल का नस्य और अभ्यङ्ग करने से, एक मास तक अनवरत प्रयोग रते रहने से केश यदि विरल हों तो घने और कुञ्चिताग्र (घुंघुराले) हो जाते । सिर के बालों का रङ्ग भ्रमर के रङ्ग के अथवा अञ्जनसदृश कृष्णवर्ण के जाते हैं। यदि खालित्य होकर केश झड़ गये हों तो उनका गिरना बन्द कर नये आने लगते हैं। यहां तक कि केशों की जरावस्था जो स्वाभाविक है ह भी देर से आती है। इन्द्रियों का बल बढ़ता है और मुख की झुर्रियां वलियां) दूर हो जाती हैं।[1]

इस तैल के प्रयोग में कई बातों का ध्यान रखना चाहिये। जैसे—१. नस्य रा प्रयोग करते समय रोगी का शोधन आवश्यक है। २. सिर और शरीर में भ्यङ्ग करते समय रोगी को एक मास तक उड़द की दाल अथवा उड़द की दाल ी खिचड़ी (पथ्य में) देना चाहिये। ३. अनिच्छुक, अनर्थी (अश्रद्धालु), कुशल और द्वेषी को नहीं देना चाहिये।

इस प्रकार यह तैल एक सामान्ययोग है जो खालित्य और पालित्य दोनों ो दूर करता है।

२९. **मसूरिका**—'दाह, ज्वर और पीड़ा इनसे युक्त, पीलापन लिये रक्तवर्ण, रीर तथा मुंह के भीतर होने वाले विस्फोटों को मसूरिका कहते हैं।'

मसूर के तुल्य आकार और वर्ण की प्रायः इस रोग में घनी पिडिकायें निकलती हैं, इसी लिये मसूरिका कहलाती हैं। चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता,

---

[1] नस्यं विदध्यात् परिशुद्धकायो भुञ्जीत माषान् कृशरामथो वा।
मासोपरिष्टाद् घनकुञ्चिताग्राः केशा भवन्ति भ्रमराञ्जनाभाः॥
केशास्तथाऽन्ये खलतौ भवेयुर्जरा न चैनं सहसाऽभ्युपैति।
नाकामिनेऽनर्थिनि नाकृताय नैवारये तैलमिदं प्रदेयम्॥ (सु० चि० २५)

अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय में इसका वर्णन बहुत संक्षेप में किया गया तथा इसका वर्णन क्षुद्र रोगों में समाविष्ट है। इससे यह मालूम होता है कि समय यह रोग उतना भयङ्कर नहीं था, जितना कि आजकल दिखाई पड़ता है। संहिताओं के काल के बाद संग्रह-ग्रंथों में, सर्वप्रथम माधवनिदान में इस कुछ विस्तृत वर्णन मिलता है; उसके पश्चात् भावप्रकाश में 'शीतला' रोग नाम इसका स्वतंत्र वर्णन किया गया है। परन्तु टीकोपटीका के संग्रहों पर ध्यान दि जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चरक और सुश्रुत के अतिरिक्त जो संहितायें रहीं, जो अब कालक्रम से उपलब्ध नहीं, उनके निर्माणकर्त्ताओं ने का विशेष वर्णन किया था। टीकाओं में उनके वचन प्रमाणरूप से उ किये गये हैं।

यदि संहिताकारों की मसूरिकाचिकित्सा पर दृष्टि दी जाय, जहां पर 'शु लेपों का बाह्यप्रयोग और पित्तश्लेष्मविसर्प की चिकित्सा बतलाई है' तो पर पश्चात्कालीन संग्रहकार मौरन–से दीखते हैं। उन लोगों ने साफ लिखा है- पापरोग के लिये न मंत्र सफल होता है और न औषध।'

इससे स्पष्ट होता है कि मसूरिकारोग से आर्षग्रंथों में तथाकथित शीत माता, चेचक या वसन्तरोग (Small pox or Variola) का वर्णन है, बल्कि किसी प्रकार के सौम्य लक्षणों से युक्त 'विस्फोटकज्वर' (Erup ve fever) का वर्णन है। तथा अंग्रेजी के 'स्माल पाक्स' या चेचक का व चरक–सुश्रुतेतर अन्यान्य ग्रंथों में है, जिसका उल्लेख कई स्थानों पर मसूरि और अन्यत्र शीतला नाम से हुआ है।[1]

पाश्चात्य वैद्यक ग्रंथों में कई प्रकार के विस्फोटक ज्वरों का प्रसंग आता है जिनमें निम्नलिखित तीन प्रधान हैं।

१. लघुमसूरिका (Cnichen pox) छोटी माता—लक्षण सौम्य होते हैं

---

[1] मसूरमात्रास्तद्वर्गास्तत्सञ्ज्ञाः पिटका घनाः। (अ० सं०)

या सर्वगात्रेषु मसूरवर्णा मसूरिका पित्तकफात् प्रदिष्टा। (चरक)

पित्तं शोणितसन्दुष्टं त्वचं दूषयते यदा। करोति पिडिकां घोरां सर्वगात्रेषु देहिनाम्।
तिलसर्षपमाषाणां निष्पावाणां तथैव च। तुल्यप्रमाणसंस्थानां ज्वरदाहसमन्विताम्।
विद्यान्मसूरिकामेतां पिटकां रक्तपित्तजाम्। (भोज)

२. शीतला (Small pox) बड़ी माता—कई प्रकार के तीव्र लक्षणयुक्त।
३. रोमान्तिका (Measles)— यह भी एक स्वतंत्र प्रकार का विस्फोट
ला ज्वर है।

इसमें रोमान्तिका का का स्वतंत्र उल्लेख माधवनिदान में मिलता है और सूरिका के एक ही प्रकार के वर्णन में उपर्युक्त दोनों (Smallpox & chic en pox) का वर्णन हो जाता है। जिसका पश्चात्कालीन क्षेत्र में शीतला करके शिष्ट व्याख्यान किया गया है भोज ने लिखा है कि 'जब पित्त में रक्त मिलकर वा को दूषित कर देता है तो मनुष्य के शरीर में घोर पिटिकायें निकल आती हैं। कई प्रमाण की होती हैं, जैसे-तिल, सर्षप, उड़द, निष्पाव आदि। ज्वर और दाह ान लक्षण होते हैं। इस व्याधि को मसूरिका कहते हैं जो रक्तपित्तज होती है।'

प्रकार—दोषानुसार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तज और गन्तुक छः प्रकार होते हैं।

हेतु और सम्प्राप्ति—मसूरिका का वास्तविक कारण अभी तक ज्ञात हीं है। ऐसा माना जाता है कि अत्यन्त सूक्ष्म जीवाणु या विष होता है जो विस्फोटकज्वर से पीड़ित रोगी के मवाद या खुरण्ड में होता है। जिसका उपसर्ग गी के साथ सम्बन्ध रखनेवाली चीजों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क से दानों के वाद तथा उसके खुरण्ड के सूक्ष्म कणों से दूषित वायु से दूसरों पर होता है। रोग, अक्षिरोग, अपस्मार, राजयक्ष्मा और मसूरिका का एक मनुष्य से दूसरे नुष्य तक उपसर्ग दर्शन, स्पर्शन और आदान-प्रदान से होता है।' (उरम्र) ाधवनिदान ने कई सहायक कारणों का उल्लेख किया है—कटु, अम्ल, लवण, ार, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, विकृत हुए शाक और निष्पावादि का सेवन- ष्ट वायु और जल इन कारणों से तथा ज्योतिष के अनुसार किसी क्रूर-ग्रह की ष्टि देश पर पड़ने से दोष समुद्धत होकर शरीरगत रक्त को दूषित करके सम्पूर्ण रीर में मसूरिका के विस्फोटों को पैदा करता है।'[1]

पूर्वरूप— इसमें 'ज्वर, कण्डू, शरीर का टूटना, किसी काम में जी न

---

[1] कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनैः। दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः प्रदुष्टपवनोदकैः ॥
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषाः समुद्धताः। जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन संगताः ॥

लगना (अरति), चक्कर आना, त्वचा में ईषत् शोथ, विवर्णता मुख और
का लाल हो जाना ये आक्रमण के चिह्न होते हैं।'[1] इन्हीं पूर्वलक्षणों को
ने इन शब्दों में लिखा है-'ज्वर, मुखशोष, अंगमर्द, प्रतिश्याय, कास,
थिल्य, अरुचि, रोमहर्ष, सिर में पीडा, नेत्र में पीड़ा और पीनस आदि
रूप होते हैं।'[2]

विस्फोटदर्शन—रोग के आरम्भ होने के तीसरे या चौथे दिन वा
विस्फोट निकलते हैं। ये दाने एक बारगी न निकल कर पहले माथे पर,
के सामने और पश्चात् चौवीस घण्टे के भीतर चेहरे से लेकर पैर तक सारे
पर फैल जाते हैं। इनकी संख्या उदर और जंघों में सबसे कम होती है,
पीठ, स्कंधान्तर प्रदेश इन पर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेहरे पर सबसे
होती है। बाह्यत्वचा की भांति गला, नाक, आंख, स्वरयंत्र और योनि
अन्तस्त्वचा पर भी दाने निकलते हैं।[3] जैसे २ दाने निकलते जाते हैं,
अन्य लक्षण सौम्य होते जाते हैं, ज्वर कम हो जाता है, रोगी को अपेक्षाकृत
मालूम होता है। मसूरिका के दानों में कई अवस्थायें आती हैं—प्रारम्भ
लाल रंग के धब्बे-से मालूम होते हैं, जिससे अधिक उभर आते हैं,
ओर से एक लाल घेरा बन जाता है और इनका मध्य नाभि की भांति नी
धसा होता है। दो-तीन दिन और बीतने पर इनमें मवाद पड़ने लगता
जिससे ये दाने पीले पड़ जाते हैं और इनकी निम्नमध्यता दूर होकर ये
हो जाते हैं। इनके बीच की त्वचा सूज जाती है और फिर ज्वरादि
बढ़ जाते हैं। पूयोत्पत्ति का क्रम भी उद्भव के क्रम के अनुसार ही पहले
से शुरू होता है। इस अवस्था में रोगी की तकलीफ पुनः बहुत बढ़ जाती
चेहरे पर दानों के तनाव के कारण पीड़ा, बोलने, खाने, पीने, निगलने

---

[1] तासां पूर्वो ज्वरः कण्डूर्गात्रभंगोऽरतिर्भ्रमः।
त्वचि शोथश्च वैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते ॥ (मा०)

[2] ज्वरास्यशोषाङ्गविमर्दकाससधिश्लथत्वारुचिरोमहर्षाः ॥
शिरोर्तिनेत्रामयपीनसाश्च मसूरिकाणां प्रभवन्ति चाग्रे ॥ (उग्र)

आधुनिक ग्रंथों में स्फोटों के अनुसार (१) अल्पस्फोटा (२) बृहत्स्फोटा,
अनुसार—(३) सौम्य (४) रक्तस्रावी भेद होते हैं।

[3] गात्रेष्वन्तश्च वक्त्रस्य।

ओं के खोलने में असमर्थता प्रभृति लक्षण होते हैं। इस अवस्था में रोगी के ीर से एक प्रकार की 'पूतिगन्ध' आती है। पाकावस्था का ज्वर प्रायः ीस घंटे में अर्थात् रोगारम्भ से दसवें या ग्यारहवें दिन उतरने लगता है। स्फोट फूटने या सूखने लगते हैं। पिडिकाओं के सूखने (शुष्कीभवन), टने और खुरण्ड बनने का काम तृतीय सप्ताह तक चलता रहता है। खुरण्ड के र जाने पर मसूरिका का दाग दिखलाई पड़ता है जो मध्य में कुछ निम्न ता है। भावप्रकाश ने इसी क्रम को अर्थात् स्फोटों के अवस्था-विशेष को नलिखित शब्दों में बतलाया है—'ये स्फोट एक सप्ताह में निकल जाते हैं, रे सप्ताह में (जल या पूय से) पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं, और तीसरे ाह में सूखने तथा अपने आप गिरने लगते हैं।'[1] स्फोट यदि पृथक् पृथक् कलें तो असंमीलित या 'अल्पस्फोटा' और यदि कई मिल जायें तो ी-बड़ी विद्रधि का रूप ले लेते हैं, उन्हें सम्मीलित या 'बृहत्स्फोटा' रिका कहते हैं।

कई बार मसूरिका में रक्त विस्फोट निकलते हैं, उनमें द्रवावस्था या पक्वा- स्था में खून आ जाता है, इसके अतिरिक्त मल, मूत्र, नासा, वमन इत्यादि भी रक्तस्राव होता है। यह एक असाध्य अवस्था है जिसमें रोगी की मृत्यु न से छः दिनों के भीतर हो जाती है।[2]

मसूरिका का एक बड़ा सौम्य प्रकार (Variola Minor) भी होता है। समें प्रारम्भिक लक्षण बड़े ही सौम्य होते हैं, थोड़ी-सी पिडिकायें निकलती जो पकती नहीं, पाकावस्था में भी ज्वर नहीं आता। सभी लक्षणों में सौम्यता ती है। संहिताओं में वर्णित मसूरिका रोग का वर्णन इसी प्रकार के एक सौम्य सूरिका का वर्णन हो सकता है, अथवा सौम्य मसूरिका से समानता रखने वाली ु मसूरिका (Chickenpox) के साथ साम्य रखता है।

साध्यासाध्यता—विदाह, कम्प, अतिसार, अत्यधिक पीडा, तृष्णा, िक्का, अरुचि, कास, मूर्छा आदि उपद्रवों से युक्त अथवा मुख के भीतर और न्तरीय श्लेष्मल कला पर पाई जाने वाली मसूरिका घातक होती है। बाहरी

---

[1] सप्ताहान्निःसरत्येव सप्ताहात्पूर्णतां व्रजेत्। ततस्तृतीये सप्ताहे शुष्यति स्खलति स्वयम्॥

[2] मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा।

स्फोटों में भी यदि किणसन्निभता हो अर्थात् विस्फोटों का सम्मेलन या रा हो तो घातक होता है।' (उरभ्र)

'कास, हिक्का, प्रमेह, दारुण और तीव्रज्वर, प्रलाप, अरति, मूर्च्छा, तृ दाह, अतिघूर्णनता (बहुत चक्कर आना), नासा, आँख और मुख से रक्त होना, कण्ठ में घुर्घुर शब्द होना, श्वासकृच्छ्र (Pneumonia, laryngi अत्यधिक वेदना होना, मसूरिकाभिभूत रोगियों में यदि उपर्युक्त लक्षण तो वहां पर दवा नहीं देना चाहिये।' क्योंकि ये सभी लक्षण असाध्यता होते हैं और चिकित्सा में इन रोगियों को कोई लाभ नहीं पहुँचता।

मसूरिका की अपनी प्रकृति के ऊपर भी साध्यासाध्यता निर्भर होती 'कुछ मसूरिकायें बिना यत्न के ही अपने आप ठीक हो जाती हैं। कुछ स्व ही कृच्छ्रसाध्य होती हैं, कुछ चिकित्सा करने पर ठीक भी हो जाती हैं, नहीं ठीक होतीं। तथा कुछ ऐसी होती हैं जिनमें प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करने भी सफलता नहीं मिलती। (भा. प्र.)

चिकित्सा—सुश्रुत ने मसूरिकाचिकित्सा में बाह्य प्रलेप के कुष्ठ के कार में कथित लेपों का प्रयोग किया है तथा पित्तश्लेष्मज विसर्प की चि बतलाई है। सब से प्रथम मसूरिका-पीडित रोगी को पटोल, निम्ब और का क्वाथ पिला कर वमन करा देना चाहिये। पश्चात् वच, वत्सक, मुलैठी, फल का कल्क बना कर मधु के साथ देना या ब्राह्मी रस और हिलमोचक मिलाकर देना चाहिये। जब रोगी का वमन हो जाय तो रेचन देकर करना चाहिये। यदि रोगी दुर्बल हो, एवं उसमें संशोधन न हो पावे तो शामक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार केवल शोधन मात्र दोष का निर्हरण होकर मसूरिका सूख जाती है। इनके अतिरिक्त कई प्रकार धूपन, क्वाथ, लेप प्रभृति योगों का भी व्यवहार होता है।

भावप्रकाश ने मसूरिका-भेद शीतला की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की उनका मत है कि अधिकतर चिकित्सक इस रोग में दवा-दारू न करना ही बतलाते हैं क्योंकि यह एक प्रकार का मर्यादित रोग है, जिसमें रोग की के अनुकूल एक के बाद दूसरी अवस्था आती रहती है। यदि कोई उपद्रव तीव्र लक्षण न होवें तो मर्यादित काल के बाद रोग स्वयं ही अच्छा हो जाता है

तः जो कुछ भी किचित्सा हो इसके द्वारा केवल लाक्षणिक शान्ति मिलती नी चाहिये ।

शीतला–चिकित्सा को पांच भागों में बांट सकते हैं—१. अनागतबाधाप्रति-' २. स्वस्थवृत्तिक (Hygenic), ३. औषध (Medicinal), ४. पथ्य, दैवी उपचार ।

१. शीतल जल के साथ पीस कर चिञ्चाबीज और हल्दी का नित्य सेवन ने से शीतला या मसूरिका का विकार कभी नहीं होता । सफेद चन्दन के व मोचरस का सेवन, वासास्वरस के साथ मुलैठी का सेवन अथवा मुलैठी चमेली के पंचाङ्ग के स्वरस के साथ सेवन करने वालों को शीतलाविकार ीं होता ।

२. वर्त्तमान युग में सर्वोत्तम उपाय चेचक का टीका (Vaccination) लाया गया है । रोगी की परिचर्या में शौच का बड़ा स्थान है । पवित्र, साफ-रे स्थान पर, साफ-सुथरे वस्त्र का व्यवहार करना चाहिये। कमरे में धूपन के गन्धद्रव्य का जलाना । रोगी के गृह में किसी भी प्रकार की अपवित्रता ीं होनी चाहिये, उसका वास एकान्त में होना चाहिये, उसमें किसी भी अशुद्ध क्ति का प्रवेश नहीं होना चाहिये, क्योंकि किसी भी प्रकार से 'रोगी को अशुचि स्पर्श न हो ।'

शीतल वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिये। पङ्खी करने के लिये नीम की पत्रयुक्त ी का प्रयोग करे, इसके द्वारा मक्खियां भी भाग जाती हैं। रोगी को पीने लिये ज्वर की अवस्था में तप्त जल न देकर शीतल जल का प्रयोग करे। मुख, सा, आंख और गले की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिये। मुख को मुलैठी काढ़े और मधु से साफ कराना, आंख को टङ्कण घोल (Boric) से नासा धोकर किसी प्रकार का स्निग्ध प्रतिमर्श कराते रहना चाहिये ।

३. स्थानिक चिकित्सा में—दाह में–शतधौतघृत को दानों पर लगावे। जकल 'यूडीकोलीन' के द्वारा परिषेक (Sponging) किया जाता है। दानों मृदु जीवाणुविरोधी (Antiseptic) से तर रखना चाहिये। जैसे—५-१० तिशत के कार्बोलिक घोल से। श्लेष्मपित्तज विसर्पोक्त लेप। यदि पाक और व बहुत हो तो जङ्गली उपले की राख का अवधूलन करना चहिये ।

जब दानों में पूयोत्पत्ति हो जाये तो वैसे ही छोड़ देना चाहिये उपर्युक्त कर्बोलिक घोल का प्रयोग कर सकते हैं। जब दाने सूख जायें, निकलने लगें तो क्षारीयद्रव्यों से उनको धोकर पश्चात् गरी का तेल, कपूर कर, ग्लिसरीन या अन्य कोई मलहम या लेप लगावे। धोने के लिये जल श्रेष्ठ है।

आभ्यन्तर प्रयोग में—चन्दन, अडूसा, नागरमोथा, गुडूची, द्राक्षा का शीतकषाय देना चाहिये।

४. मसूरिकपीडित रोगी को तेज हवा का झोंका, अत्यधिक स्वेद, तैल, गरिष्ठ भोजन, आतप (धूप), क्रोध, कटु और अम्ल पदार्थों का सेवन वेगावरोध नहीं करना चाहिये।

पथ्य में—महिषी, गाय और गर्दभीका क्षीर, पक्व मूंग का यूष, जाङ्गल चावल, शाक, घृत, यव, पुराने चावल और चने का प्रयोग हितकर है। ककड़ी, केला, सहिजन, अंगूर, मुनक्का, बेदाना, अनार, नारिकेलजल तथा भी बृंहण अन्न-पान, जो वीर्य में शीतल हों, प्रशस्त हैं।

३. लोक में रोग का मातारूप में प्रचार है, इसलिये चिकित्सा मानी जाती है, दैवी उपचार ही सर्वाधिक है। जप, होम, उपहार, दान- अर्चन, विप्र, शंभु, गौरी का पूजन रोग का शमन करता है। स्तोत्र का पाठ बिधिपूर्वक होने से व्याधि का शमन होता है।

३०. युवानपिडिका—शाल्मलीकण्टक के समान कफ, वात और कारण तरुण मनुष्यों के मुंह पर जो पिडिकायें निकलती हैं वह मुखदूषिका

इसको बोल-चाल में मुहांसा और अंग्रेजी में एकनीवल्गैरिस (Acne garis) कहते हैं। इस रोग में विकृति मुख की त्वचा के मेदपिण्डों (Seba- us gland) में होती है, उनके द्वार बंद हो जाते और वे फूलते हैं। पूयोत्पत्ति नहीं होती। परन्तु यदि एकनी नामक जीवाणु (Acne baci का उपसर्ग हो जाय तो पाक हो जाता है।

चिकित्सा—१. छर्दन-विशेष कर वामक ओषधियों का प्रयोग। २. लोध, सैन्धव और सरसों का लेप अथवा कुस्तुंबुरु, वचा, लोध और कुष्ठ

---

१. शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतशोणितैः। जायन्ते पिडिका यूनां वक्त्रे वा मुखदूषि

रना हितकर होता है। ३. जायफल, चंदन, मरिच का लेप या सेमल के काँटों का दूध में पीस कर लेप करना।

३१. पद्मिनीकंटक—कमलिनी के काँटों की भाँति अंकुरों से व्याप्त, उभरा हुआ, कण्डूयुक्त, श्वेतवर्ण, कफवातजन्य मण्डल को पद्मिनीकंटक नाम से जानना चाहिये।[1]

यह एक प्रकार का सौम्य अर्बुद मालूम होता है जिसका अवस्थान त्वचा में होकर उपत्वचा में अंकुरवत् वृद्धि होती रहती है। इसको अंग्रेजी में त्वचा का पैपीलोमा (Papilloma) कहते हैं। युवानपिडिका मुख पर और पद्मिनीकंटक मुख के अतिरिक्त भाग पर पैदा होता है।

चिकित्सा—१. निम्ब के क्वाथ से वमन कराकर, २. निम्ब से ही सिद्ध घृत का मधु के साथ सेवन कराना चाहिये। ३. निम्ब और आरग्वध का उत्सादन (उबटन) लगाना चाहिये।

३२. जतुमणि—पीडारहित, सम अथवा उन्नत, गोलाकार, कफरक्तजनित, जन्म से उत्पन्न किंचित् रक्तवर्ण चिह्न को जतुमणि (Cengenital mole) कहते हैं।[2]

३३. मषक—जिसके शरीर पर पीडारहित, स्थिर, उड़द के समान कृष्ण उठा हुआ चिह्न दिखाई देता है उसको मषक[3] कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—अनुन्नत (Non-elevated) तथा उन्नत (Elevated)। इनमें अनुन्नत अथवा सम प्रकार को तिलकालक (Non-elevated mole) कहते हैं।

३४. तिलकालक—वात, पित्त और कफ के उद्रेक से काले, तिल प्रमाण, पीडारहित और सम जो चिह्न होते हैं उनको तिलकालक कहते हैं।[4]

---

[1] कंटकैराचितं वृत्त कण्डूमत् पाण्डुमण्डलम्।
पद्मिनीकंटकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम्॥ (सु. नि. १३)

[2] नीरुजं सममुत्सन्नं मण्डलं कफरक्तजम्।
सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः॥

[3] अवेदनं स्थिरञ्चैव यस्य गात्रेषु दृश्यते।
माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं विदुः॥ (सु० नि० १३)

[4] कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च।
वायुपित्तकफोद्रेकात्तान् विद्यात्तिलकालकान्॥ (सु. नि. १३)

जतुमणि, तिलकालक और मषक तीनों ही त्वचा के विकार हैं। इ विकृति यह होती है कि त्वचा पर मेलेनिन (Melenin) के कण नामक द्रव्य जम जाता है।

चिकित्सा—१. इन विकृतियों का समुत्कर्त्तन करके २. क्षार या अग्नि प्रयोग करना चाहिये।

३५. न्यच्छ—शरीर पर छोटा या बड़ा, कृष्णवर्ण या श्यामवर्ण, जात चकत्ते को न्यच्छ कहते हैं।[1]

३६. चर्मकील—सम्प्राप्ति और निदान की दृष्टि से चर्मकील का व अर्शोधिकार में हो चुका है।

३७. व्यंग—क्रोध और परिश्रम से कुपित हुई वायु पित्त से मि अकस्मात् मुख की त्वचा में प्राप्त होकर मण्डल उत्पन्न करती है। उस रहित, छोटे, श्यामवर्ण मुखगत मण्डल को व्यंग कहते हैं। व्यंग को बोल झांई कहते हैं, जब यह झांई मुँह पर होती है तो वह व्यंग कहलाता है।[2]

३८. नीलिका—यदि मुख के अतिरिक्त भाग में शरीर पर झांई हो नीलिका कहलाता है।[3]

व्यंग, नोलिका और न्यच्छ ये तीनों विकृतियां त्वचा में पाई जाती हैं। बार विषमज्वर, धातुदौर्बल्य आदि विकृतियों के कारण त्वचा में रंजन (Pig ntation) हो कर काला वर्ण मुख पर या अन्यत्र शरीर पर हो जाता है कई बार छोटी धमनिकाओं, शिराओं और केशिकाओं पर छोटा सा गुच्छ में बनने से यह विकार (Capillary angiomata or Naevi) उत्प होता है।

चिकित्सा—१. सिरामोक्षण—तीनों विकृतियों में रक्तविस्रावण प्रशस्त

---

[1] मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वा यदि वा सितम्।
सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥ (सु. नि. १३)

[2] क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः।
सहसा मुखमागत्य मण्डलं विसृजत्यतः ॥
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत्। (सु० नि० १३)

[3] कृष्णमेवंगुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः। (सु० नि० १३)

ाविधि ललट की शिराओं के वेधन से कार्य हो जाता है। २. त्वचा का ण करके क्षीरिवृक्ष, बला, अतिबला, मुलैठी, हल्दी और समुद्रफेन का लेप भप्रद होता है। ३. अर्कपुष्पी, कृष्णचदन, अगुरु और गैरिक दूध में पीस कर करना प्रशस्त है। ४. शूकर का दांत, घृत और मधु में मिलाकर पीस कर करना। ५. कपित्थ और खिरनी का लेप। ६. जातीफल और हल्दी को क्षीर में पीस कर लेप करना। ७. मसूर की दाल को दूध में पीस कर लेप। ाङ्कुर और मसूर का लेप या मंजिष्ठा का मधु मिला कर लेप। ८. खरगोश के क का लेप। ९. कुंकुमाद्यतैल (यो० र०) व्यंग, नीलिका, तिलक, मषक, न्यच्छ, तुमणि, मुखदूषिका और पद्मिनीकंटक प्रभृति सभी त्वग्विकारों में लाभप्रद ता है।

३९. **परिवर्त्तिका**—मर्दन, पीडन (दबाव) तथा मैथुन के समय चोट दि के लगने से जब सर्वशरीरचर व्यानवायु शिश्नचर्म में प्राप्त होती है, तब यु से दूषित हुआ वह चर्म ऊपर को चढ़कर शिश्नमणि के ऊपर गठीला कर लटकता रहता है, उसमें पीडा और दाह होती है और क्वचित् पाक भी ता है। वात और आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुई इस व्याधि को परिवर्त्तिका हते हैं। कफ से उत्पन्न हुई यही परिवर्त्तिका कठिन और कण्डूयुक्त होती है।[1]

इस अवस्था को अंग्रेजी में पैराफाइमोसिस (Paraphymosis) कहते । यदि शिश्नचर्म का द्वार अत्यल्प हो जाता है; जैसा कि निरुद्धप्रकाश की वस्था में होता है। जब कभी सहसा बल पड़ने से वह चर्म ऊपर को चढ़ जाता तब परिवर्त्तिका की अवस्था उत्पन्न होती है। इससे चर्म तथा शिश्नमणि में ोथ उत्पन्न होता है, जिससे चर्म का नीचे को उतरना और भी कठिन हो जाता । यदि योग्य समय पर चिकित्सा न की जाय, तो व्रणोत्पादन होता है, मणि ौर चर्म आपस में संसक्त हो जाते हैं और क्वचित् शिश्न सड़ने भी लगता है।

चिकित्सा—परिवर्त्तिकारोग में मणि और चर्म पर स्निग्ध करने के लिये

---

[1] मर्दनात्पीडनाच्चाति तथैवात्यभिघाततः। मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरः।
तदा वातोपसृष्टं तु चर्म प्रतिनिवर्त्तते। मणेरधस्तात्कोषश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते॥
सवेदनः सदाहश्च पाकं च व्रजति क्वचित्। मारुतागन्तु सम्भूतां विद्यात्तां परिवर्त्तिकाम्॥
सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता।

घृत का अभ्यङ्ग कर लेना चाहिये, पश्चात् स्वेदन और उपनाह करके चिकि को दोनों हाथ से अग्रचर्म को पकड़कर शनैः शनैः त्वचा को आगे लाने का प्र करना चाहिये। इस प्रयत्न में अंगूठे के सहारे मणि पोछे की ओर दबाये रह चाहिये। जब मणि के ऊपर से अग्रचर्म आ जाये तो कई दिनों तक (एक द्विरात्र, त्रिरात्र या पञ्चरात्र तक रोग के बल के अनुसार) वातघ्न शाल्व द्वारा स्वेदन करते रहना चाहिये। रोगी को वातघ्न बस्ति दे और स्नि स्निग्ध भोजन देना चाहिये।[1]

कई बार शिश्नचर्म में अधिक सूजन होती है, यदि उसमें जलसञ्चय सूई से कई जगह छेद कर चमड़े को दबाकर जल निकाल देना चाहिये। बार सूजन को हटाने के लिए एड्रेनेलीन (१:१०००) के घोल का पिचु शिश्न को आच्छादित करना चाहिये। कई बार बरफ के द्वारा शीतल कार्य में सहायक होता है। कई बार सङ्कोच को दूर करने के लिये वृद्धित चर्म को विभक्त करना पड़ता है।

४०. अवपाटिका—जब पुरुष अल्पछिद्र वाली (बाला) स्त्री के अत्यधिक हर्ष से गमन करता है तब अथवा हस्ताभिघात के कारण चर्म के ऊपर चढ़ जाने से, अथवा शिश्न के मलने से, दबाने से अथवा शुक्र आवेग रोकते समय शिश्न को जोर के साथ पकड़ने से यदि उसका चर्म जाय तो उसको अवपाटिका कहते हैं। आधुनिक ग्रन्थों में इस नाम से स्वतंत्र व्याधि का उल्लेख नहीं मिलता है। इसमें शिश्नचर्म का अभिघा कारण क्षतयुक्त होना (Prepuce with ulcerative lesions) जाता है।

चिकित्सा—अवपाटिका एक प्रकार से परिवर्त्तिका की ही एक स्थिति जिसमें चर्म विदारित हो जाता है। इसीलिये अवपाटिका को वही चिकि शास्त्र में बतलाई गई है, जो परिवर्त्तिका की।

४१. निरुद्धप्रकश—'वायु से दूषित शिश्नचर्म मणि को पूर्णतया आच्छा दित करता है तब चर्माच्छादित वह मणि मूत्रमार्ग को रोक देता है, उसे

---

[1] स्वेदोपनाहौ परिवर्त्तिकायां कृत्वा समभ्यज्य घृतेन पश्चात्।
प्रवेशयेच्चर्म शनैः प्रविष्टे माषैः सुपिष्टैरुपनाहयेत्तम्॥

जन्य पीड़ादायक निरुद्धप्रकश समझना चाहिये। इस अवस्था में मनुष्य का मूत्र पीडारहित, पतली धार से बहता है तथा मणि खुलता नहीं।'[1]

निरुद्धप्रकश को अंग्रेजी में फाइमोसिस (Phimosis) कहते हैं–जिसका अर्थ होता है—मणि के ऊपर अग्रचर्म को खींचने में अशक्तता। अग्रचर्म मणि पर संसृष्ट रहता है, इसी लिये वाग्भट ने इस रोग का नाम 'निरुद्धमणि' दिया है, जिसमें मणि के विकास में बाधा होती है।[2]

निरुद्धप्रकश की अवस्था परिवर्तिका के ठीक विपरीत की है। इस अवस्था में शिश्नचर्म या अग्रचर्म (Prepuce) का छिद्र अत्यल्प होने से उसको शिश्न के ऊपर की ओर खींचना असंभव होता है, जिससे मणि (Glans) सर्वदा चर्म के भीतर रहता है। फलतः कई प्रकार के उपद्रव होते रहने का भय होता है। जैसे—१. कई बार मूत्रत्याग करने में पीड़ा और कठिनाई होती है, कई बार वायु के अनुलोमन (Back pressure effects on urinary-tract) न होने से मूत्रावरोध भी हो जाता है। २. कई बार शिश्नमणि के आसपासमें श्वेतरङ्ग का मैल जम जाता है। यह मैल वहाँ पर स्थानिक ग्रन्थियों के स्राव (Smegma produced by Tyson glands) से बनती है। इसकी सफाई न होने से यहाँ जमा हुआ मैल कभी-कभी अश्मरी की भाँति कड़ा हो जाता है। ३. कई बार शिश्नमणिशोफ (Balanitis) आदि उपद्रव हो जाते हैं। ४. कई बार मर्दन, पीडन और अभिघात के कारण चर्म ऊपर को चढ़ जाता है और परिवर्तिका या अवपाटिका की दशा उत्पन्न हो जाती है। ५. कई बार निरन्तर पीडन, मर्दन और क्षोभ के कारण मांसार्बुद प्रभृति घातक अर्बुद तक होते देखे गये हैं।

निरुद्धप्रकश (Phimosis) सहज और जन्मोत्तरभेद से दो प्रकार का हो सकता है। सहज (Congenital) जन्म से ही होता है। जन्म के समय

---

[1] वातोपसृष्टमेवं तु चर्म संश्रयते मणिम्।
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च। (सु० नि० १३)

[2] निरुद्ध प्रकशे तस्मिन् मन्दधारमवेदनम्। मूत्रं प्रवर्त्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते न च॥
निरुद्ध प्रकशं विद्यात् सरुजं वातसम्भवम्।
मणेर्विकासरोधश्च स निरुद्धमणिर्गदः।
निरुद्धप्रकशे नाडीं लौहीमुभयतो मुखीम्। दारवीं वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत्॥

शिश्नचर्म बालकों में मणि पर किञ्चित् संसृष्ट रहता है; परन्तु धीरे-धीरे कु वर्षों में वह अपने आप खुलता चलता है और मणि अनावृत होने लगती है। अस्तु, यह कोई विकृति नहीं है इसलिए चिकित्सा की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। इसी लिये सुश्रुत ने सहजसंज्ञक निरुद्धप्रकश का वर्णन न करके केव जन्मोत्तर वाली विकृति का ही उल्लेख किया है।

जन्मोत्तर निरुद्धप्रकश (Acquired) बालक, वृद्ध और युवा दो अवस्थाओं में हो सकता है। बालकों में—शिश्नचर्म पर होने वाली पामा, क और विचर्चिका तथा बस्तिगत अश्मरी ये निरुद्धप्रकश के प्रधान कारण हैं कच्छू आदि में खुजलाने के लिये और अश्मरी में असह्य वेदना को मिटाने के लिये बच्चे बार बार शिश्न चर्म को मसलते, दबाते और बार बार नीचे की ओर खींचते रहते हैं। इससे त्वचा पर व्रण बन जाते हैं और उन व्रणों के भ जाने के बाद त्वचा का संकोच होकर निरुद्धप्रकश बन जाता है। युवावस्था में अधिकतर पूयमेह के उपद्रव रूप में वह विकृति बनती है। मध्यमायु के बाद वस्तिग अश्मरी, मूत्रमार्गसंकोच, ष्ठीलावृद्धि, शिश्नचर्म की अस्वच्छता आदि कार से शिश्नचर्म में क्षोभ, खुजलाहट होकर व्रण हो जाते हैं। उनके रोपण होने प व्रणवस्तु के कारण शिश्नचर्म के संकुचित हो जाने से निरुद्धप्रकश की द उत्पन्न हो जाती है। कई बार बाल्यावस्था की विकृति का परिणाम युवावस्था दिखाई देता है और पूर्ववत् मर्दन, पीडन और अभिघातादि सामान्य कार से अथवा शिश्नोत्थापन में क्षोभ पैदा होने से रोगी को पीडा उत्पन्न होती है और परिवर्तिका या अवपाटिका (Prepuce following ulceratin lesions) का उपद्रव भी हो जाता है।

चिकित्सा—हल्की अवस्था में शनैः शनैः चर्म को फैलाना चाहिये। यदि चर्म संसृष्ट हो तो उसकी संसक्ति (Adhesion) को शलाका के द्वारा धीरे तोड़कर साफ करना चाहिये, फिर वहाँ पर स्थानिक स्निग्धता पैदा करने के लि घृत या वेसलीन' का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन मैल को हटाकर स्थान को साफकर स्निग्ध करके क्रमिक विकास का प्रयत्न करना चाहिये।

यदि मूत्रस्रोत बहुत पतला (Pinhole meatus) हो तो उसमें उभय-तोमुखी नाडी (Dilator or bugies) का प्रवेश कराके क्रमशः स्रोतस क

वर्धन करना चाहिये । इस प्रकार की द्विमुखा नाडी लौह, लकड़ी, या लाख बनी होनी चाहिये । स्रोतस में डालने के पूर्व इनको घृत से अभ्यक्त कर चाहिये । तीन-तीन दिनों के अन्तर से अधिक-अधिक मोटी (स्थूलतर) ड़ियों का प्रवेश करावे । इस भांति स्रोत का विवर्धन हो जायगा । रोगी के निक परिषेक के लिये घृत के स्थान पर शिशुमार (जलहस्ती या सोंस) या कर की वसा या मज्जा का व्यवहार हो सकता है । अथवा वातघ्न द्रव्य से युक्त क तैल का प्रयोग किया जा सकता है । रोगी को खाने के लिये स्निग्ध अन्न चाहिये' ।[1]

कई बार मणि में तथा शिश्नचर्म में शोथ होने से क्रिया में कठिनाई होती । उस अवस्था में 'सेवनी को छोड़कर शिश्नचर्म का भेदन (Simple- rsal Incision of the prepuce) करके विकृति को ठीक करते हैं, चात् सद्यः क्षतवत् उपचार करते हैं' ।[2]

यदि उपर्युक्त विधानों से सफलता मिले तो आधुनिक युग में चक्रच्छेदन Circum cision) के द्वारा शिश्नचर्म को काटने का विधान है । कर्म परिवर्तिका, अवपाटिका, अथवा निरुद्धमणि तीनों विकृतियों में किया सकता है । यह शस्त्रकर्म निम्नलिखित दशाओं में किया जाता है— . यदि शिश्नचर्म बहुत लम्बा हो । २. जब कि शिश्नचर्मच्छिद्र (स्रोत) इतना कीर्ण हो कि उसके कारण मूत्रत्याग में बाधा होती हो । ३. जब कि शिश्नचर्म री तरह से चारो ओर मणि (Glans penis) पर संसक्त हो गया हो । वा ४. शिश्नचर्म में मणि के ऊपर उठाये जाने पर जब परिवर्तिका के रूप आजाने का भय हो ।

कई प्रकार से शस्त्रकर्म किया जाता है । एक सामान्य प्रकार का संक्षिप्त ल्लेख इस प्रकार का होगा । सब से प्रथम शिश्नचर्म की संसक्ति को जहाँ तक सके हटावे जिससे मूत्रस्रोत का बाह्य छिद्र दिखलाई पड़ने लगे । पुनः छिद्र के श्नचर्म को आमने-सामने क्लैम्प संदंश से पकड़ना चाहिये और आगे की

---

[1] त्र्यहात्त्र्यहात्स्थूलतरां सम्यङ् नाड़ीं प्रवेशयेत् ।
स्रोतो विवर्धयेदेव स्निग्धमन्नं च भोजयेत् ॥ (सु० चि० २०)

[2] भित्त्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यः क्षतवदाचरेत् ।

ओर खींचना चाहिये। इससे शिश्नचर्म फैल जाता है, पुनः शिश्नचर्म को संदंश (Sinus forcep) या 'पोलीपस संदंश' के फलकों के भीतर ले चाहिये। ये संदंश मणि के ठीक सामने ऊपर से नीचे और आगे की तिर्यक् रूप में लगाये जाते हैं, जिससे सीवनी (Fraenum) में बाधा न अब संदंश के फलकों में पडे अनावश्यक त्वचा को काट देना चाहिये। हुई त्वचा पीछे सरकती है; मणि को ढाँपने वाली चर्म की नीचे श्लेष्मलकला अब भी वहीं रहती है। इस कला को भी कैंची से ' ग्लैण्डिस' तक विभक्त कर दिया जाता है। अब स्थानिक मैल को साफ कर चाहिये। शिश्नचर्म के नीचे की अनावश्यक कला को काटकर छाँट देना जिस से चारो ओर लगभग चौथाई इञ्च का टुकड़ा बच जाये। त्वचा और के किनारों को रेशम या स्नायु (Catgut) से पृथक्-पृथक् (I unpted sutures) टाँकों में सी देना चाहिये। सब से उत्तम स्नायु माने जाते हैं, जिनका अधिकतर शोषण हो जाता है।

स्निग्ध प्रलेप विशेषतः विशोधित द्रव मधूच्छिष्ट (Liquid paraf में लिप्त वस्त्र या पिचु से व्रण को ढका जाता है या लिण्ट पर फैला कर द्वारा व्रण को लपेट दिया जाता है। शिश्नोत्थान को रोकने के लिये रोगियों में वायुशामक या निद्राकर (Bromides 25 grains or H umus ms. 30) ओषधियाँ दी जाती हैं।

४२. सन्निरुद्ध गुद—'अधोवायु और मल के वेग को विधारण करने कुपित हुई अपान वायु गुदा में प्राप्त होकर महास्रोत का निरोध करके नीचे का द्वार छोटा करती है। रास्ता के तंग होने के कारण उस पुरुष का कष्ट से निकलता है। इस कष्टसाध्य व्याधि को सन्निरुद्धगुद जानना चाहिये।[१]

कई रोगों में जैसे—प्रवाहिका, अतिसार, अर्श, भगन्दर, राजयक्ष्मा, और पूयमेह आदि रोगों में आन्त्र और गुदनलिका में व्रण बनते हैं। इन व्र

---

[१] वेगसन्धारणाद्वायुर्विहतो गुदमाश्रितः।
निरुणद्धि महास्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेनं विद्यात् सुदुस्तरम्॥ (सु० नि० १३)

पण हो जाने के बाद वहां पर व्रणवस्तु तान्तव धातु (Fibrous) की न जाती है, जिससे स्थान-स्थान पर संकोच हो जाता है। गुदनलिका में जब सा संकोच होता है तो उसको रुद्धगुद कहा जाता है। रुद्धगुद में प्रारम्भ में बन्ध होता है, पश्चात् पर्याय से कब्ज और अतिसार चला करता है। दिन तिदिन मलत्याग में कष्ट बढ़ता जाता है—मल कड़ा, चपटा और लम्बा कलता है; उसके साथ खून और आंव भी आ जाता है। पश्चात् अग्निमान्द्य र आध्मान होता है। इस व्याधि को अंग्रेजी में (Anal stricture) हा जाता है।

चिकित्सा—यह एक कष्टसाध्य व्याधि है, इसलिये इसमें प्रत्याख्यान करके कित्सा आरंभ करनी चाहिये। 'सन्निरुद्ध गुद में भी सन्निरुद्ध मणि के सदृश कित्सा की जाती है।' अर्थात् गुदशलाका (Rectal Bougies) अथवा दनाडी (Rectal tube) को प्रविष्ट करके संकोच को दूर करना और ार्ग को विस्तृत करना पड़ता है।

४३. अहिपूतनक—पसीने से तर होने वाले और स्नापित न होने वाले बालक की गुदा में मल-मूत्र से गन्दा होने पर रक्त और कफजन्य कण्डू पैदा होती है। तब खजुलाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ और स्राव उत्पन्न होता है। कई स्फोट फूटकर आपस में मिल जाते हैं, इस प्रकार के एकीभूत व्रणों को जो बालकों में गुदा के आस-पास में होते हैं, अहिपूतनक कहते हैं।

कुछ लोग इसको मातृका नामक या पूतना नामक बाह्यग्रहों के कारण मानते हैं। अहिपूतनक के पर्याय में अष्टाङ्गहृदय ने दो नाम और गिनाये हैं—'पृष्ठारुगुदकन्द' और 'अनामिक'। भोज ने इसके कारणों में दो कारण बतलाये हैं—दुष्टस्तन्य का पान और अप्रक्षालन या सफाई की कमी। यह रोग मल-मूत्र और स्वेद से सदैव गन्दे और गीले रहने वाले अपान मार्ग पर ठीक स्वच्छता न रहने से होता है। यह एक प्रकार का विचर्चिका या त्वचा का विकार है, जिसको 'नैपकिनरैश' 'सोर बटक' (Sore buttock) अंग्रेजी में कहा जाता है।[1]

---

[1] मलोपलेपात्स्वेदाद्वा गुदे रक्तकफोद्भवः।
ताम्रो व्रणोऽन्तःकण्डूमाञ् जायते भूर्युपद्रवः॥

चिकित्सा—इस रोग में बालक जिस धात्री का दूध पीता हो, शोधन करना चाहिये। उसके लिये पटोलपत्र, त्रिफला, रसाञ्जन से सिद्ध सेवन करना चाहिये। इस विधि के द्वारा क्षीर का शोधन हो जाता है और स्तन्य का पान करने से बालकों के कृच्छ्रसाध्य अहिपूतनक भी सिद्ध हो हैं। त्रिफला, कोल, खदिर से बनाये कषाय के द्वारा प्रक्षालन करने से भी का रोपण हो जाता है। कासीस, हल्दी, तुत्थ, हरताल, रसाञ्जन का पीसा हुआ लेप लाभप्रद होता है। वेर की छाल को सैंधव नमक के साथ कर स्थानिक प्रयोग में बरत सकते हैं। यदि बहुत स्राव हो तो पके घड़े के का चूर्ण और तुत्थ का चूर्ण मिलाकर अवचूर्णन करने से भी लाभ होता है।[1]

४४. वृषणकच्छू—स्निग्ध उबटन न लगाने और स्नान के में मनुष्यों के वृषणकोश में जमा हुआ मैल जब पसीने से गीला होता है, वहाँ पर खुजली पैदा होती है और खुजलाने से फुन्सियाँ पैदा होती और स्राव होता हैं। इस व्याधि को कफ और रक्त से उत्पन्न हुआ (Eczyma of the serotum) कहते हैं।[2]

चिकित्सा—अहिपूतनक या पामा के समान चिकित्सा करनी सर्ज, अम्बु. कुष्ठ, सैंधव, सफेद सरसों के कल्क का लेप निश्चित रूप से कच्छू में लाभ करता है। पंचगुण तेल का अभ्यंग भी उत्तम है।

४५. गुदभ्रंश—'अत्यधिक कुंथन से तथा अतिसरण से रूक्ष और शरीर वाले मनुष्य की गुदा बाहर निकल आती है, उस अवस्था गुदभ्रंश कहते हैं।'[3]

गुदभ्रंश (Anal prolapse)—यह रोग अधिकतर बच्चों और मध्यमायु या प्रौढ़ावस्था में दिखलाई पड़ता है। व्यवहारतः इसके दो भेद माने हैं—अपूर्ण–जिसमें गुदाका आंशिक भ्रंश (½–१ इंच की लम्बाई में) गुदा का गुदा के श्लेष्मल त्वचा का होता है, इस प्रकार अपूर्ण गुदा का मलद्वार के

केचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽहिपूतनम्।
पृष्ठारुर्गुदन्दश्च (पृष्ठारुर्गुदकुट्टश्च) केचिच्च तमनामिकम्॥ (वा. उ. २)

[1] वदरीत्वग् वा ससैन्धवम्। कपालतुत्थजं चूर्णम्।

[2] तत्र कण्डूयनात् क्षिप्रं स्रावः स्फोटश्च जायते। प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम्॥

[3] प्रवाहणातिसाराभ्यां यन्निर्गच्छेद् गुदं बहिः रूक्षदुर्बलदेहस्य गुदभ्रंशं तमादिशेत्॥

आना युवकों में दिखाई पड़ता है। पूर्णभ्रंश—इसमें गुदा की पूरी भित्ति (कई इञ्च की लम्बाई में) बाहर आ जाती है। यह अवस्था बच्चों में अधिक पाई जाती है। अधिक वय में पाये जाने वाले गुदभ्रंश का कारण अर्श, वृद्धावस्था में गुदसङ्कोचनी पेशी की अक्षमता, ष्ठीलावृद्धि, मूत्रमार्गसङ्कोच, अर्श के शस्त्रकर्म के उपद्रव रूप में गुदभ्रंश होता है। बच्चों में अधिकतर चिरकालीन कुंथन या प्रवाहण (Chronic strains) मलत्याग करते समय, रूक्षता और शरीर की दुर्बलता आदि कारण होते हैं। गुदभ्रंश के कारणों को संक्षेप में दो वर्गों में बांटा जा सकता है–१. प्रवाहण या अतिसरण–जिन विकारों में कुंथन की आवश्यकता पड़े-जैसे प्रवाहिका, अतिसार, कृमिविकार इत्यादि। अथवा विबन्ध, अर्श, बस्तिगत अश्मरी, मूत्रमार्गसङ्कोच आदि; जिनमें रोगी को देरतक प्रवाहण की आवश्यकता पड़ती है। २. रूक्ष और दुर्बल शरीर, अतिसार, प्रवाहिका प्रभृति चिरकालीन रोगों में शरीर रूक्ष, मेदविहीन और कमजोर हो जाता है। जिससे गुदा में भी रूक्षता पैदा होती और गुदनलिका के आसपास के सहारा देने वाले मेद धातु का नाश होकर गुदभ्रंश होने में सहायता मिलती है—अनेक बार जोर पड़ने पर गुदा बाहर निकल आती है।

चिकित्सा—निदान परिवर्जन–गुदभ्रंश चूँकि कुन्थन के कारण होता है, इसलिए कुन्थन को दूर करने के लिये इसके हेतुभूत कृमि, अश्मरी, निरुद्धप्रकश और प्रवाहिका प्रभृति रोगों को सबसे प्रथम ठीक करना चाहिये।

जिन शिशुओं में यह रोग हो, उनको उत्कटुकासन पर बैठ कर मलत्याग नहीं करना चाहिये एक पार्श्व पर लेटा कर मलत्याग करवाना चाहिये और साथ में दोनों नितम्बों को सहारा देते रहना चाहिये।

कई प्रकार के स्निग्ध पदार्थों को मुखद्वारा देना चाहिये, जिसमें आंत्र स्निग्ध हो जाय और मलत्याग करते समय देर तक कुन्थन (Defaecate with-out prolong act) न करना पड़े। चरकाचार्य ने प्रवाहिका के उपद्रव में होने वाले गुदभ्रंश में 'चाङ्गेरीघृत' का प्रयोग बतलाया है—यह प्रयोग किसी भी प्रकार का गुदभ्रंश हो, उसमें लाभप्रद होता है और अनेक बार का अनुभूत है। इस घृत के द्वारा आंत्र का स्नेहन और सङ्कोचन दोनों कार्य होते हैं और गुदभ्रंश जल्दी ठीक हो जाता है। सुश्रुत ने इसी का प्रतिनिधि 'मूषिका तैल'

का पाठ बतलाया है। घृतों के प्रयोग में पीने के लिए उष्ण जल का प्रयो करना चाहिये।

आधुनिक युग में मधूच्छिष्ट द्रव (Liquid paraffin) और द्रव पदार्थ का सेवन इसी उद्देश्य से बतलाया जाता है। 'लिक्विड पैराफिन' एक अद्भु चीज है, इसके प्रयोग से महास्रोत का सम्पूर्ण भाग स्निग्ध हो जाता है, इ ऊपर किसी भी पाचक रस की क्रिया नहीं होती और न यह शोषित ही हो है—पूरे, महास्रोत से गुजरता और चिकना करता (Lubricating) हु गुदा से बाहर उसी रूप में निकल जाता है। कई अवस्थाओं में विशेषतः आंत्र रूक्षता में केवल स्नेहन करने के लिये एक ही पदार्थ है, परन्तु गुदभ्रंश अवस्था में 'चाङ्गेरीघृत' का प्रयोग इससे भी अधिक लाभप्रद होता ऐसा अनुभव है।

मूषिकतैल—¹एक प्रस्थ दूध में आंत्र निकाले हुए मूषक (चूहा छुछुन्दर) और वृहत्पञ्चमूल का कल्क एक प्रस्थ डाल कर उसमें त्रिगुणित ज डाल कर पकावे, जब एक प्रस्थ अवशिष्ट रहे तो उतार उसको एक कड़ाही लेकर एक कुडव की मात्रा में तिल तैल डालकर भद्रदार्वादि कल्क को डा उसके साथ तैल का पाक करना चाहिये। इस तैल के पान तथा स्थानिक कृच्छ्र रोग गुदभ्रंश भी ठीक हो जाता है।

अम्लघृत (चाङ्गेरीघृत)—²चाङ्गेरी स्वरस, कोल का स्वरस दधि का पानी लेकर उसमें सोंठ और क्षार का कल्क डालकर घृत का यथाविधि कर लेना चाहिये, इस उत्क्वथित घृत के पीने से गुदभ्रंश नामक शान्त होता है।

अनुवासन बस्ति—दशमूल और विल्व से अथवा सौंफ, कचूर, और मीठी वच से सिद्ध तैल, घृत या वसा के द्वारा गुदभ्रंश के रोगियों में बस्ति देना लाभप्रद होता है—ऐसा आचार्य दृढ़बल का मत है। आधुनि

---

१. क्षीरे महत्पञ्चमूलं मूषिकां चांत्रवर्जिताम्।
पक्त्वा तस्मिन्पचेतैलं वातघ्नौषधसंयुतम् ॥
गुदभ्रंशमिदं कृच्छ्रं पानाभ्यङ्गात् प्रसाधयेत् ॥

२. गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः। प्रशस्यते निरामाणामथवा ह्यनुवासनं
चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम्। घृतमुत्क्वथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥

में 'ओलिव आयल'-जैसे स्नेहों का गुद के द्वारा बस्ति देना प्रशस्त ना गया है।[1]

सामान्यतया गुदभ्रंश को तत्काल यथास्थान करने का विधान यह है—'यदि नीचे गिर गई हो और स्तब्ध पड़ी हो, ऊपर न चढ़ पाती हो तो किसी ह से स्नेहन और स्वेदन करना चाहिये। जब बाहर आया हुआ भाग स्विन्न र मृदु हो जाय तो पिचु (गाज के कपड़े) के सहारे उसको भीतर में विष्ट करना चाहिये। जब पूरी तरह मलाशय में अन्तःप्रविष्ट हो जाय तो पश्चात् द्वार पर एक कवलिका रख गोफणा बन्ध (T shaped bandage) ा देना चाहिये। यह पट्टी चर्म की बनी होती है और इसके मध्य में एक द्र होता है, जिसके द्वारा वायु के निकलने में बाधा नहीं पड़ती। रोगी का च-बीच में स्वेदन करते रहना चाहिये।'[2]

प्लोत (गाज) के टुकड़ों को जिनके द्वारा मलाशय को भीतर किया जाता उसके अन्दर भी छोड़ सकते हैं वह भ्रंश को रोकता है और मल के साथ हर निकल जाता है। कई बार आंत्र व्रणित हुई रहती है और मलाशय की ष्मलकला का वस्त्र से रगड़ जाने का भय रहता है, उस समय शीतल जल रिषेक करके प्रविष्ट किया जा सकता है। परन्तु यदि फिर भी भ्रंश भीतर न ा पावे तो सहसा 'ईथर' का परिषेक करना चाहिये इससे आकुञ्चन दूर होकर ांत्र प्रविष्ट हो जाती है। पश्चात् बन्धन लगाना चाहिये। प्राचीनों ने इसी ठिनाई को दूर करने के लिये सदैव मलाशय को स्नेहाभ्यक्त करके प्रवेश करने ा विधान किया है।

बालकों में और युवकों में भी उपर्युक्त विधियों के अनुसार चिकित्सा होने लाभ हो जाता है; परन्तु यदि रोग बहुत बढ़ गया हो और भ्रंश अत्यधिक हो ो शस्त्रकर्म की आवश्यकता पड़ती है। नवीन ग्रन्थों में शस्त्रकर्म के विस्तृत र्णन मिलते हैं, जिनमें भ्रंश के आंशिक (Pertial excision, linear cauterization) उत्कर्त्तन से लेकर पूर्ण भ्रंश तक (Complete re val of prolapse) का छेदन और सन्धान कर्म (Plastic operat rectopexy) भी किया जाता है, तथापि ये कर्म प्रशस्त नहीं माने गये है

---

[1] स्तब्धभ्रष्टगुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्। सुस्विन्नं मृदुभूतञ्च पिचुना संप्रवेशयेत्॥
गुदभ्रंशेऽनुवासनम्। (चरक)

[2] गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्।
कारयेद् गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा॥
विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः।

सामान्यतया व्यवहार की दृष्टि से एक सूचीवेध के द्वारा (Submu injection) चिकित्सा का प्रचलन है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख अप्रासंगिक होगा। यह विधि पूर्णभ्रंस में बरती जाती है—'गुदभ्रंश के रोगी को आस्था वस्ति देकर कोष्ठ की शुद्धि कराके रोगी से कुंथन करवाना चाहिये, इससे भ्रं अधिक से अधिक भाग निकल आवेगा। पश्चात् सिरिंज (Piles Syri के द्वारा भ्रंशित मलाशय में कई स्थानों पर श्लेष्मलकला के नीचे ओषं दिया जाता है। ओषधिद्रव्य (५% शक्ति का बना हुआ 'फेनाल' का तेल दे को एक ही साथ सिरिञ्ज में १२–१५ सी. सी. की मात्रा में लिया जाता है दो सी. सी. के परिमाण में कई स्थानों पर दिया जाता है; और पूरी १२–१५ सी. सी. तक कई स्थानों पर गूंद के देकर समाप्त की जाती है। सूचिकाभरण के साथ-साथ 'किनीनसल्फेट' (क्विनीन सल्फ) १२ ग्रेन, सल्फ्युरिड डिल ३० बूंद और परिस्रुत जल ३० बूंद) के घोल का भी दे दिया जाय तो कार्य अधिक श्रेष्ठ होता है। किनीनसल्फेट के घोल की ३ सी. सी. प्रतिस्थान पर दी जाती है और इसके इन्जेक्शन भ्रंश दे स्थानों पर (Peri rectal–Lateral and posterior) मलाश पीछे और दोनों पार्श्वों में पूर्वोक्त घोल के साथ ही साथ दिया जाता है।

पश्चात् गुद को भीतर प्रविष्ट करके बंधन करके रोगी को बिस्तर पर करने का आदेश किया जाता है। एक सप्ताह तक उसको द्रवभोजन, दूध पर रखना चाहिये, मलत्याग की आवश्यकता न पड़े। आस्थापनवस्ति के द्वारा सावधानी के साथ रोगी की कोष्ठशुद्धि करनी चाहि

४३. शूकरदंष्ट्र—वाग्भट ने गर्दभिका, इरिवेल्लिका, गन्धमाला, और वाराहदंष्ट्र नामक क्षुद्ररोगों का अधिक वर्णन किया है। जिनका यथ निदान चिकित्सा का समावेश उपर्युक्त वर्णन में समाविष्ट कर लिया गया एक शूकरदंष्ट्र नामक स्वतंत्र रोग की चिकित्सा का उल्लेख आवश्यक है। लक्षण प्रारंभ में ही टिप्पणी में मिलेगा। यह एक प्रकार का त्वक्पाक (De itis) जान पड़ता है। कई बार इस रोग की समता Lupus vulgaris हो सकती है, जिसमें त्वक्पाक और गांठें (Nodule) निकलती हैं।[1]

चिकित्सा—१. भृङ्गराज और हल्दी के मूल का लेप या चूर्ण का अवधूलन। २. कमलनाल (राजीवमूल) का कल्क गोघृत के साथ प्रातःकाल में सेवन करना। इसका खाली पेट पर प्रयोग करने से शोफ तथा ज्वर दोनों का शमन होता है।[2]

क्षुद्र रोगों में पथ्यापथ्य—क्षुद्ररोगों में अनेक रोगों का वर्णन मिलता है। अस्तु, नाना रोगों के अनुकूल तथा दोष, दूष्य और अवस्था का विचार करते हुए पथ्यापथ्य की अवस्था करनी चाहिये।[3]

चतुर्विंश प्रकरण

मिश्रकद्रव्यसंग्रहणीयाध्याय[4]

१. **आरग्वधादिगण**—आरग्वध, मदन, गोपघोण्टा (वदरभेद), कंटकी, कुटज, पाठा, पाटला, मूर्वा, इन्द्रयव, सप्तपर्ण, कुरण्टक (पियावासा पीले और नीले फूल का) गुडूची, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा या काकमाची), करञ्जद्वय (करंज और पूतिकरञ्ज), पटोल, किरात, तिक्तक, (चिरायता), सुषवी (करैला) इन इक्कीस द्रव्यों का आरग्वधादिगण होता है।

---

[1] Shotty brownish yellow (apple jelly) nodules appear, surrounded by an area of hyperaemia, infiltration and ulceration follow. (Lupus vulgaris).

[2] भृङ्गराजकमूलस्य रजन्या सहितस्य च।
चूर्णं तु सहसा लेपाद् वराहद्विजनाशनम्॥
राजीवमूलकल्कः पीतो गव्येन सर्पिषा प्रातः।
शमयति शूकरदंष्ट्रं दंष्ट्रोद्भूतं ज्वरं घोरम्॥ (वा०)

[3] क्षुद्ररोगेषु सर्वेषु नानारोगानुकारिषु। दोषान्दूष्यानवस्थां च निरीक्ष्य मतिमान् भिषक्॥

[4] सु० सू० ३७ तथा ३८ अध्यायों के अनुसार।

यह आरग्वधादिगण कफ और विष का हरण करता है, प्रमेह, कुष्ठ, वमन और कण्डू इनका नाश करता तथा व्रणशोधक होता है।

२. **वरुणादिगण**—वरुण, आर्तगल, शिग्रु, मधुरशिग्रु (लाल सहिजन), अरणी, मेषशृङ्गी, पूतीक, (चिरबिल्व), नक्तमाल (बृहत्करंज), मोरट (या अंकोल या हस्तिकर्णपलाश), अग्निमंथ (बड़ी अरणी), दोनों (पियावासा या कटसरैया), बिम्बी, बकपुष्प या अर्क (वसुक), वसिर (मार्गं या लाल अपामार्गं). चित्रक, शतावरी, बिम्ब, अजशृङ्गी (जिंगिनी), (कुशभेद) बृहतीद्वय (छोटी और बड़ी फल वाली)।

यह वरुणादिगण कफ और मेद का हरण करता है तथा सिरदर्द, आभ्यं विद्रधि और गुल्म का नाश करता है।

वीरतर्वादिगण—वीरतरु (अर्जुन), सहचरद्वय (पीले और फूल का पियावासा), दर्भ, वृक्षादनी (बांदा), गुन्द्रा (एक प्रकार का तृणभे नल, कुश, कास, पाषणभेद, अग्निमंथ, मोरट, वसुक, वसिर, भल्लूक (पाठा), कुरण्टक (पीले फूल का पियावासा), इन्दीवर (नील कमल), वंका (ब्राह्मी) श्वदंष्ट्रा (गोखरु)।

यह वीरतर्वादिगण वातविकारों को हरण करता है और पथरी, मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात की पीड़ा को दूर करता है।

४. **रोध्रादिगण**—लोध्र (लोध), सावरलोध्र (पठानीलोध), श्योनाक, अशोक, भारंगी, कट्फल, एलावालुक (एक प्रकार का कंकोल कुष्ठगंधी गंधद्रव्य), शल्लकी (शालभेद), जिंगिनी (कासमल मजीठ या शाल्मली) कदम्ब, शाल और कदली (केला)।

यह लोध्रादिगण दमे और कफ का हरण करने वाला, योनि के दोषों दूर करने वाला, स्तंभन करने वाला, व्रण में हितकर और विष का नाश वाला होता है।

५. **अर्कादिगण**—अर्क, अलर्क (सफेद आक), करञ्जद्वय, नागद मयूरक (अपामार्ग), भारंगी, रास्ना, इन्द्रपुष्पी (लाङ्गली), क्षुद्रश्वेता (या विदारीकन्द), महाश्वेता (नीलपुष्प 'सफेन्द' या कार्कोटी या श्वेतापराजिता), वृश्चिका, अलवणा (काकमर्दनिका), तापसवृक्ष (इङ्गुदी)।

यह अर्कादिगण कफ, मेद और विष का नाशक, कृमि और कुष्ठनाशक और विशेषतः व्रण का शोधक है।

६. **सुरसादिगण**—सुरसा और श्वेत सुरसा (कृष्ण और श्वेतवर्ण तुलसी), मरुवक (मरुआ या फणिज्झक), अर्जक (आजवला), भूस्तृण (रोहिसतृण), सुगंधक (गंधतृण), सुमुख (तुलसीभेद), कृष्णार्जक (कालमाल), कासमर्द, क्षवक (नकछिकनी), खरपुष्पा (नकछिकनी या बनवर्वरिका भेद), विडङ्ग; कट्फल, सुरसी (सफेद निर्गुंण्डी), निर्गुंडी (नीलपुष्प निर्गुण्डी, सम्भालू), कुलाहल (मुण्डी या कुकुरशुङ्गा), मूसाकर्णी, फंजी (भारंगी), प्राचीवल (काकजंघा), काकमाची, विषमुष्टि (राजनिम्ब या कर्कोटी या कुचला)।

यह सुरसादिगण कफहर्त्ता, कृमिनाशक, प्रतिश्याय, श्वास, कास तथा अरुचि इनका हरण करने वाला और व्रण का शोधक है।

७. **पटोलादिगण**—पटोल, चंदन, कुचंदन, मूर्वा, गुडूची, पाठा और कटुरोहिणी।

यह पटोलादिगण पित्त, कफ और अरुचि का नाश करता है, ज्वर का शमन करता है, वमन, कण्डू और विष को दूर करता है तथा व्रण के लिये हितकर होता है।

८. **ऊषकादिगण**—ऊषक (क्षारमृत्तिका), सैन्धव, शिलाजीत, कासीसद्वय (कासीस और हीरा कासीस), हिंगु, तुत्थ (तूतिया)।

ऊषकादिगण की औषधियां कफ को शान्त करती हैं, मेद का शोषण और अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और गुल्म का नाश करती हैं। इसका स्वतन्त्र या वरुणादि कषाय में प्रतीवाप डालकर अन्तर्विद्रधि में विशेषतः प्रयोग बतलाया गया है।

९. **न्यग्रोधादिगण**—न्यग्रोध (बरगद), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ, प्लक्ष (पाकड़), कपीतन (आम्रातक या आमड़ा), अर्जुन, आम्र (आम), कोशाम्र (आम का भेद), चोरकपत्र (लाक्षा वृक्ष), जम्बूद्वय (छोटी और बड़ी जामुन), पियाल (चिरौंजी), मधूक (महुआ), रोहिणी (कटुकी), वञ्जुल (वेंत) कदम्ब, बदरी, तिन्दुकी, सल्लकी (साल भेद) लोध्र, सावरलोध्र, भल्लातक, पलाश और नन्दीवृक्ष।

यह न्यग्रोधादिगण व्रण के लिये हितकर और संग्राही है, भग्न हुई अ या संधि को जोड़ने वाला है, रक्त और पित्त का हरण करने वाला है, दाह, तथा योनिदोषों को दूर करता है।

१०. लाक्षादिगण— लाक्षा, आरग्वध, कुटज, अश्वमार (करवीर), फल, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, निम्ब, सप्तपर्ण, मालती (जाती) त्रायमाणा (जदवार

यह लाक्षादिगण कषाय, तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त की पीड़ा नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता है तथा दुष्ट व्रण का शो करता है।

११. लघु पंचमूल—गोखरू, छोटी और बड़ी बृहती, पृष्ठपर्णी शालपर्णी।

यह लघु पंचमूल वायु और पित्त का शामक है। अस्तु, इन दोषों से उत्प व्रणों के प्रक्षालन में यह हितकर है।

१२. बृहत् पंचमूल—बिल्व, अग्निमंथ, श्योनाक, पाटला और काश्मरी

बृहत्पंचमूल की ओषधियाँ कफ और वायुशामक होती हैं। अस्तु इन दो से उत्पन्न व्रणों शोधन और रोपण में यह व्यवहृत होता है।

१३. वल्लीपंचमूल—विदारीकंद, सारिवा, हरिद्रा, गिलोय और श्रृङ्गी। ये ओषधियाँ वल्लीसंज्ञक पंचमूल हैं।

१४. कंटकपंचमूल—करमर्द, गोक्षुर, सैरेयक, शतावरी, गृध्र (बदर या कंटकपाली)।

वल्लीपंचमूल और कंटक पंचमूल ये दोनों गण रक्तपित्त का हरण क वाले, तीनों प्रकार के शोथों को नष्ट करने वाले तथा सर्व प्रमेह का नाश क वाले होते हैं। (विशेषतः कफघ्न होते हैं)।

१५. तृणपंचमूल—कुश, काश, नल, दर्भ और इक्षुकाण्ड (सु.) शर, इक्षु दर्भ, काश और शालिमूल। (च.)

तृणपंचमूलगण की ओषधियाँ मूत्रदोष, मूत्रविकार तथा रक्तपित्त-शा और विशेषतः पित्तघ्न होती हैं।

१६. प्रियङ्ग्वादिगण—प्रियंगु, समंगा (लज्जालु), धाय के पु पुन्नाग, नागपुष्प (नागकेसर), चंदन, कुचन्दन, मोचरस (रक्तशाल्मलि

ञ्जन, कुम्भीक (जलकुम्भी), स्रोतोञ्जन, पद्मकेसर, योजनवल्ली (मंजिष्ठा) र दीर्घमूला (शालपर्णी)।

१७. अम्बष्ठा(पाठा)दिगण—धातकी, कुसुम, समङ्गा, कट्वङ्ग (श्योनाक), धुक (मुलेठी), बिल्वपेशिका (बाल बिल्वगिरी), सावरलोध्र, पलाश, नन्दीवृक्ष न) और पद्मकेसर।

ये दोनों गण भग्न के प्रसाधक तथा व्रणों के रोपक हैं।

१८. शालसारादिगण—शालसार (साल वृक्ष), अजकर्ण (शाल वृक्ष-द), खदिर, कालस्कंध (तिन्दुक वृक्ष), क्रमुक (सुपारी), भूर्जपत्र, मेषश्रृङ्गी, निश, चन्दन (श्वेत), कुचंदन (रक्त), शिशपा (सीसम), शिरीष, अर्जुन, धव, सन, ताल (ताड), शाक, नक्तमाल, पूतीक (करंज और पूतिकरंज), अश्वकर्ण, गर और कालीयक (पीतचंदन)।

यह शालसारादिगण कुष्ठ, मेह, पाण्डु, कफ और मेदोदोष का हरण करता है। प्रमेहपिडिका-चिकित्सा में बाह्य तथा आभ्यंतर प्रयोगों में व्यवहृत होता है। णों के शोधन के लिये रसक्रिया में भी व्यवहृत होता है।

रोगों की चिकित्सा लिखते समय जिन ओषधियों का विस्तृत वर्णन किया गया है अथवा संक्षेप करने के लिये केवल गण का नाम भर निर्देश कर दिया गया है। उन्हीं का नातिसंक्षेप—विस्तर उपर्युक्त उल्लेख है।

दोषों के मिश्रित या भिन्न-भिन्न भेदों का विचार करके पृथक् पृथक् ओषधियों का उपयोग करना चाहिये। अथवा एक ही गण के अनेक मिश्र औषधों का प्रयोग करे या गण के सारे के सारे औषधों का उपयोग करे अथवा देश—कालादि के अनुसार अनेक गणों में से दो-दो, चार-चार, दवाइयों को छांट कर उनका उपयोग करना चाहिये।[1]

इन ओषधियों को विविध रूप से प्रयोग में लाया जा सकता है। जैसे—लेप, पञ्चकषाय, तैल, घृत तथा पानक बना कर, जिसके लिये जो उचित हो, उसका

---

१. एभिर्लेपान् कषायांश्च तैलसर्पींषि पानकम्।
प्रविभज्य यथान्यायं कुर्वीत मतिमान् भिषक्॥
समीक्ष्य दोषभेदांश्च मिश्रान् भिन्नान् प्रयोजयेत्।
पृथग् मिश्रान् समस्तान्वा गणं वा व्यस्तसंहतम्॥ (सु० सू० ३७)

प्रयोग करना चाहिये। यदि गणोक्त सभी द्रव्य अप्राप्य हों तो उनका यथा (यथालभ्य) प्रयोग का विधान है। 'समस्त या वर्ग का आधा अथवा लाभ ओषधियों का यथोद्दिष्ट कर्मों में व्यवहार करना चाहिये।' विभिन्न अध्यायों से संगृहीत कुछ योगों का वर्णन नीचे दिया गया है। ये ऐसे यो जिनका उल्लेख पुस्तक में अल्पाक्षरों में हुआ है या अनुक्त रह गये हैं।

वातिक शोफशामक—१. बिजोरा, अरणी, देवदारु, शुण्ठी, और रास्ना इनका लेप वातिक शोफ का नाश करता है। (सु०)

२. देवदारु, कुठ, तगर, दशमूल तथा दोनों सैरेयक वातशोफ नाशक हैं।

पैत्तिक शोफशामक—१. दूर्वा, नलमूल, मुलैठी, रक्तचन्दन और गण की ओषधियां इनका लेप पित्तजन्य शोफ का नाशक होता है। (सु०)

२. दूर्वा, जवासा, नीम, अडूसा, केवाच, भद्रमुस्तक, शतावर, शी तथा प्रियङ्गु का लेप पित्तशामक है। (अ० हृ०)

श्लैष्मिक शोफशामक—वन अजवायन, असगन्ध, मंजिष्ठा, त्रिवृ कृष्ण, त्रिवृत् श्वेत, अजशृङ्गी का लेप कफजन्य शोफ को शान्त करता है।

सान्निपातिक शोफशामक—इन तीनों वर्गों के द्रव्यों तथा लोध, मैनफल, अनन्तमूल इनका लेप शोफशामक है।

(भैषज्यरत्नावली से संगृहीत कुछ योग)—

तिलाष्टक—तिल, सेंधा नमक, हल्दी, दारुहल्दी त्रिवृत्, घृत, निम्बपत्र, इन्हें एकत्र मिश्रित करके व्रण पर लेप करने से शोधन होता है।

शोधनकेसरी लेप—नीम के पत्ते, तिल, दन्ती, निशोथ, सेंधा शहद इन्हें एकत्र मिश्रित करके लेप करने से दुष्ट व्रण भी शान्त हो जाता है।

शरपुङ्खामूल लेप—शरपुङ्खा की जड़ को पीस कर शहद के साथ कर लेप करने से दुष्ट व्रण का भी रोपण होता है।

रोपण योग—१ मनुष्य के शिरःकपालास्थि को गोमूत्र में पीस कर करने से सैकड़ों योगों से असाध्य क्षत भी निवृत्त होता है।

२. करैले की पत्तियां, पत्तूर, कर्णमोट (वर्वरवृक्ष), कुठेरक (तु पत्र) इनके लेप से गम्भीर व्रणों का रोपण होता है।

३. श्वेत मदार की जड़ को नीबू के रस में लोहे के खरल में घिसकर क्षत पर लेप करने से क्षत का रोपण होता है।

४. श्वेत कनेर की जड़ के दो पल रस को आठ पल गोदुग्ध में मिला कर उबाल ले। पश्चात् दही बना, मंथन करके मक्खन निकाल ले। इस मक्खन के प्रयोग से पुरातन व्रण भी भर जाते हैं।

५. आस्फोता के निर्यास (गोंद) का लेप करने से पुराने क्षत भर जाते हैं।

६. नीम के पत्ते, घी, शहद, दारुहल्दी और मुलैठी इनके मिश्रित कल्क को वस्त्र-खण्ड पर लेप करके वर्त्ति बना कर व्रणमुख पर देने से रोपण होता है, अथवा तिलकल्क द्वारा प्रस्तुत वर्त्ति से भी यही कार्य होता है।

७. अश्वगन्ध, कुठकी, लोध, कट्फल, मुलैठी, मञ्जिष्ठा, धाय का पुष्प इनका लेप व्रणरोपण में अत्यन्त उत्कृष्ट है।

त्रिफला गुग्गुलु—२ तोला त्रिफला के क्वाथ में विशुद्ध गुग्गुल १ माशा मिलाकर सेवन करने से वेदना तथा व्रणशोथ शान्त होता है।

सप्ताङ्ग गुग्गुलु—विडङ्ग, त्रिफला, त्रिकटु में से प्रत्येक २ तोला, शुद्ध गुग्गुल १३ तोला इन्हें एकत्र पीस कर वटी बनावे। इस योग का सेवन दुष्ट व्रण तथा नाडीव्रण में हितकर होता है।

जात्याद्य तैल या घृत—जातीपत्र, निम्बपत्र, पटोलपत्र, कुटकी, दारुहल्दी, हल्दी, अनन्तमूल, मजीठ, खस, मोम, नीलाथोथा, मुलैठी, करञ्जबीज सब मिलाकर ६४ तोले। इनके कल्क के साथ दो प्रस्थ घी अथवा तैल का पाक करे। पाकार्थ जल भी आठ प्रस्थ ले लेना चाहिये।

इस घृत अथवा तैल के द्वारा व्रण से पूय निकल कर व्रण शुद्ध हो जाता है। यथाविधान प्रयोग द्वारा सूक्ष्ममुख, स्रावी, गम्भीर, वेदनायुक्त और गतियुक्त व्रण भी शुद्ध होकर प्ररूढ हो जाते हैं।

(जात्यादि तैल में यदि पानी के स्थान पर अपामार्ग का स्वरस डालकर पकाया जाय तो अति लाभकारी होता है।)

बृहज्जातिकाद्य तैल—तैल २ प्रस्थ। कल्क में—जातीपत्र, निम्बपत्र, पटोलपत्र, करञ्जपत्र, मोम, मुलैठी, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, कुटकी, मजीठ, पद्माख, लोध्र, हर्रें, कमलकेसर, नीलाथोथा, अनन्तमूल, करञ्जमूल, सब मिलित ६४ तोले।

यथाविधि तैल का पाक करके प्रयोग करने से विषव्रण, शस्त्रोत्पन्न, दुष्टव्रण का शोधन तथा रोपण होता है।

दूर्वाद्य तैल या घृत—दूर्वास्वरस तथा काम्पिल्लक एवं दारुहल्दी के छाल के कल्क से यथाविधि तैलपाक करके अथवा घृत का पाक करके प्रयों प्रयोग करने से रोपण शीघ्र होता है।

तिक्ताद्य घृत—गव्यघृत दो प्रस्थ। कल्कार्थं—कुटकी, मोम, हल्दी, मुले करंजपत्र तथा कच्चे फल, पटोलपत्र, मालतीपत्र, निम्बपत्र, सब मिलित तोले। तथाविधि घृत का पाक कर लेना चाहिये। इसके बाह्य प्रयोग से का रोपण होता है।

कुछ अन्य योग—

अतस्यादि लेप—$\frac{१}{२}$ भाग निम्बपत्रकल्क को चार भाग अतसी तैल के साथ पाक करके छान ले। फिर तैल को गर्म करके उसमें एक भाग राल के चूर्ण को मिलाकर मन्द अग्नि पर पाक करे। जब राल तेल में घुल जाय तब कपड़े से छानकर शीतल कर लेवे। पश्चात् एक सौ एक बार जल से धोवे। जल साथ रगड़ने से गाढ़ा सफेद, मलहम की नाईं लेप तैयार हो जाता है।

यह लेप दग्ध व्रणों में विशेष लाभप्रद होता है।

लाक्षादि घृत—लाक्षा, रोध्र, मैनशिल, हरताल कूठ, नाग, गैरिक, वं मंजिष्ठा, वच, सौराष्ट्री, पतंग, हल्दी और आमाहल्दी, रोचना, अंजन, हेमा त्वक्, वट का पीला पत्र, कालीय, पद्मक, पद्मक के बीच का भाग, रक्त श्वेत चंदन, पारद, क्षीरपिष्ट काकोल्यादिगण की ओषधियाँ, मेद, मज्जा, गोघृत, क्षीरीवृक्षों का कषाय और क्षीर; इन द्रव्यों को एकत्र करके घृतपा विधि से पाक किया हुआ घृत एक प्रधान प्रयोग है।

इसके प्रयोग से व्यंग, नीलिका (बहुत बढ़ी हुई), मुख पर उत्पन्न हु स्फोट ठीक हो जाते है और मुख पर लेप करने से मुख को मनोज्ञ, पीनव झुरियों से रहित तथा झाईं को दूर करके विकसित कमल–जैसे कर देता है। इसके प्रयोग से कुष्ठ और विपादिका की अवस्थाओं में भी लाभ होता है।

अङ्गराग—हरीतकी चूर्ण, निम्बपत्र, आम की छाल, अनार के फूल का डंठल, मेंहदी की पत्तियों को पीसर शरीर पर लेप करना एक श्रेष्ठ अंगराग है।

व्रणप्रक्षालन में व्यवहृत होने वाले कुछ कषाय—

१. निम्बपत्रकषाय ।
२. उदुम्बरपत्रकषाय ।
३. क्षीरीवृक्षकषाय ।
४. पंचवल्कलकषाय ।
५. त्रिफलाकषाय ।
६. सदुम्बरसारद्रव ।
७. सर्वतोभद्रकषाय ।

८. कुछ अन्य कायचिकित्सा के आभ्यन्तर प्रयोग में आने वाले कषायों का व्रणों में भी प्रक्षालनार्थ प्रयोग होता है। जैसे—दशमूलक्वाथ, धान्यककषायादि ।

चक्रतैल[1]—चिकित्सा के प्रसंग में कई स्थानों पर चक्रतैल का प्रयोग बतलाया गया है। चक्रतैल से एक प्रकार के अपक्व तैल का ही बोध होता है। सद्यःपीडित करके निकाले गये तैल (ताजे कोल्हू के तेल) को चक्रतैल कहते हैं। कुछ लोगों के विचार से अणुतैल की ओषधियों से गृहीत और कल्पित अपक तैल को ही चक्रतैल कहा जाता है। तैल से तिलोद्भव तैल का ही ग्रहण होता है।

व्रणापहारी रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मनःशिला, शुद्ध ताल, इनमें प्रत्येक का दो-दो भाग लेकर गुग्गुलु सात भाग के साथ मिलाकर त्रिफलाक्वाथ की भावना देकर एक-एक रत्ती की वटी बनाकर रख ले। प्रतिदिन दो वटी से व्रणों में पूयोत्पत्ति होकर रोपण आरम्भ हो जाता है।

उपर्युक्त योगों के अतिरिक्त कई अन्य प्रकार के योगों का संग्रह अनुशस्त्रों के वर्णन के प्रसंग में भेषज की व्याख्या करते हुए किया गया है, जिनका भूरिशः प्रयोग आजकल भी शल्यचिकित्सा में होता है।

* * *

---

[1] चक्रतैलं सद्यः पीडितोद्धृतमित्येके वदन्ति। अन्ये तु पुनरणुतैलकल्पेन गृहीतमपक्वतैलं चक्रतैलमाहुः। (डल्हण)

पञ्चविंश प्रकरण

योग्यासूत्रीयाध्याय

(Practical training for surgical operation)

प्राचीन चिकित्सा–विषयक आर्ष ग्रन्थों में प्रारम्भ के कई अध्यायों में अनु चतुष्टय[1] प्रभृति शिष्योपनयन, शिष्यपरीक्षा, आयुर्वेद की दीक्षाविधि शि कर्तव्य निरूपण, शिष्य के विषय में गुरु का आत्मकर्तव्य-निरूपण, रोगी के में वैद्य का कर्तव्य, आयुर्वेद के अध्ययन में वर्जित काल, शास्त्र के अध्ययना के प्रकार तथा अध्ययन के समाप्त हो जाने पर शिष्य के कर्तव्य प्रभृति सदा का–धर्मशास्त्रसम्मत विधियों का उल्लेख पाया जाता है। इन विधानों उद्देश्य होता है विद्या का सुसंस्कृत ज्ञान। इनके अभाव में ज्ञान होते हुए संस्कारों के भ्रष्ट हो जाने का भय रहता है।[2]

'पवित्र, गुरुभक्त, अपने कार्य में दक्ष होकर निद्रा और आलस्य छोड़ जो शिष्य उपयुक्त विधि (संहिता में कथित) से शास्त्र का अध्ययन करेगा, इसमें पारंगत हो जायगा।'[3]

आयुर्वेद एक प्रत्यक्ष कर्माभ्यास की विद्या है, इसमें केवल शास्त्र का भर ही हो जाना पर्याप्त नहीं है; बल्कि उसके क्रियाभ्यास में भी निपुण आवश्यक है अर्थात् आयुर्वेद के ज्ञाता को उभयज्ञ होना परमावश्यक है– शास्त्रज्ञान (Theory) के साथ साथ क्रियाभ्यास या कर्मनिष्णात (Pr tice) होना चाहिये। 'जैसे कि संग्राम में द्विचक्ररथ सांग्रामिक कार्य क समर्थ होता है वैसे ही जो बुद्धिमान वैद्य दोनों विषयों का–शास्त्र और क्रि

---

[1] विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, अधिकारी।

[2] शुचिर्गुरुपरो दक्षस्तन्द्रानिद्राविवर्जितः।
पठन्नेतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात् ॥

[3] वेषभूषा एवं व्यक्तित्व (Personality), राजानुज्ञा (Recognition rgeon by the state), आतुरगृहाभिगमन (Methods of Attendance of रोगी को परीक्षा-पद्धति (Case taking), रोग-विज्ञानोपाय (Diagnosis शुभाशुभ-विनिश्चय (Prognosis), चिकित्सा का मार्ग-निर्णय (Line of Treatment तथा सामाजिक व्यवहार, (Ethics) का संक्षिप्त वर्णन अगले अध्याय में मिलेगा।

(Theory and praotical), पूर्ण जानने वाला है, यही आयुर्वेद का योजन सिद्ध करने में समर्थ होता है; परन्तु इसके विपरीत जो वैद्य केवल शास्त्र जानने वाला है, क्रियाओं में निपुण नहीं है, वह रोगी के पास जाकर कित्सा में घबड़ा जाता है, जैसे कि भीरु पुरुष युद्धभूमि में।'

अस्तु शास्त्रान्त तक पढ़ चुकने के बाद वाणी की शुद्धता के लिये, अर्थविज्ञान के लिये, प्रगल्भता तथा कर्म में नैपुण्य उत्पन्न करने के लिये, कर्माभ्यास और आरब्धकर्म में सिद्धि प्राप्त करने के लिये शिष्य को सदैव यत्न करते रहना चाहिये।[1]

प्रस्तुत विषय आयुर्वेद के एक अन्यतम अङ्ग (शल्य) से सम्बन्धित है, इसलिये यहां पर कार्याभ्यास से शल्यतंत्र से संबन्धित क्रियाभ्यास का ही वर्णन प्रासङ्गिक है।

शल्य-चिकित्सा में यंत्र तथा शस्त्रों के जो विविध काम होते हैं उनका प्रत्यक्ष परिचय कराने के लिये तथा उनमें कुशलता प्राप्त करने के लिये रोगी के शरीर पर उनका प्रयोग करने के पूर्व उन कर्मों के लिये योग्य वस्तुओं पर उन कर्मों का जो अभ्यास होता है, उसे 'योग्या' कहते हैं। अंग्रेजी में शल्यचिकित्सा के इस विभाग को 'आपरेटिव सर्जरी' कहते हैं।

'सम्पूर्ण शास्त्र का अर्थ जानने वाले शिष्य को भी 'योग्या' करानी चाहिये—स्नेहाच्छेदनादि कर्मों का ढङ्ग बतलाना चाहिये। क्योंकि बहुश्रुत होने पर भी कर्माभ्यास के बिना मनुष्य प्रत्यक्ष कर्म में अयोग्य होता है।'

'गुरुमुख से निकले हुए शास्त्र को जो ग्रहण कर अनेक बार उसकी उपासना करके कर्म करता है, वही वैद्य है; अन्य सभी चोर हैं।'[2]

---

[1] वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे।
तदाभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः॥

[2] शास्त्रं गुरुमुखोद्गीर्णमादायोपास्य चासकृत्।
यः कर्म कुरुते वैद्यः शेपास्तस्करवृत्तयः॥

यहां पर शास्त्र से आयुर्वेद का ही ग्रहण है। यद्यपि आयुर्वेद एक उपवेद है, फिर-भी कई कारणों से उसे शास्त्र कहते हैं। जैसे—'रोगान् शास्ति इति शास्त्रम्। आयुरारोग्यदानेन धर्मकामार्थादीनां शासनाद्वा शास्त्रम्। मरणात् त्रायत इति वा शास्त्रम्।'

'इसलिये शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निकर्म इनमें कुशलता प्राप्त कर लिये जिस कर्म का जिस द्रव्य में साधर्म्य हो, वहां पर उस क्रिया को खूब अ करके सीख लेना चाहिये।'[1]

पाश्चात्य शल्यविद्या में 'योग्या' का कार्य मृत शरीर के ऊपर कराया ज है और क्वचित् मनुष्येतर जीवित प्राणियों पर भी होता है। प्राचीन काल में कर्म का अभ्यास शव पर न करके अधिकतर वनस्पतियों और क्वचित् प्राणियों पर भी किया जाता रहा। कई बार पुस्तमयपुरुष—लकड़ी, मिट्टी, आदि से बनाई हुई पुरुषाकृति—पर भी कई कार्य, विशेषत: बन्धन कार्य लाये जाते थे। इस प्रकार की आकृति (Dummy) का प्रसूतितन् प्रसूति के समय की गर्भ की गति दिखलाने तथा मूढगर्भ के ऊपर शस्त्रकर्म अभ्यास करने के लिये पुस्तमय स्त्री का उपयोग पाश्चात्य वैद्यक में पाया जाता है

आजकल फल और पुष्प पर कर्माभ्यास की आवश्यकता नहीं। सम्यक् और क्रियाभ्यास की दृष्टि से मृतशरीर पर ही कर्म का सिखलाया जाना सर्वो जान पड़ता है। तथापि सुश्रुताचार्य के युग का कर्माभ्यास भी जान लेना चा क्योंकि यह सरल और सुलभ व्यवहार में पड़ते हैं—

छेदन, उत्कर्त्तन, परिकर्त्तन प्रभृति विविध प्रकारों के काटने के कर्म अभ्यास कोहड़ा, लौकी, तरबूज, ककड़ी, खीरा प्रभृति फलों पर करे।

भेदन—जलमिश्र कीचड़ से भरे हुये दृति, बस्ति और प्रसेवक (चर्म मसक या बर्त्तन) पर भेदनक्रिया का अभ्यास करना चाहिये।

लेखन—रोमयुक्त फैले हुये चर्म पर लेखन का कर्म सिखलाना चाहिये।

वेधन—मृतपशुओं की सिराओं में तथा कमलनालों में वेधन अभ्यास करावें।

एषण—घुणोपहत काष्ठ, बांस, कमलनाल तथा सूखी तुम्बी के छिद्रों एषण का अभ्यास करावें।

आहरण—कटहल, कुन्दरु, बिल्वफल के गूदे से तथा मृतपशुओं के दां में आहरण की क्रिया सिखावे।

---

१. तस्मात् कौशलमन्विच्छन् शस्त्रक्षाराग्निकर्मसु।
यस्य यत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां समाचरेत्॥

विस्रावण—मोम लगे हुए शाल्मली के फलक पर विस्रावण कर्म सिखावे।

सीवन—पतले तथा मोटे दो वस्त्रों के टुकड़ों में और मृदु चर्म के टुकड़ों में सीवनकर्म का अभ्यास करे।

बन्धनकर्म—कपड़े आदि का पुतला बना कर उसके अङ्ग-प्रत्यंगों में जहाँ पर जिस प्रकार के बन्धन उपयुक्त हों लगाने का अभ्यास करे, मृदु मांस तथा कमल के नाल में कान के सन्धि बन्धनों का अभ्यास करना चाहिये। बन्धनों का अभ्यास जीवित स्वस्थ व्यक्ति के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के ऊपर भी किया जा सकता है।

अग्नि और क्षारकर्म—मृदु मांस के खण्डों पर क्षार और अग्नि की क्रिया सिखलावे।

बस्तिकर्म—जल से भरे हुए घट के पार्श्वछेद में तथा तुम्बे के मुख आदि में नेत्र का प्रवेश कराना (नेत्रप्रणिधान), बस्ति का पीडन कराना और व्रण वस्ति आदि लगाने का अभ्यास करावे।

इस प्रकार उपर्युक्त तथा अन्य योग्य द्रव्यों पर पहले कर्माभ्यास करके पश्चात्-शस्त्रकर्म करने वाला चिकित्सक कभी नहीं घबड़ाता।[1]

* * *

षड्विंश प्रकरण

विशिखानुप्रवेशनीयाध्याय

(Medical professional ethics)

सुश्रुत सूत्रस्थान दसवें अध्याय का नाम है 'विशिखानुप्रवेशनीय'। विशिखा शब्द का शाब्दिक अर्थ है—राजमार्ग या प्रशस्तमार्ग। यहां प्रशस्तमार्ग बतलाने का ध्येय वैद्यक व्यवसाय के प्रशस्त कर्ममार्ग से है। इस कर्ममार्ग में प्रवेशयोग्य कौन है, प्रवेशयोग्य व्यक्ति को किस विधि से व्यवसाय करना चाहिये, इन सब बातों का उपदेश इस पूरे अध्याय में है।

---

[1] एवमादिषु मेधावी योग्यार्हेषु यथाविधि।
द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न विमुह्यति कर्मसु॥ सु० सू० ९॥

'जिसने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन कर उसका अभिप्राय भलोभांति लिया है, चिकित्साकर्म देख कर फिर उसका खूब अभ्यास कर लिया है, (योग्य) जो शास्त्र पढ़ा सकता है, जिसने चिकित्सा-व्यवसाय प्रारम्भ करने पूर्व राजा से आज्ञा लेली है (राजानुज्ञातेन)'; ऐसे चिकित्सक को वैद्यवृ में प्रवेश करना चाहिये ।[1]

प्राचीनकाल में 'राजानुज्ञा' का बड़ा महत्त्व था । आधुनिक युग में भी वि विद्यालय से परीक्षा पास करके उपाधि प्राप्त करने के अनन्तर राजाज्ञा (Li nse) की आवश्यकता पड़ती है । यह राजाज्ञा प्रान्तीय सरकार या राज की ओर से नियुक्त वैद्यसभा (Medical cauncil or Board of Me cine) देती है । इसी का दूसरा नाम 'रेजिस्ट्रेशन' है, जिसके द्वारा सर चिकित्सक की मान्यता स्वीकार करती है ।

व्यवसाय में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति को 'नाखून और बाल कटवा कर, सफेद वस्त्र पहन कर, छाता-छड़ी हाथ में लेकर, अच्छा जूता पहन कर, मनो वेष धारण कर. शुद्ध मन होकर, कल्याणकारी भाषण करने वाला चाहिये । साथ ही निष्कपट वृत्ति से, सब जीवों को बन्धु के समान मान कर सहायता करनी चाहिये ।'

रोगी मनुष्य माता, पिता, पुत्र और बान्धवों से भी शङ्का करता है; प वैद्य में पूरा-पूरा विश्वास रखता है । अपनी इच्छा से अपने शरीर को वैद्य हाथों में सौंप देता है परन्तु उस पर शङ्का नहीं करता । इसलिये वैद्य का कर्त्तव्य है कि वह पुत्र की तरह से रोगी की रक्षा और देखभाल करे ।[2]

विशिखा के सम्बन्ध में दूसरा उपदेश, चिकित्सक को किस प्रकार रोगी घर पर जाना और रोगी को देखना चाहिये उसके सम्बन्ध में होता है ।

---

[1] अधिगततन्त्रेणोपासिततन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृतयोग्येन शास्त्रं निगदता ज्ञातेन नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन छत्रवता दण्डहस्तेन सोपान द्धतवेशेन सुमनसा कल्याणाभिव्याहारेणाकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां सुसहायवता विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या । (सु० सू० १०)

[2] मातरं पितरं पुत्रान् बान्धवानपि चातुरः । अप्येतानभिशङ्केत वैद्ये विश्वासमेति च ॥
विसृज्य चात्मनाऽऽत्मानं न चैनं परिशङ्कते । तस्मात्पुत्रवदेवैनं पालयेदातुरं भिषक्

पुनः दूत (रोगी के घर से खबर देने के लिये आगत व्यक्ति), निमित्त, शकुन और मङ्गल (शुभ शकुन—उदककुम्भ, पूर्णकुम्भ, पक्षियों के मधुर भाषण प्रभृति तथा अशुभ शकुन—मुण्डी, नग्न, जटी प्रभृति)[1] का विचार कर के यदि सभी लक्षण अनुकूल मिलें तो रोगी के घर पर जावे और बैठ कर उसे अच्छी तरह से देखे। हस्त के स्पर्श करे और व्याधि के सम्बन्ध में प्रश्न करे।

तीसरा उपदेश, ठीक प्रकार से रोगी के रोग के निदान और चिकित्सा के विषय में किया गया है।

रोग तथा रोगी की परीक्षा की विधियाँ—[2]

(१) वाग्भट—(त्रिविध) तथा (२) चरक—(पञ्चविध)

१. आप्तोपदेश
२. प्रत्यक्ष
३. अनुमान

१. दर्शन
२. स्पर्शन
३. प्रश्न

१. निदान
२. पूर्वरूप
३. रूप
४. उपशय
५. संप्राप्ति

(३) सुश्रुत—(षड्विध)

१. प्रश्न
२ श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेय
३. चक्षुरिन्द्रिय "
४. घ्राणेन्द्रियविज्ञेय
५. स्पर्शनेन्द्रिय "
६. रसनेन्द्रिय "

(४) योगरत्नाकर—(अष्टविध)

१. नाडी
२. मूत्र
३. मल
४. जिह्वा
५. शब्द
६. स्पर्श
७. दृक्
८. आकृति

(५) पाश्चात्य मतानुसार

१. प्रश्न (Interrogation)
२ दर्शन (Inspection)
३. स्पर्शन (Palpation)
४. अङ्गुलिताडन (Purcussion)
ध्वनि के लिये (श्रोत्र)
५. श्रवणपरीक्षा (Auscultation)

---

१. सु. सू. २९ अध्याय के अनुसार।

२. दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्। निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा॥
सम्प्राप्तिश्चेति रोगाणां विज्ञानं पञ्चधा स्मृतम् (वाग्भट)।
रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत॥
नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दस्पर्शदृगाकृतीः। (यो. र.)
त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानञ्चेति। (चरक)

ऊपर में कई विभिन्न चिकित्सा ग्रन्थों के सिद्धान्तों का संग्रह किया गया है। उद्देश्य सबों का एक ही है, रोगों का निश्चित रूप से ज्ञान करने का उपाय। सुश्रुत ने षड्विध परीक्षा की जो अपनी विधि है उसी को श्रेष्ठ माना है।

'दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इन तीनों उपायों द्वारा प्राय: सर्व व्याधियों को जानना चाहिये, ऐसा कई आचार्यों का मत है; परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि रोग जानने के उपाय छः प्रकार के हैं—श्रोत्रादिक पञ्च इन्द्रियों और प्रश्न से'।

उनमें १. श्रोत्रादिविज्ञेय जैसे—व्रणों के स्राव में रक्त में गति उत्पन्न करने वाला वायु निकलते समय ध्वनि उत्पन्न करता है। उस का ज्ञान श्रवणेन्द्रिय से ही होगा। २. स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेय—ज्वर, शोथादि रोगों में शैत्य, औष्ण्य, रौक्ष्य, श्लक्ष्णता, मृदुता, कठिनता इत्यादि का ज्ञान त्वचा के गुण स्पर्शनेन्द्रिय से ही जाने जाते हैं। ३. चक्षुरिन्द्रियविज्ञेय (दर्शन)—शरीर की स्थूलता, कृशता, आयु के लक्षण, उत्साह और वर्ण के विविध प्रकार दर्शन से जाने जाते हैं। ४ रसनेन्द्रियविज्ञेय—प्रमेहादिक रोगों में मूत्रादि का रस ज्ञान रसनेन्द्रिय से ही होता है। यह परीक्षा अर्थात् शरीरगत रस का ज्ञान अनुमान से किया जाता है। चरक ने स्पष्ट लिखा है कि रस का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अनुमान से मक्षिका, पिपीलिका, यूका, लिक्षा, काक इत्यादि के रसनेन्द्रिय द्वारा किया जाता है[1]। ५. घ्राणेन्द्रियविज्ञेय-अरिष्टस्थान में वर्णित व्रण से तथा अन्य स्थान से जो विकृत गन्ध आते हैं उनका ज्ञान नासा के द्वारा ही किया जाता है। प्रश्न—देश, काल, जाति, सात्म्य, रोगनिदान, वेदना की वृद्धि, बल, पाचकाग्नि, वात मूत्र–मल की प्रवृत्ति या सङ्ग, रोग के पाक, काल इत्यादि की विशेषता केवल रोगी से पूछ कर अर्थात् प्रश्न के द्वारा ही जाने जा सकते हैं।

इन छः उपायों में केवल रसनेन्द्रियविज्ञेय परीक्षा प्रत्यक्ष नहीं करनी चाहिये क्योंकि चरक ने स्पष्ट निषेध किया है। अन्यथा यदि 'आत्मसदृश' (स्वयं प्रत्यक्ष करने योग्य) रोग हो तो उन उन इन्द्रियों के योग से परीक्षा करनी चाहिये।

कई बार इन्द्रियों के द्वारा (आत्मसदृश) ज्ञान नहीं हो पाता, जैसे-यदि

---

[1] तमनेनानुमानेन विद्याद्विकृतितां गतम्। मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात्।

रोगी दूरस्थित हो, परदा वाली स्त्री हो अथवा रोग का अवस्थान गुह्य अङ्गों में हो, तो उस अवस्था में रोग का ज्ञान परसदृश (घर के व्यक्तियों से पूछ कर अथवा किसी नर्स के द्वारा दिखला कर) करना पड़ता है।

विभिन्न सिद्धान्तों का समन्वय—जहां तक रोगी की परीक्षा का सम्बन्ध है, त्रिविध (वा०) षड्विध (सु.) और अष्टविध (यो. र.) तीनों प्रकार की परीक्षाविधियों में कोई विशेष अन्तर नहीं। त्रिविध में दर्शन और स्पर्शन के अतिरिक्त अन्य बातों की जानकारी प्रश्न के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। अष्टविध परीक्षा स्थानानुसार बतलायी गई है इसलिये यद्यपि संख्या देखने में अधिक है परन्तु पञ्चज्ञानेन्द्रियगम्य ही है। जैसे–दृक्, आकृति, जिह्वा आदि का ज्ञान दर्शन के द्वारा; स्पर्श और नाडी का ज्ञान स्पर्शन के द्वारा; मूत्र, मल का ज्ञान घ्राण या परसदृश प्रत्यय से रसना के द्वारा; शब्दविषयक ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ही होता है।

अब रह गया पञ्चविध परीक्षा का समन्वय करना। इसके सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि ये पञ्च प्रकार (निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति) रोग के निदान (निश्चित ज्ञान) करने के उपाय हैं। रोगी की परीक्षा करने के उपाय नहीं। रोगी की परीक्षा करने के बाद जो कुछ भी लक्षण या चिह्न मिलें, उनके साथ ग्रन्थोक्त लक्षणों का साधर्म्य देख रोग का स्थिर निदान इन पञ्च उपायों के द्वारा होता है।

पाश्चात्य ग्रन्थों में दर्शन, स्पर्शन, प्रश्न के अतिरिक्त ताड़न और श्रवण-परीक्षा विशेष महत्व की है। श्रवणपरीक्षा (Auscultation) प्रत्यक्ष कर्ण को परीक्ष्य स्थान पर लगा कर की जाती है। इस के लिये एक विशेष प्रकार का नाडीयन्त्र (Stethescope) व्यवहृत होता है। इस यन्त्र का उपयोग फुफ्फुस और हृदय के रोगों में विशेष होता है। गन्ध की परीक्षा के लिये कई रोगों में बहुत आवश्यकता पड़ती है। जैसे–मल, मूत्र की परीक्षा, अहिफेन विष, मदात्यय और मधुमेह की मूर्च्छा। रसपरीक्षा विशेषतः मूत्र में की जाती है; परन्तु आजकल मूत्र के माधुर्यादि-ज्ञान के लिये कई प्रकार के रासायनिक द्रव्यों के यौगिक मिलते हैं, जिन के द्वारा रासायनिक परीक्षा से ज्ञान हो जाता है। इन विधियों के अतिरिक्त कई अन्य भी विविध यन्त्र (स्कोप, स्पेकुलम और एक्स रे (X-Ray) भी रोगदर्शन और रोगी की परीक्षा में व्यवहृत

होते हैं। प्राचीन काल में इन्द्रियों की शक्ति पर ही चिकित्सक को अधिक नि रहना पड़ता था।

परीक्षा का उद्देश्य—'जिन रोगों की परीक्षा यथाशास्त्र नहीं की गई हैं अथवा जिनके सम्बन्ध में ठीक से नहीं बतलाया गया है अथवा जिन के चिकित्सक ने ठीक विचार नहीं किया है चिकित्सा करते समय ऐसे रोग है को मोह में डाल देते हैं। परन्तु यदि उपर्युक्त निदानपद्धति के द्वारा चिकि की जाय तो मोह उत्पन्न होने (गलती) की कोई सम्भावना नहीं रहती।'[1]

इस प्रकार से रोगी की परीक्षा करके साध्य रोग से पीडित रोगियों निरोग करे, याप्य व्याधियों से पीडित रोगियों का जीवन किसी प्रकार या करे, असाध्य रोग से पीडित रोगी की चिकित्सा न करे और प्रायः एक वर्ष अधिक पुराने पीडित रोगियों की चिकित्सा अपने सुयशकी रक्षाके लिये नहीं चिकित्सकों के यथा संभव अपने हाथ में नहीं लेना चाहिये।[2]

कई ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनकी साध्य व्याधियाँ भी कष्टसाध्य होती हैं, जैसे-श्रोत्रिय, राजा, बाल, वृद्ध, भीरु, राजसेवक, द्यूतकारक, दुर्बल, वैद्याभिमा रोग को छिपाने वाला, दरिद्र, कञ्जूस, क्रोधी, अजितेन्द्रिय और एकाकी।

इस प्रकार सब बातों को समझ कर जो वैद्य चिकित्सा करता है, वह ध अर्थ, काम और कीर्त्ति का सम्पादन करता है।

कुछ अन्य उपदेश—जिनका विशिखा (प्रशस्त वैद्यकवृत्ति रखने) का महत्व है।

'जहां चिकित्सा करे वहां स्त्रियों के आसपास बैठना, बातचीत करना हँ करना प्रभृति कर्मों को नहीं करना चाहिये और अन्न के सिवाय स्त्रियों की हुई किसी भी वस्तु का ग्रहण नहीं करना चाहिये।'[3]

'मूर्ख, चौर, म्लेच्छ, ब्रह्मघ्न, मत्स्यघातकी, द्वेष्टा, ग्रामकूट, वंचक, मं

---

[1] मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्॥

[2] एवमभिसमीक्ष्य साध्यान्साधयेत्, याप्यान् यापयेत्, असाध्यान् नैवोपक्रमेत, सं संवत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशः वर्जयेत्। (सु. सू. १०)

[3] स्त्रीभिः सहास्यां संवासं परिहासं च वर्जयेत्।
दत्तं च ताभ्यो नादेयमन्नादन्यद्भिषग्वरैः॥

विक्रयी प्रभृति रोगियों की चिकित्सा न करे; क्योंकि जीवनदान से वैद्य को पाप-का भागी होना पड़ता है ।' (यो० र०)

'अज्ञान से, लोभ से, अहितकर वाक्य के योग से, भय से, मोह से तथा भी प्रकार के अन्य भावों से प्रेरित होकर वैद्य को चिकित्सा का कर्म नहीं करना चाहिये ।'

'हितकर यानी दोषरहित कर्म करने वाले वैद्य को धर्म, अर्थ, कीर्ति, सज्जनों में आदर और स्वर्गवास प्राप्त होता है ।'

वैद्य के गुण—जिसने अष्टाङ्ग आयुर्वेद शास्त्र को गुरुमुख से पढ़ा है, जो क्रियाओं में प्रवीण है तथा पीयूषपाणि (यशस्वी) है तथा जिसमें दरिद्रों से धन-प्राप्ति की अभिलाषा नहीं और जो धैर्यवान् दयालु तथा पवित्र अन्तःकरण वाला है, वही वैद्य है, एवं चिकित्सा के पवित्र कर्म का अधिकारी है[2] ।

वैद्य को दक्ष, तीर्थात्तशास्त्रार्थं दृष्टकर्मा शुचि, बहुकल्पवान्, बहुगुणवान् तथा योग्य ओषधियों से सम्पन्न होना चाहिये[3]

शस्त्रकर्मकर्त्ता वैद्य के गुण—निर्भयत्व, आशुक्रिया करना, शस्त्र की तीक्ष्णता पसीना न आना, हाथ पैर का न काँपना (अवेपथु) और चित्त अवैक्लव्य—ये गुण शस्त्रकर्म करने के लिये वैद्य में होना चाहिये ।[4]

आजकल भी सर्जन के लिये तीन गुणों का होना आवश्यक माना जाता है । इनकी प्रसिद्धि तीन 'एच्स' अंग्रेजी अक्षरों से है—'हैण्ड, हार्ट तथा हेड ।' (हस्त, हृदय और सिर) । हस्त के द्वारा कौशल, आशुक्रियत्वः हृदय के दृढ़ सङ्गत कार्यों के करने में शल्यकर्त्ता समर्थ हो सकता है ।

* * *

---

१. धर्मार्थौ कीर्त्तिमत्यर्थं सतां ग्रहणमुत्तमम् ।
प्राप्नुयात् स्वर्गवासं च हितमारभ्य कर्मणा ॥ (सु०)

२. गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु ।
गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात् ॥ (वैद्यजीवन)

३. दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् ।
बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम् ॥ (च०)

४. शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथुः ।
असम्मोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ॥ (सु०)

उपसंहार

सुश्रुत शल्य की उपयोगिता

चिकित्सा का एक विषय व्यावहारिक विज्ञान है। इसलिये इसका अध्ययन अधिकतर व्यवहार पक्ष से ही किया अथवा कराया जाता है। यद्यपि अनेक वि ऐसे भी हैं जिनकी आवश्यकता प्रतिदिन के कर्मक्षेत्र में नहीं होती, प्रत्युत उन अध्ययन ज्ञान के विकास या परिवर्द्धन की दृष्टि से ही किया जाता है। सुश्रुत लिखित शल्यांश की भी आज ऐसी ही दशा है। उसका व्यावहारिक मूल्य बहु कम दिखाई पड़ता है। फलतः उसके अध्ययना-ध्यापन की अभिरुचि भी बहुत क होती है। इसका प्रधान कारण उसके व्यवहारपक्ष का अभाव प्रतिभाषित होता है। फिर भी उसका प्रायोगिक महत्त्व है। उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए जो कठिनाइयाँ सम्मुख आती हैं, उनको दूर कर युग के अनुरूप बनाने कुछ बातें अपेक्षित हैं। उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन प्रस्तुत लेख का विषय है।

कई पाश्चात्य विद्वानों ने सुश्रुत प्रभृति चिकित्साग्रन्थों की आलोचना करते हुए कई प्रकार की कटु आलोचनायें की हैं। सर विलयम जोन्स नामक एक समीक्षक ने लिखा है कि 'इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं कि एशिया की किसी भी भाषा में किसी चिकित्साग्रंथ का अस्तित्व है; जो विज्ञानकोटि में आ सके। अर्थात् कोई भी वैज्ञानिकदृष्टि में आने योग्य चिकित्सा की पुस्तक प्राचीन हि चिकित्साप्रणाली में उपलब्ध नहीं।

एक आधुनिकतम समालोचक (वेभरली निकोल्स) ने लिखा है कि संक्षे में यदि यह कहना हो कि भारतीय चिकित्सापद्धति क्या है; तो इतना लिखना पर्याप्त होगा कि क्या नहीं हैं। उसमें उस लेखक ने अभाव पदार्थों की एक लम्बी सी सूची दी है। वह लिखता है:—इसमें सर्जरी का विशालक्षेत्र सूना है चिकित्सापद्धति के मेरुदण्ड विकृतिविज्ञान, जीवाणुविज्ञान, सूक्ष्मदर्शक का पता तक नहीं है। प्राचीन शारीर अव्यवस्थित और निरा काल्पनिक है। इसमें 'एसेप्टिक' और 'एण्टी सेप्टिक सर्जरी' की बू तक नहीं है। आधुनिक श्रेष्ठतम

विज्ञान 'सल्फाड्रग्स' का प्रवेश तक नहीं, इत्यादि। परन्तु यह कथन अधिकांश में इर्ष्यामात्र का द्योतक है। कटु सत्य होते हुए भी निष्पक्ष नहीं कहा गया है।

ऐसी आलोचनाओं के दो प्रधान कारण हैं—प्रथमत: तो ये समीक्षक पत्रकार थे अथवा इतिहासवेत्ता, चिकित्साशास्त्र के विशेषज्ञ (एक्सपर्ट) नहीं। दूसरा सबसे बड़ा दोष अपने लोगों का है, जिसकी वजह से हम अपने ज्ञान को आधुनिक रूप देकर उनके समक्ष रखकर उन्हें सम्यक् ज्ञापित नहीं करा पाये। यद्यपि इस दिशा में कुछ कार्य विल्सन, हायने, एन्सले, रायले, ठाकुर साहब, जोली, हार्नील, मुखर्जी तथा अन्य कतिपय विद्वानों ने किया है; परन्तु वह कार्य जितना होना चाहिये था, उसकी तुलना में नगण्य है।

जब निष्पक्ष समालोचकों का कथन सम्मुख आता है तो अपनी प्राचीनता के ऊपर अभिमान होता है। एक समीक्षक लिखता है कि 'विश्व की चिकित्सापद्धति में हिन्दूचिकित्साप्रणाली अपने ज्ञानसंग्रह, विषयगाम्भीर्य, नियमित निर्माण के कारण बहुत महत्व का स्थान रखती है। यह अपनी जाति का सर्वोत्कृष्ट नहीं तो कम से कम उसके समकक्ष पहुंचने वाला विज्ञान है।'

जब हम ईसा के छ: शताब्दी पूर्व की भारतीय चिकित्साविज्ञान की झलक देखते हैं तो आश्चर्य होता है। किस प्रकार उसके वर्णन समुचित और ठोस हैं' किस प्रकार उसकी व्याख्यायें अद्भुत क्षमता वाली हैं। उस प्राचीन युग में वे मानवशरीर का विच्छेद करते थे—फलत: उनका शारीरज्ञान ऊंचे दर्जे की चीज थी। वे अपने शल्यकर्म में विविध प्रकार के यंत्र और शस्त्रों का व्यवहार करते थे। वे लिङ्गनाश (कैटेरेक्ट) के शस्त्रकर्म में पटु थे। वे गर्भाशय से मृत बच्चों को निकाल सकते थे। गर्भाशय का छेदन कर शिशु का प्रसव कराते थे। वे उदरगुहा के ऊपर शस्त्रकर्म करते और जलोदर से जलविस्रावण व्रीहिमुखशस्त्र से करते थे। अन्त्रों के विदीर्ण हो जाने पर उनका संधान अथवा अन्त्र में किसी कारण से अवरोध (बद्धगुदोदर) हो जाने पर शस्त्रक्रिया के द्वारा अवरोध को दूर कर सकते थे। वे सफलता के साथ शिरोगुहा का शस्त्रकर्म (क्रेनियल सर्जरी) करते थे। यहां तक कि शरीर का कोई भी अङ्ग चाकू के लिये अस्पृश्य नहीं समझा जाता था, वे प्लास्टिक शस्त्रक्रिया द्वारा कटे हुए नासा और कर्ण का संधान करना जानते थे। वे अस्थिभग्न के संधान, संधिविश्लेष हो जाने पर स्थानो-

पनयन क्रिया करते थे। आवश्यकता पड़ने पर अंगविच्छेद कर्म (Amputati भी करते थे वे अंगवृद्धि को ठीक करते तथा अर्श और गुद-भगंदर के रो पर शस्त्र-क्रिया करके सफलता प्राप्त करते थे। वे मसूरिका में टीका (Vaccination of Smallpox) में भी समर्थ थे। सर्जरी के पूरे क्षेत्र पर उनका अधिकार था और प्रत्येक अंग-प्रत्यंग के सम्बन्ध में उनकी पूरी जानका थी—वे शरीर के किसी भी अङ्ग में लगे हुए बाण अथवा अटके हुए विजा द्रव्य को निकालने में समर्थ थे। उन्हें रक्तपरिभ्रमण का पूरा ज्ञान था, वे धम और शिरा के भेद से परिचित थे। आवश्यकतानुसार वे संज्ञाहर द्रव्यों प्रयोग करते थे। रक्तस्तंभन को प्रक्रिया से पूर्णरूपेण परिचित थे। सद्योव्र समुचित उपचारों से भी परिचित थे। उन्होंने पूरे शरीर में पाये जाने 'सप्तोत्तरं मर्मशतं' का वर्णन किया है। जिन्हें शस्त्रकर्म करते समय यथासम्भ बचाना आवश्यक समझा जाता था। वे विधिवत् प्रत्येक शस्त्रक्रिया में पूर्वक (Preoperative treatment), कर्म (Main operation) और पश्चात् कर्म (Post operative case) का वर्णन करते हैं; जैसा कि आज के युग में होता है।

इसी प्रकार कायचिकित्सा (Madicine) के क्षेत्र में भी उन्होंने दैवि कता की दृष्टि से त्रिदोष-सिद्धांत की प्रथम उद्भावना की, यद्यपि यह आधुनि युग के अद्भुत सा लगता है। भारतवर्ष ही प्रथम देश था, जिसने मनुष्यमात्र में सफलता के साथ धातुओं का आन्तरिक प्रयोग किया। पारद का चिकित्सा क्षेत्र में मूल्य समझाया। रासायनिक विद्या को जन्म दिया। विभिन्न प्रकार धातुओं के अम्ल, भस्म के रूप में विभिन्न लवणों का प्रयोग रोगों की चिकि में प्रचारित किया। रोगों के नामकरण, उनके कारण, सम्प्राप्ति, लक्षण, निदा विकृति विज्ञात, साध्यासाध्यविवेक और चिकित्सासमन्वित पुस्तकें लिखी ग पशु-चिकित्सा, अश्ववैद्यक, पालकाप्य, विषविद्या आदि ग्रन्थ लिखे गये।

इन उपर्युक्त विषयों के आधार पर अवलम्बित चिकित्साप्रणाली का चिकित्सा के क्षेत्र में आज के दिन भी वैसी ही है। उनके सहस्रों अनुभूतयोग उ रूप में प्रचलित है। आज भी वह विद्या जीवित है। उसमें जो कुछ है वह पु है वह ग्राह्य है। जो कुछ उसमें आप्राप्य है वह भी अन्यत्र से संग्रहणीय है। इस प्रकार संक्षेप में क्या है, कथित हुआ।

शल्यतंत्र के सम्बन्ध में हिन्दूशास्त्रों में वर्णित ज्ञान का—ग्रीक, रोमन, शल्य के साथ सन्तुलन करके अध्ययन करना इतिहास की दृष्टि से बहुत बड़ा स्थान रखता है। इस प्रकार का अध्ययन चिकित्सा के इतिहास की पृष्ठभूमि बनाता है। इस विषय का विचारपूर्वक अध्ययन कर कई विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राचीन भारत की चिकित्सापद्धति वैज्ञानिक है—उसमें विज्ञान की आकांक्षा ओतप्रोत है और वैज्ञानिक चिकित्साप्रणाली के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण पद है। पाश्चात्य चिकित्सापद्धति इसकी ऋणी है। यह बात अन्यान्य इतिहासवेत्ताओं के अध्ययन और खोजों से निर्णीत भी हो चुकी है।

इस प्रकार की चिकित्सापद्धति की उपयोगिता केवल इतिहास की सामग्री जुटाने तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत इसके विषयों की छानबीन और अनुसंधान की आवश्यकता है। क्योंकि चिकित्सा का हिन्दूज्ञान, उनका आयुर्विज्ञान किसी प्रकार भी आदिम रूप में अथवा अविकसित रूप में नहीं समझा जा सकता। इस बात के प्रदर्शन के लिये प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनके ऊपर कहा जा सकता है कि यह विज्ञान गुण की दृष्टि और परिमाण के विचार से उस प्रारम्भिक युग के ज्ञान की तुलना में किसी से भी उच्चकोटि का है। युग-परिवर्तन के साथ काथ इसमें वर्णित विषयों का परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन यत्किञ्चित् और यथावश्यक होता आया है। चिकित्सापद्धति में समय के अनुसार विकास होता आया है। इसी कारण आज भी उस विद्या का प्रचार है और आधुनिक चिकित्सापद्धति से उसकी होड़ लगी रहती है।

हिन्दू चिकित्सापद्धति मौलिक है और उसका विकास भी स्वतन्त्रतया हुआ है। ग्रीस देश की चिकित्सापद्धति जो प्राचीन युग में प्रचलित थी, इसी की आश्रित थी। इसी का रूपान्तर उस युग में प्रचलित था। फिर भी यह विषय इतिहासकारों के लिये भ्रमावह हो जाता है कि उस देश ने इसी चिकित्सापद्धति से सीखा। क्योंकि ग्रीक-चिकित्साग्रन्थों में किसी भारतीय चिकित्सक का नामोल्लेख नहीं मिलता, ठीक इसी प्रकार भारतीय ग्रन्थों में भी किसी ग्रीकचिकित्सक का नाम नहीं पाया जाता। सम्भव है ग्रीस देशवालों को इस विद्या का अनूदित रूप फारस से मिला हो, क्योंकि ग्रीस और फारस में ईसा की

चौथी शताब्दी से छठी शताब्दी तक यातायात सम्बन्ध रहा और ज्ञान का आदान-प्रदान जारी रहा। अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर यह भी सिद्ध चुका है कि फारसी भाषा संस्कृत साहित्य की ऋणी है। यहाँ के विविध और विज्ञान की शाखाओं पर निर्मित ग्रन्थरत्नों का अनुवाद फारसी में हुआ इसके विपरीत कई भारतीय विज्ञानों के क्षेत्र में विशेषतः फलितज्योतिष फारसदेश के पण्डितों के विचार हिन्दूग्रन्थों में मिलाये गये। गर्ग ने स्पष्ट है 'यवन (ग्रीक) म्लेच्छ हैं, परन्तु उनमें फलित-ज्योतिष का ज्ञान सुप्रतिष्ठित वे ऋषि हैं और वे कई अंशों में ब्राह्मण फलितज्योतिषी से भी बढ कर हैं।' प्रकार हिन्दूशास्त्रज्ञ अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए विषयों को अन्य से कर अपने विज्ञान की वृद्धि और विकास में नहीं हिचकते थे। परन्तु इस प्रका की कथा चिकित्साग्रन्थों के सम्बन्ध में कहीं भी नहीं है। यदि ग्रन्थकारों ने भी विषय किसी जगह से ग्रहण किया होता तो उस साहाय्य को स्वीकार करते हुए वे बिल्कुल नहीं हिचकते। इस प्रमाण के आधार पर अपने विषय की मौलिकता स्वीकार करते हुए तनिक भी सङ्कोच नहीं होता।

आज का जितना भी चिकित्साविज्ञान है उसके मूल में ग्रीकचिकित्सापद्धति ही है, जिसका अविकल रूप अरबी और फारसी भाषाओं में है। इस प्रका आधुनिक चिकित्सापद्धति अप्रत्यक्षतया भारतीय चिकित्सापद्धति पर ही निर्भर है। फलतः श्री सचाऊ का कथन बिल्कुल ठीक है 'जो कुछ भारत ने दिया वह बगदाद में दो मार्गों से पहुँचा। कुछ भाग तो सीधा और कुछ संस्कृत से अनूदित होकर आया।' इतिहासकारों के अनुसार मध्यवर्ग के देशों में यहाँ के चिकित्सक निमन्त्रित हो प्रधान चिकित्सक होकर वहाँ के चिकित्सालयों में रहे, अध्यापन और अनुवाद का कार्य करते थे। इस तरह बहुत से विषयों के अनुवाद अरबी में हुए। जैसे—चिकित्सा, औषधकल्पना, अगदतन्त्र, दर्शन, फलित ज्योतिष और अन्य विषय।

प्रस्तुत विषय शल्य से सम्बन्धित है। शल्यविषयक जो कुछ भी लिखित प्राप्त है, उसमें सुश्रुत का ही आधार है। इसमें ग्रन्थकार ने जिस किसी रूप को अपनाया है उसे पूर्णरूप से लिखा है। फलतः यह अपने में पूर्ण है। सूत्रस्थान में वेद से आरम्भ करके धन्वन्तरि और सुश्रुत पर्यन्त श्रेष्ठतम आदि आचार्यों के

कार्य, उसकी परम्परा और महत्ता आदि का वर्णन है। फिर अपने ढङ्ग से यन्त्रकर्म, शस्त्रकर्म, विधि, भेद, विशिखानुप्रवेश, योग्याकरणीय आदि प्रारम्भिक विषयों का वर्णन; तदनन्तर शल्य से सम्बन्धित जलौका, क्षार, अग्निकर्मविधि, अवस्था, साध्यासाध्यता आदि बातों की व्याख्या की है। तदनन्तर रोगों का और उनकी अवस्थानुसार संशामकचिकित्सा का भी वर्णन है। उदाहरण के लिये शोफ-विद्रधि, व्रण, सद्योव्रण, भग्न, विश्लेष, अर्श, विद्रधि, उदररोग, अश्मरी आदि और अन्यत्र आँख, कान, नाक, मुख, सिर आदि अंगों में होने वाले विविध रोगों के लक्षण, निदान, पूर्वरूप, रूप, संप्राप्ति, उपशय, साध्यासाध्यविवेक, विकृतिविज्ञान और चिकित्सा का विशद वर्णन है। व्यवहार पक्ष से देखने और करने पर ये केवल पठन पाठन के लिये ही नहीं मालूम होते जैसा कि अधिकांश लोगों का खयाल है; बल्कि इनकी प्रायोगिकता सम्भव है। मेरा विचार है कि सुश्रुत में शल्यसम्बन्धी विषय का वर्णन थियोरी के लिये अपर्याप्त है; परन्तु प्रैक्टिकल के लिये पूर्ण है। उसमें केवल काम की मोटी मोटी व्यावहारिक बातों का ही वर्णन है, जो प्रत्युत्पन्न बुद्धि वालों के लिये अधिक सुलभ है। इस बात की परीक्षा आत्ययिकरोगियों (Emergnt cases) में साधनहीन अवस्था में रहने पर होती है। अन्यान्य साधनों के रहते हुए, इसके लिखे हुए मोटे मोटे, आडम्बर और प्रदर्शन से रहित लेखों का स्थान हास्यास्पद हो जाता है और व्यावहारिक बातें भी अव्यावहारिक लगती हैं। इसके प्रत्यक्ष प्रयोग में लोग शंकास्पद रहते हैं। कारण है, इसके प्रयोग का और आधुनिक सिस्टेमेटिक ढंग का अभाव।

कायचिकित्सा की परम्परा आजतक अविच्छिन्न रूप से चलती आ रही है; परन्तु शल्यचिकित्सा बीच में ही अवरुद्ध है। यही कारण है कि मूल कायचिकित्सा के संहिताग्रंथों के अनन्तर बहुत से संग्रह ग्रंथ लिखे गये; परन्तु शल्यचिकित्साविषयक केवल मात्र संहिता ज्ञान ही उपलब्ध है, उसके बाद के प्रयोगात्मक निबंधों का सर्वथा अभाव है। परम्परया भी एक भी शास्त्रज्ञ नहीं जो सुश्रुत के अनुसार यंत्र—शस्त्र का निर्माण कराके तथाकथित रक्तविस्रावण, शल्यक्रिया, अग्नि और क्षारकर्म विधिपूर्वक करता हो। परिणामस्वरूप शस्त्र की विद्या एकदम 'आउट आफ डेट' हो गई है।

तथोक्त अग्निकर्म में व्यवहृत होने वाले द्रव्य अथवा क्षार कर्म में प्रयुक्त होने

वाले पदार्थ. उनकी निर्माणविधि, प्रयोगज्ञान परम्पराहीन होने के कारण दु हो जाते हैं। क्षारपातन की विधि में समयनिर्देश भी उस काल की भाषा 'वाक्शतमात्रमुपेक्षेत' आधुनिक युग में किसी निर्दिष्ट समय का द्योतक न होता। इसी प्रकार शल्यकर्मों के सम्बन्ध में वर्णित यंत्रण (रोगी को निश्चे करने के लिये परिचारकों द्वारा पकड़ कर रखना) का प्रयोग इस युग में ज संज्ञाहरद्रव्यों का भूरिशः प्रयोग होने लगा है, हास्यास्पद है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर अस्थिभग्न और विष की चिकित्सा में विशद वर्ण के स्थान पर मोटी-मोटी बातों के वर्णन का एक ही अध्याय में समाप्त हो जा खटकता है और जानने की दुरूहता अधिक बढ़ जाती है। व्रण-बंधन और सीवन के अधिकार में नामोल्लेख करते हुए ग्रन्थकार ने 'नामभिरेव तेषामाकृतयो व्याख्याताः' कहते हुए विषय को सरल करने की अपेक्षा अधिक कठि बना दिया है।

इस संक्षिप्त विवेचन का मूल कारण—सूत्रात्मक पद्धति का लेख होना ही है। सूत्रात्मक होने से व्याख्यागम्य[1] विषय हो जाता है—फिर भी टीकाकार उस कोटि के नहीं हो पाये। डल्हण की टीका अधिकतर वाक्यविन्यास, शब्दव्युत्प से तो अधिक सम्बन्ध रखती है न कि प्रस्तुत विषय से। इस वजह से दुरूह उन टीकाओं के रहते भी बनी रह जाती है।

'एसेप्टिक सर्जरी' का कोई भी अध्याय स्वतंत्रतया नहीं देखा जाता फिर भी बड़े से बड़े शस्त्रकर्म करने को तत्पर कर दिया जाता है। 'एण्टीसेप्टिक' विधि कई अंशों में की जाती है, जैसे 'अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्' धूपन आदि प्रयोग, क्वाथ का व्रणों के प्रक्षालन में उपयोग आदि। फिर सूत्रात्मक प्रवृ लेखक के विषय को अतिसंकुचित कर देती है। जिसका आधुनिक पाठक के ऊप कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

फिर भी सुश्रुत का अविकल और अविकृत रूप भी ग्रहण किया जावे तो उस में वर्णित विधियों का कुछ प्रयोगों के अनन्तर स्वयं निश्चित और स्थिर रूप हो सकता है। उसका उपयोग देहात के क्षेत्रों में, जहाँपर कष्ठौषधियाँ सुलभ हैं

---

[1] १. व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियां सदा।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥ (भट्टिः)

सुभीते के साथ किया जा सकता है। उसमें वर्णित विधियाँ लौकिक और परीक्षित हैं। उन्हीं विधियों का अवलम्बन करते हुए, छोटे शस्त्रकर्म किये जा सकते हैं। सुश्रुत का मूल पाठ भी सार्थक है और शस्त्रक्रिया में समर्थ है। उस-में उपलब्ध ज्ञान, साधनहीन अवस्था में रहने पर पूर्ण व्यावहारिक गोचर होता है। अन्तर केवल यह है कि इसमें परम्परा विच्छिन्न है, परन्तु कायचिकित्सा के क्षेत्र में परम्परा टूटने नहीं पाई है। अन्यथा सुश्रुत के शल्य की व्यावहारिकता के संबंध में भी शंका का स्थल नहीं होता।

आज सुश्रुतशल्य को अधिक व्यावहारिक रूप देने की आवश्यकता है। उसके वर्णित और बहुपरीक्षित विधियों और विषयों का रोगियों के ऊपर प्रत्यक्ष प्रयोग करके निर्माणविधि, मात्रानिर्धारण समयविभेद आदि बातों की जांच कर उनका एक निश्चित रूप देना आवश्यक है। इसको आधुनिक पाठ्य ग्रंथों की श्रेणी में रखने के पूर्व एक बड़े अनुसंधान की आवश्यकता है। क्योंकि एक साधारण शल्य के अभ्यासी से आप सर्वदा अन्वेषण की आशा नहीं रख सकते, बल्कि उसको एक सुनिर्मित पाठ्य विषय दे सकते हैं, जो 'स्टैन्डर्ड' होवे।

फलतः इस विषय की उन्नति के लिये अथवा उपयोगपरक रूप देने का मुख्य उपाय यह है कि उसके भण्डार की दूसरे भाषाओं ग्रन्थरत्नों के अनुवाद से तथा दूसरे देशों से सीखी हुई विद्याओं के ऊपर स्वतन्त्र लेख लिखकर ग्रन्थ की पूर्ति या वृद्धि की जावे। साथ ही सुश्रुत में वर्णित विषयों को नये ढङ्ग से सजाकर किंचित् परिवर्तन और परिवर्द्धन करके आधुनिक वस्तुओं का यथास्थान पुट देकर सर्जरी की व्यावहारिक पोथी बनाई जावे तभी शल्यतंत्र के पठन-पाठन की समस्या क्रियात्मक दृष्टि से हल होगा।

उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु का स्वतन्त्र मूल्य है। प्राचीन युग में चौरशास्त्र में पटु ब्राह्मण का चोरों का नापनेवाला मानसूत्र भ्रमवश कहीं छूट जाता था तो काम पड़ने पर वे अपने यज्ञोपवीत सूत्र[१] को ही काम में लेते थे 'भाई, ब्राह्मणों के लिये जनेऊ बड़े काम की चीज है, विशेषकर मेरे—जैसे और ब्राह्मण के लिये। क्योंकि जनेऊ से सेंध मारने की जगह को नापते हैं' आभूषणों के

---

[१] यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यं विशेषतोऽस्मद्विधस्य । कुतः—
एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गानेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान् ।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च ॥

बंधन जनेऊ द्वारा छुड़ाये जाते हैं, यन्त्र से दृढ़ रूप से लगाये गये किवाड़ों को उनकी सहायता से खोलते हैं और यदि सांप तथा कीट खा जाये तो दष्टस्थान को जनेऊ से बांध भी सकते हैं (जिससे विष का ऊर्ध्वं गमन न हो)। ठीक ही है चोर ब्राह्मण के लिये जनेऊ का उपयोग ही और क्या है।' यह एक नाटक के पात्र की परिहासोक्ति है। इसी प्रकार व्युत्पन्न बुद्धि वालों के लिये जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साधनहीन अवस्था में रहने पर विपद् से सम्बन्धित एक एक सूत्र अपना स्वतन्त्र मूल्य रखता है।

कायचिकित्सा के क्षेत्र में तो उसकी उपयोगिता की दृष्टि से कोई शंका उपस्थित नहीं होती। परन्तु शंका का उदय केवल सुश्रुतशल्य के सम्बन्ध में ही होता है। क्योंकि इसमें विकास अथवा परिवर्द्धन का स्फुट रूप नहीं दिखाई पड़ता, न परम्परया ही कोई साक्षात् सम्बन्ध है, न व्यवहार से ही दिखाई पड़ता है। इसके मूल में कारण है—राज्याश्रय का अभाव तथा कानूनी कठिनाई, राष्ट्र के द्वारा अथवा उन उन युगों में होने वाले शासकों के द्वारा पूरे आयुर्वेद क्षेत्र पर ही कुदृष्टि रही है। इतने महत्त्वपूर्ण विज्ञान को तथा उनके वैज्ञानिकों को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हो सका। फिर भी कायचिकित्सा पनपती रही, क्योंकि इसमें बड़े खर्चे का प्रश्न नहीं आता था। उसके प्रयोग एकैक होकर अल्पव्ययसाध्य होने की वजह से चालू रहे। परन्तु शल्य के क्षेत्र में अर्थ का प्रश्न रहा—सुसज्जचिकित्सालय, व्रणितागार, यन्त्र-शस्त्र से सुसज्ज शस्त्रागार का निर्माण, चिकित्सक की दक्षता, शौर्यता आदि। जिनकी पूर्ति तत्तद्युगीन शासकों के द्वारा नहीं हो सकती थी, फलतः विज्ञान की यह शाखा उतनी पनप नहीं पाई। इनके प्रयोक्ताओं और अनुभवप्राप्त योगों के संग्रह नहीं हो सके। फलतः परम्परा भी विच्छिन्न हो गई। बुद्धिजीवी वैज्ञानिकों का स्वाभाविक झुकाव कायचिकित्सा की ओर ही हो गया जो विज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुंच गया। फलस्वरूप इसके अनुभूत योगसंग्रहों का इतना विस्तृत रूप हुआ, जिसके समक्ष विश्व की कायचिकित्सा का योगसंग्रह भी अणु प्रतीत होता है।

संक्षेप में यदि सुश्रुतशल्य की उपयोगिता पर दृष्टिपात करें तो आज के युग में मोटे-मोटे तीन विभागों में उसके व्यवहार दिखाई पड़ते हैं—

१. ऐतिहासिक महत्त्व (Historical Importance)—शल्यचिकित्सा विज्ञान की आदि शाखा है, जिससे अन्यान्य शाखाओं के रूप में

आज का शल्यविज्ञान विकसित हुआ है। जिसका महत्त्व कोरे अध्ययन से सम्बन्ध रखता है।

२ पारिभाषिकता का महत्त्व (Terminology)-विविध रोगों की नामावली, उनकी विविध शस्त्रक्रिया में होने वाली विधियों के नाम, भिन्न भिन्न प्रकार के यंत्र शस्त्रादि का नामकरणादि। जिसका सम्बन्ध आधुनिक ग्रन्थलेखन प्रणाली से है। जिसमें पारिभाषिक नये शब्दों के निर्माण की आवश्यकता पड़ती हैं।

३. उसका व्यावहारिक रूप (Practical Aspect)—विशेषज्ञों के द्वारा ग्रन्थोक्त द्रव्यों का प्रत्यक्ष प्रयोग कराके आधुनिक भाषा में उसका व्यावहारिक रूप देना जैसा अन्यत्र कहा गया है—शल्याभ्यास एक प्रत्यक्ष कर्म है। हर एक प्रकार के ग्रन्थ, ग्रन्थोक्त विषय, भाषाबोध, यंत्र शस्त्र से सुसज्ज व्रणितागार आदि के रहते भी कर्म में अदीक्षित रहने पर शस्त्रक्रिया असम्भव है।[1] शस्त्र और शास्त्र व्यक्ति की अपेक्षा करते हैं। जो चिकित्सक केवल शास्त्र का जानने वाला है, क्रियाओं में निपुण नहीं है, वह रोगी के पास जाकर चिकित्सा में घबरा जाता है, जैसे भीरु पुरुष संग्राम में।[2] इस तरह शस्त्रक्रिया एक कला है जिसमें अभ्यास के द्वारा दक्षता आती है। परिस्थिति की अनुकूलता रहने पर प्रत्येक व्यक्ति अभ्यास करने के अनन्तर दक्ष हो सकता है।

शल्यकर्म करना एक कला (Arts) है। इस कला में दक्षता के प्राप्त करने के लिये उसके सहायकभूत यावतीय साधनों का संग्रह तथा सतत अभ्यास आवश्यक है। जिस प्रकार विभिन्न कलाओं के सम्बन्ध में नृत्य, वादित्र, गीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि विद्याओं के सिद्धान्त का पूर्णज्ञान रहते हुए भी उस विद्या का बिना अभ्यास के प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शल्यविज्ञान के सिद्धान्तों को जानते हुए भी बिना क्रियात्मक सतत अभ्यास के उसका भी

---

[1] यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद् वहन्ति॥
(सु० सू० ४)

[2] यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥ (सु० सू० ३)

प्रायोगिक रूप नहीं दिया जा सकता। फलतः सुश्रुत शल्य का प्रत्यक्ष प्र होकर एक अल्प व्ययसाध्य शल्यविद्या का रूप दिया जा सकता है, जिसका रा के स्वास्थ्य संरक्षण में बहुत बड़ा स्थान होगा। इसमें थोड़े अनुसन्धान की आवश्यकता है। इस कथन का यह अर्थ नहीं कि केवल धृष्टता करने से हो निपुण शल्यविज्ञ होना सम्भव है, हस्तकौशल और साहस के साथ-साथ बु (शास्त्रज्ञान) भी होना आवश्यक है। 'जो अपनी धृष्टता के कारण शल्यक्रिया में निपुण है, परन्तु शस्त्र से अनभिज्ञ है, सुश्रुत के अनुसार वह उत्तम चिकित्स के सम्मान योग्य नहीं है। उसको राजाज्ञा से प्राणदण्ड होना चाहिये।'[1]

अस्तु, जो बुद्धिमान् चिकित्सक शास्त्र और क्रिया (Theory an practical) दोनों विषयों को पूर्ण जाननेवाला है, वह आयुर्वेद का प्रयोज सिद्ध करने के लिये समर्थ है:—

'यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने।'

—: इति :—

---

[1] यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्टर्याच्छास्त्रबहिष्कृतः।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः॥

कुछ प्राचीन यंत्र-शस्त्रों के आनुमानिक चित्र

(१) ऋक्षमुखयन्त्र

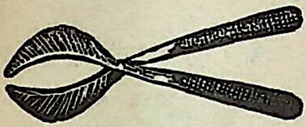

(२) कङ्कमुखयन्त्र (क)

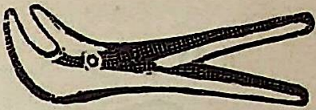

(३) कङ्कमुखयन्त्र (ख)

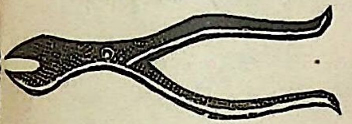

(४) भृङ्गमुखयन्त्र

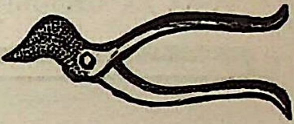

(५) सन्दंशयन्त्र

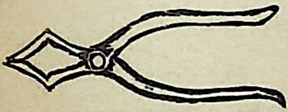

(६) मुचुण्डीयन्त्र

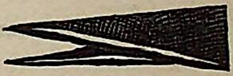

(७) नाड़ीयन्त्र

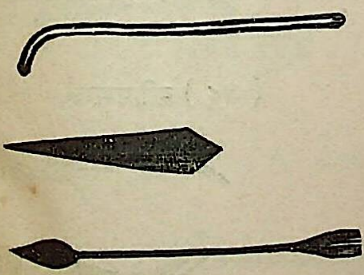

(८) अर्शोयन्त्र

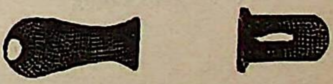

(९) बस्तियन्त्र (क)

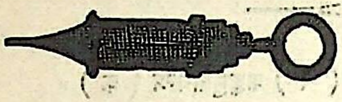

(१०) बस्तियन्त्र (ख)

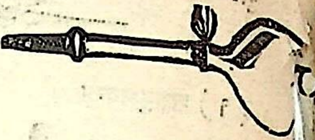

(११) जलोदरयन्त्र

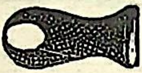

(१२) अङ्गुलीयन्त्र

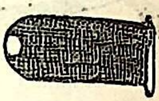

(१३) दर्व्याकृतिशलाका

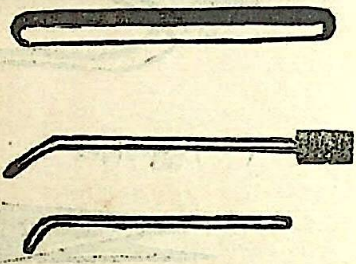

(१४) गर्भशङ्कुयन्त्र

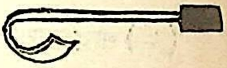

(१५) अश्मरीहरयन्त्र

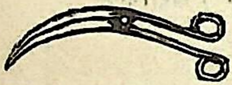

(१६) मण्डलाग्रशस्त्र

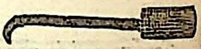

(१७) करपत्रशस्त्र

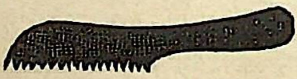

(१८) वृद्धिपत्रशस्त्र

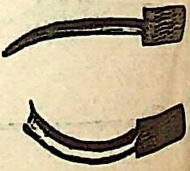

(१९) नखशस्त्र

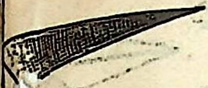

(२०) मुद्रिकाशस्त्र

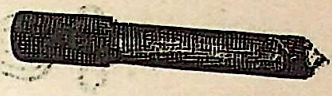

(२१) उत्पलपत्रशस्त्र

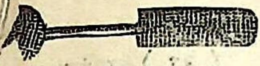

(२२) अर्द्धधारशस्त्र

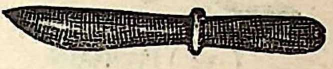

(२३) सूचीशस्त्र

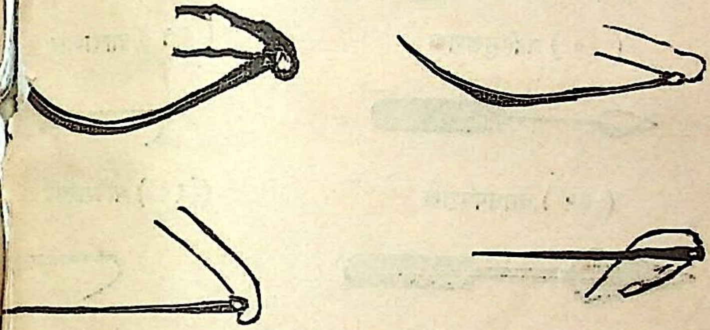

(२४) कुशपत्रशस्त्र

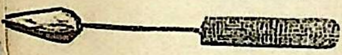

(२५) आटीमुखशस्त्र

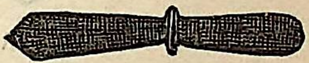

(२६) शरारीमुखशस्त्र

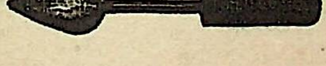

(२७) अन्तर्मुखकर्तरिकाशस्त्र

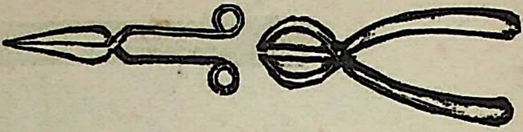

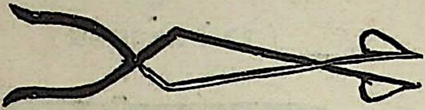

(२८) त्रिकूर्चकशस्त्र

(२९) कुठारिक

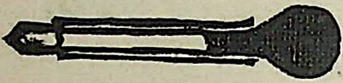

(३०) व्रीहिमुखशस्त्र

(३१) आर

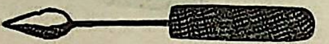

(३२) वेतसपत्रशस्त्र

(३३) बडि

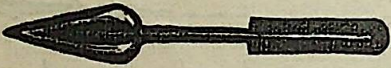

(३४) दन्तशङ्कुशस्त्र

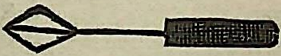

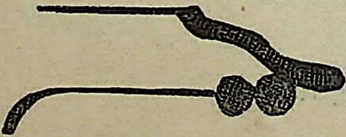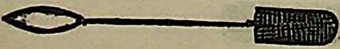(३५) एषणीशस्त्र